भारतीय दर्शन का इतिहास

(artiya arshan a Iti as)

भाग–३

लेखक

डॉ० एम० एन० दासगुप्त

अनुवादक

ए० यू० वसावडा

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण १९७४

मूल्य—१८.००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–४

मुद्रक
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम-परिवर्तन नही किया जा सकता था। परिणामत भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ मे पाँच हिन्दी भाषी प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवायी गयी है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ नारायण शास्त्री द्रविड अध्यक्ष, दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठोड
अध्यक्ष

गौरीशंकर सत्येन्द्र
निदेशक

प्राक्कथन

इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड कई वर्ष पूर्व सन् १९३२ मे प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के विलम्ब मे प्रकाशित होने के अनेक कारणो मे, एक यह भी है कि लेखक को अत्यधिक शिक्षण तथा शासन कार्य करना पड रहा है, और वह लगातार बीमार रहे हैं। साथ ही साथ दु खपूर्ण घटना यह रही है कि अविश्रात कार्य करने से एक आँख की ज्योति लुप्त हो जाने के कारण उन्हे बहुधा दूसरो की सहायता के अधीन रहना पडता है। प्रकाशन स्थान और कलकत्ता के बीच अधिक दूरी भी विलम्ब का एक कारण रही है। हर्षपूर्वक कहना है कि चतुर्थ खण्ड की पाण्डुलिपि अब तैयार हो गई है।

दक्षिणात्य ईश्वरवाद के विकास का शृखलाबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया जा सके, इसलिए लेखक ने इस खण्ड मे पाण्डुलिपियो को प्राप्त करने का अत्यधिक कष्ट किया है। अभी तक इस विषय मे जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए है वे बहुत ही कम सख्या मे है और यह वर्णन इन अप्राप्य ग्रन्थो को वारबार देखे बिना नही हो सकता था क्योकि सामग्री इन्ही ग्रन्थो से प्राप्त की जा सकती थी। वैष्णव सम्प्रदाय के शृखलाबद्ध इतिहास की खोज तथा व्याख्या पर प्रकाश डाल सके ऐसा कोई भी ग्रन्थ अभी तक लिखा नही गया है। यह अधिक अच्छा होता कि वैष्णव धर्म के इतिहास को आलेखन करने मे तमिल तथा तेलगु ग्रन्थो का उपयोग भी किया जाता जिससे प्रचलित भाषा के आधार पर यह इतिहास, सस्कृत-ग्रन्थ की कमी को पूरा कर सके। किन्तु लेखक ने जहाँ तक हो सका सस्कृत ग्रन्थो का ही आधार लिया है। यह मर्यादा तीन कारणो से माननी पडी, प्रथम तो यह था कि लेखक को दक्षिण भारत की सभी विभिन्न भाषाओं का ज्ञान नही है, दूसरा इन सभी ग्रन्थो का यदि अवलोकन कर सामग्री का उपयोग भी किया होता तो यह ग्रन्थ इच्छित लक्ष्य से कही अधिक बडा हो जाता, तीसरा, प्रचलित भाषा के ग्रन्थो की सामग्री का यदि उपयोग कर भी लिया जाता तो भी आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तो की मूलभूत समस्याओ मे जोकि प्रस्तुत ग्रन्थ मे दिए गए विवेचन है, कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही होती। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत की गई कुछ सामग्री अनवसर कही जा सकती है। किन्तु इस ग्रन्थ मे तथा प्रकाशित होने वाले दूसरे ग्रन्थ मे, भक्ति-दर्शन से सम्बन्वित, धार्मिक विकृति की अवज्ञा करना अशक्य था क्योकि वह दक्षिण भारत मे प्रमुख रूप मे प्रचलित थी, और इस विकृतावस्था ने मध्ययुग के ही निकटतम भूतकाल के मानव के मानस पर भी प्रभाव डाला है और आज भी वह भारतीय धर्मो का एक महत्त्वपूर्ण अग है। भारत मे नैतिकता ही नही किन्तु धर्म भी दर्शन का अग रहा है। मान्यताओ से सम्बन्धित भाव या सवेग, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण गुण है इसलिए, दक्षिण भारत मे

प्रभृत प्रधान दर्शन प्रणाली का विवेचन करते समय भक्ति के इस विशेष [illegible] पर बल दिए बिना नही रहा जा सकता था। लेखक इसलिए आशा करता है, कि जो लोग भक्ति या धार्मिक भावना के [illegible] विशेष विवेचन की [illegible] नहीं करेंगे [illegible] वैष्णव धर्म के सार रूप भक्ति के सवेगो पर अन्यायित [illegible] [illegible] चाहते हैं, वे दोनो उसे क्षमा प्रदान करेंगे। लेखक ने दर्शन के [illegible] सामान्य [illegible] मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है जो [illegible] हो, इस ग्रन्थ मे वर्णित [illegible] अनुस्यूत वैष्णव प्रणाली की धार्मिक भावना मे व्याप्त है।

लेखक ने आल्वारो—का जिनकी रचनाएँ तामिल मे है—[illegible] इस ग्रन्थ की मर्यादा का अतिक्रमण किया है किन्तु यहाँ भी [illegible] महसूस [illegible] कि आल्वारो के भक्ति दर्शन का विवेचन किए बिना, रामानुज तथा [illegible] अनुयायियों का दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहता। यद्यपि आल्वारो के अध्ययन के लिए मौलिक रचनाएँ तामिल भाषा मे प्राप्त है, किन्तु सौभाग्यवश उन रचनाओं का [illegible] अनुवाद पाण्डुलिपि मे या प्रकाशित रूप मे प्राप्त है। तामिल [illegible] के [illegible] मे [illegible] उन्हीं गन्थो का आधार लिया है।

पचरात्र रचनाओं के वर्णन मे कठिनाईयाँ आई क्योंकि इस प्रणाली के अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित ही है, किन्तु सौभाग्य से इस प्रणाली का एक [illegible] ग्रन्थ [illegible] पाण्डु-लिपि मे मिल गया। पचरात्र सम्प्रदाय पर श्रोडर के सिवाय किसी ने महत्त्वपूर्ण कुछ भी नही लिखा है। यद्यपि रामानुज भाष्य के अनुवाद प्राप्य है, किन्तु उनके सम्पूर्ण दर्शन का उनके सम्प्रदाय के अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिको के साथ सम्बन्ध बतलाने वाला कोई भी वर्णन प्राप्त नही है। रामानुज सम्प्रदाय के महान् विचारक वेंकट, मेघनादारि तथा अन्य विद्वान जिनकी रचनाए अभी तक अप्रकाशित है,—इनके सम्बन्ध मे लगभग कुछ भी नही लिखा गया है। इसी प्रकार विज्ञान भिक्षु के दर्शन पर भी कुछ नही लिखा गया है, और यद्यपि निम्बार्क भाष्य अनुवाद मे प्राप्त है किन्तु निम्बार्क और उनके अनुयायियो के विचारो का सम्बन्ध बताने वाला कोई वर्णन प्राप्त नही है। लेखक को इसलिए व्याख्या करने के लिए तथा कालक्रम-शोधन के लिए पूर्णतया, प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थो पर निर्भर रहना पडा है। कालक्रम-शोधन आन्तरिक प्रमाण पर आधारित है, यद्यपि इस विषय पर जो भी प्रबन्ध इत्यादि प्रकाशित हुए है, लेखक ने हमेशा उनका उपयोग भी किया है। वर्णन का विषय अत्यन्त विस्तृत है विद्वान् पण्डित ही यह बता सकेंगे कि त्रुटियाँ रहते हुए भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है, या नही।

एकेश्वरवादी विचार तथा भक्ति सिद्धान्त के महत्त्व को यद्यपि, ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ तथा गीता, महाभारत और विष्णु पुराण जैसे पुरातन धार्मिक साहित्य मे पाया जा सकता है, तो भी आल्वारो—यामुन और रामानुज से लेकर तदनतर कालीन दाक्षिणात्य दार्शनिक लेखको के रूढिगत गीतो मे ही हमे ईश्वर से भावात्मक सम्बन्ध का एक विशिष्ट दर्शन मिलता है। विभिन्न वैष्णव लेखक तथा सन्तो की रचनाओ तथा

अनुभवो मे इस भावात्मक सम्बन्ध या भक्ति का अनेकधा स्वरूप प्रकट होता है। अपने-अपने दार्शनिक परिप्रेक्ष्य मे इन्ही विभिन्न भक्ति के प्रकारो को प्रस्तुत ग्रन्थ मे तथा प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ मे प्रधान रूप से अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तथा चतुर्थ खण्ड को भारत के ईश्वरवाद का दर्शन माना जाय। यही दर्शन अश रूप से विभिन्न शैव और शाक्त ईश्वरवाद के वर्णन मे जारी रहेगा।

चतुर्थ खण्ड मे शकर तथा उनके अनुयायियो और मध्व तथा उनके अनुयायियो के दर्शन के कटु सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। साथ ही साथ भागवत पुराण तथा वल्लभ तथा चैतन्य के अनुयायियो के ईश्वरवाद का वर्णन भी किया जायगा। आस्तिक दार्शनिको के मध्य मध्व के अनुयायियो मे जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ का सूक्ष्म विचारक तथा तार्किक रूप मे एक महान् स्थान है। पाँचवे खण्ड मे शैव तथा शाक्त विचारको के अलावा तत्र, उनका दर्शन, व्याकरण, हिन्दू सौन्दर्यशास्त्र, तथा हिन्दू धर्म-शास्त्र का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि पाँचवें खण्ड की समाप्ति कर लेने पर लेखक, सस्कृत भाषागत हिन्दू विचार का सम्पूर्ण सर्वेक्षण कर चुकेगा और जो कार्य आज से २० साल पहले उसने प्रारम्भ किया था, उसकी समाप्ति भी कर सकेगा।

उपसहार के रूप मे चार्वाक भौतिकवादियो पर एक अध्याय जोड दिया गया है क्योकि पहले खण्ड मे इसका वर्णन लगभग छूट गया था।

लेखक डॉ० एफ० डब्लू० थॉमस-के अतीव कृतज्ञ है जो आक्सफोर्ड मे सस्कृत के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक तथा लेखक के सम्माननीय मित्र हैं, जो वृद्धावस्था के बावजूद विभिन्न कार्यों मे व्यस्त होते हुए भी, और लेखक के ज्ञानबधु बने रहकर उन्हे पाण्डु-लिपि तैयार करने मे, तथा वर्ण-विन्यास, वाक्-पद्धति और विराम चिह्नो के विषय मे अनेक उपयोगी सलाह देते रहे। उनकी अनवरत सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनेको त्रुटियाँ रही होती। लेखक अपनी धर्म पत्नी डॉ श्रीमती सुरमादास गुप्त एम ए, पी-एच डी (कलकत्ता तथा केम्ब्रिज) की अनवरत सहायता के लिए उनका विशेष रूप से आभारी है, उन्होने इस पुस्तक के तैयार करने के लिए अनेक पाण्डुलिपियाँ पढी। लेखक के एक ही नेत्र के सक्षम होने से जो कठिनाई बनी हुई थी उसे ध्यान मे रखते हुए यह खण्ड इस सहायता के बिना सम्पूर्ण होना अशक्य था।

डॉ सतीन्द्रकुमार मुखर्जी एम ए पी-एच डी से समय-समय पर प्राप्त सहायता के लिए लेखक उनका भी आभारी है।

जून १९३९ —सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

अध्याय–१९

यामुनाचार्य का दर्शन

अध्याय बीसवाँ

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

अध्याय इक्कीसवां

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

अध्याय बाईसवाँ

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

अध्याय तेईसवाँ

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

परिशिष्ट

अध्याय २५

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

भास्कर का समय

उदयनाचार्य ने अपनी न्याय कुसुमाजलि की टीका मे भास्कराचार्य के विषय मे उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होने वेदान्त की त्रिदड शाखा के मतानुसार वेदान्त ग्रन्थो की टीका की है। उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म मे विकासात्मक परिणाम होता है।[1] भट्टोजी दीक्षित ने भी, अपने तत्त्व विवेक टीका-विवरण नामक ग्रन्थ मे, भास्कर भट्ट के विषय मे कहा है कि वे भेदाभेद-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है।[2] भास्कराचार्य, शकराचार्य के बाद हुए, यह निर्विवाद सत्य है, यद्यपि उन्होने अपने ग्रन्थो मे शकराचार्य के नाम का उल्लेख नही किया है फिर भी वे जिस प्रकार से उनका उल्लेख करते है इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होने उपनी टीका शकराचार्य की ब्रह्मसूत्र की टीका के कुछ मुख्य सिद्धान्तो के खण्डन के हेतु लिखी है। वे टीका के प्रारम्भ मे ही कहते है कि टीका लिखने का मुख्य हेतु, उन मतो का खण्डन करना है जो सूत्रो के सच्चे अर्थ को छिपा कर केवल अपने व्यक्तिगत मतो का मण्डन करते हैं। अन्य स्थानो पर भी वे मायावाद को स्वीकार करने वाले टीकाकारो के विरुद्ध कडी भाषा का उपयोग कर कहते हैं कि यह टीकाकार बौद्ध है।[3] वे शकराचार्य का विरोध

---

[1] त्रिदड का अर्थ तीन दडो से है। मनु के अनुसार कुछ ब्राह्मणो मे एक तथा कुछ मे तीन दडो को धारण करने का नियम था।

प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ब्रह्मसूत्र पर भास्कर की टीका की प्रस्तावना मे यह कहते है कि रामानुज, टक गुहदेव, भारुचि तथा यामुनाचार्य, जो रामानुज के गुरु थे उनके पहले के सभी ब्रह्मसूत्र के वैष्णव टीकाकार त्रिदडी थे। यह कथन अत्यत रोचक है किन्तु अभाग्यवश वे यह नही बताते कि उन्होने यह किस प्रमाण के आधार पर कहा है।

[2] "भट्ट भास्करस्तु भेदाभेदवेदान्त-सिद्धान्तवादी"
प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने अपनी भास्कर की टीका की प्रस्तावना मे भट्टोजी दीक्षित रचित 'वेदान्त तत्त्व टीका विवरण' से उद्धृत किया है।

[3] सूत्राभिप्राय-सवृत्यास्वाभिप्रायाप्रकाशनात्।
व्याख्यात यैरिद शास्त्र व्याख्येय तन्निवृत्तये। —भास्कर की टीका, पृ० १।

अवश्य करते थे किन्तु यह विरोध केवल शकराचार्य के मायावाद–अर्थात् जगत् माया से उत्पन्न है और वह ब्रह्म का परिणाम नही है–तक ही सीमित था। किन्तु शकराचार्य और भास्कराचार्य दोनों ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण मानने मे एक मत हैं। शकराचार्य इस सिद्धान्त का मण्डन इसलिए करते हैं, कि उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नही, किन्तु वे दृढतापूर्वक कहते हैं कि जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म मे अनिर्वचनीय और असत् माया के सयोग से हुई है, और ब्रह्म जगत् से वस्तुत· भिन्न नही है, तो भी जगत् ब्रह्म का मायोपहित विवर्त है, माया रूप इस जगत् का ब्रह्म बीज रूप सत्य है। भास्कराचार्य का कहना है कि माया है ही नही, ब्रह्म ही अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप से परिवर्तित होता है। पचरात्र मे भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उनकी मान्यतानुसार, वासुदेव जगत् का निमित्त और उपादान कारण है, भास्कराचार्य का यहाँ भागवत धर्म से भी ऐकमत्य है। पचरात्र के इस सिद्धान्त से उनका वे कोई विरोध नही पाते हैं।[1] वे केवल उनके जीववाद से सहमत नही है क्योकि पचरात्र के मतानुसार जीव ब्रह्म से उत्पन्न है।[2]

यद्यपि हम निश्चित रूप से तो नही कह सकते, किन्तु यह सभव है कि भास्कराचार्य ब्राह्मणो के उस सप्रदाय के अनुयायी हैं, जो अन्य ब्राह्मणो के समान एक दड को धारण न कर तीन दड धारण करते थे, इसलिए उनकी वेदान्त सूत्र की टीका त्रिदडी ब्राह्मण सप्रदायानुवर्ती कही जा सकती है। साधन-चतुष्टय पर विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए आश्रम-धर्म उसकी रूढियो और उसके कर्मकाड का त्याग करना आवश्यक नही है। वे यह भी कहते हैं कि वेद भी तीन दड धारण करने का आदेश देते हैं।[3]

और भी, 'ये तु बौद्ध-मतावलविनो मायावादिनस्तेऽपि अनेन न्यायेन सूत्र कारेणैव निरस्ता।'

—वही २, २–२९।

अन्य स्थान पर शकर महायान बौद्धवाद के ही विचारो का प्रतिपादन करते हैं ऐसा कहा गया है।

विगीत विच्छिन्नमूल माध्यमिक-बौद्धगाथित मायावाद व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।

—वही, १४२५।

[1] वासुदेव एव उपादान-कारण जगतो निमित्तकारण चेति ते मन्यन्ते · तदेतद् सर्वश्रुति प्रसिद्ध एव तस्मान्नात्र निराकरणीय पश्याम।

—भास्कर भाष्य, २, २–४१।

[2] वही।

[3] वही ३, ४–२६ और भी देखो प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

माधवाचार्य अपने शंकर विजय ग्रन्थ मे शंकराचार्य और भास्कर भट्ट की भेंट का उल्लेख करते हैं किन्तु यह कितना विश्वसनीय है यह कहना कठिन है।[1]

भास्कराचार्य ने शंकर-मत का खण्डन किया, और उदयनाचार्य ने भास्कर का उल्लेख किया है, इनसे यह निश्चित है कि भास्कराचार्य आठवी और दसवी शताब्दी के बीच रहे होंगे। पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद, महाराष्ट्र मे नासिक के पास डा० भाऊदाजी द्वारा पाए हुए ताम्र पत्र के आधार पर कहते हैं कि शांडिल्य गोत्र मे उत्पन्न, कवि चक्रवर्ती त्रिविक्रम के पुत्र, कोई भास्कर भट्ट थे जिन्हे विद्यापति की उपाधि मिली हुई थी और वे शांडिल्य गोत्रोत्पन्न भास्कराचार्य के छठे पूर्वज थे, जो एक ज्योतिषी और सिद्धान्त शिरोमणि के रचयिता थे। वे ऐसा मानते हैं कि ज्येष्ठ विद्यापति भास्कर भट्ट ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे।[2] किन्तु उनका यह कथन साधक प्रमाण के अभाव मे स्वीकार नही किया जा सकता। दोनो के नाम मे समानता होने के अलावा कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं मिलता जो यह सिद्ध कर सके कि इन्हीं विद्यापति भास्कर भट्ट ने ब्रह्म सूत्र की टीका लिखी है।[3] जो कुछ हम सामान्य निश्चय के साथ यह कह सकते है वह इतना ही है कि भास्कराचार्य का काल मध्य आठवी शताब्दी और मध्य दसवी शताब्दी के बीच का है, बहुत संभव है कि उनका काल नवमी शताब्दी रहा हो क्योंकि वे रामानुजाचार्य से अनभिज्ञ थे।[4]

भास्कर और शंकर

ब्रह्म सूत्र २-१-१४ का अर्थ स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य और भास्कराचार्य,

---

[1] शंकर विजय, १५८०।

[2] पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

[3] हम संस्कृत साहित्य मे अनेको भास्कर के नाम सुनते है जैसेकि लोक भास्कर, भ्रान्त भास्कर, हरिभास्कर, भदन्त भास्कर, भास्कर मिश्र, भास्कर शास्त्री, भास्कर दीक्षित, भट्टभास्कर, पंडित भास्कराचाय, भट्ट भास्कर, मिश्र, त्रिकांड मडन, लागाक्षी भास्कर, शांडिल्य भास्कर, वत्स भास्कर, भास्कर देव, भास्कर नृसिंह, भास्करारण्य, भास्करानन्दनाथ, भास्कर सेन।

[4] वे अन्य लेखको के विषय मे बहुत कम उल्लेख करते है। उनका कथन है कि शांडिल्य भागवत संप्रदाय के महान् ग्रन्थाकार हैं। वे पाशुपत, शैव, कापालिक और काठक-सिद्धान्ती तथा पंचाध्यायी इन चार प्रकार के महेश्वरो का वर्णन करते हैं। शास्त्र को उनका मुख्य ग्रन्थ मानते हैं। वे पंचारात्रिको का भी उल्लेख करते है जिनसे वे अधिकतर सहमत है।

कार्य कारण की ही एक अवस्था है और कारण से भिन्न और अभिन्न दोनो है।[1] कार्य अर्थात् नाम (नामधेय) सत्य है और श्रुति भी ऐसा ही कहती है।[2]

भास्कराचार्य शकराचार्य के मत का खडन इस प्रकार करते हैं, मायावादी, नाना रूप जगत् की सत्ता मानने वालो के विरोध मे जो दलील देते हैं वे ही उनके विरोध मे भी दी जा सकती है क्योकि वह अद्वैत की सत्ता मानते हैं। जो व्यक्ति श्रुति का श्रवण और तत्त्वचिंतन करता है वह स्वय प्रथम अविद्या से अभिभूत होता है और अगर इस अविद्या के कारण उसका द्वैत ज्ञान मिथ्या है तो उसका अद्वैत ज्ञान भी उसी कारण-वश मिथ्या माना जा सकता है। समस्त ब्रह्म ज्ञान मिथ्या है, क्योकि यह भी जगत् के ज्ञान की तरह मिथ्या ज्ञान है। वे आगे फिर ऐसी दलील देते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नार्थ और शब्द के मिथ्या ज्ञान द्वारा, अच्छे बुरे का किसी और अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार अद्वैत मतवादी उपनिषद् ग्रन्थो के शब्दार्थों के मिथ्या-ज्ञान द्वारा ही सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क मिथ्या-सादृश्यानुमान पर आधारित है। जब कोई कुछ स्वप्नो के भले-बुरे परिणाम के बारे मे निर्णय करता है तब वह बिना किसी आधार के ऐसा नही करता, क्योकि उसके निर्णय का आधार विशेष प्रकार के स्वप्नो के अनुभव ही है। और स्वप्नानुभव तथ्य हैं जो अपनी विशेषता रखते हैं। शश-विषाण (खरगोश के सीग) की तरह केवल मिथ्या नही हैं। शश-विषाण के दृष्टान्त के आधार पर कोई किसी निर्णय पर नही पहुँच सकता। वर्णों का भी अपना आकार और रूप है और इनका सर्वसाधारण की मान्यतानुसार, विशेष ध्वनि से सम्बन्ध है। यह भी मानी हुई बात है कि भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न वर्णों का उपयोग एक ही ध्वनि के सूचन मे किया जा सकता है। पुन अगर कोई किसी भूल से भय का अनुभव करके मर जाता है तो वह केवल असत् या मिथ्या वस्तु के कारण नही मरता, क्योकि वह सचमुच डरा था, उसकी मृत्यु का कारण भय था, जो किसी यथार्थ वस्तु की स्मृति से उत्तेजित हुआ था। भय के अनुभव मे मिथ्यात्व केवल इतना ही था कि डराने वाली जिस वस्तु का भय हुआ वह उस समय उपस्थित नही थी। इस प्रकार हम ऐसा कोई भी दृष्टान्त नही प्रस्तुत कर सकते, जिससे हम यह सिद्ध कर सकें कि मिथ्या-ज्ञान या केवल

---

[1] वागिन्द्रियस्य उभयमारम्भण विकारो नामधेयम् उभयमालम्ब्य वाग्व्यवहार. प्रवर्तते घटेन उदक आधारेऽति मृण्मय इत्यस्य इद व्याख्यान कारणमेव कार्यात्मना घटवदवतिष्ठते कारणस्यावस्थामात्रम् कार्य व्यतिरिक्ता-व्यतिरिक्त शुक्ति-रजत-वदागमापायिधर्मित्वाच्च अनृतम् अनित्यमिति च व्यपदिश्यते।

—भास्कर भाष्य, २-१-१४।

[2] अथ नामधेय सत्यस्य सत्यमिति इत्यादि। —वही।

मिथ्यात्व से सच्चाई या सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते है। पुन शास्त्र जगत् का मिथ्यात्व कैसे प्रतिपाद कर सकते है ? अगर श्रवण से प्राप्त सारा ज्ञान मिथ्या है तो सारी भाषाएँ भी मिथ्या हो जाती है और तब शास्त्र को भी मिथ्या ही मानना होगा।

इसके अतिरिक्त यह अविद्या भी क्या है यदि कोई इसका वर्णन नही कर सकता तो कोई इसे दूसरे को कैसे समझा सकता है ? और यह कथन कि अविद्या विविध आचार-व्यवहार से पूर्ण आनुभविक जगत् के ठोस एव मूर्त्त रूप मे अभिव्यक्ति पाकर भी अनिर्वचनीय बनी रहती है, अत्यन्त निरर्थक है।[1] जो इस प्रत्यक्ष तथा अनुभव व्यावहारिक जगत् के रूप मे अभिव्यक्त होगा, वह अनिवचनीय है यह कथन कितना अर्थहीन विषयक है।[2] अगर वह अनादि है तो वह नित्य अवश्य है और तब मोक्ष प्राप्ति असभव है। वह सत् और असत् दोनो नही हो सकती क्योकि ऐसा कहना परस्पर विरोधी है। वह केवल अभाव रूप भी नही हो सकता क्योकि जो असत् है वह बधन का कारण भी नही हो सकता है। अगर वह बधन का कारण है तो वह भाव रूप अवश्य है, और तब ब्रह्म में द्वैत उत्पन्न होने का दोप आए बिना नही रह सकता। इसलिए मायावादी का सिद्धान्त मिथ्या प्रमाणित होता है।

सत्य तो वास्तव मे यह है कि जिस प्रकार दूध दही के रूप मे जमता है वैसे ही ईश्वर ही स्वय अपनी इच्छा, ज्ञान और अनन्त से अपने आपको जगत् रूप मे परिण-मित करता है। ईश्वर निश्वयव होते हुए भी, जगत् के रूप से परिणमित होता है इस कथन मे कोई असगति नही है, क्योकि वह अपनी विभिन्न शक्तियो को अपनी इच्छा से रूपातरित कर ऐसा परिणाम ला सकता है। ईश्वर की दो शक्तियाँ है। भोग्य शक्ति द्वारा वह भोग्य सृष्टि बना है और भोक्त-शक्ति द्वारा भोक्ता जीव बना है। यह सब होते हुए भी वह स्वय अपने आप मे अपरिणामी और निर्मल है। केवल अपनी शक्ति के रूपातरण से वह भोक्ता और भोग्य रूप जगत् मे परिणमित होता है। सूर्य अपने बिम्ब मे से जैसे किरणो को प्रसारित कर फिर अपने में समेट लेता है फिर भी सूर्य ही बना रहता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर जगत् का निर्माण और समाहरण करता है।[3]

---

[1] यस्या सर्वमिद कृत्स्न व्यवहाराय कल्पते
निर्वक्तु सा न शक्येति वचन वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[2] यस्या कार्य इदकृत्स्न व्यवहार्य कल्पते।
निर्वक्तु सा न शक्येऽति वचन वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

[3] भास्कर भाष्य, २-१-२७ तथा १-४-२५।

भास्कराचार्य के भाष्य में उपलब्ध दर्शन

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास्कराचार्य के मतानुसार, जीव और जड जगत्, स्वय ब्रह्म की अपनी विभिन्न शक्तियो द्वारा उसके परिणाम मात्र है। यहां एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है कि जगतत् और जीव ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? भास्कराचार्य उत्तर देते है कि भेद मे अभेद धर्म विद्यमान है (अभेदधर्मश्च), लहर समुद्र से भिन्न भी है और अभिन्न भी। लहरें समुद्र की शक्ति की अभिव्यक्ति हैं इसलिए जो सागर अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भिन्न दीखता है वस्तुत वह अपनी शक्ति से अभिन्न है। ठीक इसी प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशक या दाहक के रूप मे भिन्न-भिन्न है। इसलिए जो एक है वह नाना रूप भी है, जो है वह न तो नितान्त एक रूप है न नितान्त भिन्न रूप है।[1]

जीव ईश्वर से वस्तुत भिन्न नही है वरन् उसका मात्र अश है, जैसे अग्नि-स्फुलिंग, अग्नि के अश हैं। किन्तु ईश्वराश जीवो की यह विशेषता है, कि वे ब्रह्म से एक होते हुए भी अनादिकाल से अविद्या, इच्छा और कर्मो के प्रभाव मे रहे हैं।[2] जिस तरह आकाश सब जगह एक सा ही है तो भी मठ या घर के अन्तर्गत आकाश, महत् आकाश नही है। एक दृष्टिकोण से वह अखड आकाश का अश कहा जा सकता है, अथवा जिस प्रकार वायु पच प्राण के रूप मे भिन्न-भिन्न जैविक मे व्यापार करती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी एक अर्थ मे ईश्वर के अश कहे जा सकते हैं। शास्त्र, जीव को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का आदेश देते है, वह युक्ति सगत है और योग्य भी है, क्योकि जीव की परमात्मा, ब्रह्म, या ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा ही मुक्ति का कारण है तथा सासारिक वस्तुओ की अभिलाषा ही बध का कारण है।[3] जीव, अविद्या, इच्छा और कर्म से अभिभूत होने के कारण अणुरूप है और जिस प्रकार चदन लेप का एक अश सारे वातावरण को सुगधित बना देता है इसी प्रकार जीव भी स्वभाव मे रहते हुए सारे शरीर को चेतन कर देता है। वह स्वभाव से चेतन है केवल

[1] अभेद-धर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेद स एव तरगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, नहि तरगादय पाषाणादिपु दृश्यन्ते तस्यैव ता शक्तय. शक्ति-शक्तिमतोश्च अनन्यत्वमन्यत्व चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहन प्रकाशनादिशक्तय ·· तस्मात् सर्वम् एकानेकात्मक नात्यतमभिन्न भिन्न वा।

—भास्कर भाष्य २–१–१८।

[2] वही, १–४–२१।

[3] रागोहिपरमात्म विपयो य स मुक्तिहेतु विपय-विपयो य स बधहेतु।

भास्कर भाष्य।

अन्य विषयो के ज्ञान के सबध मे ही उन की उपस्थित पर वह निर्भर है।[1] जीव का स्थान हृदय मे है और हृदय के चर्म द्वारा वह सारे देह के सम्पर्क मे रहता है। यद्यपि वह बन्धनयुक्त है, अविद्या इत्यादि से प्रभावित है और अणुरूप है, तो भी अततोगत्वा वह अणुरूप नही है क्योकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। बुद्धि, अहकार, पच इद्रियाँ और पच प्राण से प्रभावित होकर जीव पुनर्जन्म के चक्र मे फँसता है। अणुरूप होना और बुद्धि इत्यादि के सम्पर्क मे रहना जीव का स्वभाव नही है किन्तु जहाँ तक वह सम्बध विद्यमान है वहा तक, जीव के कर्तृत्व पूर्णतया सत्य है, किन्तु इन कर्तृत्व का मूल, अत मे ईश्वर स्वय ही है। ईश्वर ही हम से सारे कर्म कराता है, वही हम से सत्कर्म कराता है और हमारे अतर मे रहता हुआ हमारे सारे कर्मो का नियत्रण भी करता है।

मनुष्य को प्रत्येक आश्रम मे शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिये, वह कभी भी उस अवस्था पर नही पहुच सकता जहा वह शास्त्रोक्त कर्म के बधन से ऊपर उठ जाता हो।[2] अत शकराचार्य का यह कथन ठीक नही है कि उच्च ज्ञान का अधिकारी जीवन के धर्म तथा शास्त्रोक्त कर्म और आचार से परे है या जिन लोगो के वास्ते शास्त्रो मे जो कर्मकाड निर्दिष्ट किये गये वे उच्च ज्ञान के अधिकारी नही हैं। दूसरे शब्दो मे शकराचार्य का यह कथन कि कर्म और ज्ञान मे कही भी समुच्चय नही है यह असत्य है। भास्कराचार्य यह अवश्य मानते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्म, ब्रह्म को परम सत्य का दर्शन नही करा सकते, तो भी ज्ञान-समुच्चित कर्म परम श्रेय, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति करा सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हमारा धर्म है। हम शास्त्र के आदेशानुसार ही इसे स्वीकारते हैं क्योकि शास्त्र यहा पर हमे विधि देता है, आत्मा जानने योग्य है इत्यादि (आत्मा वा अरे दृष्टव्य), इसलिये शकराचार्य का यह कथन ठीक नही है कि शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक कर्म हमे अधिक से अधिक पापरहित बनाकर

---

[1] वही २–३–१८, २२, २३।

[2] भास्कर भाष्य, १–१–१।

ब्रह्म सूत्र, एक अर्थ मे मीमासा सूत्र से ग्रथित है जिसका अनुकरण करना आवश्यक है, क्योकि कर्मकाण्ड का पालन करने के पश्चात् ही ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इसलिये ब्रह्म-ज्ञान कर्मकाण्ड की आवश्यकता हटा नही सकता, तथा ब्रह्म सूत्र कोई उच्च तथा भिन्न लोगो के ही लिये है इस विचार को मान्य रखते हुए भास्कर उपवर्ष या उपवर्षाचार्य का अनुसरण करते हैं तथा उन्ही की मीमासा-सूत्र की टीका का उल्लेख करते हैं तथा उन्हें इस प्रणाली के सस्थापक कहते हैं।

—वही १–१–१ तथा २–२–२७ और भी देखो १–१–४। आत्म ज्ञानाधिकृतस्य कर्मभिर्विनापवर्गानुपपत्ते ज्ञानेन कर्म समुच्चीयते।

वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी ही बनाते है। भास्कराचार्य यह कहते है कि शास्त्रोक्त कर्म करना हमारे लिये उतना ही आवश्यक है जितना मुक्ति के लिये ज्ञान प्राप्त करना है।

भास्कराचार्य ज्ञान और चैतन्य के बीच विशेषत. आत्म-चैतन्य और ज्ञान के बीच भेद मानते हैं। ज्ञान का अर्थ विषय-ज्ञान है जो इद्रिय, मनस् और विषय के सम्बध से प्रकाश और स्मृति और सस्कार की अत क्रिया से प्राप्त होने वाला अनुभव है। ज्ञान स्वत चालित नही है, वह सहकारी सम्बध से इद्रियादि-व्यापार-जनित कार्य है। (जिससे) जब कभी ऐसे सहायक सम्मिलित होकर इद्रियो को सचालित करते है तब विषय-ज्ञान होता है। भास्कराचार्य इसलिये कुमारिल के मत से स्पष्ट विरोध करते है।[1] कुमारिल के मतानुसार ज्ञान वह भाव पदार्थ है जो प्रत्यक्ष नही हो सकता किन्तु बुद्धि-व्यापार के कारक के रूप मे अनुमान-गम्य है यह स्वत प्रज्ञात नही है। अगर हम इस प्रकार प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिये अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा मान लें तो हमे इस भाव-पदार्थ को समझाने के लिये दूसरे भाव-पदार्थ की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी और इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। तदुपरान्त प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिये अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकना। क्योकि अगर वह पदार्थ प्रत्यक्ष नही हो सकता तो, बुद्धि-व्यापार के साथ उसका सम्बध भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, फिर उसका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है अन्य कोई अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ इसका कारण नही है। ज्ञान (सवेदना) अनेको सहायको की सबधित क्रियाओ का प्रत्यक्ष कार्य है। विषय-ज्ञान, आत्म-चैतन्य से नितान्त भिन्न है, क्योकि आत्म-चैतन्य नित्य है और हमेशा रहता है, जबकि विषय-ज्ञान, तत्सबधी सहायक परिस्थितियो पर आश्रित है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास्कराचार्य का प्रामाण्यवाद स्वतत्र है विषय-ज्ञान (सवेदना) के बारे मे न्याय से इनकी युक्ति है किन्तु वह न्याय से भिन्न भी है क्योकि वे जीव को निरन्तर आत्म-चैतन्य मानते है। शकराचार्य के प्रमाण्यवाद से भी यह भिन्न है क्योकि विषय-ज्ञान उपाधियुक्त चैतन्य नही है किन्तु अन्य प्रकार का ज्ञान है।[2]

[1] ज्ञान क्रिया कल्पनाया प्रमाणाभावात्—आलोकेंद्रिय मन सस्कारेषु हि सत्सु सवेदन-मत्पद्यते इति तदभावे नोत्पद्यते, यदि पुनरपर ज्ञान कल्प्यो तस्याप्यन्यत् इति अनवस्था न च ज्ञान-क्रियानुमाने लिंगमस्ति, सवेदनमिति चेन्न, अगृहीत सबधत्वात्।

—भास्कर भाष्य १-१-१।

[2] केचिदाहु आत्मा प्रमाण्य मिंद्रिय द्वारोपाधि निर्गम विषयेषु वर्तते—तदिदमसम्यग् दर्शन—आत्मनोऽिन्द्रियादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यमान- चान्यदिति युक्त। —भास्कर भाष्य।

यहा यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि वेदान्त परिभाषा के रचयिता धर्मराजाध्वरींद्र के मत से विपरीत भास्कराचार्य, मनस् को ज्ञानेन्द्रिय मानते है।[1] ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के विषय में भास्कराचार्य का यह मत है कि सत्य ज्ञान स्वत प्रमाणित है, मिथ्या-ज्ञान परत प्रमाणित है।[2]

जैसा कहा गया है, तदनुसार भास्कराचार्य के मत मे मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त नही होती है, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हुए हमे शास्त्रोक्त धर्म का पालन करना आवश्यक है क्योकि ज्ञान और कर्म मे विरोध नही है। धर्म का त्याग देंगे तो मुक्ति नहीं मिलेगी।[3] मुक्तावस्था मे अखण्ड निरन्तर सुख का ज्ञान होता है।[4] मुक्त चाहे तो शरीर इद्रिय आदि से सम्पर्क रखे या न रखे।[5] वह सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान है और सब जीवो से और ईश्वर स्वय से अभिन्न है।[6] मुक्त होने के लिये ब्रह्म के प्रति राग आवश्यक है जिसका स्वरूप विशद करते हुए उसे (समाराधना) भक्ति कहा है और भक्ति का अर्थ ईश्वर का ध्यानादि से परिचर्या करना कहा है। भक्ति किसी प्रकार का ईश्वर के प्रति प्रेम या भाव नही है जैसाकि वैष्णव-सम्प्रदाय मे माना है, किन्तु वह ध्यान है।[7] यहा एक प्रश्न उठ खडा हो सकता है कि अगर ब्रह्म ही जगत रूप मे परिणत हुआ है तो ध्यान किसका किया जाय ? क्या हम जगत् का ध्यान करें ? भास्कराचार्य उत्तर मे कहते है कि ब्रह्म जगद् रूप मे परिणत होने पर विलीन नही होता एव जगत ब्रह्म का ही परिणाम है इसका अर्थ केवल यही है कि जगत् ब्रह्ममय है, जड नही है। जगत् चिन्मय अभिव्यक्ति है और चिन्मय परिणाम है, जो जड रूप से दीखता है वह वास्तव मे चिन्मय है। जगत् रूप मे परिणत ब्रह्म, जो अनेक शक्ति-सम्पन्न है और इसके अलावा भी जो निष्प्रपच ब्रह्म है वह अपने अन्तर्यामी रूप मे परे है, भक्ति ध्यान इसी का करना चाहिये। नानात्व रूप मे अभिव्यक्त जगत्, अन्त मे अपने मूल स्रोत निष्प्रपच ब्रह्म मे वापस मिल जाएगा, शेष में कुछ भी नही बचेगा। जड रूप जगत् चैतन्य मे पानी के नमक के कण की तरह घुल-मिल जायगा।[8] यह

---

[1] वही २–४–१७।

[2] वही १–४–२१।

[3] वही ३–४–२६।

[4] वही ४–४–८।

[5] वही ४–४–१२।

[6] मुक्त कारणात्मान प्राप्त तद्वदेव सर्वज्ञान सर्वशक्ति।

—भास्कर भाष्य ४–४–७।

[7] वही ३–२–२४।

[8] वही, २–२–११, १३, १७।

पर ब्रह्म, जिसका ध्यान करना कहा गया है, वह सद्-लक्षण और बोध-लक्षण है।[1] वह अनन्त और असीम है। ब्रह्म को सत्, चित् और अनन्त रूप कहा गया है किन्तु ये उक्त पद किन्ही तीन भाव पदार्थों को सूचित नही करते, ये ब्रह्म के गुण हैं और अन्य सभी गुणो की तरह अपने द्रव्य से अलग नही रह सकते। क्योकि द्रव्य गुण बिना नही रह सकता, और न गुण द्रव्य के बिना। द्रव्य गुण अपने धर्म के कारण भिन्न पदार्थ नही बन जाता।[2]

भास्कराचार्य जीवनमुक्त स्थिति को नही मानते, क्योकि जहा तक शरीर है वहा तक सचित कर्मानुसार गति और आश्रम-धर्म पालन करना ही पडता है। साधारण बद्ध पुरुष से, ज्ञानी का भेद यही रहता है कि बद्ध अपने को कर्त्ता इत्यादि मानता है, ज्ञानी ऐसा नही सोचता। अगर कोई जीवन-काल मे मुक्त हो जाए तो वह सबके मन को जान सकता है। मुक्तावस्था मे जीव नि सबध हो जाता है या जैसाकि भास्करा-*चार्य कहते हैं वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो जाता है, इस बारे मे कुछ नही कहा जा* सकता, जीवन काल मे मुक्ति मिल ही नही सकती क्योकि जहा तक मनुष्य जीवित है वहा तक उसे आश्रम-धर्म पालन करना पडेगा। ईश्वर की पहचान और उसके प्रति सबल ध्यान केन्द्रित करना मानव के लिए आवश्यक है ताकि उसे मृत्यु के उपरान्त मुक्ति प्राप्त हो सके।[3]

---

[1] वही ३–२–२३।

[2] न धर्म धर्मि-भेदेन स्वरूपभेद इति, नहि गुणरहित द्रव्यमस्ति, न द्रव्य रहितो गुण।
—वही, ३–२–२३।

[3] भास्कर भाष्य ३–४–२६।

ध्याय १६

पंचरात्र मत

पंचरात्र की प्राचीनता

पचरात्र सिद्धान्त वास्तव मे बहुत प्राचीन है जिसका ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से सबन्ध है। वह एक दृष्टि से भविष्य के समस्त वैष्णव सम्प्रदायो की नीव है। शतपथ ब्राह्मण मे ऐसा कहा गया है कि परम पुरुष नारायण ने, समस्त नरो से परे बनने की एव सबसे एक होने की इच्छा प्रकट की, तब उनको पचरात्र यज्ञ का दर्शन हुआ जिसे करके, वे अपना ध्येय पा सके।[1] ऐसा हो सकता है कि 'पुरुषो ह नारायण' के ये विशेष नाम आगे जाकर नर और नारायण नामक दो ऋषियो मे परिणत हो गए हो। पाठ का अर्थ यह भी हो सकता है कि नारायण नाम का एक पुरुष पचरात्र यज्ञ करके महान् देवता बन गया। वेकट सुधी ने अपने १६००० पक्तियो से युक्त सिद्धान्त रत्नावली नामक ग्रन्थ मे, शास्त्र प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि, नारायण सर्वश्रेष्ठ देव है और शिव, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देव उसके अधीन है।[2] सिद्धान्त रत्नावली के चतुर्थ अध्याय मे ऐसा कहा है कि नारायण शब्द उपनिषद् के ब्रह्मन् शब्द का सूचक है। महाभारत (शाति पर्व ३३४ अध्याय) मे उल्लेख है कि नर नारायण, स्वय, अपरिणामी ब्रह्म की, जो सारी सत्ता की आत्मा है, उपासना करते है, और तब भी उन्हे सबसे महान् कहा गया है। बाद के अध्याय मे ऐसा उल्लेख है कि एक राजा, नारायण का अनन्य भक्त था जो सात्वत धर्मविधि के अनुसार उनकी उपासना करता था।[3] वह उनका इतना अनन्य भक्त था कि उसने अपना सब कुछ राजपाट, धनराशि इत्यादि को नारायण की ही देन मान लिया था। वह अपने घर मे पचरात्र अनुयायी साधुओ को सम्मान और आश्रय देता था। इन साधुओ ने राजा के आश्रय में रहकर यज्ञ किया पर वे नारायण के दर्शन नही कर सके इससे बृहस्पति क्रुद्ध हो गए। कुछ सन्तो ने इस वृतान्त को इस प्रकार कहा कि जब ऋषि कठोर तपस्या

---

[1] शतपथ ब्राह्मण, १३, ६, १।

[2] सिद्धान्त रत्नावली हस्तलिखित है। अभी तक प्रकाशित नही हुई है।

[3] सात्वत सहिता नामक प्राचीन पचरात्र सहिता प्राप्त है, जिसका उल्लेख शीघ्र ही किया जायगा।

के बाद भी ईश्वर दर्शन न कर सके तब स्वर्ग से एक सदेश आया कि महानारायण श्वेत द्वीपवासियो को ही साक्षात्कार प्रदान करते है, जो इद्रीयहीन हैं, जिन्हे भोजन की आवश्यकता नही होती और जो एकेश्वरवादी भक्त है। ये सन्त श्वेत द्वीप के लोगो के अपार सौन्दर्य से चकाचौंध हो गए अत उन्हे न देख सके तब वे तपस्या करने लगे। तत्पश्चात् वे उन्हे दृष्टिगोचर हो पाए। श्वेत द्वीपवासी मत्र जप द्वारा देवता की अराधना करते थे और उन्हे भेंट अर्पित करते थे। इसके बाद स्वर्ग से फिर सदेश आया कि वे श्वेत द्वीपवासियो को देख पाए हैं इसी मे उन्हे सतोष मान लेना चाहिए और वापस घर लौट जाना चाहिए क्योकि महेश्वर का बिना पूर्ण भक्ति के साक्षात्कार नही होता। नारद ने भी, ऐसा कहा जाता है, कि श्वेतद्वीप के विचित्र वासियो को दूर से देखा था। नारद फिर श्वेतद्वीप गए और वहाँ उन्होने अपने आराध्यदेव नारायण के दर्शन किए। नारायण ने उनसे कहा कि वासुदेव परम और अपरिणामी ईश्वर हैं, जिनके सकर्शण की उत्पत्ति हुई जो सब जीवो के अधिपति हैं, उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए जो अहकार है। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिनसे यह सारी सृष्टि प्रकट हुई। प्रलय के बाद वासुदेव से कर्मपूर्वक सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पैदा होते हैं।

कुछ उपनिषद् वैष्णव उपनिषद् कहे जाते हैं जो पचरात्र ग्रन्थो के बाद रचे गए हैं। ये उपनिषद् इस प्रकार हैं अव्यक्तोपनिषद् या अव्यक्त नृसिहोपनिषद् जिसकी टीका वासुदवेन्द्र के शिष्य उपनिषद् ब्रह्म योगिन् ने की है, काली सन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गरुडोपनिषद्, गोपाल तापनी उपनिषद् गोपालोत्तर तापनी उपनिषद्, तारा सारोपनिषद्, त्रिपादविभूति महानाराण उपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नृसिहतापिनी उपनिषद्, नृसिहोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामतापिनी उपनिषद्, रामोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामरहस्य उपनिषद्, वासुदेवोपनिषद् जिनके टीकाकार उपनिषद् ब्रह्मयोगिन् हैं। ये सब उपनिषद्, अनावश्यक वर्णन, क्रिया 'कर्म और मत्रो से भरे हैं। इनका पचरात्र ग्रन्थो से कुछ भी सम्बध नही है। इनमे से कुछ उपनिषदो को, जैसे कि नृसिहतापिनी, गोपालतापिनी इत्यादि वैष्णव-सप्रदाय के गौडिय पथ वालो ने अपना लिया है।

पंचरात्र साहित्य का स्थान

यामुन अपने 'आगम प्रामाण्य' ग्रन्थ मे पचरात्र की विशिष्ठता की इस प्रकार विवेचना करते हैं। उनका कथन है कि भाषा द्वारा दिया हुआ उपदेश या तो स्वत प्रमाण होता है या अन्य प्रमाणो की वैधता द्वारा सिद्ध होता है। सामान्य मनुष्य का उपदेश स्वत सिद्ध नही होता। पचरात्र से सम्बन्धित विशिष्ट आनुष्ठानिक प्रक्रियाएँ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा ज्ञेय नहीं हैं। केवल ईश्वर ही पचरात्र का विशिष्ट उपदेश दे

सकते है क्योकि उनका ज्ञान अमर्यादित है और जगत् की सारी वस्तुओं तक पहुचता है। यद्यपि इस मत के विरोधी यह कहना चाहते है कि यदि प्रत्यक्ष के क्षेत्र के अतर्गत सब वस्तुए आ जाती है तो वे प्रत्यक्ष है ही नही एव उसके उपरान्त यह तथ्य कि कुछ वस्तुए अन्य वस्तुओ से बडी हैं यह सिद्ध नही करता कि कोई भी वस्तु जो बडी या छोटी होने की क्षमता रखती हो उसकी असीम क्षमता हो।[1] फिर भी यदि यह मान लिया जाए कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है, जिसके प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा असीम है। इससे ऐसा मानने को बाध्य नही होना पडता कि वह व्यक्ति पचरात्र के कर्मकाण्ड के विषय मे उपदेश दे सके, और कोई भी ऐसा आगम प्राप्त नही है जो पचरात्र मे कहे कर्म-काण्ड का आदेश देता हो। यह निश्चित भी नही किया जा सकता कि पचरात्र के रचनाकारो ने अपने ग्रन्थो को वेदो के आधार पर रचा है या उन्होने अपने स्व-कल्पित विचारो को जन्म दिया और वे वेद पर आधारित हैं ऐसा कह दिया। यह तर्क किया जाए कि पचरात्र मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थो के समान वेदो पर आधारित होने के कारण ही प्रमाण रूप है, किन्तु यह मिथ्या सिद्ध होता है जब हम यह पाते हैं कि स्मृति मे, जो वेद पर आधारित है, यचरात्र का विरोध किया गया है। अगर ऐमा कहा जाय कि पचरात्र कर्म-काण्ड के अनुयायी अन्य वेद अनुयायी ब्राह्मणो जैसे ब्राह्मण हैं तो विरोधी पक्ष का यह कहना है कि पचरात्र के अनुयायी वाह्य रूप से ब्राह्मण होने का दिखावा करें किन्तु समाज उन्हे ऐसा नही मानता। सहज मामान्य ब्राह्मण, भागवत और पचरात्र के अनुयायी ब्राह्मणो के साथ सामाजिक भोज मे एक पक्ति मे नही बैठते। सात्वत शब्द ही निम्न जाति का द्योतक है[2] और भागवत और सात्वत शब्द पर्यायवाची है। ऐसा कहा जाता है कि पचम जाति के सात्वत लोग राजाज्ञा से मदिर मे पूजा करते हैं और वे भागवत कहलाते हैं। सात्वत, आजीविका के लिए मदिर मे पूजा करते है और दीक्षा तथा मूर्ति पर चढाई भेंट से अपना निर्वाह करते है, उनका अन्य ब्राह्मणो से कोई भी सम्वध नही है इसलिए वे ब्राह्मण नही कहे जा सकते। ऐसा भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति आजीविका मात्र के लिए पूजा

---

[1] अथ एकस्मिन् सातिशये केनाप्यन्येन
निरतिशयेन भवितव्यम् इति आहोस्वित्
समान जातीयेनान्येन निरतिशयदशाम्
अधिरूढेन भवितव्यम् इति ॥
न तावद् अग्रिम कल्प कल्प्यतेऽनुपलम्भत ।
नहि दृष्ट शरावादि व्योमेव प्राप्त वैभवम् ॥ —आगम प्रामाण्य, पृ० ३।

[2] मनु ऐसा कहते है
वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
भारुषश्च निजद्यश्च मैत्र—सात्वत एवच ॥ —आगम प्रामाण्य, पृ० ८।

करता है उसके दर्शन से ही लोग अपवित्र हो जाते है जिनकी शुद्धि योग्य प्रायश्चित कर्म द्वारा ही हो सकती है। पचरात्र ग्रन्थ निम्न कोटि के सात्वत और भागवत अपनाते हैं, इसलिए ये ग्रन्थ अप्रमाण और अवैदिक माने जाने चाहिएँ। अगर ये ग्रन्थ वेद पर आधारित है तो उनका विशेष प्रकार के कर्म-काण्ड के प्रति आग्रह होना अर्थ-हीन है इसी कारण से बादरायण भी ब्रह्मसूत्र मे पचरात्र के दार्शनिक मत का खण्डन करते हैं।

ऐसा तर्क अवश्य किया जा सकता है कि पचरात्र की विधि ब्राह्मण अतर्गत स्मृति साहित्य की विधियो से मेल नही खाती किन्तु ऐसे विरोध महत्त्व नही रखते क्योकि दोनो ही वेद पर आधारित है। जबकि ब्राह्मणोक्त स्मृति की प्रमाणता भी वेद पर आधारित है तो पचरात्र को न इन स्मृतियो की विधि से सामजस्य करने की आवश्यकता है न इन स्मृतियो को पचरात्र की विधि से।

प्रश्न यह उठता है कि वेद किसी एक व्यक्ति की वाणी है या नही। वेद मनुष्य की कृति है इस कथन के समर्थन मे यह तर्क दिया जाता है कि वेद एक साहित्य होने के नाते निश्चित रूप से मनुष्य की कृति हैं। दैवी पुरुष, जो पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है वह अपनी कृपा से मनुष्य के हित के लिये वेद की रचना कर उसकी विधि देता है। मीमासाकार भी यही मानते हैं कि सासारिक जीवन का व्यवहार, पाप-पुण्य से प्रभावित है। इसलिये दैवी पुरुष जिसने जगत् उत्पन्न किया है वह पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है। ससार हमारे कर्मों के प्रभाव से तत्क्षण उत्पन्न नही होता और हमे यह मानना ही पडेगा कि कोई ऐसी सत्ता है जो हमारे कर्मो के फलो का उपयोग करके उसके योग्य जगत् की रचना करती है। समस्त शास्त्र भी ऐसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करते है। इसी ईश्वर ने, एक तरफ, वेदो की रचना की और मनुष्यो को सासारिक एव स्वर्ग सुख प्राप्त कराने योग्य कर्मो की विधि दी और दूसरी तरफ, ईश्वर भक्ति से परमानद की प्राप्ति, और ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त कराने के लिये पचरात्र ग्रथो की रचना की। कुछ लोग ऐसे भी है जो रचना से प्राप्त रचयिता, या सर्जक के तर्कसगत निष्कर्षों को ठीक नही मानते और वेदो को नित्य सनातन और अपौरुषेय मानते हैं। इस दृष्टि से जिन कारणो से वेद और सवादी स्मृतियाँ प्रमाण हैं, ठीक उन्ही कारणो से पचरात्र भी प्रमाण है। किन्तु सत्य तो यह है कि वेदो से ही हम जान पाते हैं कि उनका रचयिता परम पुरुष है। उपनिषद् मे जिसे परमेश्वर कहा है वही वासुदेव है और वे ही पचरात्र के रचयिता हैं। आगे और भी तर्क दिये जाते हैं कि वेद का प्रयोजन विधि-निषेधात्मक कर्म की आज्ञा ही देना नही है किन्तु दिव्य पुरुष के रूप मे परम सत्ता की प्रकृति का वर्णन करना भी है। इसलिये हमे पचरात्र की प्रमाणता को स्वीकार करना पडेगा क्योकि यह अपना मूल, दैवी पुरुष नारायण और वासुदेव

मे बताता है। यामुन तत्पश्चात् वराह, लिंग एवं मत्स्य पुराण, मनु संहिता और अन्य स्मृति के पाठो की ओर संकेत करते हैं। यामुन अपने 'पुरुष निर्णय' ग्रंथ मे विशद रूप से शास्त्रो के तर्क की विवेचना करते हुए यह बताने की कोशिश करते हैं कि उपनिषद् और पुराण मे कहे गये महान दैवी पुरुष, नारायण ही हैं। यह दैवी सत्ता शैवो का शिव नही हो सकती, क्योंकि तीन प्रकार के शैव मतानुयायी अर्थात् कापालिक, कालमुख और पाशुपत एक दूसरे की विरोधी आचार प्रक्रिया का विधान करते हैं। यह सभव नही है कि शास्त्र इस प्रकार के विरोधी आचारो की आज्ञा दें। इनके कर्मकाड भी प्रकट रूप से अवैदिक हैं। ये कर्मकाण्ड रुद्र मे उत्पन्न हुए है इससे यह सिद्ध नही होता कि यह रुद्र वही है जिसका उल्लेख वेदो मे है। ऐसा हो सकता है कि ये जिस रुद्र का उल्लेख यह करते है, वह कोई अन्य पुरुष भी हो। वे उन अनेक पुराणो का भी उल्लेख करते हैं जिनमे शैवो की निंदा की गई है। अगर पचरात्र मत वेदोक्त होता तो हम वेद मे उन पाठो को ढूढ पाते जो पचरात्र का आधार हैं, इस तर्क के विरोध मे यामुन का कथन है कि पचरात्र ग्रंथ ईश्वर ने उन भक्तो के हित के लिए स्वय रचे है जो वेदोक्त बहुश्रम साध्य क्रियाओ से घबडा गये थे। इसलिये वेद मे पचरात्र ग्रंथों के समर्थक पाठ न पाये जाने का कारण समझा जा सकता है। जब शाडिल्य ने चारो वेदो मे अपने अभीष्ट हेतु को प्राप्त करने का कोई साधन नही पाया तब वे भक्ति की तरफ झुके, इसका कथन मतलब वेद की निंदा नही है। इसका अर्थ यही होता है कि पचरात्र मे अभीष्ट प्राप्त करने का साधन वेद से भिन्न है। पचरात्र, वेदोक्त कर्मकाण्ड के अलावा अपने विशेष कर्मकाण्ड की विधि बताते है, इससे वे अवैदिक सिद्ध नही होते। क्योंकि जहा तक हम यह प्रमाणित नही कर पाते कि पचरात्र अवैदिक है वहा तक पचरात्रोक्त विशेष विधि भी अवैदिक है ऐसा नही कह सकते अन्यथा यह तर्क चक्राकार दोष से बच नही सकता। यह गलत है कि पचरात्रोक्त विशेष कर्मकाण्ड वेदोक्त कर्मकाण्ड के सचमुच विरोधी हैं। यह भी गलत है कि बादरायण ने पचरात्र का खण्डन किया है। अगर उन्होने ऐसा किया होता तो महाभारत मे वे उसकी वकालत क्यो करते ? पचरात्र मत मे चार व्यूहो को स्वीकार किया गया है इससे यह अर्थ नही निकलता कि वे अनेकेश्वरवादी हैं क्योंकि चार व्यूह, दैवी पुरुष वासुदेव की ही अभिव्यक्ति है। बादरायण के ब्रह्म सूत्रो का ठीक तरह से अर्थ किया जाय तो पता लगेगा कि वे, पचरात्र का विरोध नही करते अपितु उनका समर्थन है।

समाज के अति सम्माननीय लोग मूर्ति-पूजा मे उन सब क्रिया-कलापो का पालन करते हैं जिन्हे पचरात्र मे कहा है। विरोधी पक्ष का यह तर्क कि भागवत अब्राह्मण हैं, दोषयुक्त है, क्योंकि भागवत वही चिन्ह धारण करते हैं जो अन्य ब्राह्मण धारण करते हैं। मनु ने पचम जाति को सात्वत कहा है इससे यह अर्थ नही निकलता कि सब

सात्वत पचम जाति के है। तदुपरात, विरोधी पक्षो का सात्वत शब्द का अर्थ पचम है ऐसा मानना अनेको शास्त्रो के विरुद्ध है क्योकि वे शास्त्र सात्वतो की प्रशसा करते हैं। कुछ सात्वत मूर्ति या मदिर वनाकर या मदिर से सम्वधित अन्य कार्यों द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं इससे यह परिणाम नही निकलता कि भागवतो का यही धर्म है। इस प्रकार यामुन ने अपने 'आगम प्रामाण्य' और 'काश्मीरागम प्रामाण्य' मे यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पचरात्र वेद की तरह प्रमाण है क्योकि उनका मूल उद्गम स्थान एक ही दैवी पुरुप नारायण है।[1]

दसवी शताब्दी से लेकर १७वी शताब्दी तक शैव और श्री वैष्णव दक्षिण मे एक साथ रहे जहाँ शैव मतानुयायी राजाओ ने श्री वैष्णवो को सताया और उनके मदिर के देवताओ की अवहेलना की और श्री वैष्णव पथी राजाओ ने शैवो और उनके मदिरो के देवताओ से भी उसी प्रकार का व्यवहार किया। इसलिए यह समझ मे आता है कि ये भिन्न पथ के अनुयायी एक-दूसरे के खण्डन मे व्यस्त रहते थे। इन विवाद-पूर्ण ग्रन्थो मे 'सिद्धान्त रत्नावली' नामक एक ऐसा महत्वपूर्ण व विशद ग्रन्थ प्राप्त होता है जिसके रचयिता वेंकट सुधी हैं। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और श्री शैल ताताचार्य के पुत्र और श्री शैल निवास के भाई थे। 'सिद्धान्त रत्नावली' चार अध्याय का ग्रन्थ है जिसमे ३००,००० मे अधिक वर्ण है। वेंकट सुधी का जीवन-काल १४वी और १५वी शताब्दी था, उन्होने कम से कम 'रहस्य त्रय सार' और 'सिद्धान्त वैजयन्ती' नामक दो ग्रन्थ और लिखे।

पचरात्र का सक्षिप्त वर्णन करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमे गोपाल सूरि का 'पचरात्र रक्षा-सग्रह' अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है। गोपाल सूरि कृष्ण दैशिक के सुपुत्र थे और वेदान्त रामानुज के शिष्य थे, जो स्वय कृष्ण दैशिक के शिष्य थे। उनकी 'पचरात्र-रक्षा' पचरात्र के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो वर्णित विभिन्न क्रिया-कलापो का वर्णन करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वहुत से लेखक पचरात्र को वेद पर आधारित नही मानते थे यद्यपि श्री वैष्णव, पचरात्र को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते थे।[2] साख्य और योग की तरह इसे वेद के उप ग्रन्थ के रूप मे माना जाता था। यामुन के

[1] आगम प्रामाण्य मे पृ० ८५ पर 'काश्मीरागम' का उल्लेख है इस ग्रन्थ मे यामुन ने उन्ही विषयो पर विवेचना की है जो 'आगम प्रामाण्य' मे है, उपरोक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नही मिली है।

[2] वेंकटनाथ व्यास का उद्धरण देते हुए यों कहते हैं

इद महोपनिपद् चतुर्वेदसमन्वितम्।
साख्ययोगकृतान्तेन पचरात्रानुशब्दितम्॥ —सेश्वर मीमासा पृ० १९।

कथनानुसार उन भक्तो के लिए जो विशाल वैदिक साहित्य का अध्ययन करने मे अक्षम थे इसमे वेदकी शिक्षाओ का सक्षेप था। मन्दिरो और मूर्तियो के निर्माण के सम्बन्ध मे निर्देश मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित अनेक क्रिया-कलापो का वर्णन तथा श्री वैष्णवो के कर्तव्य एव धर्मानुरूप कर्मकाण्डो का विशद रूप से वर्णन जैसे दीक्षा, नामकरण और धार्मिक चिह्नो का धारण आदि नचरात्र साहित्य के मुख्य विषय हैं। मूर्ति पूजा का प्रचलन स्पष्ट रूप से अवैदिक है किन्तु इसका प्रचार ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे था इसके अनेको प्रमाण प्राप्त है। इस विधि का उद्गम कैसे हुआ और भारत के किस जाति के लोग इसके मूल प्रवर्तक रहे यह कहना कठिन है। वेद के अनुयायी और मूर्ति पूजको के बीच सघर्ष लम्बे समय का है, तो भी हम यह जानते है कि ईसा के पूर्व २ शताब्दी मे भी भागवत सप्रदाय दक्षिण ही मे नही, उत्तर मे भी पूरी जीवित स्थिति मे था। वेसनगर के स्तम्भ के साक्ष्य से पता चलता है कि यूनानी लोग भी किस प्रकार भागवत धर्म मे परिवर्तित किए गए थे। महाभारत मे भी सात्वत क्रिया कलापो का उल्लेख है–जिसके अनुसार विष्णु की पूजा की जाती थी और वहाँ पर पचरात्र के व्यूह-सिद्धान्त का भी उल्लेख है। नाराणीय विभाग मे पचरात्र-पूजा का स्थान श्वेत द्वीप है ऐसा सूचित किया गया है। वही से पचरात्र मत, भारत मे आया। लेकिन विद्वानो का प्रयत्न श्वेत द्वीप की भौगोलिक स्थिति को स्थिर कर पाने मे अभी तक असफल रहा है।

पुराण एव स्मृति-साहित्य मे भी ब्राह्मण सत्ता के साथ सघर्ष प्रकट रूप से पाया जाता है। इस प्रकार कूर्म पुराण के पन्द्रहवें अध्याय मे भी यह कहा गया है कि पचरात्रो का जन्म, पूर्व जन्म मे गो हत्या के महापाप के फलस्वरूप हुआ है एव वे पूर्ण रूप से अवैदिक हैं और शाक्त, शैव एव पचरात्र के धर्म ग्रन्थ मानव को भ्रम मे डालने वाले हैं।[1] पराशर पुराण मे भी यह कहा है कि पचरात्र के अनुयायी शाप भ्रष्ट

किसी समय कभी पचरात्र वेदो का मूल माना जाता है और कई बार वेद को पचरात्र का मूल बताया जाता है। इस प्रकार वेंकटनाथ उपरोक्त अनुसधान मे व्यास का उद्धरण देते हैं जिसमे पचरात्र वेदो का मूल है ऐसा कहा गया है 'महतो वेद वृक्षस्य मूल भूतो महान् अयम्' वे दूसरे अवतारण का उद्धरण देते हैं जिसमे वेद को पचरात्र का मूल माना गया है–'श्रुति मूलम् इद तत्र प्रमाण कल्प सूत्रवत्' दूसरी जगह वे पचरात्र को वेद का विकल्प कहते हैं–'अलाभे वेदमत्राणा पचरात्रो-दितेन वा।'

[1] का पाल गारुद शाक्त भैरव पूर्व-पश्चिम्।
पचरात्र, पाशुपत्त तथा न्यानि सहस्त्रश ॥ —कूर्म पुराण, अध्याय १५।

हैं।[1] वसिष्ठ महिता, साब पुराण व सूत-सहिता आदि मे उनको महापात की और पूर्णतः अवैदिक कहकर पूरी शक्ति से उनकी निंदा की गई है। उनके विरुद्ध दोष आरोप का अन्य कारण यह भी था कि वे पचरात्री अपने सप्रदाय के अतर्गत स्त्रियो एव शूद्रो को भी प्रवेश देते थे। अश्वलायन स्मृति के अनुसार केवल जाति से वहिष्कृत व्यक्ति ही पचरात्रो के धर्म चिह्नो को स्वीकार करते है। वृहदन्नारदीय पुराण के चौथे अध्याय मे यहाँ तक कहा गया है कि पचरात्री के साथ वार्तालाप करने से नरक मे जाना पडेगा। इसी प्रकार का निषेध कूर्म-पुराण मे भी पाया जाता है एव यह भी कहा है कि उनको (पचरात्रियो को) अत्येष्टि क्रिया मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिए। वायु-पुराण का समर्थन देते हुए श्री हेमाद्रि का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण पचरात्र मे परिवर्तित हो जाता है तो, वह सपूर्ण वैदिक अधिकारो से च्युत हो जाता है। लिग-पुराण भी उन्हे सर्वधर्म-वहिष्कृत कहते है। आदित्य और अग्नि पुराण भी जो पचरात्रो के साथ किसी भी प्रकार का सम्वध रखते हैं उनसे पूर्ण विरोध प्रगट करते हैं। विष्णु, सातापत, हारीत, वोधायन और यम सहिता भी पचरात्रियो और उनके साथ सम्वध रखने वालो से पूर्ण विरोध प्रकट करते है। फिर भी पचरात्री, वेद के अनुयायियो के प्रति मैत्री भाव रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि पचरात्री अल्प सख्या मे थे जिन्हे अपने रक्षण का भय रहता था और वैदिक धर्म-परायणो की निंदा करने की हिम्मत नही कर सकते थे। कुछ ऐसे भी पुराण हैं जैसे कि विष्णु पुराण, भागवत और महाभारत, जो उनके वहुत पक्ष मे है। यह विचित्र वात है कि पुराणो के कुछ भाग पचरात्र के पक्ष मे है और कुछ कट्टरपन के साथ विपक्ष मे हैं। पचरात्रियो के अनुकूल पडने वाले पुराण हैं, विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड, पद्म और वराह जो सात्विक पुराण कहलाते हैं।[2] इस प्रकार स्मृतियो

(दीक्षित के तत्व कोस्तुभ से उद्धृत, किन्तु यही कुछ हेर फेर के साथ छपी प्रति मे १६वें अध्याय मे मिलता है)।

स्कद पुराण भी कहता है ·

पचरात्रे च कापाले, तथा काल मुखेऽपिच।
शाक्ते च दीक्षिता यूय भवेत ब्राह्मणाधमा.॥

[1] द्वितीय पाचरात्रे चा तत्र भागवते तथा।
दीक्षिताश्च द्विजा नित्य भवेयु गर्हिता हरे॥
(भट्टो जी दीक्षित के तत्व कौस्तुभ से उद्धृत) पाण्डुलिपि पृ० ४।

[2] प्रमाण सग्रह का ऐसा मत है

वैष्णव नारदीय च तथा भागवत शुभ।
गारुड च तथा पादम वाराह शुभ दर्शने
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि च पट् पृथक्। —तत्व कौस्तुभ, पाण्डुलिपि पृ० १३।

में वासिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर और काश्यप श्रेष्ठ मानी गई हैं।[1] 'प्रमाण सग्रह' नामक ग्रन्थ, पचरात्र के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख करते हुए उनकी प्रमाणिकता, उपरोक्त पुराण और स्मृति द्वारा तथा महाभारत, गीता, विष्णु धर्मोत्तर, प्राजापत्य स्मृति, इतिहास समुच्चय, हरिवंश, वृद्ध मनु, शाडिल्य स्मृति और ब्रह्माण्ड पुराण के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

पंचरात्र साहित्य

पचरात्र साहित्य विशाल है और उसके कुछ ही छपे हुए ग्रन्थ प्राप्त हैं। प्रस्तुत लेखक को बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह करने का अवसर मिला है, यहाँ उनका सक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा यद्यपि इनका दार्शनिक दृष्टि से महत्व नही है। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहिता, सात्वत सहिता है। महाभारत, अहिर्बुध्न्य सहिता, ईश्वर सहिता और अन्य सहिताओ मे सात्वत का उल्लेख है। सात्वत सहिता मे हम ऐसा उल्लेख पाते हैं कि श्री भगवान् ने ऋषियो के लिए, सकर्षण से प्रार्थना किए जाने पर, पचरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया।[2] इस ग्रन्थ के २४ अध्याय हैं जो नारायण से उत्पन्न चार विभव देवताओ की पूजा-विधि, परिधान और आभूषण तथा अन्य विशेष प्रकार की पूजा, मूर्ति-स्थापना इत्यादि विपयो पर प्रकाश डालते हैं। ईश्वर सहिता मे लिखा है कि एकायन वेद, जो समस्त वेदो के स्रोत हैं, वासुदेव के साथ उत्पन्न हुए और पुरातन काल से सब वेदो के मूल के रूप मे स्थित रहे, उन्ही से आगे चलकर उद्भूत होने के कारण उनका नाम विकार-वेद पडा। जब ये वेद प्रकट हुए तब लोग अधिकतर ससारी हो गए थे अत वासुदेव ने एकायन वेद को गुप्त कर लिया और कुछ ही चुने हुए व्यक्तियो के सामने, जैसे कि सन, सनत्सुजाति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन जो एकान्तिन कहलाते थे, इसे प्रकट किया। मरीचि, अत्रि, अगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, स्वयभुव इत्यादि अन्य ऋषियो ने एकायन वेद नारायण से पढा, उसी आधार पर एक ओर पचरात्र साहित्य पद्य मे लिखा गया तथा दूसरी ओर मनु एव अन्य ऋषियो द्वारा अनेक धर्मशास्त्र लिखे गए। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य तथा अन्य ऐसे पचरात्र ग्रन्थ सकर्षण के आदेशानुसार, एकायन वेद के मूल सिद्धान्तो के आधार पर लिखे गए, जो आगे जाकर लुप्त हो गए। शाडिल्य ने भी एकायन वेद के सिद्धान्त सकर्षण से सीखे और फिर उन्होने ऋषियो को सिखाया। नारायण द्वारा सिखाई गई एकायन वेद की अन्तर्वस्तु सात्विक का शास्त्र कहा गया है, और अन्य शास्त्र जो अशत एकायन वेद पर आधारित हैं और

---

[1] उसी ग्रन्थ मे पृ० १४।

[2] काजीवरम् से प्रकाशित १९०२।

प्रशत ऋषियो की अपनी रचनाएँ है, वे राजस शास्त्र कहे गए और जो केवल मनुष्य की कृतियाँ है, उनका नाम तामस शास्त्र पडा। राजस शास्त्र दो प्रकार के है, पचरात्र और वैखानस। सात्वत, पौष्कर और जयाख्य, सम्भवत ऋषियो द्वारा लिखे गए पचरात्र के आदि ग्रन्थ है। इनमे से भी सात्वत सर्वोत्तम माना गया है क्योकि इसमे नारायण और सकर्षण के बीच सवाद है।

ईश्वर सहिता मे २४ अध्याय है जिनमे से १६ अध्यायो मे पूजा-विधि का वर्णन है। इसके बाद मूर्ति, दीक्षा, ध्यान, मत्र, शुद्धि, आत्म-निग्रह और एक यादव पर्वत की पवित्रता का एक-एक अध्याय मे वर्णन मिलता है।[1] पूजा विधि के अध्याय मे इत स्तत. दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है जो श्री वैष्णव दर्शन और धर्म के आधार है।

हय शीर्ष सहिता चार विभागो मे लिखी गयी है। पहला विभाग प्रतिष्ठा काण्ड है जिसमे ४२ अध्याय है, दूसरा ३७ अध्यायो वाला सकर्षण है। लिंग नामक तीसरा भाग २० अध्यायो का है और चौथा जिसे सौरकाण्ड कहते है, ४५ अध्यायो का है।[2] सभी अध्यायो मे अनेक लघु देवो की मूर्ति-प्रतिष्ठा सम्बधी क्रिया, मूर्ति बनाने के प्रकार और अन्य कर्मकाड का वर्णन मिलता है। विष्णु तत्व सहिता मे ३९ अध्याय है जिनमे मूर्तिपूजा-विधि, स्नान, वैष्णव-चिह्न और शुद्धि के विषय का ही विस्तार से उल्लेख है। परम सहिता मे ३१ प्रकरण है जिनमे मुख्यत सृष्टि-प्रक्रिया, दीक्षा-विधि तथा अन्य पूजा-विधियो का वर्णन हुआ है।[3] दसवें अध्याय मे योग का उल्लेख है। यहा ज्ञान और कर्म योग की चर्चा है, ज्ञान योग को कर्म योग से श्रेष्ठ बताया गया है यद्यपि दोनो मे सह अस्तित्व माना गया है। ज्ञान योग प्रशत व्यावहारिक दर्शन है जिसके द्वारा इन्द्रियो की समस्त प्रवृत्तियो का निरोध करने का प्रयास है। इसमे समाधि अर्थात् ऐकान्तिक एकाग्रता और प्राणायाम के अभ्यास का भी समावेश है। योग का प्रयाम जोडना अर्थात् अपने को किसी से आवद्ध कर देना, अर्थ मे किया गया है। योग का अभ्यासी मन को ईश्वर मे एकाग्रत करता है और ऐकान्तिक समाधि द्वारा अपने को समस्त ससार-बधनो से मुक्त करता है। यहा कर्मयोग क्या है यह स्पष्ट नही किया गया है, सम्भवत इसका अर्थ विष्णु-पूजा से है। पराशर सहिता मे जो पाण्डुलिपि के रूप मे ही उपलब्ध है, ८ अध्याय है जिसमे ईश्वर के नाम-जप का विधान है।

[1] काजीवरम् से प्रकाशित १९२१।

[2] यह लेखक को पाण्डुलिपि प्रति मे ही मिलता है।

[3] यह भी हस्तलिखित ही मिला है।

पद्मसहिता मे ३१ अध्याय है जिसमे अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड, मन्त्रजप, भेंट, धार्मिक उत्सव इत्यादि का वर्णन है।[1] परमेश्वर सहिता मे १५ अध्याय हैं जिसमे मन्त्रो का ध्यान, यज्ञ कर्मकाण्ड-विधि और शुद्धि कर्मो का वर्णन है।[2] पौष्कर सहिता, जो प्राचीन ग्रन्थो मे से एक है, ४३ प्रकरण की है जिसमे मूर्तिपूजा के विविध प्रकार, अन्त्येष्टि यज्ञ और कुछ दार्शनिक प्रसगो का उल्लेख है। ग्रन्थ के 'तात्त्वमत्यान' नामक विशिष्ट अध्याय मे कुछ दार्शनिक प्रसगो की चर्चा की गई है। फिर भी ये विशेष महत्व के नही है अत इनको छोडा जा सकता है। प्रकाश सहिता मे दो प्रकरण हैं, जिसका पहला प्रकरण 'परमतत्वनिर्णय' १५ अध्यायो वाला है और दूसरा 'परमतत्व-प्रकाश' कहलाता है जिसमे १२ अध्याय ही हैं।[3] महासनत्कुमार सहिता मे कुल मिलाकर ४ अध्याय और ४० खण्ड है जिसमे सम्पूर्णत पूजा-विधि का वर्णन है। यह वृहद् ग्रन्थ है जिसमे १०,००० पद्य है। इस ग्रन्थ के ब्रह्म-रात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र नामक चार अध्याय हैं। अनिरुद्धसहिता महोपनिषद् के ३४ अध्याय है जिनमे अनेक कर्म-काण्ड, दीक्षा विधि, प्रायश्चित-कर्म, मूर्ति-स्थापना और मूर्ति निर्माण की विधि दी हुई है।[4] काश्यप सहिता मे १२ प्रकरण हैं जिसमे मुख्यत विष और मन्त्रोच्चारण द्वारा विष के निवारण का उल्लेख है। विहगेन्द्र सहिता मे अधिकाश मन्त्रो का ध्यान और यज्ञ वलि का उल्लेख २४ अध्यायो मे किया गया है। १२वें अध्याय मे पूजा विधि के अतर्गत विस्तार के साथ प्राणायाम या प्राणो के नियमन के बारे मे उल्लेख है। सुदर्शन सहिता मे ४१ अध्याय है जिसमे मन्त्र जप और प्रायश्चित का समावेश है। अगस्त्य सहिता मे ३२ प्रकरण हैं, वसिष्ठ मे २४, विश्वामित्र मे २६ और विष्णु सहिता मे ३० अध्याय है। ये सब हस्तलिखित हैं और न्यूनाधिक रूप मे आनुष्ठानिक पूजा विधि का ही वर्णन करते हैं। विष्णु सहिता साख्य मत से अधिक प्रभावित है और पुरुष को सर्वव्यापी मानती है। इसमे पुरुष की गत्यात्मक सक्रियता प्रतिष्ठित हुई है जिससे ही प्रकृति का विकास सभव है। पच इन्द्रियो की पाँचो शक्तिया विष्णु की शक्ति मानी गई हैं। विष्णु की शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही रूप होते हैं। अपने पर रूप मे वह चित् शक्ति रूप है, विश्व की शक्ति है, कारण शक्ति है, जिसके द्वारा चैतन्य विषय को ग्रहण करता है तथा वह सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् भी है। सूक्ष्म रूप मे, ये पाँचो शक्तिया ईश्वर की सूक्ष्म देह बनी हुई हैं। विष्णु सहिता के १३वें अध्याय मे योग और उसके छह सहायक षडगयोग का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार योग-मार्ग

---

[1] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[2] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[3] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।
[4] यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

द्वारा भक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे भागवत योग की सज्ञा दी गई है। यहा पर हमे ध्यान मे रखना चाहिये कि जीव को इस मत मे सर्वव्यापी माना है जो श्री वैष्णव मत के विरुद्ध है। योग के अष्टागमार्ग की बहुधा अनुशसा की गई है जिसे की वैष्णव सम्प्रदाय के आरम्भिक अनुयायी जव, तव उपयोग मे लाते रहे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मार्कण्डेय सहिता मे ३२ प्रकरण है जिसमे १०८ सहिताओ का उल्लेख है और ९१ सहिताओ की सूची दी गई है।[1] यह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं जिसे रामानुज, सौम्य जामातृ मुनि तथा अन्य आचार्यों ने अपनाया है। हिरण्यगर्भ सहिता के ४ अध्याय है।

जयाख्य तथा अन्य संहिताओं का तत्वदर्शन

पचरात्र साहित्य वस्तुत विशाल है, किन्तु इस साहित्य का अधिकाश भाग कर्मकाण्ड के विस्तृत विवरणो से पूर्ण है उसमे दर्शन का अश बहुत कम है। प्राप्त सहिताओ मे है जिनमे दर्शन का कुछ अश मिलता है वे केवल जयाख्य सहिता, अहिर्बुंध्न्य सहिता, विष्णु सहिता विहगेन्द्र-सहिता, परम सहिता और पौष्कर सहिता हैं। इनमे से भी जयाख्य और अहिर्बुंध्न्य सहिताएँ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

जयाख्य, आरम्भ मे इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि केवल यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और शुद्धिकर्म द्वारा कोई भी स्वर्ग या बधन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जबतक हम पर-तत्त्व को नही पहचानते, जो सर्वव्यापक, नित्य, स्वसवेद्य, शुद्ध चैतन्य है और जो अपनी इच्छा के अनुरूप अनेक रूप धारण कर सकता है, तबतक मुक्ति की आशा व्यर्थ है। यहा पर तत्त्व हमारे हृदय मे वास करता है और स्वरूप से निर्गुण है यद्यपि वह गुणो से आवृत (गुण गुह्य) है और नामरहित (अनामक) है।

अनेक ऋषि गधमादन पर्वत पर शाडिल्य के पास पहुँचे और उनसे जिज्ञासा की कि परमतत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है। शाडिल्य उत्तर देते हुए बोले कि यह ज्ञान परम गुह्य और प्राचीन है, वह उन्ही आस्तिको को दिया जा सकता है जिनमे उत्कट गुरु-भक्ति है। सर्व प्रथम इस ज्ञान का उपदेश श्री विष्णु ने नारद को दिया। भगवान विष्णु ही हमारे प्राप्य है और वे शास्त्र द्वारा ही पाए जा सकते हैं और शास्त्र गुरु से ही सीखे जा सकते है। इसलिए गुरु ही परमतत्व की प्राप्ति के लिए मूल एव प्रथम साधन हैं जो शास्त्र अध्यापन द्वारा ऐसा ज्ञान कराता है।

जयाख्य सहिता तत्पश्चात् तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन करती है उनमे प्रथम ब्रह्म सर्ग है जो मुख्यत पौराणिक प्रकृति का है। उसमें यह उल्लेख है कि सर्व

[1] ये भी हस्तलिखित है।

प्रथम विष्णु ने ब्रह्मा की उत्पत्ति की, ब्रह्मा ने अहकारवश अपनी बनायी सृष्टि को अशुद्ध बना दिया। तत्पश्चात् स्वेद के दो कणो से उत्पन्न मधु और कैटभ नामक दैत्यो ने वेदो को चुरा कर बडा क्षोभ मचा दिया। विष्णु अपनी शारीरिक शक्ति से उनसे लडे किन्तु असफल रहे, फिर वे मत्र-शक्ति द्वारा लड़े और अन्त मे उन्होने उनका नाश किया।

दूसरा सर्ग साख्य दर्शन मे उपवर्णित तत्वो के विकास का है। जयाख्य सहिता मे ऐसा कहा है कि प्रधान मे तीनो गुण परस्पर एकता से एक साथ रहते हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि तीनो एक साथ कार्य करते हुए दीप की एकता बनाते है ठीक उसी प्रकार तीनो गुण एक साथ रहकर प्रधान बने है। यद्यपि ये तीनो भिन्न-भिन्न है किन्तु प्रधान मे एकात्म भाव से रहते है (भिन्नम् एकात्म लक्षणम्)। एकात्म स्थिति से गुणो का पृथक्करण होने पर पहले सत्व निकलता है तत्पश्चात् रजस् और अन्त मे तमस्। गुणो की इस त्रिगुण इकाई से बुद्धि तत्व पैदा होता है और बुद्धि से तीन प्रकार के अहकार उत्पन्न होते है जो प्रकाशात्मा, विकृतात्मा और भूतात्मा कहलाते है। प्रथम अहकार से, जो तेजस या प्रकाशात्मा कहलाता है पच ज्ञानेद्रिय और मनस् की उत्पत्ति होती है। दूसरे अहकार से, पच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। भूतात्मा नामक तृतीय अहकार से भूतयोनि या तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है और तन्मात्राओ से पचभूत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति स्वभावत जड और भौतिक है इसलिए प्रकृति का विकास भी जैसी आशा की जानी चाहिए, निसर्गत भौतिक ही होता है। इस सम्बन्ध मे यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि भूत पदार्थ अन्य भूत पदार्थों को कैसे उत्पन्न कर सकते है। उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि यद्यपि धान का बीज और चावल निसर्गत भौतिक है तो भी बीज में सर्जन-शक्ति है, चावल मे नही, उसी प्रकार यद्यपि प्रकृति और उसके विकासज दोनो प्रकृत्या भौतिक हैं, फिर भी एक दूसरे से उत्पन्न होता है। जड प्रकृति से विकसित तत्व ब्रह्म से अभिन्न शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा के प्रकाश द्वारा व्याप्त होने के कारण चैतन्य युक्त दीखते है।[1] जिस प्रकार लोहे का टुकडा चुम्बक की शक्ति ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति, ब्रह्म से एक रस आत्मा के साहचर्य से, चैतन्य-विशिष्ट हो जाती है।

---

[1] चिद् रूप आत्म तत्व यद् अभिन्न ब्रह्मणि स्थित।
तैनैतच्छुरित भाति अचिच् चिन्मय वद् द्विज।

—जयाख्य सहिता (हस्त०) ३-१४।

जब यह प्रकरण लिखा गया था जब जयाख्य सहिता छपी नही थी। अब गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज मे छप गई है।

प्रश्न यह उठता है कि जव जड और चेतन एक दूसरे मे प्रकाश और अधकार की तरह भिन्न है तो जड प्रकृति और शुद्ध चैतन्य मे क्या कोई साहचर्य हो सकता है। उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि जीव, विशुद्ध चैतन्य के सत्य अनादि वासना के योग का परिणाम है। इस वासना को दूर करने के लिए ब्रह्म मे से एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जीव के अतर्गत शुद्ध चैतन्य, उसके कर्मों के नाश के कारण वासना रहित होकर अन्त मे ब्रह्म से एक रस हो जाता है। कर्म, पात्र रूपी वासना के साहचर्य से ही फल देते है। आत्मा या जीव का ईश्वर-शक्ति द्वारा ही गुणो से सयोग होता है, इस कारण वह अपनी वासनाओ को जान सकता है[1] जो प्रकृत्या जड हैं और गुणो से उद्भूत होती है। जहाँ तक जीव माया से आवृत है वहाँ तक वह अच्छा बुरा अनुभव प्राप्त करता है। चैतन्य का जड से सम्बन्ध ईश्वर की विशिष्ट शक्ति द्वारा होता है, जो आत्मा को माया के सयोग से अनेक भोगो का अनुभव कराना है। वधन के टूटते ही शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है।

तृतीय सर्ग शुद्ध सर्ग है, जिसमे वासुदेव अपने मे से अच्युन, सत्य और पुरुप नामक तीन उपदेवो को प्रकट करते है जो वासुदेव मे अभिन्न है और उनकी कोई भिन्न सत्ता नही है। पुरुप रूप से वासुदेव सारे देवो के अतर्यामी वन कर उन्हे कार्य करने की प्रेरणा एव नेतृत्व प्रदान करते हैं। ईश्वर इसी रूप मे, वासना से निगडित मनुष्यो मे कार्यरत है और उन्हे उन मार्गो पर प्रेरित करता है जिससे वे अन्त मे वधन-रहित हो जाँय।

ईश्वर आनदमय एव चैतन्य है, वह सवसे परे, परम और अतिम सत्ता है, वह स्वयभू है और सवका आधार है। वह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नही कहा जा सकता (न सत् तन् नासदुच्यते) वह निर्गुण है किन्तु गुण से उत्पन्न सभी विपय का भोग करता है जो हमारे वाहर और भीतर वसा हुआ है। वह सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्वाधिपति है और सभी उसमे विद्यमान हैं। वह अपने मे सारी शक्तियो का सयोजन करता है और उसमे सारी क्रियाएँ सहज रूप से होती रहती है। वह सवो मे व्यापक है तो भी असत् कहलाता है क्योकि वह इन्द्रिय-गोचर नही हैं। किन्तु जिस प्रकार फूलो की सुगध स्वत उपलब्ध होती है, उसी प्रकार वह भी स्वसवेद्य है।[2] जगत् की सारी सत्ता उसमे निहित है, और वह देश काल के वधन

[1] मायामये द्विजाधारे गुणाधारे ततो जडे।
शक्त्या सयोजितो ह्यात्मा वेत्त्यात्मीया च वासना ॥

—जयाख्य सहिता, ३–२४।

[2] स्व सवेद्य तु तद् विद्धि गन्ध पुष्पादिको यथा।

—जयाक्ष स० ४–७६।

से परे है। जिस प्रकार तप्त अयागोलवी मे अग्नि, गोले से अभिन्न होकर रहता है उसी प्रकार ईश्वर सारे जगत् मे व्याप्त है। जिम प्रकार दर्पण मे प्रतिबिंबित वस्तु एक दृष्टि से दर्पण के अन्दर और दूमरी दृष्टि से उसके वाहर है ठीक उसी प्रकार ईश्वर एक दृष्टि से ऐन्द्रिय गुणो से, सयुक्त और दूसरी दृष्टि से असयुक्त दोनो ही है। ईश्वर जड और चेतन दोनो मे उसी तरह व्याप्त है जैसे औषधियो मे रस।[1] ईश्वर की सत्ता तर्क और प्रमाणो द्वारा सिद्ध नही की जा सकती। उसकी सर्वव्यापी सत्ता उसी प्रकार अवाच्य और अप्रदर्शनात्मक है जिस प्रकार काष्ठ मे अग्नि और दूव मे मक्खन। वह सहज सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ अग्नि मे प्रवेश करते ही अपने अस्तित्व को मिटा देता है और सारी नदियाँ समुद्र मे लीन होकर एकरस हो जाती है उसी प्रकार योगी ईश्वर मे प्रविष्ट होकर उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति मे नदियो और सागर मे, जिसमे वे मिलती हैं, भेद है, फिर भी वह अलक्ष्य है।[2] ईश्वर और भक्त मे भी सागर और नदी के जल की तरह भेद और अभेद दोनो हैं। यह स्थिति ईश्वर के भक्तो मे भी विद्यमान है। सिद्धान्त यहाँ जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा रहा है वह भेदाभेदवाद अनेकत्व मे एकत्व का सिद्धान्त है।

यहा ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न माना गया है और सारे ज्ञेय पदार्थ अत करणस्य स्वीकृत हुए हैं।[3] सत्य ज्ञान उपाधि-रहित है, जिन्होने ईश्वर से एकात्म होना सीखा है उन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त है।[4]

जब कोई ईश्वर कृपा से यह समझने लगता है कि हमारे सारे कर्म और कर्म-फल प्रकृति के गुण रूप हैं, तब उसमे आध्यात्मिक अन्तर जागृति होती है और वह स्वय क्या है, इस दु ख का क्या सार है इन पर विचार करता है और तब वह सच्चे गुरु के पास जाता है। जब भक्त पुनर्जन्म के अनन्त चक्र और उससे उत्पन्न क्षणभगुर जन्म के दु ख और तत्सबधित अन्य वेदनाओ पर सतत चिन्तन करता है और गुरु के आदेशानुसार यम-नियम का पालन करता है एव मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करता है तब उसका मन ससार-सुख से ऊपर उठ जाता है और शरद् ऋतु मे पानी व निस्तरग सागर और

---

[1] चेतनाचेतना· सर्वे भूता स्थावरजगमा।
पूरिता परमेशेन रसेनौषधयो यथा॥ —जयाख्य स० ४–९३।

[2] सरित्सघाद् यथा तोय सप्रविष्ट महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोऽदके भेद परस्मिन् योगिना तथा॥ —वही, ४–१२३।

[3] ब्रह्माभिन्न विभोर्ज्ञानम् श्रोतुम् इच्छामि तत्वत।
येन सम्प्राप्यते ज्ञेयम् अन्त करणसस्थितम्॥ —वही, ४–१।

[4] सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तम् ज्ञानमेकान्तनिर्मल।
...युक्तस्य योगाभ्यासात् क्रमेण तत्॥ —वही, ५–२।

निर्वत्ति दीप की तरह स्वच्छ हो जाता है। जव हृदय मे चैतन्य का प्रकाश होता है, तव सव ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के मूल विषय सहित हृदय समक्ष आ जाते हैं ज्ञान और ज्ञेय एक हो जाते है और फिर धीरे-धीरे परम ज्ञान और निवृत्ति आती है जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। जो सव कुछ ज्ञेय रूप है वह ज्ञान से अभिन्न है यद्यपि वह भिन्न प्रतीत हो। ज्ञान की अन्तिम अवस्था शब्दो से परे है। वह तर्क और इद्रियो के साधन विना साक्षात् अनुभवगम्य है उसका वर्णन प्रतीको द्वारा ही किया जा सकता है। अतिम अवस्था स्वरूप से ही अलौकिक है, चरम और नि शेष है और आधारहीन है। इस सत्ता मात्र से जीव का आनन्दानुभव प्रगट है। भावजा समाधि और मत्र जाप सज्ञक दोनो समाधियो मे से दूसरी ज्यादा फलप्रद है। मत्र जप द्वारा, माया और तत् जनित, आत्मानुभूति के सारे व्यवधान नष्ट हो जाते हैं।

वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जयाख्य सहिता का कहना है कि यह उत्पत्ति अहेतुक और सहज होती है और ये तीन अभिव्यक्तियाँ, परस्पर प्रतिबिंबित होकर एक रूप से व्यवहार करती हैं और इस सूक्ष्म अवस्था मे यह ईश्वर की क्रियाशक्ति के रूप से मनुष्य हृदय मे रहती है और क्रम से उसे मुक्ति की चरम सीमा तथा आनदानुभूति की स्थिति तक पहुँचती है।

जयाख्य सहिता दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख करती है, जिसे स्थिति (सत्ताख्य) और क्रियाशील (क्रियाख्य) कहा गया है। क्रियाख्य ज्ञान के अतर्गत यम-नियम आदि नैतिक अनुशासन आते हैं। यम-नियम के क्रियाख्य ज्ञान के अनवरत अभ्यास द्वारा ही सत्ताख्य ज्ञान पूर्ण परिपक्व होता है। यम और नियम के अन्तर्गत यहाँ पर पवित्रता, वलिदान, तपस्या, वेदाध्ययन, मैत्री, अखड क्षमा, सत्य, समस्त प्राणियो एव अपने शत्रुओ के प्रति सद्भाव, दूसरो की सपति के प्रति सम्मान भाव, मनोनिग्रह ऐन्द्रिय सुखो के प्रति विराग, यथाशक्ति दानपरता, सत्य एव प्रिय भाषण, शत्रु और मित्र के प्रति समभाव, ईमानदारी, सरलता तथा प्रत्येक प्राणी के प्रति दया-भाव इत्यादि गुण आते है। यहाँ पर तीनो गुणो की साम्यावस्था को अविद्या कहा गया है और अविद्या के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि दोषो की उत्पत्ति मानी गई है। 'आत्मा' की सज्ञा द्वारा गुण, अविद्या और माया मय शुद्ध चैतन्य का सूचन किया गया है।

उपरोक्त कथन से यह मत सिद्ध होता है कि ईश्वर अपने मे मे त्रिविध शक्ति के रूप से प्रकट होता है जो मनुष्य मे सूक्ष्म शरीर के रूप मे स्थित है। इस शक्ति की वजह से शुद्ध चैतन्य, मूल प्रवृत्तियो और अन्तर्जगत् के सम्पर्क मे आता है जिससे अन्तकरण के व्यापार जड और अचेतन होते हुए भी चेतन रूप से व्यवहार करने लगते है। इसी सम्पर्क के कारण उक्त अनुभूति सम्भव हो पाती है। अन्त मे यही अतरग शक्ति जड पदार्थ मे चेतन पदार्थो को अलग करती है और मुक्ति दिलाती है जिससे

मनुष्य मे रहा चैतन्य ब्रह्म से एक रूप हो जाता है। लिंग रूप या प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ संयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नहीं है किन्तु यह इसमे स्थित ईश्वरीय सत्य शक्ति के व्यापार से है। व्यक्ति या जीव जिसे आत्मा भी कहते है वह इस अनिर्वचनीय संयोग से उत्पन्न हुआ है। यह संघात, जब अन्त करण व्यापार और क्लेशो से विमुक्त हो जाता है तब ब्रह्म से सामरस्य होता है, यद्यपि वह उसका अंश है और ब्रह्म से, रूप से स्वतन्त्र भाव से भेदाभेद भाव से स्थित है। इस मत का सांख्य दर्शन से भेद इतना ही है कि जयाख्य संहिता मे प्रकृति के तत्वो के उत्पादन-क्रम का सांख्यमतानुसार स्वीकार किया है किन्तु पुरुष के स्वभाव के बारे मे मतभेद किया गया है। पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को नहीं माना है जो कि ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका का मत है। यहाँ पर प्रकृति, पुरुष को मुक्त करने के हेतु से विकास करती है इस मत को नही माना है और न इस मत को माना है कि प्रकृति पुरुष या ईश्वर द्वारा प्रेरित हो, गतिशील होती है। यहाँ प्रकृति मे से तत्वो को उत्पन्न करने की ब्रह्म चेतनशक्ति को माना गया है।

जयाख्य संहिता मे भक्त को योगी कहा है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो मार्गो को माना है, एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मन्त्र-जप की साधना द्वारा। योग के विषय मे यह धारणा है कि योगी को अपनी इन्द्रियो पर पूरा काबू होना चाहिए और प्रत्येक प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए। अत्यन्त विनीत भाव से उसे एकान्त स्थान पर बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियन्त्रण लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। फिर प्राणायाम की तीन विधियो–प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का उल्लेख किया गया है। फिर योग के तीन प्रकारो पर भी प्रकाश डाला है जिन्हे प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य की सज्ञा दी है किन्तु इनका क्या अर्थ है यह स्पष्ट नही किया गया है। ऐसा हो सकता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केंद्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्वो पर, पुरुष पर अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियो को दिलाने वाले योग पर। चार प्रकार के आसनो का भी योग वर्णन पाया जाता है जिनके नाम पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक हैं। योगासनो का भी वर्णन है। मनोनिग्रह जो योग का मूल उद्देश्य है उसे दो प्रकार का माना है, वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियो पर निग्रह करना और मन की उन प्रवृत्तियो पर निग्रह करना जो उसमे स्वभावत है। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल निष्कल और विष्णु अर्थात् शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी उल्लेख देखने मे आता है। सकल या स्वविग्रह नामक योग मे योगी, इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् क्रम से, जब वह ध्यान मे अभ्यस्त हो जाता है

तव वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, फिर घोडे के वाल जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके वाद मनुष्य के सर के वाल पर, फिर उसके शरीर के रोम पर, इस प्रकार के अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है। निष्कल योग मे योगी अतिम सत्य का ध्यान करता है, जिससे उसे वह स्वय ब्रह्म रूप है यह ज्ञान होता है। तीसरे प्रकार के योग मे मत्रो पर ध्यान केन्द्रित करना पडता है जिसके द्वारा भी योगी को अतिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त मे ब्रह्मरध्र के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[1]

विष्णु सहिता के चौथे प्रकरण मे (हस्तलिखित) प्रकृति के तीन गुण माने गए है। प्रकृति व उससे उद्भूत तत्वो को क्षेत्र कहा गया है और ईश्वर को क्षेत्रज्ञ कहा है।[2] प्रकृति और ईश्वर मानो एक होकर रहते हैं।[3] प्रकृति तत्वो का विकास करती है और पुरुष की अध्यक्षता मे या पुरुप के आदेशानुसार फिर तत्वो को अपने मे समेट लेती है। फिर भी प्रकृति स्वतत्र रूप से व्यवहार करती दीखती है।[4] पुरुष को सर्वव्यापी चैतन्य तत्व माना गया है।

विष्णु सहिता मे तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस अहकार का वर्णन करते हुए कहा है कि राजस अहकार कर्मेन्द्रियो को केवल उत्पन्न ही नही करता, किन्तु ज्ञान और कर्मेन्द्रियो का सक्रिय निर्देशन भी करता है। ज्ञान, शक्ति के रूप मे, वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का ध्यान भी है और वह अन्वय व्यतिरेक-क्रियात्मक बुद्धि व्यापार भी है। विष्णु सहिता आगे जाकर ईश्वर की पाँच शक्तियो का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा, ईश्वर, निर्गुण होते हुए भी, अपने को दृश्य गुणो से युक्त प्रकट करता है। सम्भवत इस प्रकार से ही प्रकृति की समस्त शक्तियाँ ईश्वर मे निहित हैं और इसी अर्थ मे क्षेत्र अथवा प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। इन शक्तियो मे पहली चित् शक्ति[5]

[1] जयाख्य सहिता, अध्याय ३३।
१४वें अध्याय मे योग के उस क्रम का वर्णन है जिससे योगी की देह का धीरे-धीरे नाश होता है।

[2] क्षेत्राख्या प्रकृतिर्ज्ञेया तद्वित् क्षेत्रज्ञ ईश्वर। —विष्णु सहिता ४।

[3] उभय चेद अत्यतम् अभिन्नम् इव तिष्ठति। —विष्णु सहिता।

[4] तन्नियोगात् स्वतत्रेव सूते भावान् हरत्यपि। —विष्णु सहिता।

[5] चिच्छक्ति सर्व कार्यादि कूटस्थ परमेष्ठयसौ।
द्वितीया तस्य या शक्ति पुरुषाख्यादि विक्रिया॥
विश्वाख्या विविधाभासा तृतीया करुणात्मिका।
चतुर्थी विपय प्राप्य निवृत्याख्या तथा पुन॥ —विष्णु सहिता।

मनुष्य मे रहा चैतन्य ब्रह्म से एक रस हो जाता है। चैतन्य तत्व का प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ सयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नही है किन्तु यह हममे स्थित ईश्वरीय अन्तर शक्ति के व्यापार से है। व्यक्ति या जीव जिसे आत्मा भी कहते हैं वह इस अनिच्छित सयोग से उत्पन्न हुआ है। यह सघात, जब अन्त करण व्यापार और क्लेशो से विलग हो जाता है तब ब्रह्म से सामरस्य होता है, क्योकि वह उसका अश है और ब्रह्म मे, एक मे अनेकत्व भाव से भेदाभेद भाव से स्थित है। इस मत का साख्य दर्शन से भेद इतना ही है कि जयाख्य सहिता मे प्रकृति के तत्वो के उत्पादन-क्रम को साख्यमतानुसार स्वीकार किया है किन्तु पुरुष के स्वभाव के बारे मे मतभेद किया गया है। पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को नही माना है जो कि ईश्वर कृष्ण रचित साख्यकारिका का मत है। यहाँ पर प्रकृति, पुरुष को मुक्त करने के हेतु से विकास करती है इस मत को नही माना है और न इस मत को माना है कि प्रकृति पुरुष या ईश्वर द्वारा प्रेरित हो, गतिशील होती है। यहाँ प्रकृति मे से तत्वो को उत्पन्न करने की सहज जननशक्ति को माना गया है।

जयाख्य सहिता मे भक्त को योगी कहा है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो मार्गों को माना है, एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मन्त्र-जप की साधना द्वारा। योग के विषय मे यह धारणा है कि योगी को अपनी इन्द्रियो पर पूरा काबू होना चाहिए और प्रत्येक प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए। अत्यत विनीत भाव से उसे एकान्त स्थान पर बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियत्रण लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। फिर प्राणायाम की तीन विधियाँ—प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का उल्लेख किया गया है। फिर योग के तीन प्रकारो पर भी प्रकाश डाला है जिन्हे प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य की सज्ञा दी है किन्तु इनका क्या अर्थ है यह स्पष्ट नही किया गया है। ऐसा हो सकता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केंद्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्वो पर, पुरुष पर अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियो को दिलाने वाले योग पर। चार प्रकार के आसनो का भी योग वर्णन पाया जाता है जिनके नाम पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक हैं। योगासनो का भी वर्णन है। मनोनिग्रह जो योग का मूल उद्देश्य है उसे दो प्रकार का माना है, वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियो पर निग्रह करना और मन की उन प्रवृत्तियो पर निग्रह करना जो उसमे स्वभावत हैं। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल निष्कल और विष्णु अर्थात् शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी उल्लेख देखने मे आता है। सकल या स्वविग्रह नामक योग मे योगी, इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् क्रम से, जब वह ध्यान मे अभ्यस्त हो जाता है

तव वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना पर ध्यान केंद्रित करता है, तत्पश्चात् मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, फिर घोडे के वाल जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके वाद मनुष्य के सर के वाल पर, फिर उसके शरीर के रोम पर, इस प्रकार के अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है। निष्कल योग मे योगी अतिम सत्य का ध्यान करता है, जिससे उसे वह स्वय ब्रह्म रूप है यह ज्ञान होता है। तीसरे प्रकार के योग मे मत्रो पर ध्यान केन्द्रित करना पडता है जिसके द्वारा भी योगी को अतिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त मे ब्रह्मरध्र के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[1]

विष्णु सहिता के चौथे प्रकरण मे (हस्तलिखित) प्रकृति के तीन गुण माने गए है। प्रकृति व उससे उद्भूत तत्वो को क्षेत्र कहा गया है और ईश्वर को क्षेत्रज्ञ कहा है।[2] प्रकृति और ईश्वर मानो एक होकर रहते हैं।[3] प्रकृति तत्वो का विकास करती है और पुरुष की अध्यक्षता मे या पुरुष के आदेशानुसार फिर तत्वो को अपने मे समेट लेती है। फिर भी प्रकृति स्वतत्र रूप से व्यवहार करती दीखती है।[4] पुरुष को सर्वव्यापी चैतन्य तत्व माना गया है।

विष्णु सहिता मे तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस अहकार का वर्णन करते हुए कहा है कि राजस अहकार कर्मेन्द्रियो को केवल उत्पन्न ही नही करता, किन्तु ज्ञान और कर्मेन्द्रियो का सक्रिय निर्देशन भी करता है। ज्ञान, शक्ति के रूप मे, वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का ध्यान भी है और वह अन्वय व्यतिरेक-क्रियात्मक बुद्धि व्यापार भी है। विष्णु सहिता आगे जाकर ईश्वर की पाँच शक्तियो का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा, ईश्वर, निर्गुण होते हुए भी, अपने को दृश्य गुणो से युक्त प्रकट करता है। सम्भवत इस प्रकार से ही प्रकृति की समस्त शक्तियाँ ईश्वर मे निहित हैं और इसी अर्थ में क्षेत्र अथवा प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। इन शक्तियो मे पहली चित् शक्ति[5]

[1] जयाख्य सहिता, अध्याय ३३।
१४वें अध्याय मे योग के उस क्रम का वर्णन है जिसमे योगी की देह का धीरे-धीरे नाश होता है।

[2] क्षेत्राख्या प्रकृतिर्ज्ञेया तद्विन् क्षेत्रज्ञ ईश्वर.। —विष्णु सहिता ४।

[3] उभय चेद अत्यतम् अभिन्नम् इव तिष्ठति। —विष्णु सहिता।

[4] तन्नियोगात् स्वतत्रेव मूले भावान् हरत्यपि। —विष्णु सहिता।

[5] चिच्छक्ति सर्व कार्यादि कूटस्थ परमेष्ठिनो।
द्वितीया तस्य या शक्ति पुरुषाख्यादि विक्रिया॥
विद्याख्या विविधाभासा तृतीया कर्मात्मिका।
चतुर्थी विषय प्राप्य निवृत्याख्या तथा पुन॥ —विष्णु सहिता।

योग कहा है।[1] दोनो योग करते हुए योगी विष्णु की शरण लेकर परमेश्वर से एकात्मता प्राप्त करता है। ज्ञान योग और कर्म योग दोनो ही, एक ओर यम नियम युक्त नैतिक साधन के रूप से और दूसरी ओर वैराग्य और समाधि रूप से, ब्रह्म पर ही अवलम्बित है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि गीता मे कर्म योग का अर्थ, बिना फलाशा के शास्त्रोक्त वर्ण धर्म पालन करना माना है। यहा कर्म योग का अर्थ यम नियम किया गया है, जिसमे व्रत, उपवास, दान और सम्भवत आत्म निग्रह से प्राप्त विविध गुणो का समावेश है। वैराग्य का अर्थ इद्रियो का विषय से पराङ्-मुख होना है और समाधि का अर्थ उस ज्ञान से हैं जिसके द्वारा चित्त ईश्वर मे अस्खलित रूप से लग जाय। जब इद्रिया अपनें विषयो से, वैराग्य द्वारा, निरोधित हो जाती है तब चित्त को ईश्वर मे, परम तत्व मे स्थिर रूप से लगना ही पडता है। इसे ही योग कहा है। अनवरत अभ्यास द्वारा, जब वैराग्य परिपक्व होता है तब वासना या मूल क्लेश तथा इच्छाओ का अत हो जाता है। यह सलाह दी गई है कि योगी को बलात् आत्म निग्रह करने का प्रयत्न नही करना चाहिए, किन्तु उसे धीरे-धीरे और सुगमता से आगे बढना चाहिए जिससे वह लम्बे समय मे चित्त पर पूरी-पूरी विजय पा जाए। योगी को भोजन और अन्य आवश्यकताओ पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे शरीर स्वस्थ रहे। उसे योगाभ्यास के लिये, विक्षेप रहित, एकान्त स्थान पसद करना चाहिये। उसे शरीर को पीडा पहुँचाने वाली कोई भी क्रिया किसी भी वजह से नही करना चाहिये। तदुपरान्त उसे सदैव यह चिन्तन करते रहना चाहिये कि वह ईश्वर के अधीन है एव उत्पत्ति, स्थिति और नाश उसके धर्म नही है। इस प्रकार उसके चित्त मे निर्मल भक्ति का जन्म होगा जिससे वह धीरे-धीरे आसक्ति की जडो को उखाड सकेगा। अमुक्त इच्छाओ के आकर्षक अनुभव दु खपूर्ण हैं, इस विषय पर योगी को चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिये, जिससे वह ऐसे अनुभवो के प्रति राग से विमुख हो जाय।

कर्म योग और ज्ञान योग मे कौन श्रेष्ठ है, इस बारे मे कहा है कि किस प्रकार का योग चुना जाय, इस विषय मे कोई नियम नही हो सकते। कोई स्वभाव से कर्म योग के लिये और कोई ज्ञान योग के लिये उपयुक्त होते हैं। विशेष योग्यता वाले कर्म और ज्ञान दोनो योगो का सयोजन कर सकते हैं।

अहिर्बुध्न्य संहिता का तत्वदर्शन

अहिर्बुध्न्य सहिता मे अहिर्बुध्न्य कहते है कि उन्होने लम्बी तपस्या के बाद सकर्षण से सच्चा ज्ञान प्राप्त किया, इस सत्य ज्ञान का नाम सुदशन है जो विश्व की

[1] यदि तु ज्ञान एवार्थे चित्त बध्नाति निर्व्यथ ।
ज्ञान योग स विज्ञेय सर्व-सिद्धिकर शुभ ॥ —परम सहिता, अध्याय १०।

समस्त वस्तुओ का आधार है।[१] अन्तिम सत्ता अनादि, अनन्त और नित्य है, नामरूप-रहित है और मन और वाणी से परे है, वह सब शक्तिमान् और अपरिणामी है। इस नित्य और अपरिणामी सत्ता मे स्वत स्फूर्त सकल्प उठता है, यह सकल्प देशकाल और द्रव्य से मर्यादित नही है। ब्रह्म सहजानुभव रूप है और नि सीम-सुखानुभव-लक्षण हैं। (नि सीम-सुखानुभव-लक्षणम्)। वह हर जगह है, और हृदय मे स्थित है। वह निस्तरग सागर के समान है। उसमे सासारिक पदार्थों मे पाये जाने वाले गुण, नाम मात्र भी नही है। वह स्वय सिद्ध और अपने मे परिपूर्ण है जिसको यह (इद) तथा इस प्रकार (इत्थ) इत्यादि शब्दो से व्याख्या नही की जा सकती। वह आनन्द और शुभ है और सर्वथा पाप रहित है। ब्रह्म के अनेक नाम हैं जैसे वि परमात्मन्, आत्मन्, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान इत्यादि। जब शुद्ध ज्ञान द्वारा अनेको जन्मो के सचित पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं और वासना दग्ध हो हो जाती है, प्रकृति के तीनो गुण मनुष्य को बन्धन मे नही डालते पर तब मनुष्य अविलम्ब ही ब्रह्म स्वरूप प्राप्त करता है, जो अन्तिम सत्ता है, जिसे 'यह' और 'ऐसा' इन शब्दो द्वारा वर्णित नही किया जा सकता। ब्रह्म समग्र की आत्मा है और सब पदार्थों को अन्त प्रज्ञात्मक रूप से देखता है। उसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनो काल अपना अस्तित्व नही रखते। इसलिए ब्रह्मन् कालसापेक्ष नही है, वह कालातीत है। इसी प्रकार वह गौण और प्रधान गुणो से परे है तो भी वह षड्गुण-सम्पन्न है। सब गुणो मे ज्ञान सर्व प्रथम और मुख्य है। वह आध्यात्मिक और स्व-प्रकाश्य है, वह सब वस्तुओ मे प्रवेश कर उन्हे प्रकाशित करता है और नित्य है। ब्रह्मन् स्वरूप से शुद्ध चैतन्य रूप है तो भी उसमे ज्ञान गुण रूप से स्थित है, ऐसा माना है।[२] ब्रह्म की शक्ति उसे कहा गया है, जिससे उसने समस्त विश्व को उत्पन्न किया है।[३] ब्रह्मन् का कर्तृत्व-भाव उसका ऐश्वर्य है। भगवान् का बल वह है जिससे वह सतत कार्य करते भी नही थकता, वीर्य के गुण द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण रहते भी अपरिणामी ही रहता है, और उसका तेज वह है जिससे वह विना सहायता के, जगत्-रचना करता है। ये पाचो गुण ज्ञान के अतर्गत हैं और ज्ञान ही ईश्वर का

---

[१] सुदर्शनस्वरूप तत् प्रोच्यमान मया शृणु।
श्रुते यत्राखिलाधारे सशयास्ते न सन्ति वै ॥

—अहिर्बुध्न्य सहिता ३, २–५।

[२] अजड स्वात्मसबोधि नित्य सर्वविशा हनम्।
ज्ञान नाम गुणम् प्राहु प्रथम गुणचिन्तका।
स्वरूप ब्रह्मणस्तच्च गुणाश्च परिगीयते ॥ —अहिर्बुध्न्य सहिता ३, २–५३।

[३] जगत् प्रकृतिभावो य सा शक्ति परिकीर्तिता। —वही, स० ३, २–५७।

स्वरूप है। जब ब्रह्म जो ज्ञान रूप है और सर्व गुण सम्पन्न है, अपने को नाना रूप मे प्रकट करने का सकल्प करता है तब वह सुदर्शन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ स्वभाव से अचिन्त्य हैं और द्रव्य से अपृथक् स्थित हैं। वे द्रव्य की सूक्ष्म या अव्यक्त अवस्थाए हैं जो पृथक् रूप से गोचर नही होती या किसी शब्द द्वारा उनका विधान या निषेध नही किया जा सकता तथा जो कार्य रूप से ही जानी जा सकती है।[1] उसी प्रकार ईश्वर मे शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है जिस प्रकार चन्द्र रश्मि चन्द्र से अभिन्न है। शक्ति सहज रूप है और जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। इसे आनन्द कहा गया है क्योकि वह निरपेक्ष है, वह नित्य है क्योकि कालातीत है, वह पूर्ण है क्योकि अरूप है। वह जगत् रूप से अभिव्यक्त होती है इसलिये उसे लक्ष्मी कहते है।[2] वह अपने को जगत् रूप से सकुचित करती है इसलिये कुन्डलिनी कही जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णु शक्ति भी कही गई है। शक्ति वास्तव मे ब्रह्म से भिन्न है तो भी उससे अभिन्न दिखती है। इस शक्ति द्वारा ईश्वर अविराम रूप से बिना थकावट के और बिना अन्य की सहायता लिये सतत जगत् की रचना करता है (सतत कुर्वतो जगत्)।[2] ईश्वर की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, स्थावर रूप से उसका प्रथम प्रकार काल, अव्यक्त और पुरुष मे प्रकट होते है तथा दूसरा प्रकार क्रिया रूप से। ईश्वर की क्रिया शक्ति सहज है जो विचार और सकल्प रूप से क्रिया मे व्यक्त होती है।[3] इसे सकल्प या विचार कहा है जिसकी गति अव्याहत है और जो अव्यक्त, काल, पुरुष इत्यादि सारे जड और चेतन पदार्थों को उत्पन्न करती है।[4] इसी शक्ति को दूसरे शब्दो मे लक्ष्मी या विष्णु शक्ति कहा है जो अव्यक्त को अपने विकास मार्ग पर प्रेरित करती है, प्रकृति तत्त्वो को पुरुष के सम्मुख उपस्थित करती है और समस्त अनुभव मे ओतप्रोत तथा गतिमान (अनुस्यूत) है। जब वह इन व्यापारो का सकोचन करती है तब प्रलय होता है। इसी शक्ति के बल से सृष्टि सर्जन के समय त्रिगुणात्मक प्रकृति विकासोन्मुख बनती है। प्रकृति पुरुष का सयोग भी इसी शक्ति द्वारा होता है। यह सकल्प

---

[1] शक्तय सर्वभावानाम् अचिन्त्या अपृथक् स्थिता
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ता
सूक्ष्मावस्था हो सा तेषाम् सर्वभावानुगामिनी,
इदतया विधातु सा न निषेद्धु च शक्यते। —वही, स० ३, २–३।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता २–५६।

[3] स्वातन्त्र्यमूल इच्छात्मा प्रेक्षारूप क्रियाफल। —वही, ३–३०।

[4] उन्मेषो य सुसकल्प सर्वत्राव्याहत कृती।
अव्यक्तकालपुरुषा चेतनात्मिकाम्॥ —वही, ३, ३०–३१।

स्पदन रूप है वह अनेक रूप धारण करता है और अपने परिणामों में भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति करता है।[1]

मूलावस्था मे नाना रूप जगत्, गुप्तावस्था मे था, वह एक साम्यावस्था थी जिसमे ईश्वर की शक्तियां, निस्तरंग सागर की तरह पूर्णतः स्थिर थीं। यह शक्ति अपनी स्थिर या निरुद्धावस्था मे शून्यत्व रूपिणी है (शून्यत्व रूपिणी) क्योंकि इसकी कोई अभिव्यक्ति नही है। वह स्वाधीन है और वह स्थिरावस्था से गतिशील क्यों होती है इसका कोई कारण नही दिया जा सकता है।[2] वह एक है और ब्रह्म परमात्मा से अभिन्न है। यही शक्ति, निर्मल एवं समस्त सत्ता को और समस्त भौतिक सत्ता को अपने मे से परिणाम के रूप मे प्रकट करती है। यह ईश्वर की क्रिया, वीर्य, तेजस् और वल के रूप मे प्रकट होती है जो उसी की अभिव्यक्ति के रूप है, द्रष्टा और दृश्य, जड और चेतन, शुद्ध और मिश्रण, भोक्ता और भोग्य, अनुभविता और अनुभूति के विषय इत्यादि रूप मे सारे द्वन्द्व भी इसी के रूप हैं। प्रगति के रूप मे यह शक्ति सृष्टि का विकास करती है और जब वह विपरिवर्तित होती है, तब प्रलय होता है।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओ से नाना प्रकार की शुद्ध रचनाएँ होती हैं। ज्ञान और वल द्वारा सकर्पण का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, शक्ति और तेज द्वारा अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। ये तीनो देवी रूप व्यूह कहे गए हैं और प्रत्येक व्यूह दो गुणो के सयोग का परिणाम है। यद्यपि प्रत्येक व्यूह मे दो गुण प्रधान हैं फिर भी वह ईश्वर के षड् गुणो से युक्त हैं क्योकि ये सव विष्णु के ही रूप हैं।[3] प्रत्येक व्यूह का दूसरे के रूप मे प्रकट होने तथा निम्न धरातल से उच्च धरातल तक की स्थिति मे पहुचने में १६०० वर्ष का समय लगता है। श्राडर, महा सनत्कुमार संहिता का सदर्भ देते हुए इस प्रकार कहते हैं, 'वासुदेव अपने चित्त से धवेल वर्णा देवी शाति तथा सकर्पण या शिव को उत्पन्न करते हैं, तत्पश्चात् शिव के वाम भाग मे से रक्तवर्णा देवी 'श्री' उत्पन्न होती है, जिसके पुत्र प्रद्युम्न अथवा ब्रह्मन् हैं। प्रद्युम्न फिर पीत वर्णा सरस्वती

---

[1] सोऽय सुदर्शनम् नाम सकल्प स्पन्दनात्मक ।
विभज्य वहुधा रूप भावे भावेऽवतिष्ठते ॥ —वही, ३–३९ ।

[2] तस्य स्तैमित्य रूपा या शक्ति शून्यत्व रूपिणी ।
स्वातत्र्यादेव कस्मात् चित् क्वचित् सोन्मेष ऋच्छति
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरे ।
—अहिर्बुध्न्य सहिता, ५–३ और ४ ।

[3] व्याप्ति मात्र गुणोन्मेषो मूर्तिकार इति त्रिधा ।
चतुर्त्म्य स्थितिर्विष्णोर्गुण व्यक्ति करोद्भवः ॥ —वही, ५–२१ ।

को और अनिरुद्ध या पुरुषोत्तम को उत्पन्न करते हैं। पुरुषोत्तम की शक्ति श्याम वर्णी 'रति' बनती है जो त्रिविध माया कोष हैं।'[1] श्राडर आगे हमारा ध्यान इस बात पर खींचते हैं कि वे तीनों युगल ब्रह्माड के बाहर हैं इसलिए वे सासारिक देवो से स्वरूपतः भिन्न हैं, यथा शिव इत्यादि। व्यूह तीन भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, वे हैं, (१) उत्पत्ति, स्थिति और लय (२) सासारिक वस्तुओ का पोषण (३) मुमुक्षु भक्तो की सहायता। सकर्षण जीवो के अधिष्ठाता हैं और वे उन्हे प्रकृति से अलग करते हैं।[2] दूसरा दैवी रूप सारे प्राणियो के मनस पर आधिपत्य करता है और उन्हें समस्त धार्मिक क्रियाओं के विषय मे विशिष्ट निर्देश देता है। समस्त मनुष्यो की उत्पत्ति भी इसी के अधीन है तथा विशेष रूप से, जिन लोगो ने अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पण कर दिया है और ईश्वर से पूर्णत अनुरक्त हो गए हैं, ऐसे भक्तो का रक्षण यही शक्ति करती है।[3] अनिरुद्ध रूप से, वह जगत् की रक्षा करता है और मनुष्यो को ज्ञान की अन्तिम कोटि पर ले जाता है। वह अच्छे बुरे जैसे मिश्र वर्ग की सृष्टि भी करता है (मिश्र-वर्ग-सृष्टिम् च करोति)।[4] ये तीनो रूप वासुदेव से अभिन्न हैं और विष्णु के शुद्ध या पूर्ण अवतार हैं।

इनके अतिरिक्त वासुदेव के दो और रूप हैं जिन्हे आवेशावतार और साक्षात् अवतार कहा है। पहला, अर्थात् आवेशावतार दो प्रकार का है, स्वरूपावेश (परशुराम, राम इत्यादि) और शक्ति आवेश (ईश्वर की शक्ति-विशेष का प्रकट होना, जैसा कि ब्रह्मा और शिव का विशेष अवसर पर ईश्वर की विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होना)। ये गौण रूप के आवेशावतार, ईश्वर सकल्प से मनुष्य योनि मे पैदा होते हैं जैसे कि राम, कृष्ण, पशुयोनि मे जैसेकि वराह मत्स्य एव नृसिह आदि अवतार और वृक्ष रूप मे भी अवतार धारण करते हैं—(दडक वन मे वक्र आम्र वृक्ष)। ये सब रूप ईश्वर के अनुभवातीत मौलिक रूप नहीं हैं। किन्तु ये सकल्प-शक्ति से दैवी क्रिया की प्रकट अभिव्यक्तियाँ हैं।[5] साक्षात् अवतार की उत्पत्ति ईश्वर से अविलम्ब होती है जैसे दिए

[1] Introduction to Panearatra श्री श्राडर लिखित, पृ० ३६।

[2] सोऽय समस्त जीवानाम् अधिष्ठातृतया स्थित
सकर्षणस्तु देवेशो जगत्-सृष्टिमनास्तत
जीव-तत्त्वम् अधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत् ॥
विष्वक्सेन सहिता से उद्धृत जो वरवर की, लोकाचार्य रचित तत्त्वत्रय की टीका मे प्राप्त है। —तत्त्वत्रय, पृ० १२५।

[3] तत्त्वत्रय मे विष्वक्सेन सहिता के उद्धरण को देखो। पृ० १२६, १२७।

[4] तत्त्वत्रय, पृ० १२८।

[5] मदिच्छया हि गौणत्व मनुष्यत्वमिवेन्द्रधा—अप्राकृत-स्वासाधारण-विग्रहेण सह

से दिया जाता है, इसलिए ये अवतार [illegible] अनुकरणीय हैं और सामान्य [illegible] से भिन्न हैं। मुमुक्षु को इन अवतारों की उपासना करनी चाहिए, अन्य किसी की नही।[1] तत्वत्रय मे उल्लिखित विष्वक्सेन संहिता के आधार पर ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, व्यास, अर्जुन, पावक और कुबेर ईश्वर प्रेरित व्यक्ति या आवेशावतार हैं, जिनकी आराधना मुमुक्षु को नही करनी चाहिए। इसी प्रकार से अन्य संहिताएँ राम, [illegible], कपिल इत्यादि को भी इसी वर्ग मे सम्मिलित करती है।

पुन प्रत्येक व्यूह से तीन उप व्यूह प्रकट होते हैं। वासुदेव से केशव, नारायण और माधव, सकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन, प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर प्रकट होते हैं। ये सब देवता प्रत्येक मास के अध्यक्ष हैं, जो बारह राशियों के सूर्यों के अधिष्ठित हैं। ये देवता मात्र ध्यान करने के हेतु से ही उत्पन्न किए गए हैं। इसके अतिरिक्त, अहिर्बुध्न्य संहिता मे ३६ विभव अवतारो का भी उल्लेख है।[2] [illegible] के मतानुसार [illegible]

नागत गोणस्य मनुष्यत्वादिवत्, [illegible]-दिव्य [illegible] इतर [illegible] कृष्ण अवतार रूपत्वाभावात् स्वरूपेण [illegible] सिद्धम्।

—तत्वत्रय, पृ० १३०।

[1] प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदशमात्वात् विशेषत
अजहत्स्वभावाविभवा दिव्या प्राकृत विग्रहा
दीपात् दीपा इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते
आर्या एव हि सेनेश सवृत्युत्तरणाय ते
मुख्या उपास्या तैनेश नर्च्यानितरान् विदु ॥

—तत्वत्रय, पृ० १३१।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता पृ० ४६। विष्वक्सेन सहिता के मतानुसार समस्त अवतार अनिरुद्ध से उत्पन्न हैं या अन्य अवतारो से उत्पन्न हुए है। ब्रह्म अनिरुद्ध से हुए और उनसे महेश्वर तथा हयशीर्ष मत्स्य से हुए, जो कृष्णावतार हैं। पद्म तत्र के आधार पर, मत्स्य, कूर्म, वराह, वासुदेव से, नृसिंह और वामन और श्रीराम, परशुराम सकर्षण से, बलराम प्रद्युम्न से, तथा कृष्ण और कल्कि अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। (पद्म तत्र १–२–३१ इत्यादि) किन्तु लक्ष्मी तत्र के आधार पर (२–५५) समस्त विभव अनिरुद्ध से आए हैं। एक अन्य प्रकार का और भी अवतारक माना है जो अर्चावतार है। कृष्ण, नृसिंह इत्यादि की मूर्ति जब वैष्णव क्रिया कर्म द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है तब उसमे विष्णु की शक्ति अवतरित हो जाती है जिससे भक्त को मूर्ति मे इन्ही शक्तियो का अनुभव होता है (विष्वक्सेन सहिता, तत्वत्रय मे उल्लिखित) विष्णु जब अनिरुद्ध के रूप मे समस्त पर नियत्रण

उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर इन अवतारो का आविर्भाव हुआ है वे तीन उद्देश्य है। जो ऋषि अवतार के बिना नही रह सकते, उन्हे सगति देने के हेतु से इन्हे (अवतारो को) प्रकट किया गया है यह प्रथम है। गीता मे उल्लिखित परित्राण शब्द का अर्थ यही

करते हैं तब उसे अतर्यामी अवतार कहते है। इस प्रकार चार प्रकार के अवतार माने गए हैं जैसे विभव, अोवश, अर्चा और अतर्यामी। ३६ विभव अवतार, पद्मनाभ ध्रुव, अनत, सत्यकाम, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, विहगम, कोडात्मन्, वडवावक्त्र धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायिम्, कमठेश्वर, वराह, नरसिह, पियूषहरण, श्रीपति, कान्तात्मन्, राहुजित्, कालनेमिघ्न, पारिजात हर, लोकनाथ, शान्तात्मन्, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायिन्, एकशृगतनु, वामन देव, त्रिविक्रम, नर, नारायण, हरि, कृष्ण, परशुराम, राम, वेदविद्, कल्किन, पाताल शयन है। सात्वत सहिता और अहिर्बुध्न्य सहिता के अनुसार वे तेज रूप हैं और अपने विशेष रूप मे पूजा के योग्य है। (सा० स १२) (अ०बु० ६६) महाभारत के नारायणीय प्रकरण में विहगम या हस, कमठेश्वर या कूर्म, एक शृगतनु या मत्स्य, वराह, नृसिह, वामन, परशुराम, और राम वेदविद् और कल्किन् इत्यादि दस अवतारो का उल्लेख है। क्रोडात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन् अवतारो का उल्लेख है। क्रोडात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन्, अवतारो को क्रमश कभी यज्ञ वराह, मनु वैवस्वत और काम भी कहा है। काम को कभी धन्वन्तरि भी कहते हैं (श्राडर का पचरात्र देखो पृ० ४५)। भागवत पुराण मे कथित् २३ अवतार (१-३) उपरोक्त सूची के अतर्गत आ जाते हैं। किन्तु यह शकास्पद है, जैसा कि श्राडर कहते है कि वागीश्वर और हयशीर्ष, सनत्कुमार और सनक या नारद एक ही है। श्री रूप रचित लघु भागवतामृत मे कथित विभव अवतार भी अधिकतर उपरोक्त सूची मे आ जाते है यद्यपि कई नामो मे परिवर्तन दीखता है। ब्रह्म सहिता के प्रमाण पर रूप कृष्ण को ईश्वर का स्वय रूप मानते हैं। उनका मत है कि ईश्वर से एक रस हो, वे अनेक रूप धारण कर सकते है, इसे एकात्म-रूप अवतार कहते हैं। वह एकात्म रूप अवतार भी दो प्रकार का होता है, स्व विलास और स्वाश। जब अवतार बल और गुणो मे ईश्वर के समान होते हं तो उन्हे स्वाशावतार कहते हैं। वासुदेव स्वविलासावतार कहे गए है। किन्तु जब अवतार मे निम्न (अल्प) गुण होते है तो वे स्वाशावतार कहलाते है। सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, मत्स्य, कूर्म इत्यादि स्वाशावतार कहे जाते हैं। ईश्वर जब अपने अश गुणो से किसी मे प्रविष्ट होता है तो वह आवेशावतार कहलाता है। नारद, सनक, इत्यादि आवेशावतार है। उपरोक्त रूपों मे ईश्वर का, ससार के कल्याण के लिए प्रगट होना अवतार कहलाता है।

ईश्वर अपने श्रेष्ठ रूप मे हमेशा अपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से सलग्न रहते है।[1] तत्वत्रय और वरवर रचित उसकी टीका मे हमे तीन सहधर्मिणी देविया, लक्ष्मी भूमि और नीला का उल्लेख मिलता है। श्राडर ऐसा कहते हैं कि विहगेंद्र सहिता और सीता उपनिषद् मे इन्हे इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति माना है। सीता उपनिषद् मे, जिसका ज्यादा उल्लेख करते हैं सीता को महालक्ष्मी कहा गया है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप से प्रकट है। यहा सीता को, महेश्वर से पृथक् एव एक रूप शक्ति माना है जिसमे जगत् के समस्त चित् और अचित् पदार्थो का समावेश है। वह लक्ष्मी, भूमि और नीला के विविध रूप मे भी विद्यमान है। कल्याण, शक्ति और सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इसी के रूप हैं। तीसरे रूप से यहा शक्ति द्वारा सारी औषधिया उगती है और काल का निर्णय होता है।[2]

अहिर्बुध्न्य सहिता के छठे अध्याय मे मध्यवर्ती सर्ग का वर्णन है। परम अहकार के रूप मे ईश्वर की शक्ति उससे पृथक् एव अभिन्न है। ईश्वर अपनी शक्ति के विना रह नही सकता और न शक्ति उसके विना। ये दोनो जगत् के मूल कारण हैं। व्यूहो और विभवो के रूप मे ईश्वर की अभिव्यक्ति निर्मल या शुद्ध कही गई है क्योकि इनके ध्यान द्वारा ही योगी अपने इष्ट को पा सकते हैं।[3] व्यूह और विभव से अशुद्ध (शुद्धेतर) सृष्टि उत्पन्न होती है। शक्ति के दो प्रकार हैं, क्रिया शक्ति और भूत शक्ति। भूत शक्ति को सकल्पमयी मूर्ति माना जा सकता है। इस शक्ति मे अतर्निहित क्रिया व्यापार, विचार और सप्रत्यय रूप मे प्रकट होते हैं।[4] अशुद्ध सृष्टि,

---

[1] अहिर्बुध्न्य सहिता, ६–२५।

[2] सीता उपनिषद् मे इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति के अनोखे अर्थ पाये जाते हैं। सात्वत सहिता (९–८५) मे १२ अन्य शक्तियो का उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मी, पुष्टिर्दया निद्रा, क्षमा काति सरस्वती,
धृतिर्मैत्री रतिस्तुष्टिर्मति र्द्वादशमी स्मृता॥

श्राडर का पचरात्र: भूमिका देखो, पृ० ५५, इन शक्तियो का अवतारो से सबध है।

[3] श्राडर, पद्म तत्र के आधार पर कहते हैं कि पर रूप मे ईश्वर का कभी व्यूह वासुदेव से तादात्म्य या कभी भेद किया गया है। परा वासुदेव अपने अर्ध भाग से व्यूह वासुदेव बनते हैं और नारायण रूप से रहते हैं जो माया के सर्जक हैं।

—पचरात्र पृ० ५३।

[4] भूति शुद्धेतरा विष्णो पुरुषो द्विचतुर्मय।
न मूर्ता ममाहारो अस्य क्षत्रादिभेदिनाम्॥ —अहिर्बुध्न्य सहिता ६, ८-९।

पुरुप, गुण और काल रूप से तीन प्रकार की है। पुरुष को चातुर्वर्णों के स्त्री-पुरुष युगल की (सहति) इकाई माना है, ये चार युगल प्रद्युम्न के मुख, छाती, जंघा एवं पैर से उत्पन्न हुए माने गये है। प्रद्युम्न के ललाट भृकुटि और चरणों से काल और गुण की सूक्ष्मावस्था उत्पन्न होती है। इन सबके प्रगट होने पर इस सृष्टि का विकास और प्रगति अनिरुद्ध के आधीन होती है फिर वे योग के उत्साह से, काल और नियति रूपी द्विविध समय का निर्माण करते हैं। अनिरुद्ध ने क्रम से सत्व रजस् और तमस् रूप मौलिक शक्ति को भी उत्पन्न किया। गुण रूप मे विद्यमान आदिम मूल शक्ति से जिसे सजातीय साहित्य मे प्रकृति भी कहते हैं, पहले सत्व गुण का विकास हुआ। इसके वाद सत्व से रजस् का और फिर रजस् से तमस् का विकास हुआ। इस प्रकार अविकसित गुण का प्रद्युम्न से आविर्भाव हुआ। जिसे दूसरे शब्दों मे प्रकृति भी कह सकते है, जो अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त होकर, क्रम से पहले सत्व, रजस् और तमोगुण मे व्यक्त होता है। इसलिये इस सिद्धान्त को परिमित अर्थ में ही सत्कार्यवाद कहा जा सकता है क्योकि अनिरुद्ध के उत्साह से ससिक्त हुए विना, प्रकृति तीनो गुणो को उत्पन्न नही कर सकती।[1]

अनिरुद्ध, प्रद्युम्न द्वारा केवल जड प्रकृति का विकास करने के लिये ही नहीं थे किन्तु पुरुप को भी, जो उस शक्ति मे निहित है, नियति और काल रूप मे प्रकट करने को प्रेरित किये गये थे। जड रूप नियति और काल से प्रथम सत्व, सत्व से रजस् और रजस् से तमस् का विकास होता है। विष्वक्सेन सहिता के आधार पर, अनिरुद्ध ने ब्रह्म को उत्पन्न किया और ब्रह्मा ने चार वर्ण के स्त्री पुरुपो को उत्पन्न किया।[2]

[1] अतस्थ पुरुपा शक्ति ता मादाय स्वमूर्तिगाम्।
सवर्धयति योगेन ह्यनिरुद्ध स्वतेजसा ॥ —अहिर्बुध्न्य सहिता ६-१४।

[2] विष्वक्सेन सहिता इस सम्वन्ध मे वैदिक लोगो की आलोचना करती है जो एकेश्वरवाद को नही मानते थे किन्तु स्वर्ग प्राप्ति के लिए वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड पर आस्था रखते थे। इससे अन्त मे उनका सासारिक जीवन मे पतन हो गया

त्रयीमार्गेषु निष्णाता फलवादे रमन्ति ते
देवा दीने व मन्वाना न च मा मेनिरे परम्,
तम प्रायास्त्विमे केचित् मम निंदा प्रकुर्वते
सलापम् कुर्वते व्यग्र वेदवादेषु निष्ठिता
माम् न जानन्ति मोहेन मयि भक्ति पराङ्मुख
स्वर्गादिषु रमन्त्येते अवसाने पतन्ति ते।

—तत्वत्रय, पृ० १२८।

सर्वात्मनाम् समष्टिर्या कोशो मधु कृतामिव। —अहि० स० ६-३३।

बुद्धि तमोगुण से उत्पन्न होती है, उसमे अहकार और अहकार से पच तन्मात्र और ११ इद्रिया भी उत्पन्न होती है। पच तन्मात्र से पच महाभूत होते हैं। जितने समस्त भूत पदार्थ हैं वे पच महाभूत के ही प्रकार है।

यहा पुरुष का विशेष अर्थ लिया गया है जो साख्य मतानुसार नहीं है। पुरुष का अर्थ समस्त आत्माओं की समष्टि रूप मे किया गया है जैसे मधुमक्खियो का छत्ता। ये जीव अनादि वासना से सयुक्त होते है, वे ईश्वर के विशिष्ट भेद है (भूति-भेदा) वे स्वरूप से सर्वज्ञ है परन्तु वे क्लेश और अविद्या से व्याप्त है जो भगवत्-शक्ति रूप माया से प्रेरित होती है। वे ईश्वर के विशेष रूप हैं (भूतिभेदा) और स्वरूप से सर्वज्ञ है, और ईश्वर शक्ति से प्रेरित हो उसकी सकल्प गति के अनुसार ये अविद्या तथा क्लेश मे फसे रहते हैं।[1] यह आत्मा इस प्रकार अशुद्ध और सीमित होने से जीव कही गयी है। आत्मा बधन के दुःख से पीडित होती है और मुक्ति का प्रयास करती है, जिसे वह अन्त मे प्राप्त करती है। इन्ही अशुद्ध जीवो से पुरुष बना है, अत अशत अपवित्र होने के कारण शुद्धचशुद्धिमय है। (शुद्धचशुद्धिमय ४–३४) इस पुरुष मे समस्त मानव, बीज रूप से स्थित है, जिन्हे मनु कहा गया है। वे क्लेश और कर्माशय रहित हैं, सर्वज्ञ है और पूर्ण रूप से ईश्वर प्रेरित हैं। किन्तु इनका माया के साथ सम्बन्ध ईश्वर इच्छा से होते हुए भी ऊपरी ही है। लिंग और वर्ण भेद के बीज को सनातन और सर्वातीत माना गया है (पुरुष सूक्त से तुलना करो) यह भेद मानव (मनु) के चारो जोडो मे भी है। अविद्या चित्त की आध्यात्मिक गति का अनुकरण करती है, इसी से जीव शुद्ध होते हुए भी वासना युक्त होते हैं। ये जीव इस सयोग की अवस्था मे विष्णु सकल्प से प्रेरित होकर ही रहते है जिसे पुरुषपद कहा है।[2] वे ईश्वर के स्वरूप मे अवतरित और तिरोहित होते दिखाई देते हैं। ईश्वर के रूप होने से ये अजन्मा, सनातन और ईश्वर के भूत्यश्र के भाग हैं।

ईश्वर के सकल्प की प्रेरणा से, अनिरुद्ध मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। ईश्वर के सकल्प से पुन प्रेरित होकर, उपरोक्त कथित मनु इस शक्ति मे प्रवेश कर पिण्ड रूप से रहता है (तिष्ठन्ति कललीभूता ६-४५) विष्णु की शक्ति के दो प्रकार हैं, जिन्हे क्रिया रूप और भूति कहा गया है। भूति, क्रियाख्य से उत्पन्न है।[3] यह गतिशील

[1] आत्मनो भूति भेदास्ते सर्वज्ञा सर्वतोमुखा,
भगवच्छक्ति मायवमन्द-तीव्रादि मात्रया
तत्तत् सुदर्शनोन्मेष-निमेषानुकृतात्मना,
सर्वतो विष्या विद्धा क्लेशमाया-वशीकृता ॥ —अहि० सहिता ६, ३५, ३६।

[2] विष्णो सकल्प रूपेण स्थित्वास्मिन् पौरुषे पदे। —वही ६-४१।

[3] क्रियाख्यो यो य न्मेष स भूति परिवर्तक। तवही, ६-२६।

क्रिया ईश्वर से भिन्न है जो शक्ति का अधिपति है। इसके अनेक नाम दिये गये हैं,– लक्ष्मी, सकल्प, स्वतत्र इच्छा (स्वातत्रय मूल इच्छात्मा)। यह इच्छा क्रिया, कल्पना के मानसिक चित्र पट खडे करती है (प्रेक्षारूप क्रियाफल॰) और पुन अव्यक्त, काल और पुरुष उत्पन्न करती है। सृष्टि रचना के समय ईश्वर अव्यक्त को विकासोन्मुख बनाता है, काल को कलन के साथ सयुक्त करता है और पुरुष को सुख दु ख के अनुभव करने की स्थिति मे ले जाता है। प्रलय के समय इन शक्तियो का सकोच कर लिया जाता है।

ईश्वर की शक्ति मे स्थित गर्भस्थ मनु मे काल और गुण रहते हैं। विष्णु की सकल्प शक्ति की उत्तेजना से काल शक्ति-नियति उत्पन्न होती है (विष्णु सकल्प चोदिता) जिससे सृष्टि का नियन्त्रण होता है (सर्व-नियामक)। काल और गुण ईश्वर-शक्ति के गर्भ मे रहते हैं। इस प्रकार यहा शक्ति का अर्थ साख्य-पातजल-मतानुसार प्रकृति से भिन्न है क्योकि गुण इस मतानुसार मूल पदार्थ हैं और काल गुणो के व्यापार के अतर्गत तत्व समझा गया है। काल शक्ति से नियति उत्पन्न होती है इसी कारण से मनु भी इसी स्तर के तत्त्व हैं। तत्पश्चात् ईश्वर के सकल्प द्वारा नियति मे से काल की उत्पत्ति होती है तब मनु फिर इसी स्तर मे प्रवेश करते है।[1] ऊपर हम कह चुके हैं कि काल शक्ति और गुण, विष्णु की आद्य शक्ति मे एक साथ रहते हैं। यह बीजभूत गुण ही काल-क्रम से, अपने को अभिव्यक्त करता है। जब सत्वगुण काल के सयोग से प्रथम उत्पन्न होता है तब मनु इस पदार्थ मे प्रवेश करते है और तत्पश्चात् सत्त्व से रजस् और रजस् से तमस् के आविर्भाव के साथ उनकी कोटि मे अवतरित हो जाते हैं। गुणो का क्रमबद्ध विकास विष्णु की सकल्प-शक्ति द्वारा ही होता है। यद्यपि विष्णु की सकल्प शक्ति उत्तरोत्तर विकास क्रम से सर्वव्यापी एव अलौकिक है, तो भी विष्णु विशेष रूप से सत्त्व गुण के अधिपति माने गये है तमस्, भारी (गुरु) विष्टम्भक, मोह पैदा करने वाला (मोहन) और स्थिर (अप्रवृत्तिमत्) हैं, रजस् सदैव चलित और दु खदायक है। सत्त्व, उज्वल, स्वच्छ अशुद्धि-रहित और सुखदायक है।[2] विष्णु के सकल्प से तीनो गुणो के विकास द्वारा गुणो का

---

[1] प्रलय क्रम का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है कि एक समय जगत् केवल काल रूप ही रहता है। समय मे प्रगट होने वाली शक्ति को काल कहा है (कालगत शक्ति) और यही शक्ति सब पदार्थों को गति देती है और परिणाम करती है (अशेष प्रकृतलिनी) अहि॰ स॰ ४-४८ काल को समस्त पदार्थों को तोडने वाला साधन भी कहा जिस प्रकार नदी का वेग किनारो को तोड देता है।

कल्यत्यखिल काल्य नदी कूल यथा रय। —वही ६-५१।

[2] सत्व तत्र लघु स्वच्छ गुणरूप घनामयम् अहि॰ स॰ ६-५२।
तदएतद् प्रचल दु ख रज शश्वत् प्रवृत्तिमत् अहि॰ स॰ ६-५७।
गुरु विष्टमक्त शश्वन्मोहन चाप्रवृत्तिमत् - अहि॰ स॰ ६-६०।

कुछ अश एक रूप बन जाता है, (त्रैगुण्य) इस अवस्था में तीनो गुण एकाकार हो जाते हैं (गुण साम्य) और यहा स्वभाव, अविद्या योनि, अक्षर और अयोनि एव गुण योनि की स्थिति पाई जाती है।[1]

गुणों की इस प्रकार समानानुपात अवस्था को गुणो का साम्य कहा है, जो तमोमय है उसे साख्य मतानुसार मूल अथवा प्रकृति कहा गया है। जब मनु का इसमें प्रवेश होता है तब उसे समष्टि, पुरुष, योनि और कूटस्थ सज्ञा दी जाती है। काल तत्त्व, जो जगत् के परिणाम का कारण है, (जगत सप्रकल्पनम्) फलोदय के हेतु से, पुरुष और प्रकृति से सयुक्त वियुक्त होता रहता है। विष्णु की सकल्प शक्ति, काल, प्रकृति और मनु के त्रिविध सघात द्वारा कार्यान्वित होती है और वह मिट्टी के पिण्ड की तरह उपादान कारण बनकर महत् से लेकर मिट्टी, जल इत्यादि सारे तत्त्वों को उत्पन्न करती है। प्रकृति पानी या मिट्टी की तरह, विकासात्मक या उपादान कारण है, पुरुष अपरिणामी रहता हुआ केवल अपने सान्निध्य से ही।[2] विविध परिणामो को रूप देता है। काल पुरुष और प्रकृति का अंतस्थ गतिशील तत्त्व है। प्रकृति पुरुष और काल की त्रयी, उत्पन्न होने वाले समस्त तत्वो का आधार है। इस त्रयी मे प्रकृति जो परिणामशील है, उपादान कारण है, पुरुष अपने मे कूटस्थ रहता हुआ भी अपने सानिध्य से ही परिणाम की क्रिया को अवसर देता है और काल तत्वो के अन्त. सश्लेषणात्मक व सरचनात्मक कारण को गतिशीलता प्रदान करता है। किन्तु ये कारण स्वत उक्त त्रयी के विकास के लिये पर्याप्त नही हैं। त्रयी, ईश्वर की दैवी शक्ति से ही विकासोन्मुख होती है। पुरुष अधिष्ठान कारण माना गया है, काल भीतर घटित होने वाली क्रिया का सिद्धान्त है और ईश्वर की सकल्प शक्ति

[1] सुदर्शनभयेनैव सकल्पेनात्र वै हरे।
चोद्यमानेऽपि सृष्ट्यर्थं पूर्णं गुणयुग तदा,
अचात साम्यमा याति विष्णु सकल्प चोदितम् ॥ —अहि० स० ६, ६१-६२।

यह पाठ क्लिष्ट है यह समझ मे नही आता कि गुण अचात एक रूप कैसे हो सकते है। सम्भवत यह अर्थ हो सकता है कि जब गुण विकासोन्मुख होते हैं तब गुण अपने विशेप व्यापार को नही प्रगट कर सकते हैं और दूसरे गुणो से एक सरीखे दीखने लगते है। इस अवस्था मे, विकासोन्मुख विशेष गुण का अपना विशेष व्यापार नष्ट प्रायः हो जाता है और वे तमस् जैसे दीखने लगते है। जिस प्रमाण मे सत्त्व तमस् जैसा दीखता है उसी प्रमाण मे तमस् रजस् जैसा दीखने लगता है।

[2] पयोमृदादिवत् तत्र प्रकृति परिणामिनी,
पुमानपरिणामी सत् सन्निधानेन कारण
काल पचति तत्त्वे द्वे प्रकृति पुरुष च ह ॥ —अहि० स० ७, ५-६।

अलौकिक और व्यापक कर्तृत्व रूप से स्थित है जिसमे कारण रूप त्रयी अपनी गति का मूल आधार पाती है। विकास के क्रम मे पहला तत्त्व महत् उत्पन्न होता है, जिसे सत्व, रजस् और तमस् की विशेष अभिव्यक्ति के आधार पर अनेक नाम से जाना जाता है जैसे विद्या, गौ यवनी, ब्राह्मी, वधू, मति, वृद्धि मधु, अख्याति, ईश्वर और प्रज्ञा। सत्व, रजस् या तमस् के विशेष उन्मेष को ध्यान मे रखते हुए, तमस्, सत्व और रजस् की विशेष अभिव्यक्ति के अनुसार इसे क्रम से काम बुद्धि और प्राण कहते हैं।[1] पल और क्षण रूप मे स्थूल काल, बुद्धि और प्राण भी महत् के त्रिविध भेद हैं।[2] वृद्धि और प्राण की शक्ति मानो काल के ही द्वारा व्यक्त रूप धारण करती है। विचार और कर्म का सामजस्य काल द्वारा होता है क्योकि काल को कलन-कारण, या सरचनात्मक कारण माना गया है। महत् का सात्विक अग, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के रूप मे प्रकट होता है और तमोऽभिभूत अग इससे विपरीत गुणो को प्रकट करते है।

महत् के प्रकट होने के साथ ही मनु का उसमे अवतरण होता है। महत् मे से और महत् मे, इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हे विषयो के सत् असत् रूप का अनुभव होता है।[3] पुन महत् मे से और महत् मे ही अहकार की उत्पत्ति विष्णु के सकल्प की प्रेरणा से होती है।[4] अहकार की चार भिन्न सज्ञाएँ दी गई हैं, जैसे अभिमान, प्रजापति, अभिमन्ता और वोद्धा। अहकार की सत्व, रजस् या तमस् के प्राधान्य से वैकारिक, तेजस और भूतादि तीन किस्मे हैं। अहकार, इच्छा, क्रोध, तृष्णा, मनस् और तृषा के रूप मे अभिव्यक्त होता है। जव अहकार उत्पन्न होता है तो मनु उसमें प्रवेश करते हैं, अहकार से मनु का चिन्तनात्मक इद्रिय रूप मनस् प्रकट होता है। इसी स्तर पर पहुँचने के बाद ही मनु, सर्व प्रथम चिन्तन करने योग्य बनते हैं। भूतादि रूप तमोमय अहकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है जिससे आकाश प्रकट होता है। आकाश का गुण शब्द है जो सबको अवकाश देता है। आकाश को इस प्रकार रिक्त अवकाश कहना योग्य है जो शब्द गुण युक्त है।[5] आकाश के उत्पन्न होते ही मनु आकाश मे प्रवेश करते हैं। वैकारिक अहकार से वाक् और श्रवणेंद्रिया

---

[1] कालो बुद्धिस्तथा प्राण इति त्रेधा स गीयते।
तम सत्वरजो भेदात् तत्तदुन्मेष सज्ञया॥ —अहि० स० ७–९।

[2] कालस्त्रुटिलवाद्यात्मा बुद्धि रध्यवसायिनी,
प्राण प्रयतनाकार इत्येता महतो भिदा। —वही ७–११।

[3] बोधन नाम वेद्यम् तदिन्द्रिय तेषु जायते।
येनार्थाअध्यवस्येयु सदसत् प्रविभागिन। —वही, ७–१४।

[4] विद्यया उदरे तत्राहकृतनीम जायते। —वही, ७–१५।

[5] शब्दैकगुणम् आकाश अवकाशप्रदायीच। —अहि० स० ७–२२।

उत्पन्न होती है ।[1] मनु इस स्तर पर इन इन्द्रियो से सयुक्त हो जाते हैं । विष्णु की सकल्प शक्ति के प्रभाव से, भूतादि मे से स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है जिससे वायु प्रगट होती है, वैकारिक ग्रहकार से, विष्णु की कल्पना शक्ति द्वारा स्पर्शेन्द्रियाँ तथा हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ प्रकट होती है । यहाँ पर मनु का इन ग्रहणशील और क्रियाशील इन्द्रियो से सबध हो जाता है । भूतादि से रूप तन्मात्रा उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर स्थूल तेज प्रकट होता है । पुन वैकारिक ग्रहकार से चक्षु इन्द्रिय और पाद रूप कर्मेन्द्रिय प्रकट होती है और मनु का फिर इन इन्द्रियो से सम्बन्ध होता है । भूतादि से रस तन्मात्रा और उससे जल या आप उत्पन्न होते है । तदुपरान्त, वैकारिक ग्रहकार से रसनेंद्रिय और लिंग उत्पन्न होने पर मनु का इनसे सम्बन्ध होता है । पुन भूतादि से घ्राण तन्मात्रा और इससे पृथ्वी उत्पन्न होती है । फिर वैकारिक ग्रहकार से ज्ञानात्मक घ्राणेंद्रिय और उपस्थ उत्पन्न होते हैं । विष्णु की सकल्प शक्ति से प्रेरित होकर मनु फिर इसमे प्रवेश करते हैं ।[2]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय, प्रत्येक तन्मात्रा के विकास के साथ उत्पन्न होती है तथा पूर्ण विकास होने पर दसो इन्द्रियाँ युगल रूप से प्रकट हो जाती हैं । भूतादि के क्रमश प्रलय का वर्णन किए गए ग्रध्याय मे यह वताया है कि प्रत्येक भूत के प्रलय के साथ, उससे उत्पन्न इन्द्रिय युगल का भी साथ-साथ प्रलय होता है । इससे यह ग्रर्थ निकलता है कि हरेक स्तर पर भूत तत्व और कर्म तथा ज्ञानेंद्रियो के बीच सहकार है । ज्यो-ज्यो क्रम से तत्वो का विकास होता है त्यो-त्यो जीव उनमें प्रवेश करते हैं, इससे यह ग्रर्थ निकलता है कि जीव ग्रनादिकाल से तत्वो के विकास से सबधित होने के कारण इन्द्रिय तथा उनके विपयो से भी सरलता मे मिल जाते है । जब समस्त भूतादि तथा दस इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं, तव कल्पना के कार्य, सकल्प शक्ति (सरम्भ) और मनस् ग्रहकार और वुद्धि से पच प्राण उत्पन्न होते हैं । इन तत्वो के विकास से व्यक्तित्व का निर्माण होता हैं ।[3] प्रलय क्रम विकास क्रम से ठीक उलटा है ।

[1] तदा वैकारिकात् पुन श्रोत्रम् वागृइनि विज्ञान कर्मेंद्रिययुग मुने ।
—ग्रहि० स० ७, २३, २४ ।

[2] ग्रहि० स० ७, ३९–४० ।

[3] सकल्प श्चैव सरम्भ प्राणा पचविधास्तथा,
मनसो हङ्कतेर्बुद्धेर्जायते पूर्व मेच तु,
एव सपूर्ण–सर्वंगा. प्राणापानादिसयुता
सर्वेन्द्रिययुता स्तत्र देहिनो मनवो मुने ।।
—ग्रहि० स० ७, ४२–४३ ।

मनु अपनी पत्नियो मे अनेक पुत्रो को जन्म देते हैं जो मानव कहलाए हैं। वे पुन और अन्य अनेक पुत्रो को जन्म देते है जो चारो वर्णो मे नव मानव नाम से जाने गए है। उनमे से वे जो विवेक ज्ञान द्वारा अपना कार्य १०० वर्षों तक पूर्ण करते हैं वे हरि मे वास करते है और जो सकाम सेवा करते हैं वे कर्मानुसार आवागमन मे ही रहते है। ऊपर कहे अनुसार मनु कूटस्थ पुरुप का व्यक्ति रूप है। सारे जीव इस प्रकार विष्णु के भूत्यश है। प्रकृति जो विद्या भी है और सृष्टि रचना के समय जल रूप मे अपने को बरसा कर अन्न की सृष्टि करती है और प्रलय के समय, शुष्क ताप रूप है, वह जब मेघ का रूप धारण करती है तब अन्न उपजाती है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किए अन्न को खाकर मनुष्य अपनी पूर्ण ज्ञान की मूलावस्था से गिर जाता है (ज्ञान-भ्रशम् प्रपद्यते)। इस समय आदि मनु, जो मनुष्य सर्वज्ञता से च्युत हो गए हैं, उनके लिए शास्त्र प्रकट करते हैं।[1] उसके बाद ही जीव शास्त्रो के आदेशो का अनुगमन करते हुए अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्य आनन्द और क्रिया शक्ति रूपी विष्णु भावक और भाव्य रूप मे विभाजित हो जाते है। पहली विष्णु की सकल्प शक्ति है और दूसरी शक्ति सकल्प शक्ति का विषय बनती है। इससे शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। चारो मनुओ का जनक कूटस्थ पुरुष, शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच स्थित है।[2] विष्णु की सुदर्शन शक्ति के बाहर कुछ भी नही है।

जीव और ईश्वर के बीच क्या सबध है इस प्रश्न के बारे मे पचरात्र और अहिर्बुध्न्य सहिता का यह मत है कि प्रलय मे जीव विष्णु मे अव्यक्त रूप से रहते हैं

इस प्रकार तेजस अहकार के सयोग से भूतादि से पच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गधादि उत्पन्न होते हैं। इन्ही पाँचो मे से उसी क्रम से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं जैसे आकाश, वायु, तेजस्, अप् और पृथ्वी। पुनः तेजस और वैकारिक अहकार के सयोग से पाच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

[1] तत्तु वैद्यम् पय प्राश्य सर्वे मानवमानवा।
ज्ञान भ्रशम् प्रपद्यन्ते सर्वज्ञा स्वत एवते॥ —अहि० स० ७, ६१–६२।
इसे यहूदी-ईसाई मत के साथ तुलना कीजिए जैसाकि श्राडर ने अपने ग्रथ मे लिखा है। पृ० ७८।

[2] अशयो पुरुपो मध्येय स्थित स चतुर्युग
शुद्धेतरमय विद्धि कूटस्थ तत् महामुने॥ —वही, ७, ७०।
गौडीय मत की तुलना करो जो जीवो को ईश्वर की तटस्थ-शक्ति मानता है—जो अतरग और बहिरग शक्ति के बीच है।

और नव सर्जन के समय उसमे से पृथक् हो जाते है। मुक्त होने के वाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं फिर आवागमन नही होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर मे प्रवेश तो करते हैं किन्तु उससे एक नही होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते है या विष्णु-धाम वैकुण्ठ मे वास करते हैं। वैकुण्ठ वास को वहुधा विष्णु से एकात्म होना भी माना है। यह सम्भवत सालोक्य मुक्ति है जिसका वर्णन अन्य स्थान पर प्राप्त है। अहिर्वुध्न्य सहिता के १४वें अध्याय मे मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा है (भगवत्ताययी मुक्तिया वैष्णव तद् विशेत् पदम्)।[1] निस्वार्थता से पुण्य कर्म करना मुक्ति पाने का साधन माना जाता है।[2] जीवो को अनादि, अनन्त, शुद्ध चैतन्य और आनद रूप माना है वे अधिकाश मे ईश्वर जैसे है (भगवन्मय) तो भी उनका अस्तित्व ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति से है (भगवद् भाविता सदा)।[3] इस विचार को यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि भाव्य भावक शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी भी पुशक्ति है, जिसको गीता मे क्षेत्रज्ञ शक्ति की सज्ञा दी है और इसे ही गौडीय सप्रदाय मे तटस्थ शक्ति कहा है।[4] ईश्वर की सर्जन, पालन और सहार इन तीन शक्तियो के अलावा चौथी और पाचवी शक्ति भी है जिसे अनुग्रह और निग्रह कहते हैं। विष्णु आप्तकाम है उन्हे कुछ प्राप्त करना वाकी नही है उनकी स्वतत्रता दिव्य है तो भी वह एक स्वेछाचारी राजा की तरह क्रीडा करते हैं।[5] इस क्रीडा को गौंडीय मत मे लीला कहा है। ईश्वर की ये सव क्रियाएँ उसकी सकल्प-शक्ति के ही भिन्न रूप हैं जिसे सुदर्शन कहा गया है। अपनी निग्रह रूपी लीला मे ईश्वर जीवो के स्वभाव को ढक लेता है जिससे वे अपने को अनत अनुभव न करके अणु रूप पाते हैं, सर्वशक्तिमत्ता के वजाय अल्प शक्तिमान्, सर्वज्ञता की जगह, अल्पज्ञ और अज्ञानी पाते हैं। ये तीन प्रकार के मल है और तीन ही प्रकार के वधन हैं। इस आवरण शक्ति द्वारा जीव अज्ञान, अहकार, राग और द्वेषादि से पीडित हो जाता है। अज्ञान और रागादि से पीडित हो और सुख को प्राप्त करने और दु ख को दूर करने की इस प्रकृति से प्रेरित हो वह पाप और पुण्य कर्म करने लगता है। इससे वह आवागमन के चक्र मे फसता है और अनेक प्रकार की वासनाओ से युक्त हो जाता है। सर्जन, पालन और सहार की शक्ति, वधन शक्ति और उसकी आवश्यकताओ द्वारा ही जागृत होती है और उसे जीवो को कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह के लिए क्रियाशील वनाती है। यह क्रीडा

---

[1] अहि० स० १४, ३, ४, ४१।

[2] साधन तस्य च प्रोक्तो धर्मेनिरभिसधिक —वही, १४, ४।

[3] वही, १४, ४।

[4] पुशक्ति कालमय्यन्या पुमान् सोऽयमुदीरित —वही, १४, १०।

[5] सर्वै रननुयोज्य तत् स्वातत्र्यम् दिव्यमीशितु।
अवाप्त विश्व कामोऽपि क्रीडते राजवद् वशी॥ —वही, १४, १३।

काल से परे होने के कारण अनादि है। तदनुसार बंधन भी अनादि है। बंधन किसी विशेष समय पर जीवो को अपने स्वस्वरूप से च्युत होने से प्राप्त हुआ है, यह परिस्थिति के विश्लेषण द्वारा कहा गया है। ईश्वर जीवो के दुःख और शोक की स्थिति पर दया करके अपनी अनुग्रह या कृपा शक्ति द्वारा, उनके कर्म की गति को रोक देता है। अच्छे और बुरे कर्म तथा उनके उपयुक्त सुख-दुःख रूपी भोगो के रुक जाने पर जीव मुक्ति के प्रति झुकता है उसमे वैराग्य उत्पन्न होता है और विवेक दृष्टि जागृत होती है। तब वह शास्त्र और गुरु के पास जाता है, सांख्य और योग के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है, वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त मे विष्णु-धाम पहुँचता है।

लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना है, उसे गौरी, सरस्वती धेनु भी कहा है। यही परम शक्ति संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप मे प्रकट होती है। इस प्रकार ये भिन्न शक्तियाँ अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती हैं, किन्तु जब वे अव्यक्त होती है तब भी वे विष्णु मे लक्ष्मी रूप से परम शक्ति के रूप मे रहती हैं। यही लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाती है। व्यक्ति, अव्यक्ति, पुरुष, काल या सांख्य और योग इन सभी का लक्ष्मी मे ही वास है। लक्ष्मी ही परम शक्ति है जिसमे सब लीन होते है। अन्य प्रकट शक्तियो से पृथक् रूप मे होने से इसे पंचम शक्ति कहा है। मुक्त पुरुष इस लक्ष्मी मे प्रवेश करता है जो विष्णु का परम धाम है। (पर धाम या परम पद) या पर ब्रह्म है। इस शक्ति के अंतराल मे आनन्द का भाव है तो भी वह स्वरूप से आनन्दमयी है। इसे उज्ज्वल और विष्णु का भाव कहा है। यह शक्ति, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह रूपी पाँच कार्य करती मानी गई है (पंच कृत कारी)। ब्रह्म का इस शक्ति के साथ संयोग होने से वह जगत् पालक अल्प विष्णु से भिन्न, महा विष्णु कहलाता है। यह शक्ति सर्वदा अंत क्षुब्ध रहती है जो कि बाहर से नही दिखाई पडती। यह अंत क्षोभ और हलचल इतनी सूक्ष्म है कि वह सागर की तरह शान्त दीखती है।[1] इस प्रकार शक्ति विष्णु की माया भी कहलाती है।[2] इस शक्ति का अंशमात्र ही भाव्य और भावक शक्ति रूप मे प्रकट होता है, भावक शक्ति ही सुदर्शन नाम से जानी गई है। भाव्य जगत् रूप से प्रगट होती है और इसका उद्देश्य भी संसार है।

---

[1] सदा प्रतायमानापि सूक्ष्मैर्भावर लक्षणैः
निर्व्यापारेव सा भाति स्तैमित्य मिव वोऽदधे,
तये वोऽपहितम् ब्रह्म निर्विकल्प निरंजनम्॥ —अहि० सं० ५१, ४६।

[2] मायाश्चर्यंकरत्वेन पंच कृत्य करी सदा। —वही, ५१, ५८।

संकल्प शक्ति का सार है जिससे आदर्श एवं वास्तविक जगत् मे, प्रत्यय, शब्द तथा उसके अर्थ के रूप मे विषय के रूप मे प्रकट होते हैं।

सकल्प शक्ति, जिससे प्रत्यय, वास्तविक आदर्श जगत् मे विचार और इसके अर्थ के रूप मे प्रगट होते है, वह सुदर्शन शक्ति का सार है। दृश्य की वाह्य हलचल जव शव्द द्वारा चिन्तन रूप मे ग्रहण की जाती है तव हमे सुदर्शन की शक्ति या महा विष्णु की सकल्प शक्ति का भान होता है। समस्त जगत् का कारण सुदर्शन शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इस प्रकार वाह्य जगत् की सारी हलचल तथा वाचा की समस्त क्रियाएँ ही केवल नही किन्तु द्रष्टा दृश्य रूप क्रिया जिससे सारा जगत् विचार और वाणी के रूप मे ग्रहण किया जाता है, ये सव ईश्वर की सुदर्शन शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। समस्त ब्रह्म रूप और अभिव्यक्तियाँ गुण या कर्म रूप हैं, और वे दोनो सुदर्शन की शक्ति के ही रूप हैं। हमारी वाणी इस सत्ता के दो प्रकारो को ही निर्दिष्ट कर सकती है। इसी कारण वे सव सुदर्शन को ही इगित करते हैं जो विष्णु का वाच्य है, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन वे नही कर सकते। शव्द, इसलिए विष्णु के स्वरूप को प्रकट नही कर सकते। शव्द, जगत् को रहस्यात्मक प्रतीक के रूप मे अपने मे समा सकता है और उसकी सारी शक्तियो का वर्णन भी कर सकता है, यह सव कुछ होते हुए भी अग सा है चाहे फिर शव्द सारे जगत् को अपने मे समा लेने की शक्ति रख सके या सारे जगत् को अपने मे समाहित कर सके और ईश्वर से तादात्म्य भी कर सके तो भी यह तादात्म्य केवल सुदर्शन से ही होता है। यह शक और विचारक द्वारा ईश्वर मे लय या उसकी अनुभूति प्रवेश करना ईश्वर की सुदर्शन शक्ति द्वारा ही हो सकता है जो लक्ष्मी का एक अश है। इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अर्थ सुदर्शन से तादात्म्य है या लक्ष्मी मे प्रवेश होना है।[1]

नम. का तात्पर्य है मनुष्य के द्वारा ज्ञान पर वोध के सहारे महा विष्णु की पति रूप मे हृदय मे स्वीकृति।[2] कालत और गुणत विष्णु का प्रकर्प ही उनका ज्यायस्त्व है।[3] विष्णु ही महान् है और सव उससे निम्न कोटि मे हैं। महान् और कनिष्ठ के सम्वन्ध का अर्थ यह है कि दूसरा पहले पर अवलम्वित है और दूसरे का जीवन ही पहले के लिए है। इस सम्वन्ध को शेप-शेपिता कहा है। दोनो मे आराधक आराध्य सम्वन्ध है (नतृ नतव्य भाव)। सच्चा नमन उसे कहते हैं कि जव वह उपरोक्त भाव सहज ही विना किसी हेतु या उद्देश्य के प्रगट हो और केवल यही विचार रहे कि

[1] अहि० स० ५१, ६६-७८।

[2] प्रेक्षावत. प्रवृत्तिर्या प्रह्वीभावात्मिका स्वत
उत्कृष्ट परमुद्दिश्य तन्नम परिगीयते।

—अहि० स० ५२, २।

[3] कालतो गुणतश्चैव प्रकर्पो यत्र तिष्ठति
शव्दस्त मुख्यया वृत्या ज्यायानित्यवलम्वते। —वही, ५२, ४।

विष्णु मुझ से कही महान् हैं और मैं उनसे कितना हीन हूँ ।[1] नमन का यह क्रम भक्त को ईश्वर के निकट ही नही पहुँचाता किन्तु ईश्वर को भक्त के पास लाता है। किसी भी प्रकार का प्रयोजन नमन के फल को बिगाड देता है। नमन प्रपत्ति क्रम का, अर्थात् ईश्वर से सरक्षण प्राप्त करने का प्रथम चरण है ।[2] जब मनुष्य का ज्ञान, अनादि वासना से, बल की अर्थ हीनता से और अशुद्धि के सग से, अवरुद्ध हो जाता है, और जब मनुष्य को इन कमियो का पूर्ण रूप से भान होता है तब उसमे कार्पण्य अर्थात् दैन्य-भावना आती है। हम स्वतत्र हैं यह भावना कार्पण्यता को मिटाती है। परमेश्वर सर्वदा दयावान् है इस उत्कट विश्वास के गुण को महा-विश्वास कहा है। ईश्वर उदासीन है और प्रत्येक को उसके कर्मानुसार दया दृष्टि करता है यह, विचार महा-विश्वास का बाधक है। ईश्वर कृपामय है, सर्व शक्तिमान् है, वह अवश्य हमारी रक्षाकस्था यह भावना उसकी रक्षण-शक्ति मे विश्वास उत्पन्न करती है। ईश्वर निर्गुण होने से हमारे रक्षण की याचना के प्रति उदासीन रहेगा, यह विचार, उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर को महान् गुरु या सर्वाधिपति स्वीकारना, जिसके आदेश की किसी भी प्रकार अवहेलना नही की जा सकती यह प्रातिकूल्य विवर्जन नामक गुण उत्पन्न करता है। शास्त्र-विरुद्ध ईश्वर की सेवा उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर की इच्छानुसार हम चलें ऐसा मन मे दृढ निश्चय और जगत् मे जड और चेतन पदार्थ ईश्वर के ही अश है ऐसा दृढ विश्वास शरणागति का गुण उत्पन्न करता है। जीव के प्रति वैर भाव इस गुण का अवरोधक है। ईश्वर के प्रति नमन (नम) उपरोक्त गुणो से युक्त होना चाहिए। ईश्वर के प्रति सच्चे नमन (नम) के साथ वह दृढ विश्वास आवश्यक है कि पदार्थों के प्रति हमारी अधिकार-भावना जो अनादि वासना तथा इच्छादि-जनित है वह मिथ्या है। भक्त यह माने कि वह स्वतत्र नही है और न उसके पास अपना कहने को कुछ भी है। मेरा शरीर, मेरी सम्पत्ति, मेरे सबधी मेरे नही हैं वे ईश्वर के ही हैं। इस विश्वास से उत्पन्न उत्कट भाव से ईश्वर को नमन करना चाहिए। भक्त को ऐसा लगे कि अतिम ध्येय की प्राप्ति के लिए आराधना के सिवाय दूसरा और कोई रास्ता ही नही है और इस प्रकार वह अपने को ईश्वर को समर्पण करे और उसे अपनी तरफ खीचे। नमन का ध्येय उत्कृष्ट निरहकारता और ईश्वर मे आत्म-समर्पण है वह अपने लिए कुछ न बाकी रखे। जगत् ईश्वर से उत्पन्न है तो भी उसमे समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिए वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है और भक्त को हमेशा यह ध्यान रहे कि ईश्वर सर्व प्रकार से महान् है।

---

[1] उपाधि रहिते नाय येन भावेन चेतनः।
नयति ज्यायसे तस्मै तद्वा नमनमुच्यते ॥ —अहि० स० ५२, ९।

[2] फलेप्सा तद्विरोधिनी। —वही, ५२, १५।

अहिर्वुध्न्य सहिता के २६वें प्रकरण मे ईश्वर-प्राप्ति के साधन रूप प्रपत्ति, न्याय या शरणागति के सिद्धान्त का जो उल्लेख मिलता है उसमे इन्ही उपरोक्त गुणो का विवेचन है।[1] शरणागति की व्याख्या यहाँ इस प्रकार की गई है, हम पाप और दोपयुक्त है, विष्णु की कृपा के विना हम भटके हुए हैं, हम सर्वथा निराधार हैं इस विश्वास से ईश्वर की कृपा याचना करना शरणागति है।[2] जो मनुष्य प्रपत्ति के मार्ग को अपनाता है उसे सारी तपस्या, यज्ञ, तीर्थाटन, और दान के फल मिलते है और विना अन्य साधन के सरलता से मुक्ति मिल जाती है। आगे और उल्लेख किया गया है कि प्रपत्ति-मार्ग अपनाने के लिए एक ही भाव की आवश्यकता है, कि वह विष्णु पर सर्वथा आश्रित रहे और अपने को नितान्त निराधार समझे। उपरोक्त भावना मे दृढतापूर्वक विश्वास करते हुए साधक अपने आपको आराधना रत रक्खे तो उसे अन्य कोई प्रयत्न नही करना पडेगा,[3] ईश्वर ही सव कुछ कर लेगा। प्रपति इस प्रकार से उपाय ज्ञान है, उपाय ही नही है क्योकि यह एक धारणा है, कर्म नही है। यह एक प्रकार से तरणी है जिसमे यात्री वैठता है और मल्लाह उसे पार लगा देता है।[4]

शुद्ध सर्ग का वर्णन करते हुए, ऐसा कहा है कि प्रलय के ममय सारे कार्य अव्यक्त और अक्रिय हो जाते हैं और उसमे किसी प्रकार ही हलचल नही होती। विष्णु के उपरोक्त कहे पड्गुण अर्थात्, ज्ञान, शक्ति, वल ऐश्वर्य, वीर्य और तेज परम शाति की अवस्था मे वायु विहीन आकाश की तरह रहते है।[5] इन सारी शक्तियो का शान्त भाव ही लक्ष्मी है जो मानो शून्यावस्था है। वह सहज ही स्फुटित हो गतिशील हो जाती है। ईश्वर की यह शक्ति भिन्न होते हुए भी, उसका ही स्वरूप है। इस

---

[1] पोढा हि वेद-विदुपो वदन्त्येन महामुने,
आनु कूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व-वरण तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये पड्विधा शरणागति ॥ —अहि० स० ३७, २७-२८।

[2] अह अस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगति
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मति
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥
—अहि० स० ३७, ३०-३१।

[3] अहि० स० ३७, ३४-३५।

[4] अत्र नाविति दृष्टान्तादुपायज्ञानमेव तु।
नरेण कृत्यमन्यत् तु नाविकस्येव तद्धरे। —अहि० स०।

[5] पूर्णस्तिमित पाड्गुण्यमसमीराम्वरोपमम्।
—अहि० स० ५, ३।

प्रगट क्रियात्मक रूप को ही शक्ति कहा है। अव्यक्त रूप मे वह विष्णु से अभिन्न रहती है। विष्णु के इन गुणो को प्रकृति के गुणो से भिन्न समझना चाहिए, प्रकृति के गुणो का विकास अशुद्ध सर्ग के समय कही निम्न स्तर पर होता है।

व्यूहो का वर्णन करते ऐसा कहा गया है कि सकर्षण अपने मे सारे जगत् को, कपाल मे तिलक की तरह धारण करते हैं (तलकालक) सकर्षण द्वारा धारण किया हुआ जगत् अभी अव्यक्त रूप मे ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु काल और प्रकृति प्रद्युम्न मे से प्रगट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के ही प्रभाव से मनुष्य शास्त्र विधि से कर्म करने को प्रेरित होते हैं।[3] अनिरुद्ध, जिसे महा विष्णु भी कहते है, बल और शक्ति का देवता है, और इसी की शक्ति से जगत् की रचना और पालन होता है। इसी से ही जगत् की वृद्धि होती है। इसी शक्ति से जगत् भय रहित रहता है और मुक्ति पाता है। शकराचार्य के कथनानुसार सकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मनस् है, और अनिरुद्ध अहकार है।[4] किन्तु ऐसा मत पचरात्र ग्रन्थो मे बहुत कम देखने मे आता है। तत्वत्रय मे दिए विष्वक्सेन सहिता के उद्धरण के आधार पर सकर्षण जीवो का अध्यक्ष है, प्रद्युम्न को मनोमय माना है, किन्तु अनिरुद्ध के बारे मे कुछ भी नही कहा है। लक्ष्मी तत्र (४-६-१४) मे ऐसा कहा है कि सकर्षण आत्मा, वुद्धि, मनस् है और वासुदेव सृजनात्मक लीला है। विष्वक्सेन सहिता मे अनिरुद्ध मिश्र वर्ग (नियति रूप शुद्धाशुद्ध सर्ग) का निर्माण करते हैं, सकर्षण ने चेतन तत्त्व को जगत् से पृथक् किया और स्वय प्रद्युम्न बन गए। अहिर्बुध्न्य सहिता के आधार पर पुरुष प्रकृति का भेद प्रद्युम्न स्तर पर होता है, सकर्षण स्तर पर नही। अहिर्बुध्न्य सहिता मे अनिरुद्ध को सत्य तथा उससे उत्पन्न तत्त्वो का तथा मनु का अध्यक्ष माना है।[5] इसी ग्रन्थ मे लक्ष्मी को विष्णु-शक्ति माना है किन्तु उत्तर नारायण मे लक्ष्मी और भूमि को तथा तत्त्व त्रय मे लक्ष्मी, भूमि और नीला को विष्णु-शक्ति माना है, विहगेन्द्र सहिता (२-८) मे उन्हे देवी की इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति कहा है। सीता उपनिषद् मे भी इसी प्रकार उल्लेख है यहाँ इसका सम्बन्ध वैखानस शाखा से है। विहगेन्द्र सहिता सुदर्शन की आठ शक्तियो का उल्लेख करती है, जो कीर्ति, श्री, विजय, श्रद्धा, स्मृति,

---

[1] ऐसा कहा है कि सकर्षण द्वारा ही समस्त शास्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रलय के समय वे उन्ही में समा जाते हैं।
—अहि० स० ५५, १६।

[2] अहि० स० ६, ६-१२।

[3] अहि० स० ५५, १८ प्रद्युम्न को वीर भी कहा है।

[4] भिन्न व्यूहो के कार्य के बारे मे मत मतान्तर हैं। लक्ष्मी तत्र देखो ४, ११-२० विष्वक्सेन स० भी तत्व त्रय मे उद्धृत।

[5] अहि० स० ६, २७।

के प्रतीक या शक्तियो की अध्यक्ष मानी गई है।[1] इनमे से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम और व्यूह मे समुच्च, जिसे चक्र या कमल कहते हैं, भिन्न प्रकार की जटिल शक्तियो का प्रतिनिधि माना गया है। इन चक्रो की पूजा और ध्यान करने से चक्र मे निहित शक्ति वश मे आती है। हरेक चक्र और मत्र के साथ भिन्न देवताओ का सम्बन्ध है। पचरात्र ग्रन्थो के अधिकाश भाग इन चक्र और देवताओ के वर्णन और उनके पूजा क्रम, उनके अनुरूप मूर्ति और मदिर बनाने के वर्णन से भरपूर हैं। मत्रो के ध्यान द्वारा, उनके अनुरूप रक्षण कार्य भी होता जाता है।

अन्य तात्रिक ग्रथो की तरह अहिर्बुध्न्य सहिता मे भी नाडी तत्र का वर्णन है। सारी नाडियो का मूल (काण्ड) उपस्थ से ९ इच ऊपर है। यह काण्ड चार इच लम्बा और चौडा अडाकार रूप है यह चर्वी, मास, रक्त और अस्थि का बना होता है। उपस्थ से दो इन्च नीचे और गुदा से दो इच दूर जो स्थान है उसे शरीर-मध्य या केवल मध्य कहा है। यह चतुर्भुजाकार है इसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। नाडियों के मूल को नाभि चक्र भी कहते हैं। जिसमे १२ आरे होते है। नाभि चक्र के चारो तरफ अष्ट मुख कुण्डली (सर्प) है जिसने अपने शरीर से सुषुमा के ब्रह्मरध्र-द्वार को बद कर रखा है।[2] चक्र के मध्य मे दो नाडियाँ है जिन्हे अलम्बुषा और सुषुम्ना कहा है। सुषुम्ना के दूसरी ओर कुहू, वरुण, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शखिनी, गाधारी, इडा, हस्तिजिह्वा और विश्वोदरा आदि नाडियाँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर ७२००० नाडिया शरीर मे है, इनमे से इडा और पिंगला और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमे से सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य मे पहुँचती है बहुत ही महत्त्व रखती है। जिस प्रकार मकडी अपने जाले मे फसी रहती है ठीक उसी प्रकार आत्मा, प्राण से सयुक्त हो, नाभि चक्र मे फसा है। सुषुम्ना के पाच मुख है जिनमे से चार खून का वहन करते है और मध्यवर्ती मुख कुण्डली के शरीर से बन्द है। दूसरी नाडियाँ छोटी है और शरीर के भिन्न भागो से जडी हुई हैं। इडा और पिंगला शरीर के सूर्य और चद्र के रूप मे मानी जाती है।

शरीर मे दस प्रकार के प्राण वायु रहते हैं जिन्हे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनजय कहा है। 'प्राण' वायु नाभि चक्र मे स्थित है किन्तु वह हृदय, मुख और नाक से प्रगट होता है। 'अपान' वायु गुदा, उपस्थ, जघा, पाव, पेट, अडकोष, कमर का भाग, आतो तथा सारे निम्न भाग मे

---

[1] विष्णु शक्तिर्मया वर्णा विष्णु सकल्प जृम्भिता ।
अधिष्ठिता यथा भावै स्तथा तन्मे निशामय ।

—अहि० स० १७, ३ ।

[2] अहि० स० ३२, ११। यह वर्णन शाक्त तत्र से भिन्न है। वहा कुण्डली शरीर-मध्य मे रहती है, ऐसा कहा है।

क्रियाशील है। 'व्यान' आख और कान के बीच, पाव की अगुली, नाक, गला और मेरुदड मे स्थित है। 'उदान' हाथ मे, और 'समान' सारे शरीर मे स्थित होकर सामान्य परिसचरण का कार्य करता है।[1] 'प्राण' का कार्य श्वास प्रक्रिया को पूरा करना है, व्यान का कार्य किसी वस्तु की तरफ झुकना या दूर हटना है। 'उदान' शरीर को ऊपर या नीचे उठाता है। 'समान' से खाना पचाने का और शरीर-वृद्धि का कार्य होता है। नाग वायु द्वारा वमन का कार्य सम्पन्न होता है, देवदत्त से निद्रा आती है, इत्यादि। इन नाडियो को इडा द्वारा श्वास लेकर शुद्ध किया जाता है। १ से १६ गिनती करने मे जो समय लगता है उतना श्वास लेना चाहिए। १ से ३१ की गिनती तक श्वास को अदर रोकना चाहिए। इस दरमियान किसी का ध्यान करना आवश्यक है। फिर योगी को इसी प्रकार पिंगला से श्वास लेना चाहिए और उसी प्रकार रोक रखना चाहिए फिर उसे इडा द्वारा श्वास फेंकना चाहिए। यह अभ्यास दिन मे तीन बार करते हुए तीन मास तक करना चाहिए। प्रत्येक समय अभ्यास तीन वार करना आवश्यक है। इससे नाडिया शुद्ध हो जाएँगी और इससे वह अपने शरीर स्थित सभी वायु पर ध्यान स्थिर कर सकेगा। प्राणायाम के अभ्यास मे उसे इडा द्वारा १ से १६ गिनती श्वास अन्दर लेना चाहिए, विशेष मत्र का जप करते रहना चाहिए, फिर श्वास पिंगला द्वारा १ से १६ गिनती तक बाहर फेंकना चाहिए। पुन उसे पिंगला द्वारा श्वास अन्दर लेकर इडा से बाहर फेंकना चाहिए। शनै शनै कुम्भक को बढाना चाहिए। उसे प्राणायाम का अभ्यास दिन मे १६ बार करना चाहिए। इसे प्राणायाम प्रक्रिया कहते हैं। इस अभ्यास से वह समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है जिससे उसे सर्व प्रकार की सिद्धिया प्राप्त हो सकती हैं।

किन्तु नाडी शुद्धि के पहले योगी को आसन का अभ्यास करना आवश्यक है। चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गो मुख इत्यादि आसनो का उल्लेख अहिर्बुंध्न्य सहिता मे किया गया है। आसनो का अभ्यास योगी के स्वास्थ्य को ठीक रखता है। किन्तु इन शारीरिक आसनो का कोई फल नहीं होता जब तक योग की आध्यात्मिक दृष्टि का उदय नही होता। योग जीवात्मा और परमात्मा का सयोग कहा है।[2] अहिर्बुंध्न्य सहिता के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो मार्ग बताए गए है। एक को विष्णु की कोई एक शक्ति के रूप मे ध्यान लगाकर आत्म समर्पण करना कहा है, इसे हृदय योग भी कहते हैं। यहा किसी एक

---

[1] अहि० न० ३२, ३३-३७, यहा पर आयुर्वेद तथा शाक्त तत्रो से चक्रो के स्थान के विषय भिन्न हैं।

[2] सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो ॥

—अहि० स० ३१, १५।

विशेष रूप को मत्र द्वारा ध्यान लगाना होता है। दूसरा मार्ग योग का है।[1] अहिर्बुध्न्य सहिता मे, अधिकतर पहले हृद योग के उपदेशो पर ही जोर दिया गया है। दूसरे योग का केवल एक अध्याय मे ही उल्लेख कर दिया गया है। जीवात्मा के भी दो प्रकार माने गए है एक जो प्रकृति से प्रभावित है, दूसरा जो उसके प्रभाव से परे है। परमेश्वर से कर्म और ज्ञान द्वारा तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार हैं, इच्छा प्रेरित, जिन्हे प्रवर्तक कहा है और निवर्तक जो इच्छा रहितता से प्रेरित होते हैं। इनमे से दूसरे प्रकार के कर्म ही मुक्ति प्राप्त करा सकते हैं पहले प्रकार का कर्म इच्छा की फल-प्राप्ति करा सकता है। उच्च आत्मा सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत्, ज्ञान रूप अनादि, अनत है और अविकारी है, ज्ञान क्रिया रहित, अकाम, अजाति, अरूप और निर्गुण है तो भी सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, स्वय प्रकाश्य और सबो का पालन कर्त्ता है। वह सहज बोध द्वारा गम्य है।[2] योग जिसके द्वारा हमारी लघु आत्मा का परमात्मा से सयोग होता है वह अष्टाग द्वारा सिद्ध होता है। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये योग के अष्टाग हैं।

इनमे से यम मे सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा का समावेश होता है।[3] नियम मे सिद्धान्त-श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, सतोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मत्रजप, व्रत आते है।[4] यद्यपि जीव का परमात्मा से सयोग ही योग कहा गया है। तो भी अहिर्बुध्न्य सहिता के रचयिता, पातजल के योगानुशासन और उनके मत से योग चित्तवृत्तियो का निरोध है, इससे परिचित थे।[5]

अहिर्बुध्न्य सहिता मे प्रभा की व्याख्या, 'यथार्थविधारणम्' कही है अर्थात् प्रभा वस्तु का यथार्थ ज्ञान है और वह प्रमाण से ग्राह्य है। मनुष्य के लिए हितकर वस्तु

[1] यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्म समर्पणम्।
विशिष्ट दैवतायास्मै चक्र रूपायम व्रत
वियुक्त प्रकृते शुद्ध दद्यादात्म हवि स्वयम्॥ —अहि० स० ३०, ४, ५।

[2] अहि० स० ३१, ७-१०।

[3] अहि० स० ३१, १८-२३। यहा योग से मतभेद है। योग नियम के अतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश करता है। देखो योग सूत्र २-३०।

[4] अहि० स० ३२, ३०। यहा पर भी पातजल योग से भेद है। योग मे शौच, सतोप, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान को नियम कहा है। देखो योग सूत्र २-२३।

[5] अहि० स० १३, २७-२८।

भक्तिसार और तिरु मरिसै पिरान बहुत पुराने थे : नाम्माल्वार या शठ कोष, मधुर कवियल्वार, कुल शेखर पेरुमाल, विष्णु चित्तन् (या पेरियाल्वार) और गोड (आण्डाल) उनके बाद हुए और भक्ता घ्रिरेणु (तोण्डरादि पोडियाल्वार), योगी वाह (तिरुपावाल्वार) और परकाल (तिरु मगैयाल्वार) सबसे पीछे हुए। परम्परा से पहले के आल्वारो का काल ई० पू० ४२०३ और पिछले का काल ई० पू० २७०६ माना गया है।[1] वर्तमान अनुसधान के अनुसार उनका काल ई० स० की सातवी या आठवी शताब्दी से पूर्व नही माना जाता। आलवारो के विषय मे परम्परागत सूचना भिन्न-भिन्न गुरु परम्परा के ग्रथो मे मिल सकती है। गुरु परम्परा के आधार पर भूत्तात्त, पोयगै और पेयालवार, विष्णु की गदा, शख और नदक के अवतार थे, कदन-मलै और मयिलै भी अवतार थे। जबकि तिरुभरिसैपीरान विष्णु के चक्र के अवतार थे। नाम्मालवार विष्वक्सेन के अवतार थे और कुल शेखर पीरुमाल, विष्णु के कौस्तुभ के अवतार थे। इसी प्रकार पेरियालवार, और तिरु मगेयालवार, गरुड, वनमाला और शार्ङ्ग के अवतार थे। तिरुपाणालवार अन्तिम अवतार थे। आण्डाल जो पेरियालवार की दत्तक पुत्री थी और मधुर कवियालवार जो नाम्मालवार के शिष्य थे भी आलवार कहे गए है। यो मद्रास प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानो से आए थे। इनमे से सात ब्राह्मण थे, एक क्षत्रिय, दो शूद्र और एक निम्न पनर जाति का था। गुरु परम्पराओ मे इनका जीवन वृत्तान्त दिया है और उनका काल्पनिक समय जब वह अपनी समृद्धि की स्थिति मे थे ईसा से पूर्व दिया गया है। गुरु परम्पराओ के अतिरिक्त, व्यक्तिगत लेख भी पाए गए हैं जिनमे निम्न महत्वपूर्ण हैं पडित गरुड वाहन कृत दिव्य मूर्ति चरित (१) दिव्यसूरि जो रामानुज के समकालीन थे पिंवारा-गैंय पेरुमाल जीवार का 'गुरु परम्परा प्रभावम्' जो दिव्य सूरि चरित के आधार पर मणि प्रवाला शैली अर्थात् सस्कृत और तामिल भाषा मिश्रित मे लिखा गया है, (३) पेरिय तिरु मुडि अडैवु आम्विलाई कण्डाडै यप्पन कृत मणवाल मामुनी कृत तामिल ग्रन्थ है। (४) उपदेश रत्नमालै, तामिल मे रचित ग्रन्थ है, इसमे आलवारो की सूची दी है। (५) यतीद्र श्रवण प्रभावम्, पिल्लै लोकाचार्यर कृत है। आलवारो के विषय मे सूचना देने वाला दूसरा स्रोत, आलवारो के ग्रन्थो का विख्यात् सग्रह है जो 'नाल आमीर दिव्य प्रबधम्' नाम से प्रख्यात है। इनमे दिव्य प्रबन्ध पर १० टीकाएँ है और नाम्यालवार लिखित तिरुवायमोर्री है। इनके अतिरिक्त मद्रास प्रान्त मे अभिलेखो के रूप मे अनेक पुरालेखीय साक्ष्य भी मिलते है।

माणवाल मामुनि, अपने 'यतीद्र प्रवण प्रबध' मे कहते है कि पेयालवार भूतत्ता-लवार, पोयगैयालवार और तिरुमरिपै पीरान पल्लवो के काल मे हुए जो कांची मे

[1] एस० के० आयगर की लिखित . वैष्णवो का प्राचीन इतिहास पृ० ४-१३, रा० ब० भाण्डारकर की वैष्णव, शैव और उपसप्रदाय, पृ० ६८, ६६।

ई० पू० ४ वी शताब्दी मे आए थे। पुन प्रो० डूब्रील कहते हैं भामले नगर जहाँ भूतत्तालवार रहते थे, नृसिंह वर्मन प्रथम के पहले विद्यमान नही था। क्योंकि इन्होंने ही सातवी शताब्दी के मध्य मे इस नगर को वसाया था। तदुपरान्त तिरुमगे यालवार परमेश्वर वर्मन द्वितीय के बनाए वैष्णव मन्दिर की प्रशसा की, इससे यह अनुमान होता है कि आलवारो का आठवी शताब्दी (ई० स०) मे उत्कर्ष हुआ यही शताब्दी चोल और पाण्डय प्रदेशो मे और वैष्णव सप्रदाय तथा शकर के महान् आन्दोलनो का समय रहा है।[1]

परम्परागत वर्णन के आधार पर नाम्मालवार कार्लो के सुपुत्र थे जो पाण्ड्य राज दरबार मे प्रतिष्ठित स्थान रखते थे और उन्होने अपने कालमारंन पराकुश और शठकोप इत्यादि नाम रखे, तथा उनके शिष्य मधुरकवियालवार थे। उनका जन्म स्थान तिरुक्कुरगुर था। मदुरा मे दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमे से एक का काल कलि ३८७१ का है, जब पुरान्तक राज्य करते थे। उनके उत्तर मत्री माल के सुपुत्र थे, इन्हे मधुर कवियालवार नाम से भी जाना जाता था। दूसरा शिलालेख मारजदैयम् के राज्य काल का है। कार्ले का ३८७१ वा वर्ष ईसोत्तर ७७० के बराबर है। इसी समय परान्तक पाड्य सिहासनारूढ हुए। इनके पिता पराकुश ई० स० ७०० मे मर गए। किन्तु मालकारी मत्री पद पर वर्तमान रहे। नाम्मालवार का नाम कार्लो-मारंन था इससे अनुमान लगता है कि उत्तर मत्री कार्लो इनके पिता थे। इस वर्णन का गुरु परम्परा द्वारा भी समर्थन होता है। उपरोक्त प्रमाणो तथा अन्य प्रमाणो से जो गोपीनाथ राउ देते हैं, यह सिद्ध होता है कि नाम्मालवार तथा मधुर कवियालवार का काल ई० स० ८ शताब्दी या नवम् शती का पूर्व भाग रहा। कुल शेखर पेरु का भी सम्भवत यही काल रहा होगा। पेरियालवार तथा उनकी दत्तक पुत्री आण्डाल सम्भवत श्री वल्लभ देव के समकालीन रहे जो नवी शती विद्यमान थे। तोण्डर आडी पोडियालवार, तिरुमगैयालवार और तिर, पाणालवार समकालीन थे। तिरु मगैयालवार पल्लवमल की रणदुन्दुभि का जिक्र करते हैं जो इस ७१७ और ७७९ के बीच राज्य करते थे इसलिए ये आलवार इस काल के पहले नही हो सकते थे। किन्तु तिरुमगेयालवार, काँची मे विष्णु की प्रशसा करते हुए वैरमेघ पल्लव का उल्लेख करते हैं, जिनका काल सम्भवतः नवमी शताब्दी था। इससे यह धारणा की जा सकती है कि तिरुमगै इसी समय रहे होगे। श्री एस० के० आयगर के कथनानुसार आलवार अन्तिम ८वीं शताब्दी के प्रथम भाग मे विद्यमान रहा होगा।[2] सर आर० जी०

---

[1] सङ्गत श्री ही ए गोपीनाथ राउ कृत सर सुब्रह्मण्य आयर व्याख्यान १९२३, पृ० १७।

[2] इस भाग को रामानुज गुरु दादी कहा है। आलवारो का क्रम यहाँ इस प्रकार है, पोयगैयालवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुपाणालवार, तिरुमरिसै पीरान् तोण्डराडि थोडीयालवार, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तिरुमगेयालवार।

भण्डारकर का अभिप्राय है कि कुलशेखर पेरुमाल मध्य १२वी शताब्दी मे रहे होगे। वे ट्रावणकोर के राजा थे और उनकी 'मुकुन्द माला' कृति मे 'भागवत पुराण' (११: २, ३६) के एक पद का उद्धरण मिलता है। इस आलेख की साक्षी से सेंद कुलीय पेरमादी का कार्यकाल ११३८-११५० का है। इन्होने कुलशेखराक को पराजित किया था। भडारकर कुलशेखराक को कुलशेखर पेरुमाल से अभिन्न मानते हुए इनका काल बारहवी इसवी शताब्दी निर्धारित करते हैं। जबकि श्री राऊ उन्हे नवम् शताब्दी पूर्वार्ध का बतलाते है। श्री भण्डारकर का मानना है कि आलवार सर्वप्रथम ५वी या ६वी शताब्दी मे विद्यमान रहे, और कहते हैं गुरु परम्परा-सूची मे दिया हुआ आलवारो की प्राथमिकता क्रम अविश्वसनीय है। आयगर की आलोचना का मुख्य विन्दु यह है कि वे श्री भडारकर के इस कथन का विरोध करते हैं कि कुल शेखर पेरुमाल और कुलशेखराक, दोनो व्यक्ति एक ही थे। आलवारो के ग्रन्थ तमिल भाषा मे लिखे गए थे और इनमे से जो प्राप्त हैं वे सब रामानुज या नाथमुनि के काल मे सग्रहीत हुए थे। इस सग्रह मे ४००० ऋचाएँ है जिसे 'नालायीर दिव्य प्रबधम्' कहते हैं। लेकिन कम से कम इसका एक भाग कुरुत्तलवम् या कुरुत्तम, जो कि रामानुज के प्रमुख शिष्य थे, रचा गया था और जिसके एक इस ग्रथ मे दिया हुआ आलवारो का क्रम गुरु-परम्परा के क्रम से भिन्न है इसमे नाम्मालवार का उल्लेख पृथक् किया गया है। पुन रामानुज के अनुगामी एव शिष्य, पिल्लान्, जिन्होने नाम्मालवार के तिरुवायमोर्री की टीका की है वे एक पद्य मे सभी आलवारो के नाम देते हैं केवल आण्डाल को ही छोड दिया है।[1] इससे यह पता चलता है कि कुल शेखर रामानुज के समय मे आलवार मान लिए गए थे। श्री वेंकटनाथ (१४वी शताब्दी) का सूची मे जो एक तामिल प्रबध मे दी है, मधुर कवियालवार तथा आण्डाल को छोड सभी आलवारो के नाम दिए हैं। प्रबध मे वाडकलै सम्प्रदायानुसार गुरु-परम्परा का भी उल्लेख है जिसका प्रारम्भ रामानुज से होता है।[2]

कुलशेखर, अपने मुकुन्दमाला नाम ग्रन्थ मे कहते हैं कि वे कोल्लि (चोल की राजधानी उरैपुर) कुदाल (मदुरा) और कोगु के राजा थे। आवनकोर (वजीकुलम्)

---

[1] भूत सरश्च महदनव्य भट्टनाथ
श्री भक्ति सार कुल शेखर योगिवाहान्
भक्ताङ्घ्रिरेणुपरकाल यतीद्रमिश्रान्
श्रीमन् पराकुश मुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥
—श्री आयगर मे 'वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन इतिहास' मे उद्धृत।

[2] रामानुज के गुरु पेरिय नाम्बी थे, उनके बाद अलवन्दर मनक्काल नम्बी, उय्यक्कोन्दर, नाथमुनि, शठकोप, विष्वक्सेन (सेनाई नाथन), महालक्ष्मी और विष्णु हैं। —वही, पृ० २१।

के निवासी होने के कारण, वे पाडय और चोल की राजधानी, मदुरा और उरैपुर के राजा बन गए। ई० स० ९००० के बाद जब चोल राजा परातक शक्तिशाली हो गया और जब चोल की राजधानी उरैपुर न रहकर तजौर हो गयी थी, तब त्रावणकोर का चोल और पाण्डय राज्यो पर आधिपत्य असभव था। यह परिस्थिति महान् पल्लवराजनृसिह वर्मन् के उत्थान (६००) के पहले या नदि वर्मन् के साथ उस वश के पतन के बाद (८००) मे ही सम्भव थी। अगर वेरेमेघ के समकालीन तिरुमार्ग-यारिवार को अतिम आलवार माना जाय तो कुलशेखर का जीवन काल छठी शताब्दी मे हमे रखना पडेगा। किन्तु गोपीनाथ राउ कुलशेखर के पाठ का अर्थ इस प्रकार करते है कि वह पाठ पल्लव राजा की हार और मृत्यु उनके हाथो हुई इस घटना का सकेत करता है। वे इस राजा को पल्लव नरेश दन्तिवर्मन् बताते हैं जो ८२५ मे हुए थे, तथा उनके मतानुसार दन्तिवर्मन् का शासन काल नवम् शताब्दी का प्रथम भाग था। कुछ भी हो, भण्डारकर का कुलशेखर को कुलशेखराक (११५०) के साथ एक करना असभव है क्योकि १०८८ के एक अभिलेख मे मिलता है कि कुलशेखर ने सैत्तरुमसिरल का पाठ किया।[1] श्री आयगर आगे और कहते हैं कि श्री भण्डारकर के कथनानुसार मुकुन्दमाला के अनेक सस्मरणो मे भागवत पुराण के उद्धरण नही मिल पाते। इसलिए हम भण्डारकर का यह मत कि कुलशेखर मध्य १२वी शताब्दी मे हुए, उसे सर्वथा अमान्य ठहराते है।

आलवारो के कालक्रम के बारे मे दक्षिणवासी इतिहासकार एव पुरालेखज्ञो मे भारी मतभेद रहा है, यह मतभेद न केवल आलवारो के कालक्रम के बारे मे है, बल्कि उनकी तिथि तथा पहले और अन्तिम तथा मध्य आलवार कौन थे, इस बारे मे भी है। इस प्रकार श्री आयगर पहले चार आलवारो का काल दूसरी शताब्दी के आसपास रखते हैं जबकि श्री गोपीनाथ राउ सातवी शताब्दी का मध्य रखते है।[2] श्री आयगर ने नाम्मालवार का काल मध्य छठी शताब्दी के पहले भाग मे माना है, जबकि गोपीनाथ राउ नवी शती का पूर्वार्ध बताते है। श्री आयगार आलवारो का इतिहास सातवी शताब्दी के मध्य तक समाप्त मानते हैं किन्तु श्री गोपीनाथ राऊ कुलशेखर के समय को ८२५ ई० मानते हैं तथा पेरियालवार का समय इसी के साथ या कुछ पहले का बताते है तथा तोण्डरादिपोडी आलवार तिरुमगैयालवार, तिरुपाणालवार, (समकालीन) का समय ई० ८३० के लगभग मानते हैं। विवादग्रस्त मतो को देखते हुए, जिनका विशद् उल्लेख यहाँ नही किया जा सकता, मैं श्री गोपीनाथ के मत से

---

[1] श्री आयगर कृत—वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन इतिहास, पृ० ३३।

[2] ये पेयालवार, भूतात्तालवार और पोयगैयालवार तिरु मरि सैपीरान् है, इनमे से पहले तीन श्री निवासो मे मुदलारंवार कहलाते है।

सहमत होना उपयुक्त समझता हूँ। प्रथम चार आलवारो के समय को छोडकर अन्य आलवारो का क्रम, काल-क्रमानुसार नही किया गया है, क्योकि उनमे से बहुत से समकालीन थे और जिनका इतिहास २०० वर्ष के भीतर अर्थात् ७ से ९वी शताब्दी के अदर समाप्त हो जाता है।

आलवार उसे कहते हैं जिसे ईश्वर का सहज साक्षात् ज्ञान हो और जो ईश्वर के ध्यान मे डूबा रहता है। आलवारो के ग्रथ विष्णु के उत्कृष्ट एव अभिन्न प्रेम से भरे हुए हैं। यह पेम प्रपत्ति सिद्धान्त की नीव बनकर रहा। आलवार और अरगीयसो मे अन्तर यह है कि आलवारो को ब्रह्मन् और उनकी शरणागति के सुख का व्यक्तिगत अनुभव था और अरगीयस विद्वान थे और उन्होने आलवार सिद्धान्तो को विशद् रूप से प्रस्तुत किया था। अरगीयसो के बारे मे हम आगे कहेगे। पौगे, भूतात्त और पेय ने तिरुवन्ताडी ग्रथ के १०० पद्य के अलग-अलग तीन प्रकरण रचे थे।[1] तिरुमरीसाई पीरान ने अपने जीवन का अधिकाश भाग त्रिपलीकेन, काजीवरम् और कुम्भकोनम मे बिताया था 'नन मुखम् तिरु-वन्ताडि' जिसमे ९६ दोहे हैं और 'तिरु चण्ड वृत्तम्' नामक तीन स्तोत्र, तिरुमरिसेपीरान ने लिखे हैं। नाम्मालवार कुरूक की शूद्र जाति में जन्मे थे। जो आजकल तिने वल्ली जिले मे आलवारतीरू नगरी के नाम से जाना जाता है। ये आलवारो मे से बहुसर्जक लेखक थे और उनकी कविताएँ 'नालाचीर दिव्य प्रबधम्' नामक ग्रन्थ मे सग्रहीत हैं। उनके रचित्त 'तिरुवृत्तम् नामक ग्रन्थ मे १०० श्लोक हैं 'तिरु वाषिरियम्' मे सात श्लोक हैं, 'पेरियतिरुवताडी' ८७ श्लोको का ग्रन्थ है और 'तिरु वाय मोली' नामक ग्रन्थ मे ११०२ श्लोक हैं। नाम्म आलवार का समस्त जीवन ईश्वर के ध्यान मे ही बीता। उनके शिष्य मधुर कवि उन्हे विष्णु का अवतार मानते थे। कुलशेखर राम के अनन्य भक्त थे। उनका रचित मुख्य ग्रन्थ पेरुमाल तिरुमोर्री है। पेरियालवार, जो विष्णुचित्त नाम से भी जाने जाते थे, वे श्री विल्लिपुत्तुर मे जन्मे थे। उनके मुख्य ग्रन्थ तिरुपल्लाण्डु और तिरुमोर्री हैं। पेरियालवार की दत्तक पुत्री, आण्डाल कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वह अपने को कृष्ण की गोपियो मे से एक मानती थी और जिसने अपना जीवन कृष्ण-मिलन के लिए बिताया। वह श्रीरगम् के रगनाथ भगवान् को ब्याही गई थी। उनकी मुख्य रचनाएँ तिरु पावै और नच्छीयार हैं तिरुमोर्री तोडराडी पोडि-आर्लवार मन्दनगुडी मे जन्मे थे। वे देवादेवी नाम की वेश्या के छल मे फँस गए थे किन्तु प्रभु रगनाथ की कृपा से बच गए। उनकी मुख्य रचना 'तिरुमालै' और 'तिरु पल्लियेर्लूची' हैं। तिरुपाणर्रवार को निम्नजाति के सन्तान-विहीन पनार ने पाला-पोसा था। उनकी दस श्लोकी एक रचना है जिसका नाम 'अमलनादि विरान्' है। तिरु मगें चोर जाति मे उत्पन्न हुए थे।

---

[1] गवर्मेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास से हस्तलिखित प्राप्त।

उनकी मुख्य रचनाएँ 'पेरिय तिरुमोरीं' 'तिरुकुरुन दाण्डकम,' 'तिरु नेन्दु दाण्डकम्,' 'तिरु वेरुट्टिरुक्कै' इसके, 'सिरिय तिरुमडल' और 'पेरिय तिरुमडल' हैं। तिरुमगे पहले डाका डालते थे किन्तु रगनाथ भगवान् की कृपा से उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। 'नाल आयीर दिव्य प्रबधम्' नामक ग्रन्थ जिसमे आलवारो की रचनाएँ हैं, तामिल देश मे महान् पवित्र ग्रन्थ माना जाता है और उसे वेदो के समकक्ष रखते हैं। वह ग्रन्थ बडी धूमधाम से मदिर मे ले जाया जाता है और उस समय इस ग्रन्थ के श्लोकों का पाठ होता रहता है। इस ग्रन्थ का पाठ अन्य मुख्य अवसरो पर भी किया जाता है जैसा कि विवाह, मृत्यु इत्यादि। इस ग्रन्थ के पदो का पाठ मदिर के सामने के कक्ष मे भी किया जाता है और वेद मत्रो के साथ क्रिया-कर्म के समय भी इनका उपयोग होता है।

आलवारों का तत्व दर्शन

आलवारो की कृतियाँ साहित्यिक एव भक्ति की दृष्टि से ही महत्व रखती है, इसलिए उन्हे तात्विक दृष्टि से देखना कठिन है। दृष्टान्त के तौर पर ग्रन्थो के सामान्य विषय का परिचय कराने के लिए, मैं 'नाम्मीवार' के (शठ कोप) रचना के मुख्य विषय का सक्षेप मे वर्णन करूँगा। वह अभिराम वराचार्य की द्रमिडोपनिषद् के आधार पर रचित है।[1] शठ कोप की प्रभु के प्रति भक्ति उनके हृदय मे समा न सकी, वह उत्कट भाव उनकी कविता मे फूट निकला और जिससे दु खी लोगो के हृदय को सात्वना मिली। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हे अपने जनसाधारण के दु खो के प्रति उनके माता-पिता से भी अधिक सहानुभूति थी। शठ कोप का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि मनुष्य अपने को महान् आत्मा पुरुषोत्तम के प्रति स्त्री भाव से समर्पित करे, और प्रत्येक जीव को उसी पर निर्भर रहने वाली स्त्री समझे, इसलिए शठकोप अपने को स्त्री भाव से प्रियतम की लगन मे डूबे हुए, उसी पर सर्वथा आधीन मानते थे। वे अपने चार ग्रन्थो मे से प्रथम मे आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते है, दूसरे मे भगवान के महान् तथा उदार गुणो के अनुभव का वर्णन करते हैं, तीसरे मे प्रभु से मिलने की उत्कठा, और चौथे मे भगवान से ऐकात्म्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा की तुलना मे कितनी कम ठहरती है। पहले प्रकरण के दश श्लोको मे दास्य भाव प्लावित है। इसी मे वे भगवान् के विशिष्ट गुणो का वर्णन भी करते है। दूसरे दस श्लोको मे भगवान की दया का वर्णन करते हुए कहते हैं हमे दुनिया की क्षणभगुर एव निरर्थक वस्तुओ से सर्वथा राग हटा लेना चाहिए। तत्पश्चात् वे भगवान् से लक्ष्मी सहित दुनिया मे अवतार

---

[1] गवर्मेंट ओरियन्टल हस्तलिखित पुस्तकालय मद्रास से प्राप्त।

धारण करने की प्रार्थना करते हैं और उनकी स्तुति करते है। वे अपने पापो को स्वीकारते हुए प्रभु से अपने वियोग के असह्य दु ख का वर्णन करते है। फिर वे भगवान से आलिंगन करते है और यह अनुभव करते है कि उनकी त्रुटियो का कारण उनका स्वय का ही दोष है। वे कहते है कि दास्य भाव की अभिव्यक्ति और सफलता किसी प्रकार के पूजा के उपकरणो पर आधारित कर्मकांड पर निर्भर नही है, केवल तीव्र उत्कठा पर ही निर्भर है। सच्ची भक्ति की ही नितात आवश्यकता है। भगवान् के उत्तम गुणो के मनन से जनित तीव्र आनन्द से यह भक्ति प्रारम्भ होनी चाहिए, जिससे भक्त को यह प्रतीत हो जाए कि इन गुणों से महान् कही किसी मे कुछ नही है। वे नम्र हृदय से यह कहते हैं कि भगवान् उन भक्तो की सेवा को स्वीकार कर लेते हैं जो, कुटिल शत्रु को भी अन्य साधनो द्वारा अधिकार मे लाने के बजाय, केवल मैत्री का ही सम्बन्ध जोडते है।[1] जो लोग अपने सहज भाव को स्वीकारने मे तत्पर है, उसी तत्परता से उन्हे अपने मे भगवान् का अनुभव होगा। सम्पूर्ण भक्ति द्वारा ही हम भगवान् के कृपा पात्र बन सकते हैं अन्य कोई साधन व्यर्थ है। वे दूसरे शतक मे कहते हैं कि जिस भक्त को भगवान् के उत्तम गुणो का अनुभव है किन्तु मोहवश अन्य वस्तु मे विरक्त नही हुआ है, वह ईश्वर के वियोग के असह्य दु ख की पीडा भोगता है और उसे ऐसे दु ख से पीडित समस्त मानव जाति से सहानुभूति होती है। पुराण कथा और, विशेषकर भागवत की कथाओ द्वारा शठकोप को ईश्वर की निकटता का अनुभव होता है जो दु खो को दूर कर भगवान के सम्बन्ध को दृढ करता है। फिर उन सन्तो का वर्णन करते हैं जिन्होने अपने अन्तर मे ब्रह्मानद का अनुभव किया है, जो समस्त आनन्दमय भावो की खान हैं और वह इस आनन्दानुभव की तीव्र अभिलाषा करते हैं। इस अभिलाषा से शठकोप के हृदय मे भगवत्-विरह का तीव्र दु ख उत्पन्न हुआ और निरर्थक इच्छाओ की विरक्ति हुई। उन्होने प्रभु से न मिल पाने की अपनी असमर्थता पर अत्यत दु ख प्रकट किया और ऐसा करने से वे दु खाभिभूत हो अचेत हो गए, इससे भगवान् ने उन्हे साक्षात् दर्शन दिए, फिर उन्होने भगवान् के दर्शन के आनद का वर्णन किया। किन्तु तो भी उन्हे वे खो देंगे यह भय लगा रहा है क्योकि वे उनके लिए महान् हैं, इसलिए उन्होने प्रभु के राग की शरण ली। तत्पश्चात् वे यो कहते हैं कि जिनमे अधिकार की भावना है वे ही ईश्वर से मिल सकते हैं। वे भगवान् के तेजस्वी गुणो का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करना मोक्ष से अधिक वाछनीय है, वे कहते है कि मोक्ष की सच्ची परिभाषा भगवान् का

---

[1] कौटिल्य वस्तु करण त्रितये पि जन्तुष्वात्मीत्यमेव करण त्रितयैकरूपम्। सदर्श्यं तानपि हरि स्व-वशीकरोति आचष्ट साद्र-करुणो मुनि रुष्टमेन।

—द्रमिडोपनिषद् तात्पर्य—हस्त०।

दास बनना ही है ।[1] तीसरे शतक के प्रथम भाग मे वे भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करते है। वे विलाप करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियाँ और मन की सीमा के कारण उनके पूर्ण सौन्दर्य का अनुभव नही कर सकते हैं। फिर वे ईश्वर की असीम अनुकम्पा और अपने दास भाव का वर्णन करते है। तत्पश्चात् वे समस्त ससार और सासारिक वस्तुओ के निर्देशक शब्दो मे भगवान के शरीर की कल्पना करते है।[2] ईश्वर की सेवा से उत्पन्न हर्ष और आनन्द का भी वर्णन करते हैं और कहते है कि जो भगवान् के निकट नही आ सकते उन्हे भगवान् की मूर्ति मे तथा उनकी पौराणिक कथाओ मे मन लगाकर सान्त्वना लेनी चाहिए। तत्पश्चात् वे अपने को भगवान् के विरह के शोक मे डुबा देते हैं और आशा करते है कि वे अपनी इन्द्रियो को वश मे करके भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकेंगे। वे उन लोगो के लिए दुःखी होते हैं जो कृष्ण को छोडकर अन्य देवो की उपासना करते है। वे भगवान के दर्शन तथा उसके आनन्द का वर्णन करते है।

चतुर्थ शतक मे सुख देने वाली समस्त वस्तुओ की क्षणभगुरता का वर्णन किया गया है और भगवान को प्रसन्न करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। वह यह समझाते हैं किस प्रकार सर्व पदार्थों से विरक्ति होने से और देश काल की मर्यादा रहित भगवत्-प्रेम के उत्कर्ष से, तथा उनके सतत् दर्शन न होने से वियोग की पीडा से वे अपने को स्त्री मानते है और वियोग के इस असह्य दुःख से अचेत हो जाते है।[3] तत्पश्चात् भगवान् किस प्रकार भक्त प्रणय से रीझ जाते है और वह उन्हे आलिगन मे लेकर मन, वचन और देह-क्रिया द्वारा भोग्य बनाकर भक्त अपनी अभिलाषा पूर्ण करता है,

---

[1] मोक्षादर स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्दे ।
मोक्ष प्रदातु सदृक्ष फलम् प्रवृत्ते ॥
आत्मेष्टमस्य पद किंकसातैकरूपम् ।
मोक्षाख्य वस्तु नवमे निरणायि तेन ॥ —दमिडोपनिषद्-तात्पर्य, हस्त० ।

[2] सर्वं जगत् समवलोक्य विभोश्शरीर]
तद्वाचिनश्च सकला नपि शब्दराशीन् ॥
त भूत-भौतिक-मुखान् कथयन् पदार्थान्
दास्य चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थे ॥ —वही ।

[3] त पुरुषार्थं मितरार्थं रुचे निर्वन्या
साद्र स्पृहा समय देश विदूरेग च
इष्टु शुचा तदनवाप्ति भुवो द्वितीये
स्त्री भावना समधिगम्य मुनिर्मुमोह ।

—द्रमिडोपनिषद्, हस्त० ।

इसका वर्णन मिलता है। इसके बाद उन्होंने किस प्रकार तीव्रता से कृष्ण प्राप्ति का प्रयास किया और श्री कृष्ण उनके सामने से अंतर्धान हो गए और किस प्रकार फिर वे एक बार पुन. विरह दु ख मे डूब गए, इसका वर्णन हुआ है। फिर उन्हे भगवान् की झलक और उनकी सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति का आनन्द मिलता है। आगे जाकर वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनका भगवत् दर्शन एक स्वप्न था और उसके टूट जाने से वे मूर्छित हो गए। समय-समय पर आने वाले इस विरह काल के सूनेपन को वे भगवत् नाम के जप मे बिताते थे और उनकी आराधना करते थे। वे विलाप किया करते थे कि बिना भगवान् के सब कुछ सूना है। बीच-बीच मे ईश्वर की ओर से विमुख होने की त्रुटि करती चली जा रही मानवता के प्रति गहरी सहानुभूति उमडती रही। उनके अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के प्रति राग ही बन्धन है।[1] जब कोई यह अनुभव कर लेता है कि भगवान् ही सब कुछ है तो उसके सारे बन्धन टूट जाते है।

पंचम शतक मे वे यो कहते है कि प्रभु कृपा ही मनुष्य का रक्षण कर सकती है। वे अपने को प्रभु की पत्नी अनुभव करते हैं और उससे आलिगन के सतत अभिलाषी हैं। भगवान से मिलने के शोक, विलाप और चिन्ता से अभिभूत होकर वे मूर्छा रूपी अधकार में डूब गए जिससे इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गई। मूर्छा के बाद वे भगवान के आभूषण देख पाए किन्तु उनका साक्षात् दर्शन न कर पाए जिससे शोक और हर्ष दोनो मे डूबते रहे। वियोग-दु ख से छुटकारा पाने को उन्होने भगवान् से तादात्म्य साध सुख पाया और उन्होंने यह सोचकर भगवान् की क्रियाओ का अनुकरण किया, कि जगत् भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है।[2] आगे ७०, ८० पदो मे वे कुम्भकोनम की श्री कृष्ण की मूर्ति के प्रति अपने अनुराग का वर्णन करते हैं और यह भी वर्णन करते हैं भगवान के उनसे उदासीन हो जाने के कारण किस तरह उन्होने महान् दु ख उठाया क्योकि भगवान् ने अपने प्रेमी को आलिगनादि प्रेम-व्यापार द्वारा सतुष्ट नही किया, और

---

[1] प्रीता परहरिरमुष्य सदा स्वभावाद
एतन्मनो वचन-देह-कृत-क्रियाभि·
स्रक चदन-प्रमुख-सर्व विष-स्वभोग्य
सश्लिष्टवानिदमुवाच मुनि स्त्रितीये ॥

—वही।

[2] शोक ज तम् परि जिहीर्षु रिवाश्रितानाम्
सर्गादि, कर्तु· अनुकारर सेन शौरे
तस्य प्रवृत्ति रखिला रचिता मायेऽति,
तद् भावनावित मना मुनि राहा पष्ठे।

किस तरह भगवान् से अपने प्रणय-व्यापार की उपेक्षा के कारण अप्रसन्न हो गए और किस तरह अन्त मे भगवान् ने स्नेहपूर्वक आलिंगनादि प्रदान कर उन्हे सन्तुष्ट किया। भगवान् को जो जगत् का दिव्य अधिपति है, उनके लिए प्रेम और महानुभूति उत्पन्न हुई और उन्हे भानुपिक प्रेम के प्रकार से सतुष्ट किया।[1] वे प्रभु के आलिगन से प्राप्त महासुख का वर्णन करते हैं, इस उन्मत्त इन्द्रिय प्रेम और ईश्वरीय आलिगन को पाकर वे जीवन के सम्बन्ध मे सासारिक रुचि से विमुख हो गए।

नवम् शतक मे, ये महात्मा, यह जानकर कि वे सामान्य पदार्थ को नही देख सकते हैं और विश्व मे भगवान् के दैवी अस्तित्व से भी सन्तोष नही होता इसलिए उन्होने भगवान के अप्राकृत वपु मे ध्यान लगाया और उनका सानिव्य प्राप्त करने को विलाप करने लगे। शतक का अधिकतर भाग विरह के विलाप से पूर्ण है। पुनः किस प्रकार सतत् विलाप और चिन्तन से उन्हे साक्षात्कार हुआ इसका वर्णन करते हैं, किन्तु फिर भी वे दु खी रहे क्योकि वे उन्हे स्पर्श न कर सके। तत्पश्चात् भगवान् ने प्रार्थना सुनकर मानुपी रूप धारण किया और उनके दुःखो को दूर किया।[2] अन्य कई पदो मे वे भगवान से वियोग और क्षणिक मिलन के दु स का वर्णन करते हैं और किस प्रकार पक्षियो द्वारा भगवान को सदेश भेजते हैं, किस प्रकार भगवान ने मिलन मे विलम्ब किया इसलिए दु खी हुए कैसे वह निर्दिष्ट समय पर मिलन की आशा रखते थे तथा वे किस प्रकार स्वर्ग मे किए जाने वाले काम धरती पर भी दोहराए जाएँ और किस तरह उनका व्यवहार गोपियो जैसा ही तीव्र और प्रचड हो यही सब वर्णन के विषय रहे। अतिम पदो मे वे यही निष्कर्ष पर आते हैं कि भगवान् का सच्चा दर्शन अति प्रेमी भक्त को ही हो सकता है, इन चर्म चक्षुओ के लिए दर्शन सम्भव नही है।

श्री हूपर ने नाम्मालवार रचित तिरुवृत्तम ग्रन्थ के कई रोचक उद्धरणो का अनुवाद किया है, यहाँ जो उद्धरण दिए गए हैं उनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उनके भगवान के प्रति प्रेम गीत किस प्रकार के हैं।[3]

---

[1] कोप मम प्रणयजम् प्रशमय कृष्ण,
स्वाधीनताम् आतनुतेऽति सविस्मय सः
स्वीर्या विरुद्ध जगद् आकुलिला न चतेन
सर्दाशिता अनुवभूव मुनि तृतिये। —वही।

[2] सग निवर्त्य मम सस्मृति मडले माम्
सस्थापयम् कथम् अस्तीति अनु चोदितेन
आश्चर्य लोक तनुताम् अपि दर्शयित्वा
विस्मारित किल शुचम् हरिणा स्तमेऽसौ। —वही।

[3] अलवारो के गीत—जे० एस० एम० हूपर रचित पृ० ६१-६८।

वह बाला अपने मोहक केशो से, उन चरणो का प्रेम करती चिरजीव रहे, जिन चरणो को देवता पूजते हैं, वह कन्हैया के मेघ समान काले चरणो मे प्रेम करती है, उसकी आँखें शोक से गहरे सरोवर मे कायल मछली की नाई लाल लाल हो गई हैं।[1] अब इस ग्राम मे जिसका शीतल स्वभाव था वहाँ परम लू बरसती है। क्या कृष्ण अपना राजदड ! एक तरफ रख कर मेरी इस विरही बाला का प्रेम चुराने के लिए काल मेघ बन गए है, क्योकि तुलसी के लिए सुधबुध खोकर खुली आँखो से अश्रुपात कर रही है।[2]

भगवान् के वियोग मे आलवार को अन्धकार को देखने मे आनन्द आता है क्योकि वे कृष्ण जैसे काले है :

तुम कृष्ण के स्वर्ग के समान सुन्दर हो, जब वह चला जाता है तब वियोग कितना लम्बा दीखता है किन्तु वे जब होते हैं तब सयोग के क्षण कितने छोटे लगते है। प्रेमी का दीर्घ अथवा अल्प सानिध्य दु ख ही दु.ख देता है। कपटी होते[3] हुए भी वह आच्छादक मेघ धन्य हैं। मेरी उस सुन्दर ककण वाली युवती का क्या होगा जो बडी कायल जैसी अश्रुयुक्त आँखो सहित अपने हृदय मे तुलसी के प्रति प्रेम पीडा छिपाकर घूम रही है, और तुलसी के पुष्ण गरुड द्वारा लाए गए हैं और वे झझावात मे गिरि की ओट मे घनीभूत होते जा रहे है।[4]

आलवार हसो और बत्तखो से अपना सदेश ले जाने की याचना करता है। उडते हुए हस और बलाका। मैंने आते ही याचना की, कि जो कोई भी पहले पहुँचे किन्तु यह भूले नही। अगर तुम मेरे हृदय से कन्नन को वहा देखो तो उन्हें मेरी याद दिला देना और कहना कि तुम अभी तक उनके पास नही गए क्या यह उचित है ?

आलवार विलाप करता है कि मेघ उनका सदेश नही ले जाएगे। वह मेघ और कृष्ण की समानता बताता है

मेघावली, मुझे यह बताओ कि तुमने तिरुमाल का धन्य रूप किस प्रकार पाया ? तुम जीवन देने वाला पानी भर कर आकाश में घूमते हो, इससे तुम्हारा शरीर पीडित होता है शायद इसी तपस्या से तुम्हे कृष्ण का रग प्राप्त हुआ।

मित्र भगवान् की निष्ठुरता का भी वर्णन करता है

---

[1] युवती यहाँ पर आलवारो की शिष्या है और प्रेयसी गृहिणी है, कन्हैया कृष्ण हैं।

[2] ये भी युवती के वचन हैं, तुलसी मे श्रीकृष्ण अभिप्रेत हैं।

[3] वियोग बहुत लम्बा दीखता है और मिलन क्षणिक। (आलवार)

[4] माता का युवती के लिए विलाप।

इस रात्रि के लम्बे समय मे जब मनुष्य को अधकार मे भी रहना पडता है, तब भी उसे दया नही आती कि वह असह्य शोक मे गडी हुई है, उसकी कटि कोमल है और वह मृगनयनी वन मे घूम रही है, क्या मैंने उसे वमन के चरण कमल की लम्बी स्तुति करके इसलिए पैदा किया था ?

आलवार नील कमल मे श्रीकृष्ण की समानता देखता है और भगवान् को सर्वत्र देखता है

नीले विशाल गिरि पर कमल के सारे सरोवर मेरे लिए भगवान् की चक्षु की सुन्दरता है, जो भगवान् जगत् पति है स्वर्ग का भी पति है और समस्त पुण्यशाली आत्माओ का पति है और वह मेरा भी है।

आलवार भगवान की महानता के गुण गान करता है

सन्तो ने अपने पवित्र श्रम से पुण्य कमा कर कहा है और दावे के साथ कहा है कि 'भगवान का रग शानदार सौन्दर्य नाम और रूप और तेजस्वी गुण यह है वह है' किन्तु उनका श्रम भगवान की महानता को नही पा सकता। उनका ज्ञान एक टिमटिमाते दीप के समान है।

सौतेली माता, प्रणयिनी, पर दयार्द्र है, क्योकि प्रेमिका लम्बी रात्रि सहन नही कर सकती

सुन्दर दन्त, गोल स्तन एव गुलाबी मुख वाली, मेरे पाप से उत्पन्न वह युवती विलाप करती रहती है, यह सुन्दर किन्तु अनन्त रातें तुलसी के लिए उसकी अनन्त अभिलाषा की तरह कितनी नित्य है।

पुन सौतेली माता दयार्द्र होती है क्योकि उसकी युवती कन्या अभी इस उत्कट प्रेम के लिए अल्पायु है

अभी उसके स्तन पूरे खिले नही हैं, मुलायम बाल अभी छोटे ही है और अचल अभी तक कटि पर ढीला है, आँखो पर अभी भी निर्दोष भाव और बोली भी तुतलाती है।

पुन भगवान् प्रेयसी के प्रति मोह होने पर मित्र के उलाहने का उत्तर देते है :

उसके लाल कमल-नयन मेरा जीवन है वे स्वर्ग के समान है।

प्रेयसी अधकार सहन नही कर सकती और तो भी चद्र के आगमन से दु खी हो जाती है .

हे बालचन्द्र ! तूने रात्रि के विशाल अधकार को वेष्टित कर लिया है मुझे भी उसी प्रकार समेट ले। क्या चद्र अधिक प्रकाश डाल कर मुझ असहाय को सुखी करना चाहता है, जो तुलसी पुष्पो के लिए आतुर है ?

प्रेयसी की सहचरी उसे शिथिल हुई देख निराश होती है .

अहा हा वह सुबकती है और गद्गद् होकर घनश्याम को पुकार रही है। क्या मालूम वह जी सकेगी या उसका यह शरीर और जीव चला जाएगा।

पुन कुल शेखर रचित तिरुमाल तिरुमोरीं अध्याय ५ मे ऐसा कहा है

यद्यपि लाल अग्नि स्वत॰ उभरती है और प्रचड दाह वरसाती है, तो भी लाल कमल, केवल लाल चड आँखो वाले भगवान् के लिए ही फूलते हैं, जिनका निवास ऊँचे स्वर्ग मे है, हे वित्रुवकोडु के पति ! क्या तू मेरा दु ख दूर नही करेगा ? मेरा हृदय तेरे असीम प्रेम के सिवाय और कही नही पसीजता।

समस्त नदियाँ अपना पानी इक्ट्ठा कर फैलती हैं और दौडती हुई समुद्र मे मिलती है, वाहर अलग नही रह सकती। हे मेरे आधार ! तेरे आनद मे डूबे विना मेरा कोई सहारा ही नही है, हे वित्रुवकोडु के पति, हे मेघ वर्णी गुणी, केवल तू ही सत्य है।[1]

उसी पुस्तक मे आगे और लिखा है [2]

मेरा ससार से कोई रिश्ता नही है और यह ससार झूठ को सच मानता है अतः मैं पुकारता हूँ, हे रगन् मेरे पति ! तेरे ही लिए मेरा राग जलता है।

मेरा इस ससार से कोई सम्वन्ध नही है, क्षीण कटि युक्त युवतियो के समूह मे से केवल मैं ही प्रेम और हर्ष से तुझे पुकारती हूँ हे रगन् मेरे पति !

पुन 'नालायीर दिव्य प्रवधम्' ग्रन्थ के तीरु पावई खण्ड मे कवित्री आण्डाल गोपी भाव से अपनी सहेलियो से सोए हुए कृष्ण को जगाने के लिए कहती है।

हम गायो के साथ जगन्न मे चलें और वहाँ चलकर भोजन करें। ग्वाले हमे नही पहचानेंगे। यह कितना सुन्दर वरदान है कि तुम हम जैसो मे ही पैदा हुए हो। गोविंद तुम्हे किसी की कमी नही है, पर हमारा तुमसे यह सम्वन्ध कभी नही छूटेगा। अगर हम प्यार दुलार मे तुम्हारा वचपन का नाम पुकारें तो तुम रुष्ट न हो जाना। हम तो बच्चे हैं कुछ नही जानते, क्या तुम हमे मृदग दोगे ? ओ॰ एलोरेम्बावाय।[3]

पुन पेरियालवार अपने को यशोदा मानते हुए बालक कृष्ण का वर्णन करते हैं जो धून मे पडा हुआ चद्र को पुकार रहा है

---

[1] पूर्व गृत, वही, पृ॰ ४८।

[2] वही, पृ॰ ४४।

[3] वही, पृ॰ ५७।

(१) वह धूल मे लोट रहा है जिससे भौहे के पास वाले मणि लटकने लगे हैं और किंकणी के घुघरू नाद करते हैं। मेरे पुत्र गोविंद के खेल को तो तुम देखो। हे पूर्ण चद्र ! अगर तेरे आँखें हो तो तू यहाँ से चला जा।

(२) मेरा नन्हा अमृत समान प्यारा ! मेरे आर्शीवचन तुझे बुला रहे है छोटे-छोटे हाथो से इशारा कर रहे हैं। हे पूर्ण चद्र अगर तू इस श्याम नन्हे से खेलना चाहता है तो बादलो मे न छिप, किन्तु खुश होकर इधर आजा।[1]

पुन तिरुभगे कहते हैं :

बुढापा आते ही हम बैसाखी का सहारा लेते है, जब दोहरी कमर होकर हमारी आँखें जमीन पर गड जाएँगी, और हम क्षीण हो जाएँगे और पाँव डगमगाएँगे तब थक कर आराम के लिए बैठ जाएँगे और बदरी की स्तुति करेगे जिसने अपने घर मे मायावी राक्षसी माता का स्तन पान करके उसे मार डाला—

पुन आडाल कहती है हे नद गोपाल की पुत्री ! तू द्वार खोल दे, तू मत्त हस्ती की तरह पुष्ठ बाहु की वजह से दौड नही पाती तेरे सिर के बाल नपिन्नाई की सुगध से व्याप्त हैं। देख सर्वत्र मुर्गे बोल रहे हैं, माधवी कुज मे कोयल कूक रही है, तू अपने हाथ मे गेंद लेकर आजा, प्रसन्नतापूर्वक अपने कर कमलो द्वारा खोल दे जिसमे तेरी चूडियाँ खनखना उठें जिससे उसके नाद के साथ तेरे भाई का नाम हम गाएँगे। ओ एलोरम्बावाय।

तू उन्हे ३३ देवो के साथ युद्ध मे लडने के लिए साहसी बनाने मे सक्षम है। तू अपनी निद्रा से जाग उठ। तू न्यायी है, तू सशक्त है और निर्मल है तू अपने शत्रुओ को जला देता है निद्रा से जग। ओ नारी नपिन्नाई तेरे कोमल स्तन छोटी कटोरियो के समान हैं, तेरे मधुर होठ लाल हैं, और तेरी क्षीण कटि है, हे लक्ष्मी ! निद्रा से जग कर अपने दूल्हे को पखा और दर्पण दे दे, और हमे स्नान करा दे। ओ एलोरम्बावाय।

आलवारो की भक्ति के मुख्य गुण का वर्णन करते हुए नाम्मालवार को पराकुश अथवा शठकोप भी कहा गया है। गोविंदाचार्य ने 'दी डीवाइन विजडम आफ द्राविड सेन्टस' तथा 'दी होली लाइवज ऑफ दी अजहवार्स' ग्रन्थो मे कहा है कि नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति मे परिपूर्ण समर्पण भाव से अभिभूत हो जाता है तब वह सरलता से सत्य को पा जाता है।[2] नाम्मालवार ने कहा है मुक्ति के लिए केवल भगवान् की कृपा ही चाहिए, हमे समर्पण करने के अतिरिक्त और कुछ भी करना नही है। निम्न शब्दो मे नाम्मालवार कहते है कि भगवान् हमे अपने से प्यार करने को सतत् उकसाते रहते है।

---

[1] वही, पृ० ३७।

[2] वही, पृ० ३५।

मैंने आनन्दमय भगवान का नाम सुना और मेरी आंखो मे पानी भर आया। अरे यह क्या हुआ ? मैंने पूछा। यह कैसा विस्मय है कि सर्व सम्पन्न भगवान्, स्वय, दिनरात, मुझमे मेरे निरन्तर मिलन के लिये प्रणय कर रहे है और मुझे अकेला छोडना नही चाहते ?

नाम्मालवार पुनः लिखते है कि भगवान् की स्वतत्रता पर केवल उनकी कृपा का ही बन्धन है। उन्ही के शब्दो मे "हे कृपा ! तूने भगवान् को उनकी न्याय पूर्ण इच्छा की स्वतत्रता से रोक रखा है। कृपापूर्ण वायु से सुरक्षित हो, भगवान अपनी इच्छा होते भी मुझमे अलग नही हो सकते। अगर वे ऐसा कर भी सकें तो मैं कहूगा कि मेरी ही जीत हुई क्योकि उन्हे कृपा देकर ही अपनी स्वतत्रता खरीदनी पडेगी।" उक्त स्थिति का समर्थन करते हुए वे एक भक्त नारी का उदाहरण देते है जिसने कांची के वरदराज के चरण पकड कर यह कहा था, "भगवान् मैंने तो अब तेरे चरण मजबूती से पकड लिये है अब तुझमे हो सके तो मुझे ठुकरा दे और अपने को मुझ से दूर कर ले।"

नाम्मालवार तुवल्लील या निन्रुउकुमिऴ्मे जो प्रेम का तामिल पर्यायवाची शब्द है, का प्रयोग करते हैं। जिसका तात्पर्य प्रेम के उस सतत् वर्तुलाकार मे घूमते भाव से है जो गहरा-गहरा छेद करता हुआ जाता है किन्तु जो कभी, न तो अवसन्न होता है और न कभी बिखर पाता है। इस प्रेम का वर्तुलाकार रूप मे हृदय मे छेद करना मूक प्रक्रिया है, जो वर्णनातीत है तथा उतना ही अवाच्य है। जब गाय को अपने बछडे को दूध पिलाने की आतुरता होती है तब उसके थन दूध से भर कर टपकते हैं। इसी प्रकार भगवत्-प्रेम शाश्वत एव निरन्तर विकासशील है।[1] यामुन ने 'भगवद् विषयम्' नामक ग्रन्थ मे नाम्मालवार और तिरुमगै आलवार के प्रेम की विभिन्नता स्पष्ट की है। तिरुमगै आलवार सम्मोहक प्रेम की प्रलापी, हर्षोन्मत्त आदान-प्रदान की स्थिति मे ईश्वर के साथ सतत् सख्य की अभिव्यक्ति के विश्वासी थे। ये प्रेम की अनन्त गहराई मे डूबे हुए थे और वे मादक पदार्थ के सेवन से उत्पन्न अचेतावस्था की तरह नशे मे रहने के भय मे सदा रहा करते थे। नाम्मालवार के प्रेम मे भगवान की तीव्र खोज प्रमुख बात थी। वे एकाकी भाव से अभिभूत हो अपने आपको खो बैठते थे। वे बिलकुल मदोन्मत्त ता कभी नही रहते थे। अपने प्रियतम और पति के मिलन की आशा ने उनकी चेतना सतर्क और मजबूत रखी थी।[2] इस अवस्था का वर्णन तिरुमगै आलवार ने इस प्रकार है

वह रात और दिन नीद क्या है जानती ही नही। उसकी कमल जैसी आँखें, आँसुओ मे तैरती रहती हैं, वह रोती और चक्कर खाती रहती हैं। हाय! तेरे बिना मैं कैसे इसे सहन करूँ। सारा जगत् उसके साथ सहृदय हो उच्छ्वसित होता रहता है।

ईश्वरीय प्रेम की तीन अवस्थाएँ भी बहुधा वर्णन की गई हैं, स्मृति, ध्यान और पुन सगम। पहले का अर्थ भगवान से भूतकाल मे प्राप्त उत्कृष्ट सुखो की स्मृति है। दूसरे का अर्थ ऐसी भूतपूर्व स्मृति तथा वर्तमान मे उसकी अनुपस्थिति के दु ख मे मूर्च्छित होना और हताश होना है। तीसरे का अर्थ ध्यानस्थ अवस्था मे यकायक सरलता का आवेश होना, जिसके उन्माद के कारण से मूर्च्छा से मृत्यु भी हो सकती है।[1]

आलवारो मे तात्विक चिन्तन का विकास नही पाया जाता, उनमे केवल भगवान् के प्रेम का आनन्दानुभव मे ही था, फिर भी हम नाम्मालवार के ग्रन्थो मे आत्मा के स्वरूप के अनुभव के वर्णन पाते हैं। वे कहते है, "इस विस्मय पूर्ण वस्तु का वर्णन करना अशक्य है, आत्मा, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है, जिसे भगवान् ने अपने प्रकार के रूप मे मुझे दिखाने की कृपा की अर्थात् मेरा और भगवान् का सम्बन्ध उद्देश्य और विधेय जैसा द्रव्य और गुण जैसा और स्वर-व्यजन जैसा है, आत्मा का स्वरूप ज्ञानियो को भी अगम्य है। इसे यह और वह ऐसा भी नही कहा जा सकता, योग द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार इद्रियप्रत्यक्षविषय ज्ञान जैसा नही हो सकता। आत्मा का दर्शन जैसाकि भगवान् ने मुझे कराया है वह शरीर इद्रिय प्राण मन और बुद्धि इत्यादि विकारी तत्वो के कही परे है। आत्मा सबसे विलक्षण और सूक्ष्म है, इसे अच्छा या बुरा कुछ भी नही कहा जा सकता। आत्मा इद्रियगोचर पदार्थों की कोटि मे नही आती।[2]

आत्मा को यहाँ शुद्ध सूक्ष्म तत्व माना है जो मल रहित है और जो अन्य विषयो की तरह जाना नही जा सकता। सत्ता के स्वरूप के विषय मे दार्शनिक वर्णन एव अपने मत के तार्किक या प्रमाणगत प्रश्नो की गवेषणा आलवार क्षेत्र के बाहर थी। उन्होने तो प्रेरणा युक्त गीत गाये और बहुधा ऐसा भी मानते थे कि इन कृतियो मे इनका कुछ भी हाथ नहीं है वे तो समझते थे कि भगवान् ही उनके मुख से बोल रहे हैं। ये गीत बहुधा झाझ और मादक स्वर माधुर्य के साथ गाये जाते थे यही उनकी विशिष्टता थी और इस प्रकार ये गीत दक्षिण भारत मे प्रचलित तत्कालीन सगीत की रूढि से सर्वथा भिन्न थे। श्री रामानुज के विशेष आदेशानुसार आलवार ग्रन्थो

---

[1] भागवत् विषयम् पृ० ८, पृ० ३१६५ और दैवी ज्ञान, पृ० १५१।

[2] दैवी ज्ञान, पृ० १८६, तिरुवाय मोर्री, ८, ५–८।

के सकलन के अभ्यास से तथा रामानुज स्वय ने आलवारो से अपने मत की पुष्टि मे जो प्रेरणा पाई है इससे यह पता लगता है कि आलवार विष्णु पुराण और भागवत् के अतर्गत आये हुये कृष्ण के चरित्र से पूर्ण परिचित थे।[1] कम से कम एक लेखाश ऐसा मिलता है जिससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि राधा (नप्पिनाई) कृष्ण की प्रियतमा थी। आलवार कृष्ण के वृन्दावन के बाल्यकाल का उल्लेख करते है और उनमे से बहुत से अपने प्रति यशोदा या ग्वाल बाल या गोपियो के भाव रखते थे। उनके गीतो मे ईश्वरीय प्रेम कभी कभी भक्त का कृष्ण से मिलन की आतुरता मे व्यक्त होता है या कभी इनमे विरह दु ख, सतोष, कृष्ण से साक्षात् मिलन का आनन्द, या कृष्ण के साथियो से भावमय एकता मे अभिव्यक्त होता है। भागवत् (१ : ११, १२) मे भी हम ऐसा पाते है कि तीव्र भाव से भक्त प्रेम मद मे विभोर हो जाते है, किन्तु भक्त ने कृष्ण से सम्बध रखने वाले पौराणिक व्यक्तियो से एकात्मता प्राप्त की हो और ऐसी काल्पनिक एक रसता से उत्पन्न उत्कट भावो को व्यक्त किया हो ऐसा नही देखने मे आता। हम गोपी के कृष्ण के प्रति प्रेम को जानते है, किन्तु किसी ने अपने को गोपी से तादात्म्य कर विरह की वेदना व्यक्त की हो ऐसा कही नही सुना। विष्णु, भागवत् एव हरिवश पुराणो मे कृष्ण की पौराणिक प्रेम कथाओ का ही वर्णन है। किन्तु वहाँ भक्तो ने कृष्ण के प्रेमियो से काल्पनिक तादात्म्य कर भगवान का प्रेम प्राप्त किया हो ऐसा उल्लेख कही नही है वहाँ केवल यही बताया गया है कि जिन्हे कृष्ण से प्रेम है, कृष्ण की प्रेम गाथा सुनकर उनका प्रेम और तीव्र हो जाता है। किन्तु यह तथ्य कि कृष्ण की पौराणिक कथा का प्रभाव भक्तो पर इतना हो जाय कि भक्त कृष्ण के प्रेमी जनो के भाव से परिपूर्ण होकर उनके ही जैसे बन जायँ, यह किसी भी धर्म के भक्ति इतिहास मे एक नवीन बात ही है। सम्भवत यह स्थिति भारत के अन्य भक्ति सप्रदायो मे भी नही पायी जाती। आलवारो ही मे हम सर्व प्रथम इस भाव को पाते है जो आगे जाकर गौडीय सम्प्रदाय के भक्तो के जीवन और उनकी रचना और विशेषकर श्री चैतन्य के जीवन मे उत्कट रूप मे पहुँचा। इसका उल्लेख

[1] सर रा० गो० भाण्डारकर कहते हैं कि कुलशेखर आलवार ने अपने मुकुन्द माला नामक ग्रन्थ मे भागवत से एक पाठ उद्घृत (११ २ ३६) किया है (वैष्णव, शैव और अन्य छोटे सप्रदाय पृ० ७०) श्री एस० के० आयगर अपने 'दक्षिण मे वैष्णवों का पुरातन इतिहास' मे इसका प्रतिवाद करते हैं और कहते है कि यह पाठ कन्नड, ग्रन्थ और देवनागरी पुस्तक, तीनो ग्रन्थो मे नही पाया जाता। जो कि इनके देखने मे आये थे (पृ० २८) वे ऐसा भी सूचन करते है कि इस पाठ का उद्धरण का विषय शकास्पद है क्योकि यह पाठ बहुत से दक्षिण ग्रन्थो के अन्त मे पाया जाता है जो धार्मिक कर्म का वेद मत्रो के उच्चारण मे त्रुटि होने की आशका के निवारणार्थ क्षमा याचना के रूप मे सकलित किया जाना प्रतीत होता है।

हम आगे जाकर इस पुस्तक के चतुर्थ ग्रन्थ मे करेंगे। पौराणिक व्यक्तियो के भावो का कृष्ण के जीवन से ओत-प्रोत हो जाने का अर्थ यही है कि भक्त मे उन व्यक्तियो का कृष्ण के प्रति विशेष भाव और अवस्था का ओत-प्रोत होना क्योकि वे कल्पना से उन व्यक्तियो से तादात्म्य साध कर वे उनके भावो का अनुभव करते हैं ऐसा सोचने लगते हैं। इसी कारण से हम देखते हैं कि जब यह भाव गौडीय सप्रदाय मे दृढीभूत हुआ और अलकार शास्त्र द्वारा दसवी से चौदहवी शताब्दी मे काम-सवेग का विवेचन मान्यता को प्राप्त हुआ, तब गौडीय वैष्णवो ने प्रणय-भाव की उत्कर्ष अवस्थाओ के विश्लेषण को भक्ति भाव का विकास माना। हमे रूप गोस्वामी रचित 'उज्ज्वलनील-मणि' नामक ग्रन्थ मे इस भाव के विकास का उत्तम दृष्टान्त मिलता है। वहाँ गोपियो और राधा के पौराणिक जीवन मे साधारण भक्ति का गम्भीर शृगार भक्ति मे सवेदनात्मक अनुकरण द्वारा परिवर्तित होना बताया गया है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हम नाटकीय हाव-भाव की विवेचना सवेदनात्मक रस लेकर करते हैं। अलकार शास्त्री ऐसा कहते हैं कि नाटक के प्रेक्षको के सवेग नाटक को देखकर इस प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं कि उस समय के लिये, देशकाल और व्यक्तिगत अनुभूतियो का इतिहास, जो व्यक्ति का स्वरूप बनाते है, उनकी मर्यादाएँ टूट जाती हैं। सामान्य व्यक्तिगत भावो का तिरोहित होना और भावो का एक ही दिशा मे परिप्लावित होना, कल्पना द्वारा, रगमच पर नट के उस भाव से ही तादात्म्य नही ला देता किन्तु उन नाटक सम्बद्ध व्यक्तियो से तादात्म्य भी कर देता है जिनके भावो की अभिव्यक्ति या अनुकृति की जा रही है। एक भक्त गाढ चिंतन द्वारा स्वय के भावो की उस अवस्था की मादकता तक पहुँच सकता है कि एक छोटे, नगण्य सकेत से भी वह अपने को राधा और गोपी के काल्पनिक लोक मे पहुँच कर एक अति उत्तेजित और कामुक प्रेमी के सभी भावो का अनुभव करने लगे।

ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आलवार ही सर्व प्रथम इस प्रकार के भक्त हुए जिन्होने भावो के ऐसे परिवर्तन का विकास किया। इसी प्रकार राजा कुलशेखर जो आलवार थे और राम भक्त थे, वे रामायण का पाठ हर्षोन्मत होकर सुना करते थे। सुनते-सुनते वे इतने उत्तेजित हो जाते थे कि जब राम का लका पर आक्रमण के प्रसग का वर्णन होता था तब वे राम की सहायता के लिये अपनी सेना को तैयार होकर कूच करने का हुक्म दे दिया करते थे।

आलवारो के भक्ति गीत कृष्ण के पौराणिक जीवन के अनेक प्रसगो का प्रगाढ परिचय देते है। विविध भाव जो उन्हे उत्तेजित करते थे वे मुख्यत वात्सल्य, मैत्री, सख्य, दास्य, तथा दाम्पत्य भाव थे। इन भावो के द्वारा माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव, पुत्र का पिता जगत् कर्त्ता के प्रति आदर भाव, तथा प्रणयिनी का प्रेमी

के प्रति शृंगार भाव मुख्य थे। कुछ आलवारो मे, जैसाकि हम नाम्मालवार और तिरुमगयालवार मे पाते हैं, उपरोक्त अन्तिम भाव अर्थात् शृंगार भाव को ही अधिक महत्व दिया गया है। इन आलवारो के पारमार्थिक अनुभव मे हम भगवान के प्रति पति और प्रेमी की उत्कट अभिलाषाये पाते हैं। उनके प्रेम की इस अभिव्यक्ति मे हम उन शृंगारी इच्छाओ के अधिकतर विकृति जन्य प्रतीको को पाते है जिन्हे गौडीय वैष्णवो की रचना मे अत्यधिक महत्व मिला है। गौडीय सम्प्रदाय मे प्रेयसी के शारीरिक सौदर्य के वर्णन की अति हो गई है। आलवारो मे उससे विपरीत, भगवान के अतीद्रिय सौदर्य और शोभा, तथा भगवान् कृष्ण के लिये स्त्री भाव से उत्कट आतुरता का वर्णन है। तीव्र अभिलाषा कभी कभी प्रेमी की पीडा के दयनीय विकृति जन्य चिन्हो से भी व्यक्त हुई है। कभी भगवान के पास दूत भेजा जाता है, कभी पूरी रात भगवान् की प्रतीक्षा मे बितायी जाती है या कभी भगवान् से सचमुच आलिगन कर उसके उन्मादी आनन्द के भोग आदि का वर्णन मिलता है। भगवान् स्वय भी अपने प्रेमी आलवार के सौदर्य और लावण्य से मोहित होकर उससे प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। इन भावो को व्यक्त करते हुए कृष्ण के कथानक मे आये हुए अन्य व्यक्तियो के जीवन प्रसगो का स्वतत्रतापूर्वक उपयोग किया जाता है और कृष्ण-जीवन के प्रसिद्ध प्रसगो का वर्णन किया जाता है, जिसके द्वारा आलवार प्रियतमा का प्रेम उत्कट हो जाता है। भावविह्वलता पानी के भँवर की तरह है जो अनन्त काल तक जीव मे कभी वियोग के दुःख मे और कभी मिलन के सुखोन्माद मे व्यक्त होती है। आलवार अपने परमानन्द के अनुभव मे भगवान् को सर्वत्र देखते हैं और उनकी प्राप्ति की गम्भीरता मे उस आनन्द की अधिकाधिक माँग करते हैं। वे परम कोटि के उन्माद का भी अनुभव करते है जब वे अर्ध-चेतन या अचेतन हो जाते है और बीच-बीच मे जागृति की स्थिति मे भी आतुरता अभिव्यक्त होती है। यद्यपि भगवान् के प्रति आतुरता काम के साम्य पर वर्णित है तो भी यह उपमा इस हद तक नही ले जाई गई जिसमे काम के निम्न कोटि के विकारो का जानबूझ कर उल्लेख हो। इसलिये आलवारो का भगवत्-प्रेम मानवी प्रेम शब्दो मे वर्णन होते हुए भी दिव्य है। सम्भवत आलवार यह बताने मे अगुवा रहे कि प्रकार भगवान् के प्रति प्रेम एक कोमल भाव है जो दाम्पत्य प्रेम के मदोन्मत्त आवेश को मृदु का देता है। दक्षिण का शैव सम्प्रदाय भी लगभग इसी काल मे विकसित हुआ। शिव स्तोत्र भक्ति के उच्च और गम्भीर भाव से परिपूर्ण है जिनका मुकाबला अन्य किसी साहित्य मे सम्भव नही है किन्तु इन स्तोत्रो मे भगवान की महानता, गौरव एव सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति आत्म सयम, ईश्वर-समर्पण-भाव तथा आत्मत्याग ही मुख्य है। आत्म समर्पण एव भगवान ही हमारा सब कुछ है इस भाव से उस पर अवलम्बन करना आलवारो मे भी इतना ही अधिक प्रधान है किन्तु आलवारो मे यह भाव आत्यन्तिक प्रेम की मृदुलता मे गला हुआ है। शिव स्तोत्र भी भक्ति की दिव्य ज्योति से परि-

पूर्ण है किन्तु यहाँ समर्पण भाव का प्राधान्य है। माणिक्क वाचकर अपने 'तिरु वाचकम्' मे शिव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं .[1]

क्या मैं तेरा दास नही हूँ ? क्या तू मुझे अपना नही बनायेगा, मैं प्रार्थना करता हूँ। तेरे सभी दासो ने तेरे चरणो का सानिध्य प्राप्त किया है। क्या मैं अपने इस पापी शरीर को छोड कर तेरे दर्शन नही कर सकूँगा ? ओ शिवलोक के पति ! मुझे भय है, मुझे नही सूझता कि मैं तुझे कैसे पाऊगा। मैं सर्वथा झूँठा हूँ। मेरा हृदय भी झूँठा, वैसा ही मेरा प्रेम है। किन्तु यदि तेरा यह पापी दास रोये तो क्या वह तेरी आत्मा की अमृतमय मृदुता को नही पा सकेगा ? शुद्ध मधुमय आल्हाद के पति। तू कृपाकर के अपने दास को सिखा जिससे वह तेरे निकट आ सके।

"मुझे तेरे चरणो मे प्रीति नही थी। सुन्दर सुगधित केश वाली गौरी के अर्धांग। जिस जादुई शक्ति से पत्थर पके फल बन गये, उससे तेने मुझे अपने चरणो का प्रेमी बनाया। हे प्रभु ! तेरा मृदु प्रेम अमर्यादित है। हे निर्मल अतरिक्ष देव। मैं कैसा भी विचलित हो जाऊँ और कैसे ही मेरे कर्म हो, तू अपने चरण कमलो का दर्शन देकर मेरी रक्षा कर।

भक्त ने भगवान के प्रेम की प्रियता का अनुभव किया है और यह भी माना है कि भगवान की कृपा से ही वह उसकी ओर आकर्षित हो सकता है और प्रेम कर सकता है

बाजरे के दाने जैसा तू दूसरे फूलो से मधु मत चख। जब कभी हम उसका चिन्तन करते हैं उन्हें देखते हैं और उनके विषय मे वार्तालाप करते है तब अति मृदु मधुरूप आल्हाद बहता है और हमारा शरीर उस आनन्द मे गल जाता है। हे गुजन करती मधुमक्खी ! केवल उस दिव्य नर्तक के पास ही तू जा और उसके गुणो की श्वास से गुजार कर।

आलवार और श्री वैष्णवों के बीच कुछ धार्मिक मतों का विरोध

अग्रीयस नाथ मुनि, यामुन, रामानुज तथा उनके साथियो ने आलवारो के प्रेरणात्मक उपदेशो का अनुसरण किया है किन्तु कुछ मुख्य धार्मिक सिद्धान्तो के बारे मे उनका आलवारो से मतभेद था। ये विषय पृथक् ग्रन्थो मे सग्रहीत किये गये हैं जिनमे से एक स्वय रामानुज द्वारा लिखित अष्टादश रहस्यार्थ-विवरण है, तथा दूसरी

---

[1] तिरुवाचकम् पोप द्वारा अनुवादित। पृ० ७७।

रचना का नाम 'अष्टादश भेद निर्णय' है।[1] वेंकटनाथ तथा अन्य लोगो ने भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। इनमे से कुछ मतभेदो का वर्णन निम्नानुसार है।

भेद का प्रथम विषय 'स्वामी-कृपा' है। आलवारो की मान्यता यह है कि स्वामी-कृपा सहज है, वह किसी प्रकार के साधन या भक्त के गुण-विशेष पर निर्भर नहीं है। ईश्वर की कृपा उसका दैवी विशेषाधिकार है, अगर किसी अन्य पर आधारित रहे तो वह वहाँ तक सीमित हो जाती है। कुछ लोगो का यह मत है कि कृपा भक्त के पुण्य कर्म पर निर्भर है। अगर ऐसा न हो तो कालान्तर मे हर कोई मुक्त हो जायगा और किसी को कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न आवश्यक नही रहेगा। अगर ऐसा माना जाय कि भगवान् अपने सहज भाव से किसी पर कृपा दृष्टि करते हैं और किसी पर नहीं, तो वे पक्षपाती कहलायेंगे, इसलिये यह मानना योग्य है कि भगवान् कृपा दृष्टि करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है तो भी व्यावहारिक दृष्टि से वे कृपा पारितोषक के रूप में उन्हीं पर वितरण करते हैं जो भक्त गुणी और पुण्यशील हैं। यद्यपि भगवान् पूर्णत कृपामय है और सबो पर बिना किसी के प्रयत्न के कृपा दिखाने मे स्वतन्त्र हैं तो भी वे ऐसा नहीं करते। वे केवल भक्त पर, जब वह पुण्य कर्म करते हैं तभी कृपा करते हैं। इसलिये भगवान की कृपा निर्हेतुक एवं सहेतुक दोनो ही है।[2] बाद मे कहा गया मत रामानुज तथा उनके अनुगामियो का है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि आलवार और रामानुज पथियो मे मुख्य धार्मिक सिद्धान्तो के भेद उनके पीछे हुए अनुसंधान की खोज का परिणाम है जबकि आलवार ग्रन्थो की बहुत टीका की जाने लगी और रामानुज की स्वय की रचनाओ ने अनेक विद्वानो को सिद्धात स्पष्ट करने के हेतु मे स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी। पीछे आने वाले विद्वानो ने जब आलवार और रामानुज पथ के ग्रन्थो की तुलना की तब वे इस निष्कर्ष पर आये कि उनके मुख्य सिद्धान्तो में कुछ भेद अवश्य है। इसी प्रश्न को लेकर आलवारी तेंगलाई और वडगलाई पथियो के बीच तीव्र विरोध उपस्थित हो गया था। पिछले पथ के प्रवर्तक श्री वेंकट थे। इस भेद का उल्लेख 'अष्टदश भेद निर्णय' में सक्षेप से बताया गया है। धर्म के मुख्य सिद्धान्तो की चर्चा रामानुज ने अपने 'अष्टाग रहस्यार्थ विवरण' में की है। भगवान् को प्राप्त करने का मुख्य साधन शरणागति या 'प्रपत्ति' है। प्रपत्ति का अर्थ भगवान् मे आराधनरत मन की स्थिति से है और वह इस आस्था के साथ कि केवल भगवान् ही हमारा रक्षक है, प्रपत्ति मे भगवान् ही केवल हमारा रक्षक है इस निश्चय से मन का भगवान के प्रति आर्तभाव और उनकी कृपा

---

[1] ये दोनो हस्तलिखित ही है।

[2] कृपा-स्वरूपतो निर्हेतुक स्वतः समर्थ चेतना-स्वानुगुणेन सहेतुकी कृपा रक्षति।
—अष्टादश भेदनिर्णय, हस्त० पृ० २।

प्राप्त करने के लिये शरणागति के सिवाय और कोई रास्ता नही है यह मान्यता है।[1] भक्त का पूर्णत नारायण पर विश्वास है, वह अन्य किसी की प्रार्थना नही करता, तथा उसकी प्रार्थना अन्य किसी हेतु से न होकर केवल गहन प्रेम से प्रेरित है। प्रपत्ति के गुण मे कट्टर रिपु के प्रति भी सर्व साधारण की ओर जैसी दया, सहानुभूति और मैत्री का समावेश होता है। इसे 'निर्भरत्व' कहा है[2] ऐसा भक्त यह अनुभव करता है कि स्वामी ही उसकी आत्मा का स्वरूप है इसलिये किसी भी परिस्थिति मे वही एक आधार है।[3] भक्त का यह मानना कि हमारे उच्च हेतु तक पहुँचने के लिये शास्त्रोक्त कर्म सहायक नही है इसे 'उपाय शून्यता' कहा है अर्थात् अन्य उपायो की निरर्थकता। भक्त अपने पर आने वाली आपत्तियो पर हसता रहता है। अपने को भगवान का दास मानकर, वह भगवान के ही मनुष्य जो कोई भी दुःख डालते हैं उन्हे खुशी के साथ सहन करता है, इसे 'पारतन्त्र्य' कहते हैं। भक्त यह सोचता है कि आत्मा ज्ञानमय है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है इसलिये वह भगवान के लिये ही जीता है और उसके आधीन है।[4] वैष्णव बहुधा एकान्तिम् कहे गये हैं और गलती से उन्हे एकेश्वरवादी कहा गया है। किन्तु एकान्तित्व—विशेष लक्षणपूर्ण शरणागति का भाव और भगवान् मे बिना हिचकिचाये अवलम्बन ग्रहण करने से है, जो भगवान् मे सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियो के समय मे भी पूर्ण विश्वास रखता है। भक्त का हृदय भगवान् की उपस्थिति से हर्षपूर्ण हो जाता है, भगवान् उसकी इन्द्रियाँ, इच्छा, भाव एव अनुभव को चेतना देते हैं। जिस पूर्णता से भक्त भगवान् का अपने सारे व्यवहार, विचार और विश्व के समस्त पदार्थो मे अनुभव करता है वह भाव उसे उस लोक मे ले जाता है जहाँ सासारिक भावनाएँ—वैर, तृष्णा, ईर्ष्या, धिक्कार आदि सब

---

[1] अनन्यसाध्ये स्वामीष्टे महा-विश्वास पूर्वकम् ।
तद् एकोपायता याञ्चा प्रपत्ति शरणागति ।

—अष्टागरहस्यार्थविवरण, पृ० ३ ।

रामानुज 'गद्यत्रयम्' ग्रन्थ मे कहते हैं कि मन की ऐसी याचना अपने पाप, त्रुटियो एव अपराध को स्वीकारने पर भी रहती है, भक्त यह समझता है कि वह भगवान् का निराधार दास है और वह उसकी कृपा से तरने का बहुत उत्सुक है, देखो शरणागति गद्यम्, गद्यत्रयम् मे, पृ० ५२–५४ ।

[2] यह 'प्रपत्ति नैष्ठिकम्' शब्द से जाना गया है (अष्टाग रहस्यार्थ विवरण, पृ० ३–७) इसके उपरोक्त खण्ड की वन्दर और कपोत की कहानी से तुलना करो ।

[3] यहा स्वामी शब्द को जबरदस्ती इस अर्थ मे लिया गया है स्वम् अपना स्वय का ।

[4] ज्ञानमयो हि आत्मा शेषो हि परमात्मन इति ज्ञानानन्दमयो ज्ञानन्दगुणक सन् स्वरूप भगवदाधीन स तदर्थमेव तिष्ठतीति ज्ञात्वाऽवतिष्टते इति यद् एतद् तद् अप्राकृतत्वम् ।

—अष्टाग रहस्य विवरण, पृ० ११ ।

निस्सार हो जाते हैं। भगवान् की उपस्थिति मे भक्त ससार के समस्त जीवो की ओर दया और मैत्री भाव से भर जाता है।[1] भक्त को आचार्य से दीक्षा लेनी पडती नही है, जिसके सामने उसे अपने की सब बातें कह देनी चाहिएँ और अपना सब कुछ गुरु को अर्पण कर देना चाहिये, तब ही वह अपने को विष्णु का दास मान सकता है।[2] उसे तात्त्विक दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि जीव और जगत् विष्णु के अधीन है।[3] उसे यह तात्त्विक ज्ञान होना चाहिए कि जीव और जगत् सर्वथा भगवान् पर आश्रित है, ऐसी मान्यता का अर्थ यह होता है कि भगवान् हमारी इद्रियो के व्यापार मे उपस्थित हैं, जिससे इद्रिया पूरे नियत्रण मे आ सकती है। इन व्यापारो मे भी भगवान् की उपस्थिति है इस अनुभव से भक्त नैतिक वीर बनकर इद्रियो के प्रलोभनो से दूर हो जाता है।[4] वेद और शास्त्रोक्त धर्म निम्न स्तर के लोगो के लिए है जिन्होने अपने को भगवान् मे पूर्ण समर्पण कर दिया है उन्हे वे साधारण धर्म जो प्रत्येक को पालन करने पडते हैं, पालना आवश्यक नही होता। ऐसे लोग भगवान् की सहज कृपा से मुक्त हो जाते हैं और शास्त्रोक्त धर्म पालन न करने पर भी उन सबके फलो को पाते हैं।[5] उसे सर्वदा अपनी त्रुटियो का भान रहता है पर दूसरो के दोष नही देखता।

---

[1] इस गुण को नित्य रगित्व कहा है।

[2] परमैकान्तिन् को जो पाँच सस्कार करने होते है वे ये हैं—

ताप पौण्ड्रस् तथा नाम मत्रो यागश्च पचम
अमी ते पच सस्कारा परमैकान्ति-हेतव।

—वही, पृ० १५।

[3] इसे सबध ज्ञानित्वम् कहा है। सब कुछ ईश्वर के लिए है इसे शेष भूतत्वम् कहा है। वही, १८। इससे यही अर्थ प्रगट होता है कि भक्त भगवान् का दास है, वह उसके प्रियजनो के लिए ही जीवन जिए, जीव और जगत् भगवान् मे अश रूप से आश्रित हैं और उनसे सभी प्रकार से सचालित है, वह तात्त्विक विचार से मानव मात्र की सेवा एव भगवत् सेवा सहज ही अनुमति होती है, इसे शेप-वृत्तिपरत्व कहा है।

—वही, पृ० १९-२०।

[4] इसे नित्यशूरत्व कहा है।

[5] ज्ञान निष्ठो विरक्तो वा मद् भक्तो ह्यनपेक्षक।
सलिगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेत् अविधिगोचर।
इत्येवम् ईषण-त्रय-विनिर्मुक्त सन भगवन्निर्हेतुक कटाक्ष एव मोक्षोपाय इति निष्ठति ननु सोऽधिकारी सर्व धर्माणाम् अवद्यो भवति अष्टादश रहस्यार्थ विवरण पृ० २३। शास्त्रोक्त धर्म त्याग कर भगवान् की भक्ति को 'अविधि गोचर कहा' है। इस ग्रन्थ के अन्य खण्ड मे रामानुज मोक्ष का इस प्रकार वर्णन करते है। मोक्ष वह निश्चय है कि ज्ञान, आनन्द और शक्ति मे भगवान् उन लोग और

वह उनके साथ लगभग अंधे जैसा व्यवहार करता है। वह तो इसी विचार में मस्त रहता है कि उसके सारे कर्म भगवान् के अधीन है। उसके लिए कोई भोग नही है क्योकि वह अनुभव करता है कि भगवान् ही इद्रियो द्वारा सारे भोग भोगता है।[1]

'अष्टाग भेद निर्णय' मे कहा है कि आलवारो के मतानुसार मुक्ति मे भगवान् अपनी खोई हुई वस्तु (आत्मा) पाते है, या मुक्ति भगवान् की असीम दासता है इसलिए मुक्ति भगवान् के लिए अर्थ रखती है भक्त के लिए नही। दास की सेवा केवल भगवान की दासता के लिए है। इसलिए भक्त का यहां कोई स्वार्थ नही है।[2] आर्गीयसो के मतानुसार, यद्यपि मुक्ति मुख्यत भगवान के लिए ही है तो भी वह साथ ही साथ भक्तार्थ भी है क्योकि भक्त भगवान् का दास बनकर अत्यत आनद का अनुभव करता है। स्वामी अपनी खोई हुई वस्तु वापस पा जाते हैं यह दृष्टान्त ठीक नही बैठता क्योकि मनुष्य ज्ञानमय है और भगवान् का दास बनने के अनुभव से उसके दु ख दूर हो जाते है। यद्यपि भक्त समर्पण भाव से अपने कर्मों के फलो को, त्याग देता है तो भी वह भगवान् की दासता पाकर सुखी है और साथ ही साथ ब्रह्मानुभूति के आनद को प्राप्त करता है। इस प्रकार उपासक (ज्ञान मार्गी) ब्रह्मज्ञान एव भगवान् की दासता को पाते हैं और जो प्रपत्ति मार्ग को धारण करते है वे भी ब्रह्मज्ञान और भगवान् की दासता पाते हैं। मुक्तावस्था की स्थिति मे, भगवत् प्राप्ति के भिन्न मार्गों को अपनाने से कोई अन्तर नही आता।[3] पुन आलवार मत मे शास्त्रोक्त चार मार्गों, धर्म पालन, तात्विक ज्ञान, भगवत् भक्ति और गुरु भक्ति के अतिरिक्त पाचवां मार्ग

परलोक के समस्त पदार्थों से अतीत हैं। मुक्ति के लिए भगवान् की शरण लेना मुमुक्षुत्व कहा है। रामानुज का अविधि गोचर सम्बन्धी विचार रामानुज द्वारा भाष्य मे इसी विषय पर उनके अनुयायियो की व्याख्या से विरोध पैदा करता है। हो सकता है उनके विचारो मे परिवर्तन हुआ हो। यहाँ पर दिए विचार उस समय के है, जब वे आलवारो से प्रभावित थे।

[1] इसे पराकाष्ठत्व कहा है (वही २३–२४) मूर्ति को भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है ऐसा मानकर पूजा करना उपाय स्वरूप ज्ञान कहा है। सासारिक पदार्थों से विरक्ति और भगवत्प्रेम से परिप्लावित हो जाना है और भगवान ही जीवन का श्रेष्ठ विश्राम है इसे आत्मारामत्व कहा है।

[2] फल मोक्षरूप तद् भगवत एव न स्वार्थम् यथा प्रणष्ट-दृष्ट-द्रव्यलाभो द्रव्यवन् एव न द्रव्यस्य, तथा मोक्ष फल च स्वामिन एव न मुक्तस्य, यद् वा फल कैंकर्यं तत् परार्थं मेव न स्वार्थम्, परतन्त्र दशाकृत कैंकर्यं स्वतत्र-स्वाम्यर्थं मेव।

—अष्टाग भेद निर्णय, पृ० २।

[3] वही, पृ० ३।

'प्रपत्ति' है। किन्तु आर्गीयस ऐसा सोचते है कि 'प्रपत्ति' के सिवाय केवल एक ही दूसरा मार्ग भगवत्-प्राप्ति का है और वह भक्तियोग है। रामानुज और उनके अनुयायी ऐसा मानते है कि ज्ञान और कर्म योग अत. शुद्धि ही करते हैं जो भक्तियोग की प्रारम्भिक भूमिका है। गुरु भक्ति को प्रपत्ति का एक प्रकार माना है, इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति के दो ही प्रकार हुए, भक्तियोग और प्रपत्ति।[1]

आगे, श्री वैष्णवो मे 'श्री' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु श्री वैष्णव सप्रदाय मे तीन ही तत्वो को माना है इसलिए प्रश्न यह उठता है कि चित्, अचित् और परमेश्वर मे 'श्री' का क्या स्थान है। इस विषय पर पुराने सप्रदाय के प्रतिनिधि रम्य जामातृ मुनि के 'तत्वदीप' ग्रन्थ के आधार पर जीव को ही श्री कहा गया है इसलिए उसका स्वरूप अणु है।[2] अन्य लोगो का कहना है कि 'श्री' सर्वव्यापी विष्णु ही है। भगवान् के प्रति वात्सल्य भाव का अर्थ, पुराने मतवादियो ने यह लगाया है कि प्रेमी-भक्त के दोष भी भगवान् को प्यारे है।[3] पिछले मतवादी वात्सल्य के अर्थ मे भक्त के दोषो की ओर उदासीनता या उनकी ओर अधा होना माना है। पुराने सप्रदाय वादियो ने भगवान् की दया को, भगवान् का दूसरो के दु ख देख स्वय दु खी होना, कहा है। पिछले सप्रदायवादी इसका अर्थ भगवान की क्रियाशील सहानुभूति से करते हैं, अर्थात् भगवान् दूसरो के दु ख न देख सकने से उन्हे मिटाने की इच्छा करते हैं।[4]

---

[1] अत प्रपत्ति-व्यतिरिक्तो भक्तियोग एक एवेति। —वही, पृ० ४।

[2] वही, दूसरे खड मे ऐसा कहा है कि, कुछ लोगो के मतानुसार श्री नही किन्तु नारायण ही हमारे पाप दूर करते हैं, किन्तु दूसरे यह मानते हैं कि श्री द्वारा भी दूरस्थ रूप मे पाप नष्ट किए जा सकते है या श्री ही विष्णु है, इसलिए ऐसा हो सकता है। पुष्प मे सुगध की तरह श्री का विष्णु से सग होने से वह भी पाप दूर करने मे सहायक है।

—वही, पृ० ५।

लक्ष्म्या उपायत्व भगवन त्वे साक्षात् अभ्युपगन्तव्यम्। वही।

[3] यथा कामुक कामिन्या मालिन्यम् भोग्यतया स्वीकारोति तथा भगवान् आश्रित दोष स्वीकरोति, इतरे तु वात्सल्य नाम दोषादर्शित्वम्।

—अष्टाग भेद निर्णय, पृ० ६।

प्रपत्ति जिसे न्यास भी कहते है, पुराने सप्रदाय वालो ने भगवान् की उसे खोजने वालो के प्रति निश्चेष्टता सज्ञा दी है या उसका तात्पर्य चित्त की उस अवस्था से है जिसमे भक्त अपने को केवल जीव ही समझता है परन्तु इस ज्ञान मे कोई भी अहकार जैसी जटिल भावना जिससे व्यक्तिगत सत्ता उभरती है जागृत नही होती है। इसका अर्थ उस मानसिक अवस्था से भी हो सकता है जिसमे भक्त अपने को भगवान् जो हमारा अतिम ध्येय है उसका सहायक मानता है और शास्त्रोक्त कर्म के वधन का भार एक तरफ रखकर भगवान् पर ही अवलम्बन करता है[1] या अपने परम हित मे एक ध्यान हो जाता है और इस अनुभव से हर्ष पूर्ण होता है कि भगवान् ही उसके जीवन का एक अर्थ है। सहज ही ऐसा व्यक्ति बिना स्व विरोध के शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारी नही हो सकता। जिस प्रकार एक अपराधी पत्नी अपने पति के पास वापस जाकर निश्चेष्ट हो अपने पति पर समर्पण कर देती है और अपने को उस पर छोड देती है, ठीक उसी प्रकार एक अधिकाक्षी भगवान् की तुलना मे अपनी सही स्थिति जानते हुए भगवान् के प्रति समर्पण भाव मे स्थित रहता है।[2] अन्य ऐसा सोचते है कि प्रपत्ति के पाच अग है (१) भगवान् ही केवल एक रक्षक है (२) वही हमारा ध्येय है (३) हमारी इच्छाओ का वही श्रेष्ठ विषय है (४) हम अपने को उस पर समर्पण कर छोड दें[3] और (५) भगवान पर पूर्ण विश्वास सहित उच्च प्रार्थना-भावना।

दुख पीडा करता है दूसरे मे प्रतिकूलता से उत्तेजित होकर दया करने की इच्छा है जो भाव और सकल्प के बीच की अवस्था है।

—वही, पृ० ६।

[1] प्रपत्तिर्नाम अनिवारणमात्रम् अचिद्-व्यावृत्तिमात्रम् वा अविधेय शेषत्व-ज्ञानमात्रम् वा पराशेषतैकरतिरूप परि शुद्ध या थात्म्यज्ञानमात्रम् वा।

—वही, पृ० ६।

कुछ लोगो के अनुसार कोई उपरोक्त परिभाषा प्रपत्ति हो सकती है।
अतो प्रतिषेधा ग्रन्य तमैव इति केचित् कथयन्ति। —वही।

[2] अत्यत पर तत्रस्य विरोधत्वेन अनुष्ठानानुपपते, प्रत्युत अनुष्ठातुरानर्थ—क्यमुक्तम् श्री वचनभूषण, चिरम् अन्य परया भार्यया कदाचित् भर्तृ सकाश आगत्य माम् अगीकुरु इति वाक्यवत् चेतनकृतप्रपतिरिति।

—वही, पृ० ६।

[3] दूसरे विकल्प मे इसे इस प्रकार बताया है "अनन्य-साध्ये स्वाभीष्टे महा विश्वास पूर्वकम् तद् एकोऽपायता याञ्चा प्रपत्ति शरणागति।" प्रपत्ति के ये पाच अग हैं जो निक्षेप, त्याग, न्यास या शरणागति नाम से जाने गए हैं (अष्टाग भेद, पृ० ६, ७) पहले और दूसरे विकल्प मे भेद यह है कि पहले के अनुसार प्रपत्ति एक

कुछ लोग प्रपन्न उसे कहते है जिसने आलवार लिखित प्रबधो को पढा है। (अधीत प्रवध प्रपन्न) कुछ ऐसा भी सोचते है कि केवल प्रवध पढने से प्रपत्ति नही आती न उसे प्रपन्न कहा जा सकता है। वे ऐसा सोचते हैं कि प्रपन्न वही है जो कर्म ज्ञान और भक्तियोग के लम्बे मार्गों को नही अपनाता इसलिए इन मार्गो को महत्व नहीं देता। पुनः पुराने सप्रदाय वाले ऐसा मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति का मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म और आश्रय धर्म को त्याग देना चाहिए क्योंकि गीता इस बात का समर्थन करती है। प्रपन्न को सब धर्मों का त्याग करके भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म पालना चाहिए। पुन पुराने मतावलम्बी ऐसा सोचते हैं कि ज्ञान मार्ग प्रपत्ति का विरोधी है, क्योंकि प्रपत्ति मे ज्ञान का निषेध है, प्रपत्ति मे केवल भगवान मे समर्पण भाव को माना है। धर्म और ज्ञान मार्ग में अहकार होता है जो प्रपत्ति का विरोधी है। दूसरे ऐसा मानते है कि भगवान् मे क्रियात्मक समर्पण के भाव मे भी अहकार की मात्रा है इसलिए यह सोचना गलत है कि अहकार के होने से ज्ञान और धर्म मार्ग का प्रपत्ति से समन्वय हो सकता है। इस प्रकार तथाकथित अहकार मे हम केवल अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते है, न कि अहकार की जो एक विकार है।[1] पुनः कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि जिन्होने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उन्हे भी शास्त्रोक्त धर्म का पालन इसलिए करना चाहिए ताकि सामान्य एव अपढ लोग शास्त्रोक्त कर्म की अवहेलना करने की आड न ले सके अर्थात् प्रपत्ति मार्ग वालो को भी लोक-सग्रह के लिए शास्त्र धर्म का पालन करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि शास्त्र धर्म भगवान् का आदेश होने के कारण भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए प्रपत्ति मार्ग को अपनाने वालो को भी मानने चाहिएँ (भगवत् प्रीत्यर्थम्) नही तो वे उसके लिए दोषी रहेगे।

प्रपत्ति के सहायक तत्व इस प्रकार हैं (१) भगवान के अनुकूल रहने का सकल्प (आनुकूल्यस्य सकल्प) (२) भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न करने का सकल्प

(प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्) (३) पूर्ण विश्वास कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे (क्षिप्यतीति विश्वास) (४) रक्षक के रूप मे उससे प्रार्थना (गोप्तृत्व वरणम्) (५) पूर्ण आत्म समर्पण (आत्म निक्षेप) (६) अपने प्रति दीन एव असहाय भाव (कार्पण्यम्)। पुराने सप्रदाय वाले सोचते हैं कि जो प्रपत्ति मार्ग ग्रहण करता है उसे पूर्ति करने के लिए कोई इच्छा नही रहती, इसलिए वह ऊपर कहे सहायक तत्वो मे अपनी रुचि के अनुसार किसी भी एक को ग्रहण कर सकता है। कोई ऐसा भी सोचते है कि जिसने प्रपत्ति-मार्ग अपना लिया है वह भी इच्छा से नितान्त मुक्त नही है क्योकि वह भगवान् का दास बनने की इच्छा तो रखता ही है। यद्यपि वह अन्य किसी प्रकार की इच्छा पूर्ति नही चाहता, किन्तु उपरोक्त छ सहायक तत्वो का पालन उसके लिए भी अनिवार्य हैं।

सप्रदाय के पुराने लोग सोचते है कि भगवान् ही मुक्ति का एक कारण है, प्रपत्ति नही। बाद के सप्रदाय के लोग भी सोचते हैं प्रपत्ति मुक्ति का गौण कारण है क्योकि प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् का कृपा कटाक्ष भक्तो को सुलभ होता है।[1] पुन सप्रदाय के पुराने लोग कहते है कि प्रपत्ति मार्ग वालो के लिए प्रायश्चित आवश्यक नही है क्योकि भगवान् की कृपा समस्त पाप कर्म का निवारण कर देती है। बाद के लोगो का यह कहना है कि अगर प्रपत्ति मार्गी प्रायश्चित करने के लिए शारीरिक क्षमता रखता हो तो उसके लिए प्रायश्चित करना अनिवार्य है। पुराने मतवादियो के अनुसार यदि कोई म्लेच्छ भी आठ प्रकार की भक्ति से सम्पन्न है, वह एक ब्राह्मण से अच्छा है और उसका सम्मान करना चाहिए। परवर्तियो का यह मत है कि निम्न जाति के भक्त को योग्य ज्ञान देना चाहिए किन्तु वह ब्राह्मण की बराबरी नही कर सकता। अणु रूप जीव का भगवान् द्वारा व्याप्त होने के विषय मे पुराने लोगो का यह विचार है कि भगवान् अपनी शक्ति द्वारा जीव मे प्रवेश कर सकते हैं। परवर्ती ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार की व्याप्ति केवल बाह्य है। भगवान् के लिए जीव मे प्रवेश करना अशक्य है।[2] कैवल्य के विषय मे पुराने लोग कहते हैं कि वह स्वस्वरूप का ज्ञान है जो इस कक्षा पर पहुँच जाता है उसे वहाँ नित्यता और अमरता की परमावस्था प्राप्त हो जाती है। परवर्ती कहते हैं जिसे स्वस्वरूप की पहचान है उसे इस साधन से अमरत्व नही मिलता क्योकि स्वस्वरूप का ज्ञान का अर्थ यह नही है कि उसे भगवान् के सम्बन्ध मे अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसे यही अनुभव होगा कि वह उच्च लोक मे गतिमान है तथा, अन्त मे भगवान् के धाम वैकुण्ठ मे पहुँच जाएगा वहाँ

---

[1] अष्टाग भेद निर्णय, पृ० १०।

[2] अष्टाग भेद निर्णय, पृ० १२। इस मत का समर्थन वरदाचार्य की 'अधिकरण चिन्तामणि' ने किया है।

उन्हें भगवान् का दास स्वीकार कर लिया जाएगा। इस स्थिति को नित्य माना जा सकता है।[1]

और बंगाल और पुरी इत्यादि उत्तर देशों का तीर्थ किया। घर पर वापस आकर उन्होंने यह पाया कि कुछ श्री वैष्णव, जो राजगोपाल मंदिर में पश्चिम से आए थे वे करिमर्रनक रचे १० पद गाते थे। नाथमुनि ने उन्हें सुना और यह सोचा कि वे कोई बृहत् ग्रंथ के अंग हैं इसलिए उन्होंने उनका संग्रह करने का विचार किया। वे कुम्भ को गए और भगवान की प्रेरणा से ताम्रपर्णी के तट पर कुरका की ओर बढ गए जहाँ नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवियारंवार से भेंट हुई और उनसे पूछा कि नाम्मालवार रचित श्लोक उपलब्ध हैं या नहीं। मधुर कवियारंवार ने उनसे कहा कि गीतों का एक बृहत् ग्रन्थ लिखकर और उन्हें उनका पाठ कराके नाम्मालवार ने मुक्ति पाली। इसलिए यह ग्रन्थ लोगों के जानने में आया। आसपास के लोगों को यह गलतफहमी थी की इस ग्रन्थ का अभ्यास वेदधर्म-विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने उसे ताम्रपर्णी में फेंक दिया। इस ग्रन्थ का एक ही पन्ना जिसमें दस श्लोक थे एक आदमी के हाथ लगा। उसने उसे सराह कर गाया। इस प्रकार केवल दस गीत ही बच पाए। नाथमुनि ने नाम्मालवार की आराधना में मधुर कवि चारंवार रचित एक पद का १२ हजार बार पाठ किया। जिसके फलस्वरूप नाम्मालवार ने पूरे ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकट कर दिया। जब नाथमुनि सारे ग्रन्थ को जानना चाहते थे तब उन्हें एक कारीगर के पास जाने को कहा गया जो समस्त पदों को प्रगट करने के लिए नामालवार ने प्रेरित हुआ था। इस प्रकार नाथमुनि ने उस कारीगर से नाम्मालवार रचित पूरा ग्रन्थ पा लिया। उन्होंने फिर उसे अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया, पुण्डरीकाक्ष ने उसे अपने शिष्य राम मिश्र को दिया, राम मिश्र ने यामुन को, यामुन ने गोष्ठीपूर्ण को, गोष्ठीपूर्ण ने अपनी पुत्री देविका श्री को दिया। नाथमुनि ने इन पदों का संग्रह किया और अपने दो भतीजे, मेलैयागत्तालवार और किलेयगत्तालवार की सहायता से, उसे वैदिक पद्धति से संगीत का रूप दिया। इसके बाद ये पद मंदिरों में गाए जाने लगे और इन्हें तामिल वेद के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।[1] किन्तु प्राचीनतम गुरु परम्परा और 'दिव्य सूरि चरित' कहते हैं कि नाथ मुनि ने नाम्मालवार का ग्रन्थ उनसे साक्षात् पाया। उत्तरकालीन श्री वैष्णवों के मत में आलवारों की प्राचीनता के साथ इस कथन का मेल नहीं बैठता और उन्होंने यह माना कि मधुर कवियारंवार नाम्मालवार के साक्षात् शिष्य नहीं थे और नाथमुनि ३०० साल तक जीते रहे। किन्तु पहले हमने जैसा पाया है, यदि नाम्मालवार का समय नवमी शताब्दी रखा जाय तो उपरोक्त मान्यता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। गोपीनाथ राउ जी दसवीं शताब्दी के मध्य भाग के एक मुख्य शिलालेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार उस पद का रचयिता, श्रीनाथ का शिष्य था। अगर यह श्रीनाथ और नाथमुनि एक ही व्यक्ति हैं तो नाथमुनि का समय दसवीं शताब्दी में मानना सही है। उनके ११

उसे जो कुछ सिखाया गया था वह यामुन को सिखाने का आदेश दिया। किन्तु, यामुन पुण्डरीकाक्ष के समय मे जन्मे नही थे। पुण्डरीकाक्ष ने नाथमुनि के विषय मे पुरानी भविष्यवाणी के आधार पर उनके जन्म के बारे मे भविष्यवाणी की थी। राम मिश्र के यामुन के अतिरिक्त चार शिष्य थे जिनमे लक्ष्मी प्रमुख थी।[1] वह श्रीरगम् मे रहते थे और वेदान्त का उपदेश देते थे।

यामुनाचार्य, जो आलवान्दार भी कहलाते थे वे ईश्वर मुनि के पुत्र और नाथमुनि के पौत्र थे और ई० स० ९१८ मे सम्भवत जन्मे थे और ई० स० १०८० मे स्वर्गधाम पहुँचे ऐसा कहा जाता है। उन्होने राम मिश्र से वेदाध्ययन किया, विवाद मे उनकी बडी ख्याति थी।[2] राजा होने पर उनका विवाह किया गया और उनके दो पुत्र वररग सौत्ट्ठपूर्ण हुए, उन्होने लम्बे काल तक वैभवपूर्ण जीवन बिताया और राम मिश्र को भूल गए। किन्तु राम मिश्र बडी कठिनाई से उनके पास पहुँचे और उन्हे भगवत् गीता का अध्ययन कराने का मौका लिया जिससे उनमे विरक्ति उत्पन्न हुई। वे फिर राममिश्र के साथ ही श्री रगम् गए और सब कुछ त्याग कर एक महान् भक्त हो गए।[3] राम मिश्र का अतिम उपदेश उन्हे यह था कि वे कुरुकानाथ (कुरुगै क्कवल-अप्पन) के पास जाएँ और उनसे अष्टाग योग सीखें जो नाथमुनि ने यामुन के लिए

---

[1] (१) तैवत्तुक्क अरसु नम्बी (२) गोमथ त्तुत-तिरुविन्नगरअप्पन् (३) सिरुप पुल्लुर-उदय पिल्लै (४) व गी-पुरत्तच्छी।

—देखो गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० १४।

[2] प्रपन्नामृत मे यामुन के शास्त्रार्थ के बारे मे जब वे १२ साल के थे, एक कहानी है। वहाँ के राजदरबार मे एक पडित अक्कै अलवन नाम के थे जिनका शास्त्रार्थ मे नाम था। यामुन ने उन्हें खुले दरबार मे चुनौती देकर परास्त किया। उन्हे आधा राज्य इनाम मे दिया गया। वे युवाकाल मे बडे अभिमानी थे ऐसा पता प्रपन्नामृत के शब्दो से प्रतीत होता है। चुनौती के ये शब्द है—

आशैलादद्रि कन्या चरण किसलय न्यास धन्योपकठाद्
आरक्षो नीत सीता मुख कमल समुल्लासहेतोश्च सेतो ॥
आ च प्राच्य प्रतीच्य क्षितिधर युग तदर्क चद्रावतसान्
मीमासाशास्त्रयुग्मश्रमविमल मनामृगयताम् मादृशोऽन्य ॥

—अध्याय ३।

[3] प्रपन्नामृत मे एक कथा है कि जब यामुन राजा बन गए और किसी से नही मिलते थे तब राममिश्र को चिन्ता हुई कि वे किस प्रकार गुरु आदेश को पालकर यामुन को भक्ति मार्ग की दीक्षा दें। वे यामुन के रसोइए के पास गए और छ मास तक अलर्श शाक नाम की सब्जी यामुन को भेंट करते रहे जो उन्हे पसद आई। छ

गीत सग्रह मे यामुन कहते हैं कि भक्ति ही जीवन मे उच्च ध्येय को पाने का अतिम साधन है जो शास्त्रोक्त धर्म पालन तथा स्व-धर्म से ज्ञान से उत्पन्न होती है।[1] यामुन के मतानुसार गीता मे योग का भक्ति योग कहा है। इसलिए गीता का अतिम ध्येय, श्रेष्ठ साध्य रूप मे भक्ति का महत्त्व प्रतिपादन करना है, जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म पालन करना तथा भगवान् सर्वथा आश्रित आत्मा की सही आध्यात्मिक प्रकृति का ज्ञान एक प्रारम्भिक भूमिका है।

प्रपन्नामृत मे कहा है कि यामुन रामानुज की भेंट करने को उत्सुक थे किन्तु जब रामानुज उनसे मिलने आए वे उससे पहले ही मर गए। रामानुज उनके अन्त्येष्टि कर्म में ही शामिल हो सके।

रामानुज[2]

पहले कहा जा चुका है कि यामुन के शिष्य महापूर्ण (नम्बी) के दो बहनें कान्तीमति और द्युतिमति थी, पहली केशव यज्वन् या भूतपुरी के आसुरी केशव से ब्याही थी और दूसरी कमलाक्ष भट्ट से ब्याही थी। रामानुज (इलयपेरुमाल) केशव यज्वन् के पुत्र ई० स० १०१७ मे जन्मे थे। उन्होंने अपनी माता की बहिन के पुत्र

उनकी सहगामिनी है। वे उन सब विचारो का खण्डन करते हैं जो लक्ष्मी को नारायण का एक अश मानते हैं। लक्ष्मी और माया को भी तादात्म्य नही मानना चाहिए। लक्ष्मी, नारायण के निकटतम सम्पर्क मे है ऐसा माना है और वह एक माता की तरह, भक्त को भगवान् की कृपा के वियोग मे लाने मे अपना प्रभाव डालती है। इस प्रकार लक्ष्मी का अपना पृथक् व्यक्तित्व माना है यद्यपि वह व्यक्तित्व नारायण के व्यक्तित्व से समरस है। उसके तथा नारायण के प्रयत्न भगवान् के ही अनुरूप है (परस्परानुकूलतया सर्वत्र सामरस्यम्)। लक्ष्मी को जीव माना जाय, तो अणु रूप होने से वह सर्व व्यापी कैसे हो सकती है, और यह मत कि वह नारायण का अश है, इस विवादग्रस्त विषय पर, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लक्ष्मी न तो जीव है और न नारायण है, वह एक पृथक् व्यक्ति है जो भगवान् पर पूर्णत आश्रित है। उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध सूर्य का रश्मि और फूल का सुगध के जैसा समझा जा सकता है।

[1] स्वधर्म ज्ञान वैराग्य साध्य भक्त्येक गोचर ।
नारायण पर ब्रह्म गीता शास्त्रे समुदित ॥

—गीतार्थ सग्रह, पद १ ।

[2] रामानुज के जीवन के बहुत से प्रसग अनताचार्य के प्रपन्नामृत से जो उनके कनिष्ठ समकालीन थे, सगृहीत किए गए हैं।

गोविन्द भट्ट के साथ, वेदान्त के निष्णात पंडित यादव प्रकाश से शिक्षा पाई थी। यादव प्रकाश के मत का विवरण परिचय हमें ज्ञात नहीं है किन्तु सम्भवतः वे एकतत्व-वादी थे।[1] यादव प्रकाश के पास शिक्षा लेने के पहले ही १६ साल की आयु में उनके पिता ने रामानुज का व्याह करा दिया था। विवाह कार्य के पश्चात् उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके गुरु यादव प्रकाश कांची में रहते थे। इसलिए रामानुज अपने कुटुम्ब के साथ भूतपुरी छोड़कर कांची आ गए। ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भिक काल में रामानुज से यादव प्रकाश रुष्ट हो गए थे क्योंकि रामानुज ने किसी राजा की पुत्री को भूत बाधा से मुक्त कर दिया जबकि यादव प्रकाश इस कार्य में असफल रहे। शीघ्र ही रामानुज और यादव प्रकाश के बीच, उपनिषद् के किसी पाठ के अर्थ बोध पर मत भेद हो गया जिसे यादव प्रकाश ने एकतत्ववाद सिद्धान्त से समझाया, किन्तु रामानुज ने उसे विशिष्टा द्वैत सिद्धान्तानुसार ही व्याख्या की। यादव प्रकाश रामानुज से बहुत रुष्ट हो गए, तथा उन्होंने रामानुज को अलाहाबाद की यात्रा के अवसर पर उन्हें गंगा में फेंक देने का षड्यंत्र रचा। गोविन्द ने रामानुज को यह षड्यंत्र बता दिया। रामानुज अनेक कष्ट सहन करते, अपने साथियों से बिछुड़ कर कांची चले गए। कांची में वे शूद्र जाति के कांचीपूर्ण नामक एक परम भक्त के सम्पर्क में आए। कुछ समय बाद रामानुज का अपने गुरु से समझौता हो गया और उन्होंने उनसे विद्या पढ़ी। जब यामुन एक बार कांची आए थे तब उन्होंने दूर से रामानुज को विद्यार्थियों के साथ जाते देखा था किन्तु इससे अन्य कोई सम्पर्क न हुआ। उसी समय वे रामानुज को अपना बनाने को बहुत उत्सुक थे। रामानुज एक बार फिर अपने गुरु से कप्यासम पुण्डरीकम् (छा० उ० पृ० १६७) पाठ के अर्थ बोध पर अलग हो गए। लड़ाई के परिणाम स्वरूप यादव ने उन्हें निकाल दिया। तब से वे कांची में हस्ति शैल के नारायण की भक्ति में लग गए। यहाँ उन्होंने, महापूर्ण से यामुन का स्तोत रत्नम् पहली बार सुना, जो उनके मामा थे और यामुन के शिष्य थे। महापूर्ण से रामानुज ने यामुन के विषय में बहुत कुछ सीखा और उनके साथ श्री रंग की ओर गए। किन्तु वे श्री रंगम् पहुँचे उससे पहले यामुन शान्त हो गए। ऐसा कहा

---

[1] यादव मानते थे कि ब्रह्मन् अनन्त गुण सम्पन्न होते हुए भी सर्व प्रकार के जीव और सर्व प्रकार की जड़ वस्तु में परिणत होता है। उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तब ही होता है जब हम यह समझ जायें कि वह विभिन्न जड़ और चेतन वस्तु में परिणत होते हुए भी एक है। अन्ये पुनरैक्यावबोधे याथात्म्य वर्णयन्तः स्वाभाविक-निरतिशय-परिमितोदार-गुण सागर ब्रह्मैव सुरनर तिर्यक् स्थावर नारकी स्वर्ग्यप-वर्गी चैतन्यैक स्वभाव स्वभावतो विलक्षण मविलक्षण च वियदादि नाना विधामल-रूपापरिणामा स्पद चेति प्रत्यवतिष्ठन्ते।

—रामानुज वेदार्थ संग्रह, पृ० १५, मेडिकल हाल प्रेस, १८९४।

जाता है कि यामुन की मृत्यु के बाद उनकी तीन अगुलियाँ टेढी हुई पाई गई। रामानुज ने यह सोचा कि यामुन की तीन इच्छाऐं अपूर्ण रही, वे (१) लोगो को वैष्णव के प्रपत्ति सिद्धान्त मे परिवर्तन करना और उन्हे आलवारो के ग्रन्थो से पूर्ण परिचित कराना, (२) ब्रह्म सूत्र की श्री वैष्णव सप्रदाय के अनुसार टीका लिखना (३) और श्री वैष्णव सप्रदाय पर बहुत से ग्रन्थ लिखना थी। इसलिए रामानुज ने इन तीन इच्छाओ को पूर्ण करने की ठान ली।[1] वे कांची वापस आए और यामुन के शिष्य कांचीपूर्ण के शिष्य हो गए। इसके बाद वे श्री रगम् की ओर गए और रास्ते में महापूर्ण से उनकी भेंट हुई जो कांची जाकर उन्हे श्री रगम् लाना चाहते थे। तब महापूर्ण ने उन्हे वैष्णव पच सस्कार की दीक्षा दी। रामानुज (आचार्य) अपनी पत्नी का महापूर्ण की पत्नी के प्रति तथा याचको के प्रति अशिष्ट व्यवहार के कारण रुष्ट हो गए, और उसे कपट से उनके पिता के घर भेज दिया। इस प्रकार उन्होने ३०, ३२ साल मे ही सन्यास ले लिया। सन्यासी बनने के बाद, अपनी बहन के पुत्र दाशरथि[2] को और अनन्त भट्ट के पुत्र कुरनाथ को शास्त्र का उपदेश देना प्रारम्भ किया। यादव प्रकाश भी रामानुज के शिष्य हो गए।[3] अन्त मे रामानुज श्री रगम् के लिए चल दिए और रगेश की भक्ति मे अपना जीवन दे दिया। उन्होने गोष्ठीपूर्ण से कुछ तत्र मत्र सीखा जो गोष्ठीपूर्ण ने अपने गुरु से सीखा था। तत्पश्चात् रामानुज ने एक सस्कृत विशेषज्ञ यज्ञमूर्ति को वाद मे हराया। यज्ञमूर्ति उनके शिष्य बन गए और उन्होने तामिल मे ज्ञानसार और प्रमेयसार नामक दो ग्रन्थ रचे।[4] अब रामानुज के

---

[1] प्रपन्नामृत ६, पृ० २६। गोविन्दाचार्य और घोष ने इस पाठ का गलत अर्थ किया है, क्योकि यहाँ शठकोष का नाम तक नही सूचित है। कुरेश या श्रीवत्साक मिश्र के दो पुत्र थे, एक को रामानुज ने दीक्षा दी और पराशर भट्टार्य नाम दिया और दूसरे को रामदेशिक नाम दिया। रामानुज के मातृपक्ष के भाई गोविन्द के एक छोटा भाई था जिसका नाम बाल गोविन्द था उनके पुत्र को पराकुश पूर्णार्य नाम से दीक्षा दी।

[2] दाशरथि के पिता का नाम अनन्त दीक्षित है।

[3] उनका दीक्षित नाम गोविन्ददास था। परिवर्तन के बाद उन्होने 'यति धर्म समुच्चय' नाम की पुस्तक लिखी। गोविन्ददास को गोविन्द से पृथक् समझना चाहिए जो रामानुज की काकी के पुत्र थे और जो यादव प्रकाश द्वारा शैव पथ मे परिवर्तित किए गए थे और उनके मामा जो यामुन के शिष्य थे, श्री शैलपूर्ण ने उन्हें श्री वैष्णव पथ मे वापस लिया। गोविन्द विवाहित थे किन्तु रामानुज से इतनी प्रीति हो गई कि उन्होने सन्यास ले लिया। श्री शैलपूर्ण ने सहस्त्र गीति पर एक टीका लिखी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य पुण्डरी-काक्ष थे जो महापूर्ण के पुत्र थे।

[4] इनका दीक्षान्त नाम देवराट और देवमन्नाथ था।

कई विख्यात शिष्य हो गए, जैसेकि भक्त ग्राम पूर्ण मरुधग्रामपूर्ण, अनन्तार्य, वरदाचार्य और यज्ञेश। रामानुज ने सर्व-प्रथम गद्यत्रय लिखा। फिर वे कुरेश के साथ शारदा मठ गए, कुरेश को श्री वत्साक मिश्र या कुरुसालवन के नाम से भी जाना गया है। वहाँ उन्होने 'वोधायन वृत्ति' की हस्तलिखि त पुस्तक प्राप्त की और श्री रगम् की ओर चल दिए। मदिर मे पुजारी को पुस्तक का गुम होने का पता चला तव वह उनकी ओर खोज मे भागा और वह प्रति उनसे वापस ले ली। सद्भाग्य से कुरेश ने रास्ते मे जाते समय कई रातें उक्त पुस्तक के अध्ययन मे विताई थी और उसके सदर्भ से परिचय प्राप्त कर लिया था इसलिए वे उसका पाठ कर सकते थे। इस प्रकार रामानुज ने श्री भाष्य की टीका कुरेश को लिखाई।[1] उन्होने वेदान्त दीप, वेदान्त सार और वेदार्थ सग्रह भी लिखा। सम्भवतः श्री भाष्य, रामानुज की, तिरुक्को वलुर, तिरुपति, तिरुपुत्र कुली, कुम्भ कोनम्, अलगार कोइल, तिरुपुल्लनी, आरंवार तिरु नगरी, तिरुकुरुन्तन्गुडी, तिरुवण परिशारम्, तिरुवत्तर, तिरुवनदपुरम्, तिरु वल्लकेणी, तिरु निर्मले मधुरन्तकम और तिरु वैगुण्डी पुरम की वृहत् यात्रा के वाद लिखा गया हो।[2] तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत मे, अजमेर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी की यात्रा की और वहुत से विपथियो को परास्त किया। ये वनारस और पुरी भी गए और पुरी मे एक मठ भी स्थापित किया। उन्होने वलात्, जगन्नाथपुरी में पचरात्र कर्म-काड का प्रचार करने की कोशिश की, किन्तु वे असफल रहे। 'रामानुजार्य दिव्य चरितम्' के आधार पर श्री भाष्य १०१७ शक अर्थात् ई० स० ११५५ मे समाप्त हुआ यद्यपि इसका दो तृतीयाश भाग चोलो के उपद्रव के पहले ही समाप्त हो गया था। किन्तु यह समय गलत होना चाहिए क्योंकि रामानुज शक १०५९ अर्थात् ई० स० ११३७ मे मर गए थे।[3] महापूर्ण (पेरियल नाम्वी) और कुरेश की आँखें सम्भवत चोल राजा कोलुत्तु ग प्रथम ने सन् १०७८–७९ मे फोड दी थी और इस काल में रामानुज को होयशाल देश मे आश्रय लेने को वाध्य होना पडा था। सन् १११७ मे, कोलुत्तु ग प्रथम की मृत्यु के पश्चात् रामानुज श्री रगम् वापस आए, जहाँ वे कुरेश से मिले और श्री भाष्य समाप्त किया।[4] चलारिस्मृति नामक मध्व ग्रन्थ मे ऐसा कहा है कि नन् ११२७ मे अर्थात् शक १०४९ मे श्री भाष्य प्रतिष्ठा पा चुका था।[5]

[1] रामानुज ने कुरेश से यह कह दिया कि जहाँ वोधायन वृत्ति को ठीक न समझ पाएँ वहाँ उन्हे रोक दें। कम से कम एक जगह उनके वीच विवाद हो गया और रामानुज गलत ठहरे।

[2] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान, पृ० ३४ फुट नोट।

[3] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान।

[4] रामानुचार्य दिव्य चरितै (तामिल ग्रन्थ) पृ० २४३, गोपीनाथ राउ द्वारा उद्धृत।

[5] कलौ प्रवृत्त वौद्धा दि मतम् रामानुजम् तथा। शके ह्येको न पचाशदधिकाब्दे

इसलिए यह अधिक सम्भव है कि श्रीभाष्य सन् १११७ और ११२७ के बीच सम्पन्न हुआ। गोपीनाथ राउ मानते हैं कि वह ११२५ मे लिखा गया था।

रामानुज सामान्य गृहस्थी वेष मे श्री रगम् से ताण्डागुर, कालुत्तु ग प्रथम या राजेन्द्र चोल के आतक से भागे जो कृमिकठ, एक शैव राजा भी कहलाता था। वे (रामानुज) हायशाल देश के जैन राजा वित्तिदेव को विष्णुवर्धनदेव नाम देकर वैष्णव पथ मे परिवर्तन करने मे सफल हुए। राऊ का कहना है कि यह परिवर्तन सन् १०९९ के कुछ पहले हुआ होगा।[1] इस राजा की सहायता से उन्होने मेलुकोट (यादवाद्रि) मे तिरु नारायण पेरुमाल का मदिर बनवाया, जहाँ रामानुज १२ वर्ष तक रहे।[2] 'रामानुजार्य दिव्य चरितै' के आधार पर, रामानुज श्रीरगम् से वापस आने के बाद ११ वर्ष तक जीवित रहे, (कोलुत्तु ग प्रथम की मृत्यु १११८ के कुछ समय के बाद) और वे सन् ११३७ मे स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार वे १२० वर्ष के लम्बे समय तक जिए, जोकि कोलुतु ग प्रथम (सन् १०७०–१११८) विक्रम चोल (सन् १११८–११३५) और कोलुतु ग द्वितीय (११२३–११४६) नाम के तीन चोल राजाओ के राज्यकाल ने फैलाया। उन्होने अपने जीवन काल मे कई मदिर और मठ बनवाए और श्रीरगम् के मदिराध्यक का धर्म-परिवर्तन कर सारे मदिर पर अधिकार किया।

रामानुज के उत्तराधिकारी पराशर भट्टार्य थे जो कुरेश के पुत्र थे और जिन्होने 'सहस्त्र गीति' पर टीका लिखी थी। रामानुज अनेक निष्ठावान् पढिनो को अपना शिष्य बनाने मे सफल रहे–जिन्होने रामानुज के तत्व दर्शन और उनकी पूजापद्धति को शताब्दियो तक आगे बढाया। उनका धर्म सार्वलौकिक था, यद्यपि वे पूजा एव दीक्षा के सम्बन्ध मे कुछ अनुष्ठानो को आवश्यक मानते थे, तो भी उन्होने अपने सप्रदाय मे जैन, बौद्ध, शूद्र और अन्त्यजो को भी अपनाया वे स्वय एक शूद्र के शिष्य थे और स्नान के बाद एक

सहस्रके। निराकर्तुम् मुख्य वायु सन्मत स्थापनाय च, एकादश-शते शाके विंशत्यष्ठ युगे गते, अवतीर्णं मध्वगुरु सदा वन्दे महागुरुम्।

–चलारि स्मृति, गोपीनाथ द्वारा उद्धृत, ३५।

[1] किन्तु राइस साहब मैसूर गजेटियर अंक १ मे यह कहते हैं कि यह परिवर्तन सन् १११७ या शक १०३९ मे हुआ। किन्तु राऊ यह कहते हैं कि एपिग्राफिका कर्नाटिका वित्तिदेव का एक शिलालेख है जो शक १०२३ का है(न ३४ अर्सिकेर) जिसमे उन्हे विष्णु वर्धन कहा है।

[2] साधारण मान्यता यह है कि रामानुज श्री रगम् से कुल मिलाकर केवल १२ वर्ष ही बाहर रहे किन्तु राऊ का मानना यह है कि काल लगभग २० साल का होगा, जिसमे से १२ वर्ष यादवादि मे बीते।

[3] देखो–एस० के० आयगर, एम० ए० कृत रामानुजाचार्य नटेसन क० मद्रास।

अछूत मित्र की झोपडी मे समय विताते थे। ऐसा कहा जाता है उन्होंने ७४ धर्म सिंहासनो पर राज्य किया और उनके अनुयायियो मे ७०० सन्यासी, १२००० साधु और ३०० साध्विया (केट्टी ग्रमँस) थी। वहुत से राजा और धनिक उनके शिष्य वने। कुरेश दाशरथि, नाडाडुर, आरंवान और भट्टार प्रवीण पडित थे। यज्ञमूर्ति पुरोहित थे, एक शिष्य रसोई की देखभाल करता था, वाटपूर्ण या अध्रपूर्ण और गोमठम् सिटी यारंवान को अनेक प्रकार की परिचर्या सौंपी गई थी, वनुदास कोषाध्यक्ष थे, अमगी गरम दूध के अध्यक्ष, उक्कल आर्वान् परोसने मे, उक्कलम्मल पखा झलने मे नियुक्त थे।[1] रामानुज ने कितने ही शैवो को वैष्णव वनाया और शैव और वैष्णव के वीच सघर्प मे चौल देश के शैव राजा, कृमिकठ के हाथ वहुत दुःख उठाया, किन्तु कृमिकठ का उत्तराधिकारी उनका शिष्य हुआ और वैष्णव वन गया। इससे श्री वैष्णव धर्म के फैलने मे वहुत सहायता मिली।

रामानुज के जीवन का विशद वृतान्त जिन स्रोतो मे सग्रह किया गया है वे ये हैं: (१) 'दिव्य सूरी चरितै' जो रामानुज के समकालीन गरुडवाह ने लिखा है। (२) 'गुरु परम्परा प्रवधम्,' पिम्बरंजीय पेरुमाल जीयार ने मणि प्रवाल भाषा मे १४वी शताब्दी के पहले भाग मे लिखा है (३) 'पिल्ले लोकम् जीयार का 'रामानुजार्य दिव्य चरितै' नामक तामिल ग्रन्थ (४) आम्बि लै कण्डा डैयप्पन् का आलवारो और अरंगीयसो का सक्षिप्त परिचायत्मक तामिल ग्रथ, जो 'पैरिय तिरु मुडियैंव्य' नाम से जाना गया (५) 'प्रपन्नामृत' अनन्ताचार्य कृत, जो शैल रगेश गुरु के शिष्य और अध्र पूर्ण के अनुवशज थे। (६) 'तिरुवायमोर्री' की टीकाएँ जिनमे अरंगीयसो की व्यक्तिगत स्वगत स्मृतियो का उल्लेख है तथा (७) अन्य शिलालेख आदि।

विशिष्टाद्वैत मत के पूर्वगामी और रामानुज के समकालीन एवं शिष्य

ब्रह्मसूत्र का भेदाभेद वादात्मक अर्थ, सम्भवत शकर के अद्वैतवाद से पहले प्रचलित रहा होगा, भगवत् गीता, जो उपनिषद् का सार है, प्राचीन पुराण और पचरात्र जो इस ग्रन्थ मे उल्लिखित हुए हैं, लगभग भेदाभेदवाद सिद्धान्त पर चलते हैं। वास्तव मे इस वाद का उद्गम पुरुष सूक्त मे देखा जा सकता है। इसके उपरान्त, द्रमिडाचार्य ने जैसाकि यामुन ने 'सिद्धित्रय' मे कहा है, ब्रह्म सूत्र की व्याख्या की और आगे श्री वत्साक मिश्र ने उस पर टीका की। वोधायन की जिन्हें रामानुज ने वृत्तिकार और शकर ने उपवर्ष कहा है ब्रह्म सूत्र पर एक वृहद् वृत्ति है, जो रामानुज

[1] गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० २१८।

के भाष्य का आधार रही है।[1] आनन्दगिरि भी द्राविड भाष्य का उल्लेख करते जो छादोग्योपनिषद् की टीका है जो शकर के पहले एक सरल व्याख्या (ऋजु विवरण थी। सक्षेप शारीरक मे (३-२२७-२७) आत्रेय और वाक्यकार नाम के लेखक उल्लेख है जिसे टीकाकार रामातीर्थ ने ब्रह्मनन्दिन् कहा है। रामानुज ने 'वेदार्थ सग्र मे वाक्यकार का एक पाठ और द्रामिडाचार्य की उस पर टीका, को उद्धृत किया है। वाक्यकार और द्रामिडाचार्य, जिनका उल्लेख रामानुज करते हैं, मानते थे कि ब्रह्म सगुण है, द्रमिडाचार्य जिसने ब्रह्मनदिन् के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी एकतत्त्ववादी थे सम्भवत वे वही व्यक्ति थे जिन्हे आनदगिरि ने छादोग्य उपनिषद् पर शकर के भाष्यो-पोद्धात् नामक ग्रन्थ पर अपनी टीका मे, द्रविडाचार्य नाम से पहिचाना है। किन्तु यह प्रश्न इतनी सरलता से नही निपटता। सर्वज्ञात मुनि ने अपने 'सक्षेप शारीरक' मे वाक्यकार को एकतत्त्ववादी माना है किन्तु उनके सकेत से यह स्पष्ट होता है कि वाक्यकार ने टीका का अधिकतर भाग परिणामवाद की पुष्टि मे लगाया है (भास्कर के समान) और ब्रह्मन् और जगत् के सवध को समझने के लिए सागर और तरग की विख्यात उपमा दी, और केवल छादोग्य के छठे प्रपाठक की टीका करते एक तत्त्ववाद का प्रतिपादन यह कहकर किया कि जगत् सत् और असत् दोनो नही है। आश्चर्य है कि रामानुज ने उसी पाठ को जो सर्वज्ञात्म मुनि से सम्वद्ध है और जो आत्रेय वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य के एकतत्त्ववाद को सिद्ध करता है, उसे अपने 'वेदार्थ सग्रह' मे अपने मत की पुष्टि मे उद्धृत किया है। किन्तु उन्हें ब्रह्मनदिन् न कहकर वाक्यकार कहा है। वाक्यकार को-रामानुज ने द्रमिडाचार्य से भी लक्ष्य

[1] वेंकटनाथ अपनी 'तत्त्व टीका' मे कहते हैं, 'वृत्ति कारस्य बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इतिस्यान् नाम।' अपनी 'सेश्वर मीमासा' में, किन्तु, वे उपवर्ष के मत का खण्डन करते हैं क्योकि वैजयन्ती कोष मे कृतकोटि और हलभूति, उपवर्ष के ही नाम हैं, ऐसा बताया है।

—प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा खड भी देखो, पृ० ४३।

[2] वेदार्थसग्रह पृ० १२८ वाक्यकार का पाठ यह है, 'युक्त तद् गुणोपासनाद्' और द्रामिडाचार्य की उस पर यह टीका है, 'यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्न दैवत गुणगण मनसानुधावेत् तथापि अन्तर्गुणामवे देवताम् भजत इति तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यत इति।' इन पाठो का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर के निर्गुण रूप मे भक्ति की जाए तो भी पूर्ण मुक्ति सगुण रूप के अनुभव से ही होती है।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए० द्रामिडाचार्य को तिरुमंरिस पीरान मानते है जो सम्भवत. ८वी शताब्दी मे रहे किन्तु उनकी पुष्टि जो तीसरी ओरिएन्टल कांग्रेस मद्रास १९२४ के लेखो पृ० ४६८-४७३ पर की गई हैं विश्वस-नीय प्रतीत नही होती।

किया है। यद्यपि सर्वज्ञात्म मुनि उन्हें वाक्यकार ही कहते है, किन्तु उनके टीकाकार रामतीर्थ उन्हें ब्रह्मनदिन् कहते है, किन्तु उनके टीकाकार को द्रामिडाचार्य कहते हैं और वाक्यकार का अर्थ केवल रचनाकार (लेखक) है, ऐसा मानते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मनदिन् को नाम से कभी भी लक्ष्य नही किया है। क्योकि 'सक्षेप शारीरिक' मे सर्वज्ञात्म मुनि द्वारा उद्धृत पाठ रामानुज ने जो 'वेदार्थ सग्रह' मे दिया है, उससे मेल खाता है इससे यह निश्चित होता है कि रामानुज और सर्वज्ञात्ममुनि और आनदमुनि द्वारा लक्षित वाक्यकार एक ही व्यक्ति है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यकार और टीकाकार द्रमिडाचार्य की लेखन शैली ऐसी थी कि एक-तत्त्ववादी यो समझते थे कि वे उनकी पुष्टि करते हैं और श्री वैष्णव ऐसा सोचते थे कि वे उनके अनुसगी हैं। सर्वज्ञात्म मुनि के कथन से हम जानते हैं कि वे-वाक्यकार को आत्रेय भी कहते थे और उन्होने अपने ग्रन्थ के अधिकाश भाग मे भेदाभेदवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शकर ने भी उपवर्ष को ब्रह्मसूत्र और मीमासा दर्शन के एक विख्यात प्रतिपादक के नाम से लक्ष्य किया है तथा मीमासा के एक तत्र और ब्रह्म सूत्र का रचयिता भी माना है।[1] इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही वाक्यकार था जिसने छादोग्य उपनिषद् की टीका लिखी और उसी के टीकाकार द्रमिडाचार्य थे जिनकी शैली स्पष्ट और ऋजु थी यद्यपि उन्होने यह तामिल मे न लिखकर सस्कृत में लिखी। अगर हम रामतीर्थ से एकरूपता को मानते हैं तो हम यह मान लें कि उनका नाम ब्रह्मनदिन् था। किन्तु, वह कोई भी हो वह पुराने मण्डल के बडे आदरणीय पुरुष होगे क्योकि उन्हें सर्वज्ञात्म मुनि ने भगवान कहा है।

उपवर्ष भी आदरणीय पुरुष थे क्योंकि शकर ने उन्हें भगवत्नाम से सबोधित किया है और उन्हें समर्थको मे से पुरुष माना है वे शबर मुनि से कही पहले रहे होगे जो मीमासा

---

[1] अत एव च भगवतोऽपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम इति उद्धार कृत।

—शकर का ब्रह्मसूत्र भाष्य ३–३–५३।

गोविन्द अपनी रत्नप्रभा मे उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। आनदगिरि इससे सहमत हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य १–१–१९ और १–२–२३ मे शकर वृत्तिकारो के मतो का खडन करते हैं। पिछले दो अनुच्छेदो मे दिए वृत्तिकार के मत जो टीकाकार गोविन्दानन्द मानते हैं कि वे वृत्तिकार को ही लक्ष्य करते हैं, उनका इगित है कि जगत् भगवान का परिणाम हैं। किन्तु हम निश्चितरूप से यह नही कह सकते कि शकर द्वारा खडन किए गए ये मत सचमुच के ही थे क्योकि हमारे पास गोविन्दानन्द के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नही हैं, जिनका जीवनकाल १३वी या १४वी शताब्दी रहा।

के टीकाकार जाने जाते है।[1] आनद गिरि और वेंकटनाथ (१४वी शताब्दी) उपवर्ष को वृत्तिकार कहते है और वेंकटनाथ और आगे उन्हे कल्पनावश बोधायन भी मानते है। यदि उपवर्ष वृत्तिकार भी रहे हो तो भी यह शकास्पद है कि वे बोधायन हो। इस विषय मे हमारे पास वेंकटनाथ का अनुमान ही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। शकर ब्रह्मसूत्र १–३–२८ की टीका करते हुए वे स्फोटवाद के खण्डन मे उपवर्ष का प्रमाण देते है।[2] किन्तु यह विषय भी अनिर्णीत है क्योकि शकर तथा श्रीनिवास दोनो ही स्फोटवाद नही मानते। यहां पर कोई भी प्रमाण प्राप्त नही है। इसलिए हम यह नही कह सकते कि उपवर्ष वृत्तिकार हैं या बोधायन।[3] यदि प्रपन्नामृत को प्रमाण माना जाए तो बोधायन की ब्रह्म सूत्र की वृत्ति एक वृहद् ग्रन्थ होना चाहिए और द्रमिडाचार्य का ब्रह्मसूत्र पर ग्रन्थ बहुत छोटा होना चाहिए। इसी कारण से रामानुज ने एक टीका लिखने का प्रयत्न किया जो न ज्यादा लम्बी और न ज्यादा छोटी हो।

अब हमारे पास शठकोप की लिखी एक छोटी हस्तलिखित पुस्तक 'ब्रह्म सूत्रार्थ सग्रह' है यह हम नही जानते कि प्रपन्नामृत मे उल्लिखित द्रमिड टीका यही है। यामुन, 'सिद्धित्रय' मे एक भाष्यकार का उल्लेख करते हैं उनके लिए 'परिमित-गम्भीर-भाषिणा' ऐसे गुण वाचक शब्दो का प्रयोग करते है जिससे यह अर्थ होता है कि वह एक सक्षिप्त और गम्भीर अर्थ पूर्ण ग्रन्थ था। वे आगे और कहते है कि इस भाष्य को श्री वत्साक मिश्र ने विस्तार दिया। सम्भवत इन दोनो लेखको के विचार श्री वैष्णव सप्रदाय से मिलते थे। किन्तु यामुन, टक, भर्तृ-प्रपच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शकर और भास्कर के नामो का उल्लेख करते हैं। भृर्तप्रपच द्वारा ब्रह्मसूत्र के निरूपण का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया है। टक, भर्तृमित्र, भर्तृहरि और ब्रह्मदत्त के निरूपण के विषय मे कुछ भी निश्चित जानकारी नही है केवल हम इतना ही जानते हैं कि वे श्री वैष्णव मत के विरुद्ध थे।

[1] शवर मीमासा सूत्र १–१–५ मे भाष्य मे उपवर्ष को स्फोट के विषय पर चर्चा करते हुए भगवान कहते हैं।

[2] वर्णा एव तु शब्दा इति भगवान् उपवर्षः।

—ब्रह्मसूत्र शकर भाष्य १–३–२८।

डोयसन का कहना है कि स्फोटवाद की चर्चा उपवर्ष से हुई है यह अप्रमाण है।

[3] मीमासा सूत्र १–१–५ के भाष्य मे शवर मुनि एक वृत्तिकार का उल्लेख करते हैं जो शवर के पूर्व हुए थे। शवर उसी सूत्र के भाष्य का उल्लेख करते हुए भगवान् उपवर्ष का नाम लेते है इससे यह माना जा सकता है कि वृत्तिकार और उपवर्ष दोनो एक ही व्यक्ति न थे।

रामानुज ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य मे कहते है कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर वृहत् ग्रन्थ लिखा था जिसे पूर्वाचार्यों ने अति सक्षिप्त रूप दिया। वे आगे ऐसा भी कहते हैं कि उन्होने अपने भाष्य को लिखने मे बोधायन द्वारा किए सूत्र विवरण को निकटता से अनुसरण किया है।[1] रामानुज, यामुन के 'सिद्धि त्रय' का आभार मानते है, यद्यपि उन्होने इसका उल्लेख उनके भाष्य मे नही किया है। यह कहा जाता है कि यामुन के अनेक शिष्य थे। उनमे से महापूर्ण, गोष्ठीपूर्ण, मालाधर, काचीपूर्ण, श्री शैलपूर्ण अथवा ताताचार्य (रामानुज के मामा) तथा श्री रगनाथगायक प्रमुख थे। श्री शैलपूर्ण का पुत्र गोविंद जो रामानुज का भतीजा तथा यादव प्रकाश के साथ अध्ययन काल मे उनका सहपाठी था, बाद मे जाकर उनका शिष्य बन गया।[2] श्री रामानुज के ७४ प्रसिद्ध शिष्यो मे आत्रेय गोत्री प्रणतार्तिहर, कुरेश अथवा श्री वत्साक मिश्र, दाशरथि, अन्ध्रपूर्णया वातपूर्ण, वरदविष्णु यतिशेखर भारत, यादवप्रकाश अथवा गोविंद तथा यज्ञमूर्ति अत्यन्त प्रमुख हैं।[3] इनमे से वाधूलगोत्री दाशरथि और वरद विष्णु अथवा वरदविष्णु मिश्र श्री रामानुज की बहिन के पुत्र थे। वरदविष्णु वात्स्य वरदगुरु नाम से विशेष प्रसिद्ध थे। कुरेश या श्रीवत्साग मिश्र का एक पुत्र आडाल से था जिसका नाम पराशेर भट्टार्य था, जिसने वेदान्ती माधवदास को हराया था। श्री कुरेश बाद मे जाकर रामानुज का उत्तराधिकारी हुआ।[4] पराशर भट्टार्य के एक पुत्र मध्य प्रतोलि भट्टार्य या मध्य वीथिभट्टार्थ था। कुरेश का एक और पुत्र पद्मनेत्र नाम का था, पद्मनेत्र का पुत्र कुरुकेश्वर कहलाता था।[5] कुरुकेश्वर का पुत्र पुण्डरी काक्ष था और उसका पुत्र श्रीनिवास था। श्रीनिवास का पुत्र नृसिहार्य था। सम्भवत. नाम से पता चलता है कि भूरि श्री शैलपूर्ण जो कुरेश के पिता थे, शैल वश के थे।

---

[1] सुदर्शन सूरि ने भाष्य की अपनी टीका मे जो 'श्रुति प्रकाशिका' कही गई है रामानुज भाष्य मे प्रयुक्त पूर्वाचार्य शब्द की व्याख्या 'द्रमिड भाष्यकारादय' की है। बोधायन मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते, इस वाक्य पर यह कहते हैं, 'न तु स्वोत्प्रेक्षित मतान्तरेण सूत्राक्षराणि सूत्र पदानाम् प्रकृति-प्रत्यय-विभागानुगुण वदाम न तु स्वोत्प्रेक्षितार्थेपु सूत्राणि यथा कथ चित् द्योतयितव्यानि।'

[2] यह अत्यत रोचक विषय है कि यामुन के पुत्र वररग ने बाद मे रामानुज को पढाया और अपने कनिष्ठ भाई सोत्तनम्बी को दीक्षा दिलवाई। वररग को कोई पुत्र न था। उन्होने सहस्र गीति को सगीत बद्ध किया।

—प्रपन्नामृत, २३, ४५।

[3] राज गोपाल चारीयर भी तिरु कुरुगैपन पीरान पिल्लै को रामानुज के मुख्य शिष्य बतलाते हैं। उन्होने नाम्मालवार रचित तिरुवाय मोरीं पर टीका लिखी थी।

[4] कुरेश के एक और पुत्र था जिसे श्रीराम पिल्लै या व्यास भट्टार कहते थे।

[5] दक्षिण भारत मे पुत्र को पितामह का नाम देना सामान्य है।

नृसिंहार्य का पुत्र रामानुज कहलाता था। रामानुज के दो पुत्र थे, नृसिंहार्य और रगाचार्य, जो सम्भवत १५वी शताब्दी मे विद्यमान थे। रामानुज के शिष्य यज्ञमूर्ति बडे विद्वान् व्यक्ति थे। जब रामानुज ने उन्हे शिष्य बनाया तो उन्होंने उसका नाम देवव्रत या देवमन्नाथ या देवराज रख दिया और उसके लिए श्रीरगम् मे एक पृथक मठ स्थापित किया। यज्ञमूर्ति ने तामिल मे, 'ज्ञानसार' और 'प्रभेयसार' नाम के दो बडे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। रामानुज के भक्तग्राम पूर्ण, मरुधग्राम पूर्ण, अनतार्य और यज्ञेश ये चार शिष्य थे, इन्होने यज्ञमूर्ति से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली।[1] रामानुज के एक दूसरे शिष्य तिरुकुरुजै पीरान पिल्ले ने नाम्मालवार की तिरुवाय मोरीं की टीका लिखी। आत्रेयगोत्र के प्रणतार्तिहर पिल्लान, नामक रामानुज के अन्य शिष्य का एक पुत्र रामानुज नाम का था जो वत्स्यवरद वश के नडाडुर अम्माल का शिष्य था।[2] इस रामानुज उपनाम पद्मनाभ को रामानुज पिल्लम् नाम का पुत्र था जो किदम्बी रामानुज पिल्लन का शिष्य था। इस पद्मनाभ के एक पुत्र रामानुज पिल्लन् और पुत्री तोतारम्बा थी जो वेंकटनाथ के पिता अनत सूरि से व्याही थी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य और भतीजे, वधुल गोत्र उत्पन्न, दाशरथि के भी एक पुत्र रामानुज नाम का था, जिसका पुत्र तोडप्पा था वारणाद्रीश या लोकार्य कहलाता था। पराशर भट्टार्य के बाद वेदान्ती माधवदास जो नजीआर भी कहे जाते थे, उत्तराधिकारी हुए। माधवदास के उत्तराधिकारी नम्बिल्ला या नम्बूरि वरदार्य या लोकाचार्य हुए। उनके दो पत्नियाँ आण्डल और श्रीरग नायकी थी और एक पुत्र रामानुज नाम का था।[3] नम्बिल्ल का दूसरा नाम कलजित् या कलिवैरी था। वारणाद्रीश नम्बिल्ल या ज्येष्ठ लोकाचार्य के शिष्य बने। वारणाद्रीश पिल्ले लोकाचार्य के नाम से भी जाने जाते थे। नम्बूरिवरद के माधव नाम का शिष्य था। वरद के पद्मनाभ नामक एक पुत्र था, जिसका रामानुजदास नाम का एक शिष्य था। रामानुजदास का एक पुत्र देवराज था, जिसका एक पुत्र श्री शैलनाथ था और श्री शैलनाथ का शिष्य सौम्य जामातृ था रम्य जामातृ मुनि थे जिन्हे वरवर मुनि या यतीन्द्रप्रवण या मनवल महा-मुनि या पेरिय जियार भी कहते थे। ऐसा कहा जाता है कि वे कत्तुर अरंगीय वनवल पिल्ले के पौत्र थे। ये सब कुरेश की 'सहस्त्र गीति व्याख्या' से प्रभावित थे। नम्बूरि वरदार्य या कलजित् के दो और शिष्य उदक प्रतोलि कृष्ण और कृष्ण समाहमय या कृष्णपाद थे। कृष्णपाद के पुत्र लोकाचार्य कलजित् और कृष्णपाद स्वय के शिष्य थे। कृष्णपाद का दूसरा पुत्र अभिराम वराधीश था।

[1] प्रपन्नामृत देखो अ २६।

[2] गोविन्दाचार्य की रामानुज की जीवनी देखो।

[3] उसने दो ग्रन्थ लिखे और जो सारार्थ सग्रह और रहस्यत्रय हैं।

—प्रपन्नामृत ११९, ३।

रामानुज के साले वत्स्य गोत्रोत्पन्न देवराज को एक पुत्र वरद विष्णु मिश्र या वात्स्य वरद था जो विष्णु चित्त का शिष्य था, वे स्वयं कुरेश के शिष्य थे। यह वत्स्य वरद वेदान्त के महान् लेखक थे। कुरेश का एक पुत्र श्रीराम पिलै या वेद व्यास भट्ट था, जिनको एक पुत्र वादि विजय था, जिसने 'क्षमा षोडशी स्तव' नामक पुस्तक लिखी। वादिविजय के एक पुत्र सुदर्शन भट्ट था जो वरद विष्णु के समकालीन वत्स्यवरद का शिष्य था। सुदर्शन भट्ट 'श्रुत प्रकाशिका' के विख्यात लेखक थे। सुविख्यात अण्णयाचार्य भी कलजित के शिष्य पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे, श्री शैल, श्रीनिवास या श्री शैलनाथ, अण्णयाचार्य के पुत्र थे। रम्यजामातृ मुनि के अनेक शिष्य थे जैसे कि रामानुज, परवस्तु प्रतिवादि भयकर अण्णयाचार्य वनमालै जीयार, पेरिय जीयार, कोपिल्य कडाडैण्णन् इत्यादि।[1] वेंकटनाथ के शिष्यो मे से दो मुख्य है—एक उनका पुत्र नैनाराचार्य या कुमार वेदात देशिक, वरदनाथ या वरदगुरु जिसने वेदान्त के बहुत से ग्रन्थ लिखे है और दूसरा ब्रह्म सत्र जीयार था। परकालदास और श्रीरगाचार्य सम्भवत कृष्णपाद या कृष्णसूरि के शिष्य थे जो कलजित् या नम्बूरि वरदार्य के शिष्य थे। अभिराम वराधीश सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र रामानुज के शिष्य थे। श्री वैष्णव सम्प्रदाय का धार्मिक आधिपत्य भिन्न-भिन्न मठो और मदिरो मे उत्तरोत्तर सुविख्यात व्यक्तियो के हाथ मे रहा, जिसमे वेदान्त के महान् प्रचारक और आचार्य हुए। कुछ लोगो ने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की और कुछ ने मौखिक उपदेश देकर सतोष लिया। इनमे कुछ लोगो के ग्रन्थ प्राप्त है और कुछ के विलुप्त हो चुके हैं। ऐसा लगता है कि विशिष्टाद्वैत वाद नवीन विचार धाराओ को जन्म देने मे स्थायी प्रेरणा नही दे सकता तथा इस अर्थ मे इस सप्रदाय के तार्किक एव वाद प्रवीण विचारक शकर और मध्व मत के विचारको से निम्न कोटि के रहे। रामानुज सम्प्रदाय के विकास के सारे इतिहास मे एक भी ऐसा विचारक नही मिलता जिसे श्री हर्ष या चित्सुख तथा जयतीर्थ व्यासतीर्थ की तर्कसगत कुशाग्रता से तुलना की जा सके। वेंकटनाथ मेघनादारि या रामानुजाचार्य जो वदि हस भी कहलाते थे, इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक थे। ये इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक रहे है किन्तु इनमे तत्त्व मीमासा उच्च कोटि की नही पाई जाती। चौदहवी, पन्द्रहवीं और सोलहवी शताब्दी मे, शकर और मध्व सम्प्रदायवादियो मे मिथिला और बगाल के नव्य न्याय दर्शन के प्रत्ययो को स्वीकारने तथा तीव्र तार्किक विश्लेषण और समीक्षण करने की सामान्य रुढि प्रचलित थी। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय मे किसी कारणवश विस्तृत रूप से इस पद्धति को नही अपनाया गया किन्तु फिर भी उत्तरकालीन तात्त्विक विचारो के विकास का यही मुख्य मार्ग था।

---

[1] कुछ शिष्यो के तामिल नाम गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी से सगृहीत किए है।

रामानुज सम्प्रदाय के आचार्यों की गणना करते हुए गुरु परम्परा मे 'परवादि भयकर' का नाम दिया है ये वात्स्य गोत्र के थे और रम्यजामातृ मुनि के शिष्य थे। प्रतिवादि भयकर, शठकोप यति के गुरु थे। यह ग्रन्थ एक दूसरे रम्यजामातृ मुनि का भी उल्लेख करता है जो अनन्तार्य के पुत्र और प्रतिवादी भयकर के पौत्र और श्री वेंकटेश के शिष्य थे। इसमे वत्स्य गोत्रज वेदान्त गुरु रम्य जामातृमुनि और वरदार्य के शिष्य वात्स्यगोत्री वेदान्त गुरु तथा वात्स्गोत्रोत्पन्न प्रतिवादि भयकर के पुत्र सुन्दर देशिक तथा श्री वेंकट गुरु के पुत्र और प्रतिवादि भयकर के पौत्र अपर्यात्मामृताचार्य का भी उल्लेख है। इन वेंकटाचार्य के प्रतिवादि भयकर नाम का पुत्र था। रम्य-जामातृ मुनि के श्री कृष्ण देशिक नाम का पुत्र था। वात्स्य गोत्र के पुरुषोत्तमार्य श्री वेंकटाचार्य के शिष्य थे। श्री कृष्ण देशिक के रम्य जामातृमुनि नाम का एक पुत्र था, जिनका एक पुत्र कृष्ण सूरि था। अनन्त गुए को एक पुत्र था जो वेंकट देशिक कहलाता था। श्रीनिवास गुरु, वेंकटार्य और वात्स्य श्रीनिवास के शिष्य थे, जिनके अनतार्य नाम का पुत्र था। हमे इस सूची को आगे प्रस्तुत करने की आवश्यकता नही है क्योकि यह श्री वैष्णव सम्प्रदाय के तत्त्व दर्शन और साहित्य के विकास की दृष्टि से उपयोगी नही है। पूर्व आचार्यों के नाम सम्मान की दृष्टि से इनका स्थान लेने वाले परवर्ती आचार्यों को दिए जाने के कारण उनका एक दूसरे से पृथक्करण कठिन हो जाता है। किन्तु सम्प्रदाय का इतिहास १६वी शताब्दी या पूर्व १७वी शताब्दी के बाद महत्वपूर्ण न रहा, क्योकि इसके बाद एक वैचारिक आन्दोलन के रूप मे इसका प्रभाव बहुत कुछ घट गया। आलवारो के समय मे श्री वैष्णव पथ मुख्यत भगवान् के गूढ, उन्मत्त प्रेम और आत्म समर्पण का धार्मिक आन्दोलन था। रामानुज के समय मे इसने कुछ समय के लिए बौद्धिक रूप धारण कर लिया, किन्तु फिर धीरे-धीरे अपनी धार्मिक अवस्था के रूप मे उतार पर आ गया। इस सम्प्रदाय ने शकर की तरह, किन्तु मध्व से विपरीत, वैदिक ग्रन्थो के विवरण पर अधिक महत्त्व दिया और बुद्धिवाद को उपनिषद् के पाठ एव उनके विवरण के आधीन रखा। रामानुज सप्रदाय के मुख्य विरोधी शकर-मतानुयायी थे, और हम अनेक ग्रन्थ पढ सकते हैं जिनमे शकर मतवादियो ने रामानुज भाष्य के मुख्य विषयो को तार्किक दृष्टि से, एव उपनिषदो के पाठो के विवरण की दृष्टि से खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उत्तरकाल के कुछ ग्रन्थो के अतिरिक्त, जो विशेष महत्व नही रखते, एक भी ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसमे शकर मतवादियो ने विद्वत्तापूर्ण ढग से रामानुज के मतो का खण्डन किया हो, रामानुज के अनुयायियो ने भी, भास्कर, जादव प्रकाश, मध्व और शैव सिद्धान्तो का कम खण्डन किया है। किन्तु उनके प्रयत्न विशेषत शकर मतवादियो के विरुद्ध ही थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रामानुज ने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'वेदार्थ सग्रह', 'वेदान्त सार' और 'वेदान्त दीप', 'भगवद् गीता की टीका,' 'गद्यत्रय' और 'भगवद् आराधना क्रम'

लिखे ।[1] परम्परागत गणना से रामानुज ई० स० १०१७ मे जन्मे और ११३७ मे परलोक सिधार गए। उनके जीवन के मुख्य प्रसगो का तिथिक्रम लगभग इस प्रकार है, यादव प्रकाश के साथ अध्ययन १०३३, यामुन से भेंट करने श्रीरगम् की प्रथम यात्रा १०४३, दीक्षा १०४९, चौल राज के उपद्रव के भय से मैसूर भाग जाना १०९६, मैसूर होयसल देश के जैन राजा वित्तिदेव का धर्म-परिवर्तन १०९८, मेलूकोट मे मूर्ति प्रतिष्ठा ११००, मेलूकोट मे १११६ तक वास, श्री रगम् वापस आना १११८, मृत्यु ११३७ ।[2] उनका शिष्य और भतीजा दाशरथि और इनका शिष्य कुरेश उनमे १५ या १६ वर्ष छोटा था ।[3] रामानुज का भाष्य जो 'श्री भाष्य' कहलाता है उस पर सुदर्शन सूरि ने टीका लिखी। इस ग्रन्थ को 'श्रुति प्रकाशिका' कहा है और इसे श्री भाष्य की महत्वपूर्ण टीका जाना जाता है।

रामानुज साहित्य

जैसा अभी कहा गया है, रामानुज के भाष्य की मुख्य टीका सुदर्शन सूरि रचित 'श्रुत प्रकाशिका' है। श्रुत प्रकाशिका लिखी जाने से पहले एक दूसरी टीका जो 'श्री भाष्यवृत्ति' कहलाती थी, वह रामानुज के शिष्य राममिश्र देशिक ने उनके आदेशानुसार लिखी थी। यह ग्रन्थ छ. अध्याय मे लिखा गया था वह एक साधारण टीका न थी किन्तु रामानुज के भाष्य के मुख्य विषयो का अध्ययन था। यह राम मिश्र,

---

[1] विष्णवार्चा कृतम् अवनोत्सुकोज्ञानम् श्री गीता-विवरण-भाष्य-दीप-सारान् तद् गद्य-त्रयम् अकृत प्रपन्न-नित्यानुष्ठान-क्रमम् अपि योगिराट् प्रबधान् ।

—दिव्यसूरि चरितै ।

रामानुज के वेदार्थ सग्रह का भी उल्लेख इसी ग्रन्थ मे मिलता है।

इत्युक्त्वा निगम-शिखार्थ-सग्रहाख्यम् ।
भिन्नस्ता कृतिमुररीक्रियार्थम् अस्य ।।

[2] गोविन्दाचार्यर कृत रामानुज की जीवनी। उपरोक्त मतानुसार यामुन १०४२ मे, रामानुज के श्री रगम् मे सर्व प्रथम आने के अनुसधान मे स्वर्गवासी हुए होगे। गोपीनाथ राउ सोचते है कि यह प्रसग १०३८ मे हुआ। चोल उपद्रव का काल गोपीनाथ राउ के मत मे १०७८–७९ मे हुआ, जो रामानुज के मैसूर भगने के साथ मेल खाता है और उनका श्रीरगम् आना १११७ के बाद हुआ होगा, जो चोल राजा कोलुत्तु ग की मृत्यु का समय है। इस प्रकार गोविन्दाचार्यर और गोपीनाथ राउ के मत मे रामानुज के श्रीरगम् मे प्रथम आगमन और मैसूर भगने के समय मे मतभेद है गोपीनाथ राउ का मत अधिक प्रामाणिक दीखता है।

[3] सहस्र गीति भाष्य के उपरान्त कुरेश ने कुरेश विजय भी लिखा।

यामुन के गुरु राम मिश्र से भिन्न है। श्रुत प्रकाशिका का एक और अध्ययन था जो वीर राघवदास कृत 'भाव प्रकाशिका' है। इस ग्रन्थ की समालोचनाओं का शठकोपाचार्य कृत 'भाष्य प्रकाशिका-दूषणोद्धार' नामक ग्रन्थ में उत्तर दिया गया था, जिनका जीवन काल १६वी शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका की एक और टीका वाधुल श्रीनिवास कृत 'तूलिका' थी, जिनका काल १५वी शताब्दी था। श्रुत प्रकाशिका के विषय 'श्रुत प्रकाशिका सार सग्रह' नामक ग्रन्थ मे सक्षिप्त किए गए थे। रामानुज के भाष्य पर फिर एक टीका रामानुज के भतीजे, वात्स्य वरद द्वारा 'तत्वसार' नाम से हुई। टीकाकार के पिता का नाम देवराज और उनकी माता का नाम कमला था जो रामानुज की बहिन थी। वे कुरेश के शिष्य, विष्णु चित्त के शिष्य थे। तत्वसार की फिर आलोचना हुई जो 'रत्नसरिणी' कहलाई, जो वाधुल नृसिंह गुरु के पुत्र, वीर राघवदास ने लिखी, वे वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र वाधुल वरदगुरु के शिष्य थे, उन्होंने भी श्रीभाष्य पर एक टीका 'तात्पर्य दीपिका' नाम की लिखी। वीर राघवदास, सम्भवत अर्ध १४वी शताब्दी या १५वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुए होंगे। अप्पय्यो-दीक्षित ने 'न्याय मुख मालिका' नामक ग्रन्थ मे रामानुज के सिद्धान्त का विद्वतापूर्ण (शास्त्रीय) सग्रह किया। वे मध्य १६वी शताब्दी मे जन्मे थे। विख्यात वेंकटनाथ ने भी अपनी 'तत्व टीका' मे रामानुज भाष्य का निरूपण किया है। श्री भाष्य की एक और 'नयप्रकाशिका' नाम की टीका थी जो मेघनादारि द्वारा लिखी गई थी, वे १४वी शताब्दी के वेंकटनाथ के समकालीन थे।[1] एक दूसरी टीका 'मित प्रकाशिका' नाम की परकाल यति द्वारा लिखी गई है जो सम्भवत १५वी शताब्दी की है। प्रकाश यति के एक शिष्य रग रामानुज नाम के थे, जिन्होंने 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक 'श्रीभाष्य' पर अध्ययन लिखा। श्री निवासाचार्य ने भी श्री भाष्य की आलोचना 'बृहत् विद्या कौमुदी' नामक ग्रन्थ मे की। इस ग्रन्थ के रचयिता कौन से श्रीनिवास थे यह कहना कठिन है क्योकि रामानुज सम्प्रदाय मे कई श्रीनिवास हो गये हैं। वेंकटनाथ के शिष्य चम्पकेश ने भी श्रीभाष्य का निरूपण किया है। शुद्धसत्व लक्ष्मणाचार्य ने भी चम्पकेश के 'गुरु तत्व प्रकाशिका' के आधार पर, श्रीभाष्य पर, 'गुरुभाव प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ रचा। यह ग्रथ वास्तव मे श्रुत प्रकाशिका की टीका है। इनके लेखक शुद्ध सत्व योगीन्द्र के शिष्य थे। वे रामामुज की मौसी के वश के हैं, जिस वश मे वेदान्त के १८ आचार्य हुए। वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे और

---

[1] मेघनादारि का नयद्युमणि नामक विख्यात ग्रन्थ का विस्तार अगले खण्ड मे दिया है। वे आत्रेयनाथ के पुत्र थे उनकी माता का नाम अध्वर नायिका था। उनके तीन भाई हस्त्यद्रिनाथ या वारणाद्रीश, वरदराट् और राम मिश्र थे। इन वारणाद्रीश को दाशरथि के पौत्र जो वाधुल गोत्र के थे, इनसे पृथक् जानना चाहिए। मेघनादारि का दूसरे ग्रन्थ 'भाव प्रबोध' और 'मुमुक्षूपाय सग्रह थे।

सम्भवत १६वी शताब्दी के उत्तरकाल मे हुए थे। उक्त 'गुरु भाव प्रकाशिका' की 'गुरुभाव प्रकाशिक व्याख्या' नामक ग्रन्थ मे टीका की गई है। सुदर्शन सूरि ने भी श्री भाष्य की टीका 'श्रुदीपिका' मे की हो ऐसा लगता है। श्रीशैल वशज, ताताचार्य और लक्ष्मीदेवी के पुत्र, और अण्णयार्य और कोन्डिन श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य श्रीनिवास ने 'तत्त्वमार्तण्ड' नामक श्री भाष्य का सक्षिप्त ग्रन्थ लिखा। उनका जीवन काल सम्भवत १५वी शताब्दी का उत्तरार्ध या १६वी शताब्दी का पूर्वार्ध रहा। उनके पितामह का नाम अण्ण गुरु था। उन्होने 'गत्व दर्पण,' 'भेद दर्पण,' 'सिद्धान्त चिन्तामणि,' 'सार दर्पण' और 'विरोध निरोध' नामक ग्रथ लिखे।[1] उन्हे श्री शैल निवास नाम से भी जाना गया है और उन्होने और भी ग्रथ लिखे जैसे कि 'जिज्ञासा दर्पण,' 'नयद्युमणि दीपिका' और 'नयद्युमणि सग्रह'। नयद्युमणि दीपिका के 'नयद्यु-मणि' को मेघनादारि लिखित नयद्युमणि से सकीर्ण नही करना चाहिए क्योकि यह रामानुज भाष्य का पद्यो मे रचित सक्षेप है जिस पर पद्य मे एक टीका है। 'नयद्युमणि सग्रह' रामानुज भाष्य का गद्य ग्रथ है जिसके पहले चार सूत्रो मे प्रतिवादियो की आलोचनाओ का खण्डन है। नयद्युमणि सग्रह, नयद्युमणि से बहुत छोटा ग्रथ है जिसका उपयोग लेखक विस्तृत व्याख्या के लिए करते है। इस ग्रथ मे आलोचक का नाम दिए बिना रामानुज के विरुद्ध आलोचनाओ का सतत उल्लेख है। नयद्युमणि के लेखक ने विस्तार से विवेचन किया है जिसका इस ग्रथ मे सक्षेप से वर्णन है।[2] इस प्रकार श्री निवास ने तीन ग्रन्थ लिखे, 'नयद्यु मणि,' 'नयद्यु मणि सग्रह' और 'नयद्यु

---

[1] वे अपने विरोध निरोध ग्रन्थ मे 'मुक्ति दर्पण' (हस्तलिखित पृ० ८२) और 'ज्ञान-रत्न दर्पण' (हस्तलिखित पृ० ८७) का उल्लेख करते हैं और 'भेद दर्पण' मे (हस्तलिखित पृ० ६६) 'गुण दर्पण' का उल्लेख करते है। इसी ग्रन्थ मे आगे दूसरे ग्रथो का—'यद्वैत वन कुठार,' 'भेद मणि' (हस्त० पृ० ३७), 'भेद दर्पण' (हस्त० पृ० ६८), 'सार दर्पण' (हस्त० पृ० ६६) और 'तत्व मार्तण्ड' (हस्त० पृ० ८७) का उल्लेख करते हैं। 'सार दर्पण' मे रामानुज सिद्धान्त के मुख्य विषय दिए हैं। 'विरोध निरोध' (हस्त० पृ० ३७) मे, अपने ज्येष्ठ माता अण्ण-यार्य कृत 'विरोध भजन' और स्वय रचित 'सिद्धान्त चिन्तामणि' (हस्त० पृ० १२) का उल्लेख करते है। अपने भाई का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि उनका 'विरोध निरोध,' 'विरोध भजन' को दी गई युक्तियो का केवल हेर फेर ही है, कुछ युक्तियो का विस्तार किया और दूसरो का सक्षेप कर पुर्नव्यवस्था की है। लेखक यह स्वीकारते है कि 'विरोध निरोध' अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णयार्य लिखित 'विरोध भजन' पर ही आधारित है।

[2] भाष्यार्णवमवतीर्णो विस्तीर्णं यदवदम् नयद्युमणौ नक्षिप्य तत् परोक्तिर्विक्षिप्य करोमि तोषणम् विदुषाम्। —नयद्युमणि सग्रह, हस्त०।

मणि दीपिका' । वे अपने 'सिद्धान्त चितामणि' नामक ग्रन्थ मे मुख्यत इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है कि ब्रह्म, जड और चेतन जगत् का एक कारण है । इस ग्रथ मे वे हर जगह शकर के ब्रह्म कारणवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते है ।

देशिकाचार्य ने पुन 'प्रयोग रत्नमाला' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका' लिखी और पुरुषोत्तम ने श्रीभाष्य पर 'सुबोधिनी' नामक टीका लिखी । ये लेखक १७वी शताब्दी के आसपास सम्भवत रहे होगे। वीर राघवदास ने भी श्री भाष्य की 'तात्पर्य दीपिका' मे समालोचना की । वात्स्य वरद के 'तत्वसार' पर 'रत्नसारिणी' नामक अपने अध्ययन मे उनका उल्लेख किया गया है । श्रीनिवास ताताचार्य ने 'लघु प्रकाशिका' लिखी, श्री वत्साक श्रीनिवास ने 'श्रीभाष्य सारार्थ सग्रह' लिखा और शठकोप ने, 'ब्रह्मसूत्रार्थ सग्रह' नाम से श्री भाष्य की टीका लिखी । ये सब लेखक १६वी शताब्दी के उत्तर काल मे हुए होगे ऐसा प्रतीत होता है । श्री वत्साक श्रीनिवास के ग्रन्थ को रगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त-सार' नामक ग्रन्थ मे सक्षिप्त किया । अप्पय दीक्षित ने मध्य १७वी शताब्दी मे रामानुज के विचारो के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर 'नयमुख मालिका' नामक टीका लिखी ।[1] रग रामानुज ने भी एक 'शारीरिक शास्त्रार्थ दीपिका' नामक टीका रामानुज मतानुसार लिखी । उनकी 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक श्री भाष्य पर टीका इसी खण्ड मे उल्लेख की जा चुकी है । उन्होने वेंकटनाथ कृत 'न्याय सिद्धाजन' नामक ग्रन्थ पर 'न्याय सिद्धाजन व्याख्या' टीका लिखी । वे परकाल यति के शिष्य थे और सम्भवत १६वी शताब्दी मे विद्यमान थे । उन्होने तीन और ग्रथ लिखे, जो 'विषय वाक्य दीपिका,' 'छादोग्योपनिषद् भाष्य' और 'रामानुज सिद्धान्त सार' थे । रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, सम्भवत १५वी शताब्दी मे थे । वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे । 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' के रचयिता ये वाधुल श्रीनिवास 'यतीन्द्र मत दीपिका' के रचयिता तथा महाचार्य के शिष्य श्रीनिवासदास से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती रहे होगे । महाचार्य ने 'पराशरार्य विजय' नामक एक ग्रथ लिखा जो रामानुज वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त का निरूपक था । उन्होने श्री भाष्य पर एक और ग्रन्थ लिखा जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्योपन्यास' था । महाचार्य के अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्म विद्या विजय,' 'वेदान्त विजय,' 'रहस्य त्रय मीमासा,' 'रामानुज चरित चुलुक,' 'अष्ठा-दस रहस्यार्थ निर्णय' और 'चण्ड मारुत' जो वेंकटनाथ की 'शत दूषणी' पर टीका है । इन्हे वेंकटनाथ के काका जो रामानुजाचार्य या वादिहसाम्बुवाह से पृथक् जानना चाहिए ।

---

[1] लक्ष्मणार्यहृदयानुसारिणी लिख्यते नयमालिका, 'नयमुख मालिका' कुम्भकोनम से प्रकाशित ।
—१६१५, पृ० ३ ।

'श्री भाष्य वार्तिक' नानक एक ग्रन्थ है जो और ग्रन्थो के असमान, अभी ही प्रकाशित हुआ है, यह ग्रन्थ पद्य मे लिखा गया है किन्तु लेखक ग्रन्थ मे अपना नाम नही देता। सेनानय या भगवत् सेनापति मिश्र ने जो उत्तरकाल के लेखक है, 'शारीरक न्याय कलाप' ग्रन्थ लिखा। विजयीन्द्र भिक्षु 'शरीरक मीमासा वृत्ति' के लेखक थे और रघुनाथार्य 'शरीर शास्त्र सगति सार' के लेखक थे। १६वी शताब्दी के लेखक सुन्दरराज देशिक ने श्री भाष्य पर 'ब्रह्म सूत्र भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक सरल टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने, जो सम्भवत १६वी शताब्दी के लेखक है, 'ब्रह्म सूत्र भाष्य पूर्व पक्ष सग्रह' कारिका नामक पद्य मे एक ग्रन्थ लिखा। ये वेकटाचार्य प्रतीवादीभ केसरी नाम से विख्यात थे। इन्होने 'आचार्य पचाशत्' भी लिखा। चम्पकेश मे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, 'श्री भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने 'श्री भाष्य सार' नामक ग्रन्थ लिखा। श्री वत्साक श्रीनिवासाचार्य 'श्री भाष्य सारार्थ सग्रह' के लेखक थे। श्री रगाचार्य ने 'श्री भाष्य सिद्धान्त सार' और श्री निवासाचार्य ने 'श्री भाष्योपन्यास' लिखा। दो और टीकाऐं हैं, जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्य सग्रह विवरण' और 'ब्रह्म सूत्र भाष्यारम्भ प्रयोजन समर्थन' हैं, किन्तु पाण्डुलिपि मे लेखक के नाम अविद्यमान हैं। १२वी शताब्दी के वेंकटनाथ ने 'अधिकरण सारावो' और सगाचार्य श्री/ निवास ने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। वरदाचार्य या वरदनाथ के जो वेंकटनाथ के पुत्र थे, 'अधिकरण चिन्तामणि' नामक 'अधिकरण सारावली' पर टीका लिखी। इस विषय पर एक दूसरा भी ग्रन्थ है, जो 'अधिकरण युक्ति विलास' है, किन्तु लेखक श्रीनिवास की स्तुति करते हैं, अपना नाम नही देते इसलिए यह जानना कठिन है कि ये कौन से श्रीनिवास थे। जगन्नाथ यति ने ब्रह्म सूत्र पर रामानुज जैसी एक टीका लिखी और यह 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' थी। इससे स्पष्ट होता है कि रामानुज के भाष्य ने अनेक पडितो और विद्वानो को प्रेरणा दी और इस तरह एक विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ। किन्तु दुख के साथ यह कहना ही पडेगा कि इतना बडा आलोचनात्मक साहित्य सामान्य तात्त्विक दृष्टि से अधिक महत्व नही रखता। रामानुज की 'वेदार्थ सग्रह' की टीका १४वी शताब्दी के सुदर्शन सूरि द्वारा 'तात्पर्य दीप' मे की गई थी। वे वाग्विजय या विश्वजय के पुत्र थे और वात्स्य वरद के शिष्य थे। रामानुज के भाष्य के अध्ययन के उपरान्त, जिसका अभी ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होने 'सध्या वदन भाष्य' लिखा। रामानुज की 'वेदान्त दीप' (ब्रह्म सूत्र की सक्षिप्त टीका) पर १६वी शताब्दी के अहोविल रगनाथ यति ने निरूपण किया था। वेंकटनाथ ने रामानुज के गद्यत्रय पर आलोचना की और सुदर्शनाचार्य ने उस पर टीका लिखी, कृष्णपाद ने भी जो उत्तरकाल के लेखक है एक टीका लिखी। रामानुज की गीता की टीका पर वेंकटनाथ ने टीका की। 'वेदान्तसार' मे रामानुज ने स्वय श्री भाष्य के आधार पर ब्रह्म सूत्र की सक्षिप्त टीका दी है।

पद्मनाभ के पुत्र और वेंकटनाथ के मामा, आत्रेय गोत्र रामानुजाचार्य जो वादिहसाम्बुहाचार्य भी कहे जाते है, १३वी या १४वी शताब्दी मे विद्यमान थे, उन्होंने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'नय कुलिश' या 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसे हम पहले बता चुके हैं। उन्होने 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका,' 'सर्व दर्शन शिरोमणि' और 'मोक्ष सिद्धि' ग्रन्थ लिखे, जिसका उल्लेख वे स्वय 'न्याय कुलिश' मे करते हैं।[1] ऐसा लगता है कि 'नय कुलिश' विशिष्टाद्वैत मत का पूर्व ग्रन्थो मे से एक तार्किक या सत्ता मीमासा विषयक ग्रन्थ है किन्तु इस प्रकार के और भी ग्रथ हैं जो रामानुज के पहले या उनके समय मे लिखे गए थे। इस प्रकार नाथमुनि ने न्याय सिद्धान्तो का खण्डन किया है और न्याय दर्शन का एक नया मत स्थापित किया है। विष्णु चित्त ने जो रामानुज के कनिष्ठ समकालीन थे, दो ग्रन्थ 'प्रमेय सग्रह' और 'सगति माल' लिखे हैं। वरद विष्णु मिश्र का समय सम्भवत १२वी शताब्दी का उत्तरार्ध या १३वी शताब्दी के पर्वार्ध होगा। उन्होने 'मानयाथात्म्य निर्णय' लिखा है। वरदनारायण महारक ने भी जो वेंकटनाथ के पहले हुए 'प्रज्ञापरित्राण' लिखा।[2] पराशर भट्टारक ने जो सम्भवत १३वी शताब्दी मे हुए, 'तत्त्वरत्नाकर' लिखा।[3] वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' मे इन सबो का जिक्र किया है किन्तु इनकी पाण्डुलिपियाँ हमे नही मिली है। वात्स्य वरद के ग्रन्थ पृथक् खण्ड मे दिए गए हैं।

वेंकटनाथ जो वेदान्त देशिक वेदान्ताचार्य और कवि तार्किकसिंह भी कहलाते थे, विशिष्ठाद्वैत सप्रदाय के महान् विख्यात व्यक्ति हुए। वे ई० स० १२६८ मे काजीवरम् के टुप्पल नगर मे जन्मे थे। उनके पिता अनन्त सूरि थे, उनके पितामह पुण्डरीकाक्ष थे, वे विश्वामित्र गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। उनकी माता आत्रेय रामानुज की जो वादीकलहसाम्बुवाहाचार्य भी कहे जाते थे, बहिन तोतारम्बा थी उन्हे वे अपने काका आत्रेय रामानुज के साथ पढे और ऐसा कहा जाता है कि वे, पाच वर्ष की उम्र मे, उनके साथ वात्स्य वरदाचार्य के घर गए। लोक कथा ऐसी है कि इस छोटी वय मे भी उन्होने ऐसी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की कि वात्स्य वरद ने यह भविष्यवाणी की कि वे विशिष्टाद्वैत सप्रदाय के शक्ति-स्तम्भ बनेंगे और समस्त मिथ्या वादो का खण्डन करेंगे।[4] ऐसा प्रतीत होता है उन्होने भी वरदाचार्य स्वय

---

[1] मैं मोक्ष सिद्धि की पाण्डुलिपि प्राप्त नही कर सका। सम्भवत यह ग्रन्थ खो गया है।

[2] उन्होने एक दूसरा ग्रन्थ न्याय सुदर्शन लिखा ऐसा माना जाता है, जिसका उल्लेख 'तत्त्व मुक्ता कलाप' (मैसूर १९३३) की प्रस्तावना मे है।

[3] उन्होने एक दूसरा ग्रन्थ 'भगवत् गुण दर्पण' लिखा।

[4] उत्प्रेक्ष्यते बुधजॅन रूप पत्ति भू म्न्य।
घटा हटे समजनिष्ट जडात्मीनिति ॥

के साथ शिक्षा पाई।[1] ऐसा कहा जाता है कि वे उञ्छवृत्ति पतेपे से गलियो मे भिक्षा माग कर निर्वाह करते थे और उन्होने सारा जीवन तात्त्विक एव धार्मिक ग्रन्थो के लेखन मे ही व्यतीत किया। 'सकल्प सूर्योदय' मे वे लिखते हैं कि जब वे इस ग्रथ को लिख रहे थे तब तक उन्होने श्रीभाष्य को तीस बार पढ लिया था। जब वे काची और श्रीरगम् मे रहते थे तब उन्हे प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायो के बीच कार्य करना पडता था। पिल्लै लोकाचार्य ने, जो उनसे वय मे बडे थे और जो तेलगाई सम्प्रदाय के आधार थे और जिनके विरुद्ध वेंकटनाथ लडे थे, उनकी प्रशसा मे एक पद्य लिखा था। विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि वेंकटनाथ १३६९ मे परलोकवासी हुए। कुछ लोगो का यह भी मत है कि वे १३५१ मे मरे। वे लम्बी आयु तक जीवित रहे और जीवन का अधिकाश समय उत्तर भारत की यात्रा मे बिताया, वे विजयनगर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी गए थे। विद्यारण्य की वेंकटनाथ से मैत्री की बात सच या झूठ हो, किन्तु हम यह जानते है कि विद्यारण्य 'तत्त्व मुक्ता कलाप' से परिचित थे। वे 'सर्वदर्शन सग्रह' मे विशिष्टाद्वैत के वर्णन के लिए इसी ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं। जब वेंकटनाथ अधेड अवस्था के थे तब 'श्रुत प्रकाशिका' के लेखक सुदर्शन सूरि वृद्ध हो चुके थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होने वेंकटनाथ को श्रीरगम् बुलाया और उन्हे श्री भाष्य की अपनी टीका सौप दी जिससे उसे अधिक प्रचार मिले। स्वय वेंकटनाथ ने श्री भाष्य पर टीका लिखी, जो 'तत्व टीका' है। यद्यपि वे बडे दयालु और आदर्श व्यक्ति थे तो भी उनके अनेक दुश्मन थे जिन्होने उन्हे अनेक प्रकार से पीडा देने और अपमानित करने की कोशिश की। इसी समय मे प्रपत्ति या ईश्वर शरणागति के अर्थ-बोध के विषय पर श्री वैष्णव विद्वानो मे बहुत बडा विवाद खडा हो गया। मुख्य विषय प्रपत्ति के स्वरूप के भिन्न अर्थ-बोध पर तथा अन्य छोटे भेद कर्मकाण्ड के सम्बन्ध मे जैसे कि तिलक इत्यादि प्रश्न पर दो स्पष्ट पथ बन गए। इन दोनो पथो मे से वाडकलै पथ के नेता वेंकटनाथ और तेंगलाई पथ के नेता पिल्लै लोकाचार्य थे। पीछे से सौम्य जामातृ तेंगलाई पथ के अग्रज माने गए। यद्यपि नेताओ मे आपस मे सहानुभूति बहुत थी किन्तु उनके अनुयायियो ने छोटे-मोटे मत-भेदो

प्रतिष्ठापित वेदान्त प्रतिक्षिप्त-बहिर्मत।
भूयास्त्रैविद्यमान्यस्त्व भूरि कल्याण भाजनम्॥
ऐसा कहा जाता है कि उपरोक्त पद्य मे उन्हे वरदाचार्य से आशीर्वाद मिला था, यहाँ वेंकटनाथ को भगवान् के घर का अवतार कहा है। भारत के वैष्णव सुधारक, राजगोपालचार्यर कृत।

[1] श्रुत्वा रामानुजार्यात् सदसदपि ततस्तत्वमुक्ताकलाप।
व्यातानीद् वेंकटेशो वरदगुरु कृपा लम्भितोद्दाम-भूमा।
—तत्त्वमुक्ता कलाप श्लोक २।

को लेकर तिल का ताड बनाते रहे और हर समय आपस मे लडते रहते थे। यह तो सुविख्यात तथ्य है कि इन पथो का विग्रह अभी तक चालू है।

वेंकटनाथ के समय मे अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर १३१० मे आक्रमण किया। उसने वारगल और द्वार समुद्र को सरलता से जीत लिया और दक्षिण सीमान्त तक बढ गया और लूटमार तथा तबाही फैला दी। १३२६ मे मुसलमानो ने श्रीरगम् पर आक्रमण किया और शहर तथा मदिर को लूटा। लगभग १३५१ मे हिन्दू राजा बुक्का प्रथम ने विजयनगर राज्य बसाया। जब मुसलमानो ने श्रीरगम् मदिर को लूटा तो मदिर के पुजारी रगनाथ की मूर्ति को लेकर मदुरा भाग गए। मूर्ति की प्रतिष्ठा तिरुपति मे की गई और वहाँ उसकी पूजा होने लगी। बुक्का के पुत्र कम्पन के सेनाध्यक्ष गोप्पन, रगनाथ को श्रीरगम् मे वापस लाने मे सफल हुए। यह प्रसग वेकटनाथ द्वारा एक पद्य मे अमर किया गया है जो श्रीरगम् के मदिर की दीवार पर अब भी अकित है। कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यह पद्य उन्होने नही लिखा था किन्तु उनको आरोपित किया गया है। यह वार्ता तामिल ग्रन्थ 'कवि लोलोगु' मे कही गई है और १५वी शताब्दी की वाडकलाई गुरु परम्परा मे भी उल्लिखित है। श्रीरगम् के ग्राम मारकाट के समय वेकटनाथ मुर्दों में छिप गए और अन्त मे मैसूर भाग गए। कुछ वर्ष वहाँ रहने के बाद वे कोइम्बतूर चले गए और वहाँ उन्होने 'अभीति स्तव' लिखा। जिसमे उन्होने मुसलमानो के आक्रमण और श्रीरगम् की दयाजनक स्थिति का वर्णन किया है। जब उन्होने सुना कि गोप्पन के प्रयत्न से रगनाथ श्रीरगम् मे वापस आ गए तो उन्होने उनके प्रयत्न की बहुत प्रशसा करते हुए एक पद्य की रचना की।[1]

---

[1] आनीयानीलश्रृगद्युतिरचित-जगद्-रजनादजनाद्रे।
चेंच्याम् आराध्य कंचित् समयमथ निहत्योद्धनुष्काश्चतुष्कान्॥
लक्ष्मी-भूम्यावुभाम्याम् सह निज नगरे स्थापयन् रगनाथम्।
सम्यग् वर्यां सपर्यां पुनराकृत यशो-दर्पण गोप्पणार्य.॥

—यह पद Epigraphica Indica मे पु० ६, पृ० ३३० पर है।

यह प्रसग दोड्डाचार्य के वेदान्त देशिक, वैभव प्रकाशिका और यतीद्र प्रवण मे इन श्लोको मे कहा है।

जीत्वा तुलष्कान् भुवि गोप्पनेंद्रो,
रगाधिपम् स्थापितवान् स्वदेशे
इत्येवमाकर्ण्य गुरु कवीन्द्रो
घृष्टवद् यस्तम् अहम् प्रपद्ये॥

वेंकटनाथ अनेको विषयो के प्रचुर लेखक थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। काव्य के क्षेत्र मे उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'यादवाभ्युदय', 'हस सदेश', 'सुभाषित नीवि', और 'सकल्प सूर्योदय' है अन्तिम ग्रन्थ दस अको का प्रतीकात्मक नाटक है। 'यादवाभ्युदय' कृष्ण के जीवन के सम्बन्धित ग्रन्थ है जिस पर अप्पय दीक्षित जैसे व्यक्ति ने टीका की थी। 'सुभाषित नीवि' एक नैतिक काव्य है जिसकी श्रीनिवास सूरि ने टीका की, जो श्री शैल वशज थे और वेकटनाथ के पुत्र थे। सम्भवत. वे १५वी शताब्दी मे हुए। वेंकटनाथ का दूसरा काव्य 'हस सदेश' है। 'सकल्प सूर्योदय' मे वे नाटकीय ढग से प्रवोध चद्रोदय की तरह, जीव की अन्तिम पूर्णावस्था प्राप्त करने मे आने वाली कठिनाइयो का वर्णन करते हैं। उन्होंने लगभग ३२ स्तोत्र लिखे जैसे कि 'हय ग्रीव स्तोत्र' और 'देवनायक पचाशत्' और 'पादुका सहस्र नाम'। उन्होने कर्म-काण्डी और भक्तिपूर्ण छन्द भी रचे जैसे कि 'यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा,' 'आराधना क्रम,' 'हरिदीन तिलक,' 'वैश्वदेव कारिका,' 'श्री पचरात्र रक्षा,' 'सच्चरित्र रक्षा और 'निक्षेप रक्षा'। उन्होंने अनेको स्त्रोतो मे प्रपत्ति विषयक पद्यो का भी सकलन किया और 'न्याय विशति' लिखा और उसी आधार पर एक दूसरा ग्रथ लिखा जो 'न्याय तिलक' है, जिस पर उनके पुत्र कुमार वेदान्त देशिक ने टीका लिखी। यह न्याय तिलक की व्याख्या है। 'पचरात्र रक्षा' ग्रन्थ का उल्लेख इस पुस्तक के पचरात्र खण्ड मे किया गया है। उन्होने एक और ग्रथ 'शिल्पार्थ सार' नामक लिखा, दो ग्रन्थ, 'रस भौमामृत' और 'वृक्ष भौमामृत' नामक आयुर्वेद पर लिखे। एक पौराणिक भूगोल पर, 'भूगोल निर्णय' लिखा और तात्विक ग्रथ 'तत्व मुक्ता कलाप' गद्य मे अपनी टीका सहित लिखा, 'टीका सर्वार्थ सिद्धि' कहलाई। इन सवका विस्तार सहित उल्लेख वेंकटनाथ के विशेष खण्ड मे किया है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ 'आनददायिनी या आनद वल्लरी' (हस्तलिखित) या 'नृसिह राजीय या भाव प्रकाश' है जिसमे अतिम ग्रन्थ व्याख्या रूप मे है। आनददायिनी टीका, नृसिह सूरि और तातारम्बा और देवराज सूरि के पुत्र वात्स्य नृसिंहदेव ने लिखी। नृसिहदेव के नाना कौशिक श्रीभाष्य श्रीनिवास थे। वे उनके गुरु भी थे। उनके एक और गुरु अप्पयाचार्य थे। यह देवराज सूरि सम्भवत 'विम्ब तत्त्व प्रकाशिका और 'चरमोपाय तात्पर्य' के लेखक थे। नृसिहदेव के अन्य ग्रन्थ, पर 'तत्त्वदीपिका,' 'भेदधिक्कार न्यक्कार,' 'मणि सारधिक्कार,' 'सिद्धान्त निर्णय,' वेंकटनाथ की निक्षेप रक्षा पर नृसिह राजीय नामक टीका और शतदूषणी पर टीका है। यह नृसिहदेव १६वी शताब्दी मे हुए। 'भावप्रकाश' नामक टीका नव्य रगेश ने लिखी। वह उन्हे कलजित के शिष्य बताते हैं। किन्तु

उपरोक्त 'वैभव प्रकाशिका' टीका के आधार पर वेंकटनाथ १२६६ मे जन्मे और १३६६ में स्वर्गलोक सिधार गए ऐसा सावित होता है। गोप्पणार्य द्वारा रगनाथ की पुन स्थापना १३७१ मे हुई।

यह कलजित् प्रसिद्ध लोकाचार्य से कोई और ही होगे। क्योकि 'भाव प्रकाश टीका' आनददायिनी के विषय का उल्लेख करती है अत उत्तरकाल का ग्रथ है। यह १६वीं शताब्दी के उत्तरकाल मे या १७वी शती के प्रारम्भ में लिखा गया होगा।

वेंकटनाथ ने विशिष्टाद्वैत सप्रदाय का व्यापक नैयायिक ग्रन्थ, 'न्याय परिशुद्धि' लिखा। इस पर देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य, श्रीनिवासदास द्वारा आलोचना की गई है। वह नृसिहदेव के काका और गुरु होगे जो आनददायिनी के लेखक थे। इनकी टीका 'न्याय सार' कहलायी। 'न्याय परिशुद्धि' की दो और भी टीकाएँ थीं, 'निकाश' शठकोप यति द्वारा, जो अहोबिल के शिष्य थे, और कृष्णताताचार्य कृत 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' हैं।

वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' के परिशिष्ट मे 'न्याय सिद्धांजन' लिखा, जिसके विषयव-स्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक् खड मे दी गई है। उन्होने एक और 'परमत भग' नामक ग्रन्थ लिखा और 'खण्डन-मण्डनात्मक शत दूषणी' ग्रन्थ लिखा। ग्रन्थ के नाम से पता चलता है कि इसमे १०० विषयो के खण्डन हैं किन्तु जो पुस्तक मेरे हाथ लगी है उसमे केवल ४० ही खण्डन है। सुविख्यात टीका जो प्राप्त है वह वाधुल श्रीनिवास के शिष्य, रामानुजदास लिखित 'चण्डमारुत' है। समस्त महत्वपूर्ण विवाद जो शत् दूषणी मे हैं वे शकर मत की ओर निर्देश करते हैं। उनका वृत्तान्त पृथक् खण्ड मे दिया है। उसकी एक और टीका नृसिहराज द्वारा है। वह भी 'खण्ड मारुत' कहलाती है और एक 'सहस्त्र किरणी' है जो श्रीनिवासाचार्य ने लिखी है।

वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य की 'तत्त्व टीका' के उपरान्त, श्रीभाष्य के अन्तर्गत विवाद के सामान्य विषय का सक्षेप लिखा जो 'अधिकरण सारावली' है। उनके पुत्र कुमार वेदान्ताचार्य या वरदनाथ ने इस पर टीका लिखी जो 'अधिकरण सारावली व्याख्या' या 'अधिकरण चिन्तामणि' है। उन्होने दो छोटे प्रबध भी लिखे जो 'चकार समर्थन' और 'अधिकरण दर्पण' हैं। ईशोपनिषद् पर टीका, एक यामुन के 'गीतार्थ सग्रह' पर, 'गीतार्थ सग्रह रक्षा' नामक टीका, रामानुज के 'गीता रहस्य' पर टीका 'तात्पर्य चद्रिका' और यामुन की चतुश्लोकी और स्तोत्र रत्नाकर पर टीका 'रहस्य रक्षा' भी उन्ही की कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होने मणि प्रवाल शैली मे ३२ ग्रन्थ रचे जिनमे से कुछ सस्कृत मे अनूदित हुए। ये ग्रन्थ 'सम्प्रदाय परिशुद्धि,' 'तत्त्वपदवी,' 'रहस्य पदवी,' 'तत्वनवनीतम्,' 'रहस्य नवनीतम्,' 'तत्वमातृका,' 'रहस्य मातृका,' 'तत्व सदेश,' 'रहस्य सदेश,' 'रहस्य सदेश विवरण,' 'तत्व रत्नावली,' 'तत्व रत्नावली सग्रह,' 'रहस्य रत्नावली,' 'रहस्य रत्नावली हृदय,' 'तत्त्व त्रय चुलुक,' 'रहस्य त्रय चुलुक, सारदीप,' 'रहस्य त्रय सार,' सार सार, अभय प्रदान सार, तत्व शिखामणि, रहस्य शिखामणि, अंजलि वैभव, प्रधान शतक, उपकार सग्रह, सारसग्रह, विरोध परिहार, मुनि वाहन भोग,

मधुर कवि हृदय, परमपाद सोपान, परमत भग, हस्ति गिरि माहात्म्य, द्रविडोपनिषत् सार, द्रविडोपनिषद् तात्पर्यावली, और निगम परिमल है। अतिम तीन ग्रन्थो मे आलवारो के उपदेशो का सक्षेपीकरण है। वे तामिल भाषा मे २४ कविताओ के रचयिता भी थे।[१]

वेंकटनाथ का एक छोटा निबध भी मिला है जो 'वादित्रय खण्डन' है इसमे शकर, यादव प्रकाश और भास्कर का खण्डन है। अधिकाश युक्तियाँ शकर के विरुद्ध हैं, यादव प्रकाश और भास्कर के सिद्धान्तो का तो स्पर्शमात्र किया है। उन्होंने मीमासा पर दो ग्रन्थ लिखे, जो 'मीमासा पादुका' और 'सेश्वर मीमासा' हैं। अन्तिम ग्रन्थ मे वेंकटनाथ जैमिनि के मीमासा-सूत्र की व्याख्या शबर से भिन्न करते है। उनका मुख्य हेतु मीमासा-सूत्र का इस तरह अर्थ बोध करना था कि वह ब्रह्म सूत्र के विरुद्ध न जाय किन्तु वह ब्रह्म सूत्र का परिपूरक सहायक रहे। इस प्रकार जैमिनि के पहले सूत्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वेदाध्ययन की विधि, वेदो के केवल पढने से पूरी हो जाती है। विधि का अर्थ यह नही कि पाठो के अर्थो के प्रति जिज्ञासा की जाय और मीमासा भी पढी जाय क्योकि पाठो के अर्थ जानने की इच्छा तथा उनके प्रयोग से यह सहज ही उत्पन्न होती है। मीमासा का अध्ययन ब्रह्मचारी के अन्तिम स्नान के बाद भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के रूप मे गुरु गृह मे अपनी अनिवार्य शिक्षा सम्पन्न करने के पश्चात्, वही पर मीमासा का अध्ययन करने के लिए रह सकता है, किन्तु मीमासा की शिक्षा आवश्यक कर्मों का अग नही है। पुन धर्म की व्याख्या करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि धर्म हमे श्रेय तक पहुँचाता है और साथ ही साथ उसका विधि अनुसार होना भी आवश्यक है।[२] यद्यपि कुछ लोग धर्म शब्द अन्य अर्थ मे भी प्रयुक्त करे तो भी उपरोक्त व्याख्यायित धर्म का अर्थ अपरिवर्तनीय रहता है। स्मृति, पुराण, पचरात्र ब्रह्म सूत्र इत्यादि का आदेश धर्म माना जाना चाहिए क्योकि वे वेद पर आधारित हैं जो कि उन सबो का मूल स्रोत है। श्रुति के अलावा किसी अन्य प्रमाण से धर्म की प्रमाणता नही साबित की जा सकती। सन्देह या विवाद उपस्थित होने पर 'मीमासा सूत्र' की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उसका बादरायण के मत से कोई विरोध न हो, क्योकि वे जैमिनि के गुरु थे।

वेंकटनाथ का पुत्र भी वेदान्त का एक महान् लेखक था। वह कुमार वेदान्ताचार्य, वरदाय, या वरदनाथ या वरद देशिकाचार्य या वरदराज सूरि या वरद नायक

---

[१] इन तामिल ग्रन्थो की सूची हमे नही मिल पाई, यह हमने मैसूर से प्रकाशित 'तत्व मुक्ता कलाप' की प्रस्तावना से सग्रहीत किया है।

[२] चोदना लक्षणत्व-विशेषितमेवार्थे साधनत्व धर्म लक्षणम्।

—ईश्वर मीमासा, पृ० १८।

सूरि या वरद गुरु कहलाता था। उन्होने संस्कृत गद्य मे 'तत्व त्रय चुलुक संग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा जिसमे वे वेंकटनाथ के तामिल ग्रथ 'तत्व त्रय चुलुक' का संक्षेपीकरण करते हैं जिसमे जीव, जड और ईश्वर के बारे मे श्रीनिवास सिद्धान्त का वर्णन है।[1] उनकी अन्य रचनाएँ 'व्यवहारैक सत्यत्व खण्डन,' 'प्रपत्ति कारिका,' 'रहस्य त्रय चुलुक,' 'चरम गुरु निर्णय,' 'फलभेद खण्डन,' 'आराधना संग्रह,' 'अधिकरण चिन्तामणि,' 'न्यास तिलक व्याख्या,' 'रहस्य त्रय सारार्थ संग्रह' हैं। अन्तिम तीन रचनाएँ वेंकटनाथ की अधिकरण सारावली, न्यासतिलक, और रहस्य त्रय सार पर टीकाएँ हैं। वरदार्य चौदहवी शताब्दी के अन्त या पद्रहवी के प्रथम भाग तक रहे होगे।

मेघनादारि सम्भवत १२वी या १३वी शताब्दी के पूर्व काल मे विद्यमान थे। उनका सम्पर्क, अपने ज्येष्ठ भ्राता राममिश्र से जो रामानुज के शिष्य थे, निकट का रहा। उन्होने श्रीभाष्य पर 'न्याय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी तथा 'भाव प्रबोध,' मुमुक्षूपाय संग्रह' और 'नयद्युमणि' ग्रन्थ भी लिखे। अन्तिम ग्रथ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर महान् ग्रन्थ है जिसका मुख्य वर्ण्य विपय पृथक् खण्ड मे दिया गया है। वे आत्रेयनाथ और अध्वर नायिका के पुत्र थे। उनके तीन भाई, हस्त्यद्रिनाथ, वरदराट् और राममिश्र थे।

रामानुजदास या महाचार्य ने श्रीभाष्य पर 'ब्रह्मसूत्र भाष्योपन्यास नाम की टीका लिखी। उन्होने एक 'पाराशर्य' नामक ग्रथ लिखा जिसमे उन्होने यह बताने की कोशिश की कि शकर मध्व तथा अन्य आचार्यो की टीकाएँ, बादरायण के सूत्र से मेल नही खाती। इसका थोडा वर्णन इस पुस्तक के चतुर्थ भाग मे मिलेगा। उन्होने 'रामानुज चरित चुलुक,' 'रहस्यत्रय मीमासा भाष्य,' और 'खण्ड मारुत' लिखा जो वेंकटनाथ की शतदूषणी की विद्वत्तापूर्ण टीका है। सुदर्शन गुरु ने उनके 'वेदान्त विजय' पर 'मगल दीपिका' नामक टीका लिखी। उन्होने एक बृहत् ग्रन्थ 'वेदान्त विजय' नामक लिखा जो अनेक स्वतत्र खण्डो का होते हुए भी आपस मे सम्बद्ध है। पहला भाग 'गुरु पसत्ति विजय' है जिसमे गुरु के पास उपसन्न करने की पद्धति की विवेचना है। यह हस्तलिखित ग्रथ बडा मोटा २७३ पृष्ठो का है। विवेचना का प्रकार उपनिषदो जैसा है। दूसरा भाग 'ब्रह्म विद्या विजय' (हस्तलिखित २२१ पृ० वाला) जिसमे वे उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ब्रह्मन् का अर्थ नारायण ही है अन्य कोई देव नही है। तीसरा भाग 'सद् विद्या विजय' ७ अध्यायो वाला है जो तात्त्विक और विवादपूर्ण है। मैंने उत्तरखड मे इसके विषय का वर्णन किया है। अन्तिम खड विजयोल्लास है (हस्तलिखित १५८ पृ०) जिसमे यह सिद्ध करने का प्रयास है कि उपनिपद् नारायण को ही निर्दिष्ट करते हैं। मुझे इस पुस्तक

---

[1] वह [illegible] ५८ तत्व निरूपण या तत्वत्रय नाम से भी जाना जाता है।

का चतुर्थ भाग प्राप्त नही हो सका। सुदर्शन गुरु ने इस वेदान्त विजय पर एक टीका लिखी। यह सुदर्शनाचार्य से भिन्न व्यक्ति है। इन्होने 'अद्वैत विद्या विजय' नामक, एक ग्रथ तीन अध्यायो वाला लिखा जो उपनिषद् के पाठो पर आधारित है। इसके तीन अध्याय, 'प्रपच मिथ्यात्व भग,' 'जीवेश्वरैक्य भग' और 'अनरण्डार्थत्व भग' हैं। इन्होने एक ग्रथ 'उपनिषद् मगल दीपिका' नामक लिखा जो हमे मिल नही सका। वे अपने को कभी वाधुल श्री निवास या कभी उनके पुत्र प्रज्ञानिधि के शिष्य बताते हैं। उनका काल सम्भवत १५वी शताब्दी रहा होगा। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। जिन्होंने 'श्रुत पचाशिका' पर 'तूलिका' नामक टीका लिखी।

रग रामानुज मुनि का जीवन काल सम्भवत १५वी शताब्दी रहा। वे वात्स्य अनतार्य, तातार्चाय और परकाल यति अथवा कुम्भकोन ताताचार्य के शिष्य थे। उन्होने श्री भाष्य पर 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक टीका लिखी और न्याय सिद्धाजन पर, 'न्याय सिद्धाजन व्याख्या' नामक टीका लिखी। उन्होने द्रमिडोपनिषद् भाष्य, विषय व्याख्या दीपिका, रामानुज सिद्धान्त सार और छादोग्योपनिषद् प्रकाशिका नामक छादोग्योपनिषद् पर टीका लिखी, तथा एक वृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशिका टीका लिखी। उन्होने शारीरक शास्त्रार्थ दीपिका नामक एक ब्रह्म सूत्र पर एक स्वतत्र टीका लिखी। आउफ्रेच्ट अपने 'केटेलोगुस केटेलोगोरूम' मे लिखते हैं कि उन्होने ये निम्न ग्रन्थ लिखे (हमे प्राप्त नही हो सके) 'उपनिषद् व्याख्या विवरण,' 'उपनिषद् प्रकाशिका,' 'उपनिषद् भाष्य,' 'द्रविडोपनिषत्-सार-रत्नावली-व्याख्या,' 'कठवल्ली उपनिषद् प्रकाशिका,' 'कौशीतकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'तैत्तिरीयोपनिषद् प्रकाशिका,' 'प्रश्नोपनिषत् प्रकाशिका,' 'माण्डूक्योपनिषत् प्रकाशिका,' 'मुण्डकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्वेताश्वतरोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्रुत भाव प्रकाशिका' और 'गुरु भाव प्रकाशिका'।[1]

रगरामानुज के गुरु परकाल यति ने जो कुम्भकोनम् ताताचार्य भी कहलाते थे निम्न ग्रन्थ लिखे 'द्रविडश्रुति तत्त्वार्थ प्रकाशिका,' 'तिरुप्पराण्डु व्याख्यान,' 'तिरुप्पलवै व्याख्यान,' 'कण्णिणुम-शिर ताम्बु-व्याख्यान' और 'अधिकार सग्रह व्याख्या'। उन्होने विजयीन्द्र की 'परतत्व प्रकाशिका' का खडन करते हुए 'विजयीन्द्र पराजय' लिखा।

माधव कुलोत्पन्न श्रीनिवासदास ने जो देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य थे, न्याय परिशुद्धि पर 'न्याय सार' नाम की टीका लिखी तथा एक टीका और लिखी जो 'शतदूषणी व्याख्या सहस्त्रकिरणी' है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि जिस श्रीनिवासदास ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त,' 'कैवल्यशतदूषणी,' 'दुरुपदेशधिक्कार,' 'न्यास विद्या विजय,' 'मुक्ति शब्द विचार,' 'सिद्धयुपाय सुदर्शन,' 'सार निष्कर्ष टिप्पणी'

---

[1] देखो आउफ्रेच्ट कृत केटे लोगस केरेलोगोरम, पृ० ४८८--८९।

और 'वादाद्रि कुलिश' लिखे, वही 'न्यायसार' के भी लेखक थे। उनका जीवन १४वीं शताब्दी का अन्त और १५वी शताब्दी रहा। इन श्रीनिवास को श्रीशैल निवास से पृथक् रखना चाहिए, जिनके ग्रन्थो का उल्लेख पृथक् खड मे किया गया है। श्रीशैल निवास भी १५वी शताब्दी मे हुए, ऐसा मानना सभव है।

हम एक और श्रीनिवास को जानते है जिन्होने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। उक्त ग्रन्थ की पुष्पिका की एक व्याख्या के अनुसार पर वे वाधुल श्रीनिवास कहे जा सकते है तो फिर उन्हे महाचार्य गुरु होना चाहिए।[1]

एक और श्रीनिवास हुए, जो महाचार्य या रामानुजदास के शिष्य थे और गोविन्दार्य के पुत्र थे। उन्होंने 'श्रुतप्रकाशिका' पर टीका लिखी और 'यतीन्द्रमत दीपिका' या 'यतिपतिमत दीपिका' लिखी। लेखक ऐसा कहते हैं कि श्री वैष्णव मत तथा सिद्धान्त पर इस प्रवेशिका को लिखने के लिए उन्होंने कई प्राचीन ग्रथो से सामग्री का सग्रह किया।[2]

यतीन्द्रमत दीपिका के १० अध्याय हैं। पहले अध्याय मे विभिन्न तत्वो का वर्णन है, प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गई है और यह बताया है कि अन्य प्रकार के प्रमाण यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अनुपलब्धि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किए जा सकते हैं। तत्पश्चात् दूसरे मतो का खण्डन और सतख्याति का निरूपण किया गया है। इसमे शब्द प्रमाण के इस दावे कि प्रत्यक्ष उसी का एक प्रकार है खण्डन करता है मध्यवर्ती सज्ञान की परिभाषा नही मानता और ईश्वर अनुमेय है इस तर्क को स्वीकार नही करता।

दूसरे अध्याय मे अनुमान की परिभाषा दी गई है, और उसका वर्गीकरण करके उसकी प्रामाण्य के नियम दिए है और इन नियमो के उल्लघन से होने वाले दोषो की तालिका भी दी है। उन्होने उपमिति और अर्थापत्ति को अनुमान की परिभाषा मे समाविष्ट किया है और वाद के भिन्न प्रकारो का उल्लेख किया है।

[1] दूसरे अर्थ से वाधुल कुल तिलक यह विशेषण समरपुगवाचार्य को ही दिया जा सकता है। इस श्रीनिवास को मगाचार्य श्रीनिवास नाम से भी जाना गया है।

[2] एव 'द्रविडभाष्य'-'न्याय तत्व'-सिद्धित्रय-श्रीभाष्य-दीपसार-वेदार्थ सग्रह-भाष्य विवरण-सगीत माला-सदर्थ सक्षेप-श्रुत प्रकाशिका-तत्वरत्नाकर-प्रज्ञा परित्राण-प्रमेय सग्रह-न्याय कुलिश-न्यायसुदर्शन-मानयाथात्म्य निर्णय-न्याय सार-तत्व दीपन-तत्व निर्णय-सर्वार्थ सिद्धि-न्याय परिशुद्धि-न्याय सिद्धाजन-परमत भग-तत्वत्रय चुलुक तत्व त्रय निरूपण-तत्वत्रय प्रचड मारुत-वेदान्त विजय-पाराशर्य विजयादिपूर्वाचार्य प्रबधानुसारेण ज्ञातव्यार्थान् सग्रह्य बाल बोधार्थं यतीन्द्रमत दीपिकाख्या शारीरक-परिभाषाया ते प्रतिपादिता।

—यतीद्रमतदीपिका, पृ० स० १०१।

तीसरे अध्याय मे शब्द की परिभाषा मिलती है। वेद की प्रमाणता स्थापित की की गई है और यह प्रयास किया है कि समस्त शब्द नारायण का ही अर्थ बोध कराते है।

चतुर्थ अध्याय सब अध्यायो से लम्बा है। यहाँ न्याय दर्शन के पदार्थों का खडन किया है जैसेकि सामान्य, समवाय और परमाणु का कारणत्व और पदार्थों की उत्पत्ति के विषय मे अपना मत दिया है, वे है चित्त, शरीर, इन्द्रिय और पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एव आकाश आदि पचभूत।

पाचवा अध्याय काल के स्वरूप का निरूपण करता है और उसकी सर्व व्यापकता और अनादित्व को बताता है। छठा अध्याय शुद्ध सत्व के नित्य एव लोकोत्तर गुणो का वर्णन करता है जो ईश्वर और जीव के गुण हैं।

सातवा अध्याय अधिक दार्शनिक है। यहाँ विवाद द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान किस प्रकार गुण और द्रव्य दोनो ही है जिससे वह आत्मा का गुण और स्वरूप भी हो सकता है। यहाँ यह भी प्रयास किया गया है कि चित्त की समस्त अवस्थाएँ और भाव भी ज्ञान रूप हैं। भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है और कर्म ज्ञान और भक्ति पर विस्तृत उल्लेख किया गया है। लेखक ने यह भी बताने की कोशिश की है कि अन्य दर्शन द्वारा कहे गए मोक्ष साधन निरर्थक है।

आठवें अध्याय मे ईश्वर और जीव के सामान्य गुणो का वर्णन है, और जीव के सच्चे स्वरूप पर लम्बी विवेचना की गई है, तथा इस सम्बन्ध मे बौद्धवाद का खडन किया है। वे भक्त और उनके दो वर्गों का वर्णन भी करते है और मुक्त जीव के गुणो का वर्णन करते हैं।

नवमे अध्याय मे ईश्वर की परिभाषा दी है और वह जगत् का उपादान सहकारी और निमित्त कारण है ऐसा सिद्ध किया है। वे अद्वैतवाद के मायावाद का खडन करते हैं और भगवान् के पाच अगो की विवेचना करते है जो विभव, अवतार इत्यादि है। दसवें अध्याय मे द्रव्य के सिवाय १० तत्त्वों की गणना और परिभाषा दी है जैसे कि सत्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श इत्यादि।

एक और श्रीनिवासदास, आण्डान कुल के थे जो 'एत्व तत्व परित्राण' के लेखक थे। उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि नारायण शब्द एक साधारण समस्त पद नही है किन्तु यह स्वय आश्रित विशिष्ट शब्द होता हुआ नारायण को निर्दिष्ट करता है। एक और श्रीनिवास थे जो श्रीनिवास राघवदास और 'चण्ड मार्तण्ड' कहलाते थे जिन्होने 'रामानुज सिद्धान्त सग्रह' लिखा।

इन श्रीनिवास को शठमर्षण कुल के दूसरे श्रीनिवास से भिन्न जानना चाहिए, जिन्होने एक ग्रन्थ लिखा जिसका इस ग्रन्थ के लेखक को परिचय है। यह ग्रन्थ

'आनंद तारतम्य खंडन' है। इस छोटी पुस्तक में शास्त्र के आधार पर इस मत का खंडन किया है कि मुक्तावस्था में भेद है।

कुछ और श्रीनिवास तथा उनके ग्रंथों का लेखक को परिचय है। हो सकता है ये १५वीं या १६वीं शताब्दी में रहे हों। ये श्री सम्मात मिश्र हैं जिन्होंने लघु 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह' नाम का छोटा ग्रन्थ लिखा, श्रीनिवास तातार्य ने 'लघु भाव प्रकाशिका' लिखी, श्री शैल योगेन्द्र ने 'त्याग शब्दार्थ टिप्पणी' लिखी, वेंकटनाथ के पौत्र श्री शैल राघवाचार्य ने 'वेदान्त कौस्तुभ' तथा रंगनाथ के पुत्र श्री नृसिंहराज ने 'सिद्धान्त संग्रह' लिखा और सुन्दरराज देशिक ब्रह्मसूत्र भाष्य व्याख्या (प्रारम्भिक टीका) के लेखक थे। ये सब छोटे लेखक सम्भवतः १६वीं, १७वीं, और १८वीं शताब्दी में हुए।

श्री शैल श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र श्रीनिवास दीक्षित ने 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' लिखी, ये अण्णायार्य के पौत्र थे और आचार्य दीक्षित के शिष्य थे। इस ग्रन्थ को रंगाचार्य लिखित 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' से अलग करना चाहिए जिसका उल्लेख भिन्न खंड में किया गया है। श्रीनिवास सुधी ने भी 'ब्रह्म ज्ञान निरास' लिखा, इसमें लेखक का शंकर मतवादी त्र्यम्बक पंडित से हुए शास्त्रार्थ का वर्णन है। इस पुस्तक में अद्वैतवाद का खंडन 'शतदूषणी' के अनुसार किया गया है। यह कहना कठिन है 'नयमणि कलिका,' 'लक्ष्मणार्य सिद्धान्त संग्रह' और 'हरिगुण मणिमाला' के लेखक इन्हें माना जाए या विरोध निरोध के लेखक श्रीनिवास को माना जाए।

सुदर्शन सूरि, जो १३वीं और १४वीं शताब्दी में विद्यमान थे, हारीत गोत्रज थे। वे वाग्विजय के पुत्र तथा वात्स्य वरद के शिष्य थे, इनका पहले उल्लेख हो चुका है। उन्होंने रामानुज भाष्य पर ग्रंथ लिखा और इसी ग्रंथ से परवर्ती अनुगामियों ने प्रेरणा ली। टीका का नाम 'श्रुत प्रकाशिका' है जिसमें वात्स्यवरद से सुने हुए उपदेश को शब्दशः लिखा गया है।[१] उन्होंने 'सन्ध्यावदन भाष्य,' 'वेदान्त संग्रह तात्पर्य दीपिका,' जो रामानुज के वेदार्थ संग्रह की टीका है, लिखी और दूसरा ग्रन्थ 'श्रुत प्रदीपिका' लिखा। वे वेद व्यास भट्टार्य भी कहलाते थे। इन सुदर्शन को सुदर्शन गुरु जिन्होंने भट्टाचार्य के 'वेदान्त विजय' की टीका लिखी, इनसे पृथक् जानना चाहिए। शठकोप मुनि, जो शठारि सूरि के शिष्य थे, बहुधा शठकोप यति नाम से भी जाने जाते थे, १६वीं शताब्दी के अन्त में हुए। उन्होंने निम्न ग्रंथ रचे 'ब्रह्म लक्षण वाक्यार्थ संग्रह,' 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार,' 'वाक्यार्थ संग्रह,' ब्रह्म सूत्रार्थ संग्रह,' 'ब्रह्म लक्षण

---

[१] गुरुभ्योर्थं श्रुत शब्दैस्तत् प्रयुक्तैश्च योजित।
सौकर्यंय बुभुत्सुनाम् सकलथयो प्रकाश्यते।

—श्रुत प्रकाशिका की प्रस्तावना के श्लोक।

वाक्यार्थ,' 'दिव्य प्रबध' और 'भाव प्रकाशिका दूषणो द्वार।' अन्तिम ग्रन्थ, वरद विष्णु सूरि की श्रुत प्रकाशिका पर, भाव प्रकाशिका नामक टीका की आलोचना का खडन है।

अहोबिल रगनाथ यति ने जो १५वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए 'न्याय विवृत्ति' लिखी। इसमे वेंकटनाथ के 'न्यास तिलक' मे तिरुपति न्यास विषय पर विवेचना है। आदिवराह वेदान्ताचार्य ने 'न्याय रत्नावली' लिखी। कृष्ण ताताचार्य ने जो श्री शैल वश के थे और १५वी शताब्दी मे हुए, 'न्याय परिशुद्धि' पर टीका लिखी, यह 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' है और कुछ छोटे ग्रथ 'दूरार्थ दूरीकरण,' 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार' और णत्व चद्रिका लिखी। कृष्णपाद लोक गुरु ने, जो उसी शताब्दी मे हुए, 'रहस्यत्रय मीमासा भाष्य,' 'दिव्य प्रबध व्याख्या,' 'चतुश्लोकी व्याख्या' और अनेक तामिल ग्रन्थ लिखे। १५वी शताब्दी के चम्पकेश ने 'गुरु तत्व प्रकाशिका' और 'वेदान्त कटकोद्धार' लिखा। अन्तिम ग्रन्थ मे श्री भाष्य की आलोचनाओ का खडन किया गया है।[1] वे वेंकटनाथ के शिष्य थे। एक दूसरे ताताचार्य ने जो वेंकटाध्वरी के पितामह थे (विश्वगुण आदर्श के लेखक) 'ताताचार्य दिन चर्या' लिखी। वे अप्पय्य दीक्षित के मामा थे। पुन देशिकाचार्य ने श्री भाष्य पर 'प्रयोग रत्नमाला' नाम की टीका लिखी, इन्होने वेकटनाथ के तैत्तरीयोपनिषद् की पञ्चिका टीका पर एक पुस्तक लिखी, जो 'अस्ति ब्रह्मे ति श्रुत्यर्थ विचार' कहलाई। दोड्डयाचार्य ने जो १५वी शताब्दी मे हुए 'परिकार विजय' लिखा जिसका उल्लेख महाचार्य के ग्रन्थो मे मिलता है। इन्होने 'वेदान्त देशिक वैभव प्रकाशिका' नाम की रामानुज की जीवनी लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका,' 'गीतार्थ सग्रह,' 'गीता सार रक्षा,' 'गीता सग्रह विभाग,' 'रहस्यत्रय जीवातु' लिखे। वे श्री शैल ताताचार्य के पुत्र थे, अनतार्य के पौत्र तथा रामानुजाचार्य या महाचार्य के शिष्य थे। शायद वे १५वी शताब्दी मे हुए होगे। नृसिहराज, जिन्होने 'शतदूषणी व्याख्या' नाम की शतदूषणी पर टीका लिखी, सम्भवतः वही व्यक्ति थे जिन्होने 'तत्व मुक्ता कलाप' पर आनददायिनी टीका लिखी। नृसिह सूरि अधिक उत्तरकाल के लेखक ने 'शरीर भावाधिकरण विचार' और 'तत्क्रतु न्याय विचार' लिखा। पर वस्तु वेदान्ताचार्य जो आदि वराहाचार्य के पुत्र थे, उन्होंने 'वेदान्त कौस्तुभ' लिखा। पुरुषोत्तम ने 'सुबोधिनी' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी, भगवत सेनापति मिश्र ने 'शारीरिक न्याय कला' लिखी।

---

[1] शुद्ध सत्व लक्षणार्य ने 'श्रुत प्रकाशिका' की, 'गुरु भाव प्रकाशिका' टीका लिखी, जो चम्पकेश की 'गुरु तत्व प्रकाशिका' पर आधारित है। वे शुद्ध सत्वाचार्य के शिष्य और सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र थे। वे अपनी टीका मे वाधुल श्रीनिवास की 'तूलिका टीका' का उल्लेख करते हैं। वे सम्भवत १६वी शताब्दी मे रहे होंगे और महाचार्य के समकालीन होगे।

श्री शैलनिवास के भाई, अण्णयार्य ने 'सप्तति रत्न मालिका व्यवहारिकत्व खडन सार,' 'मिथ्यात्व खडन,' 'आचार्य विंशति,' 'आनन्द तारतम्य खडन' लिखे। १६वी शताब्दी के अप्पय्य दीक्षित ने रामानुज मतानुसार ब्रह्मसूत्र की टीका की, यह ग्रन्थ 'न्यायमुख मालिका' है। १६वी शताब्दी के अनतार्य ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें निम्न प्रकाशित हुए हैं—'एत्वतत्व विभूषण,' 'शतकोटि खडन,' 'न्याय भास्कर,' 'आचार लोचन' (पुनर्विवाह का खडन), 'शास्त्रारम्भ समर्थन,' 'समासवाद,' 'विषयतावाद,' 'ब्रह्म शक्तिवाद,' 'शास्त्रैक्यवाद,' 'मोक्ष कारणतावाद,' 'निर्विशेष प्रमाण व्युदास,' सावित् नानात्व समर्थन,' 'ज्ञानायार्थ्यवाद,' 'ब्रह्म लक्षणवाद,' 'ईक्षत्यधिकरण विचार,' 'प्रतिज्ञावाद,' 'आकाशाधिकरण विचार,' 'श्रीभाष्य भावाकुर,' 'लघु-सामानाधिकरण्यवाद,' 'गुरु सामानाधिकरण्यवाद,' 'शरीरवाद,' 'सिद्धान्त सिद्धाजन,' 'विधि सुधाकर,' 'सुदर्शनसार-द्रुम,' 'भेदवाद,' 'तत्क्रतु न्याय विचार,' 'दृष्टव्यानुभान-निरास'। ये सब छोटे ग्रथ हैं, कुछ बडे भी हैं। न्याय भास्कर, अद्वैतसिद्धि पर लिखी 'गौड ब्रह्मानन्दी टीका' का खडन है, जो स्वय 'न्यायामृत तरगिनी' का खडन था। इसमे बारह विषय हैं। खडन बगाल के नव्य न्यायदर्शन की शैली मे शास्त्रीय ढग से किया गया है। जिसने कि विरोधको की परिभाषा मे दोष पाया था। इस लेखक के महत्वपूर्ण ग्रन्थो का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलवारों का रामानुज के अनुयायियों पर प्रभाव

हमने दिव्य प्रबन्धो का उल्लेख किया है जो आलवारो ने तामिल मे लिखे थे और जिसका श्री वैष्णवो के आचार्यो पर गहरा प्रभाव हुआ है।[1] कुरैश (तिरुक्कुरुकैथिरन पिल्लै) ने ६००० श्लोको की, नाम्मालवार के चुने हुए १००० पदो की सहस्त्र

[1] ये दिव्य प्रबध सख्या मे ४००० है। पोयगैयालवार ने मुडलतिरुवताडी नाम का शत श्लोकी ग्रन्थ लिखा, भूत्तातालवार ने १०० पद्य का द्वूरन्डम् तिरुवन्ताडी, पेरियालवार ने मुनर्राम तिरुवन्ताडी शत श्लोकी ग्रन्थ, तिरुमरिसैपीरान ने नाममुखम् तिरुवेताडी और तिरुवचण्डवृत्तम ६६ और १२० पद्य का, मधुर कवि चालवार ने कण्णिनुण शिरुत्ताम्बी ११ श्लोक का, नाम्मालवार ने तिरुवृत्तम १०० श्लोक का, तिरुवाशीर्यम् पेरीयमाल ने पेरुमाल तिरुमोली १०५ पद्य का, पेरीयालवार तिरुपल्लाण्डु और पेरियालवार तिरुमोर्री ने १२ और ४६१ श्लोक का आण्डाल ने तिरुप्पावै और नाच्छीयार तिरुमोली ३० और १४३ श्लोक का, तोण्डाराडि पोडियालवार ने तिरुपोल्लियै ऐरुंची और तिरु मालै १० और ४५ श्लोक का, तिरुपाणालवार ने अमलनादी पीरनि १० श्लोक का तिरुमगेआलवार ने पेरियतिरु मोली १०८५ श्लोक का, तिरुवकुरुन्डाण्डकम् २० श्लोक का, तिरु नेडुन्डण्डकम् ३०

गीति पर टीका लिखी। पराशर भट्टार्य ने ६००० पदों की टीका लिखी। कलिजित् (लोकाचार्य) के निर्देश से अभयप्रद राज ने २४,००० पदों की टीका लिखी। कलिजित् के शिष्य कृष्णपाद ने एक दूसरी ३६०० पदों की टीका लिखी। सौम्य जामातृमुनि ने, नाम्मालवार के मत की व्याख्या करते हुए १२००० पद लिखे। अभयपदराज की दिव्य प्रबधों की टीका ने पीछे आने वाले आचार्यों को उत्तरकाल के रहस्यमय सिद्धान्तो को समझने मे सहायता दी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के छोटे भाई, द्वारा लिखी गई दिव्य प्रबधो पर टीका अभिरामवराचार्य के समय में ही दुष्प्राय हो गई थी। अभिराम वराचार्य 'उपदेश रत्नमाला' के अनुवादक और सौम्य जामातृ मुनि के पौत्र थे।

इस तरह देखा जाता है कि रामानुज के बाद धर्म गुरु की गद्दी पर आने वालो मे पराशर भट्टार्य और उनके उत्तराधिकारी वेदान्तीमाधव, जो नजियार भी कहलाते थे, तथा उनके उत्तराधिकारी नम्बूरि-वरदराज, जो कलजित् लोकाचार्य प्रथम कहलाते थे और उनके उत्तराधिकारी पिल्लै लोकाचार्य, इन सबों ने रामानुज सिद्धान्तो को समझाने के लिए जितने ग्रथ नही लिखे, उतने सहस्र गीति और दिव्य प्रबधो की भक्ति के अर्थ को समझाने के लिए लिखे। ये सब ग्रथ तामिल मे हैं, कुछ ही सस्कृत मे अनूदित है। यहाँ इस ग्रथ मे केवल उन सस्कृत ग्रथो को (अधिकाश हस्तलिखित) ही ध्यान मे रखा गया है जो वर्तमान लेखक को सुलभ थे। पिल्लैलोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि जो वरद केसरी कहलाते थे, कृष्णपाद के शिष्य थे। किन्तु इन सौम्य जामातृ मुनि को उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि से पृथक् जानना चाहिए। उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि अधिक सुविख्यात थे और यतीद्र प्रवणाचार्य भी कहलाते थे। पराशर भट्टार्य सम्भवत ई० स० १०७८ के पहले हुए होंगे और ११६५ मे परलोक सिधार गए होगे। उनके बाद वेदान्ती माधव या नजियार आए, और इनके बाद नम्बूरिवरदराज या लोकाचार्य प्रथम उत्तराधिकारी बने। इनके बाद पिल्लै लोकाचार्य उत्तराधिकारी हुए जो वेंकटनाथ, और श्रुत प्रकाशिकाचार्य या सुदर्शन सूरि के समकालीन थे। इन्ही के समय मे मुसलमानो ने श्रीरगम् पर आक्रमण किया जो हमने वेकटनाथ के विषय मे लिखते हुए कहा है। गोप्पणाचार्य ने मुसलमानो को भगा दिया और रगनाथ की मूर्ति की पुन स्थापना १२९३ मे की गई। इसी समय सुविख्यात सौम्यजामातृ मुनि (कनिष्ठ) का जन्म हुआ। पिल्लै लोकाचार्य के छोटे

श्लोक का, तिरुवेतुलु कुतिरुक्कै १ श्लोक का, शिरिय तिरुमडल ७७ श्लोक का पैरिय तिरुमडल १४८ श्लोक का लिखा। इस प्रकार ४००० श्लोक होते हैं। इनका उल्लेख सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) की उपदेश रत्नमाला मे किया गया है तथा प्रस्तावनाएँ एम० टी० नरसिंह आयगर ने दी है।

भाई, सौम्य जामातृ मुनि ने (ज्येष्ठ) जो वादी केसरी भी कहलाते थे, 'दिव्य प्रवध' पर कुछ टीकाएँ लिखी तथा 'दीप प्रकाश' और 'पियरुलि चेयलरे रहस्य' लिखे। सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ), जो वरवर मुनि भी कहलाते थे, अपने 'उपदेश रत्नमाला,' 'तत्वत्रय भाष्य' और 'श्रीवचन भूपरण व्याख्या' नामक ग्रथो मे इनका उल्लेख करते हैं। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि 'अध्यात्म चिन्तामरिण' जिसमे वाधुल श्रीनिवास की गुरु रूप मे स्तुति की गई है, वह सौम्य जामातृ मुनि द्वारा लिखा गया था। महाचार्य भी उन्हे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य बताते हैं। अगर इस प्रकार, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) और महाचार्य, एक ही गुरु के शिष्य थे तो महाचार्य १४वी शताब्दी मे हुए होगे। अगर सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने यह पुस्तक लिखी है तो महाचार्य का समय पीछे रखा जाएगा।

हम पिल्लै लोकाचार्य के केवल तीन ही ग्रथ खोज पाए है, जो 'तत्व त्रय,' 'तत्व शेखर' और 'श्रीवचन भूपरण' हैं।[1] 'तत्व त्रय' श्रीनिवास मत का उपयोगी सग्रह ग्रन्थ है जिसमें अचित्, चित् और ईश्वर का स्वरूप और उनके आपस के सम्बन्ध का निरूपरण किया गया है। इस पर वरवर मुनि की सुन्दर टीका है। 'तत्व शेखर' चार अध्याय का ग्रथ है। पहले अध्याय मे नारायण ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं और परम कारण है, इस मत के समर्थन मे शास्त्र के उद्धरण दिए गए हैं। दूसरे मे, जीव के स्वरूप का वर्णन शास्त्रो के आधार पर किया गया है। तीसरे मे इसी विषय का विवरण है। चतुर्थ अध्याय मे, भगवान् की शरणागति ही समस्त जीवो का अन्तिम ध्येय है, इस विषय का विवेचन है। वे कहते हैं कि अन्तिम पुरुषार्थ, भगवान् मे प्रीति-जनित कैंकर्य भाव से अपने एव भगवान् के स्वरूप और उनके दिव्य सौन्दर्य, प्रभुत्व शक्ति और सर्वश्रेष्ठता को जानने मे होता है। समस्त प्रकार की कैंकर्य वाछनीय नही है। यह हम अपने दैनिक अनुभव से जानते हैं कि प्रेम की दासता सुखमय है। मुक्ति के सामान्य विचार मे मनुष्य अपने अहकार और अपने अन्तिम ध्येय को ही आगे रखता है। इसलिए यह पुरुषार्थ से निम्न है क्योकि पुरुषार्थ मे भक्त अपने को भूलकर भगवान् की दासता को ही अन्तिम ध्येय समझता है। लोकाचार्य फिर अन्य मतो के अन्तिम ध्येय का खडन करते है। वे उस मत का भी खडन करते हैं जिसमे भगवान् में पूर्णत. अधीनता द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान होना माना है (परतन्त्रत्वेन स्वानुभव-मात्रम् न पुरुषार्थ) इसे श्रीनिवास मत में कैवल्य भी कहा है। हमारा अन्तिम ध्येय

---

[1] उनके कुछ और ग्रथ ये हैं, 'मुमुक्षुप्पदि,' 'प्रमेय शेखर,' 'नवरत्नमाला,' 'तनिप्रणव,' 'प्रपन्न परित्राण,' 'याद्दच्छिकप्पदि,' 'द्वयम्,' 'अर्थ पचक,' 'सार सग्रह,' 'परनप्पदि,' 'ससार साम्राज्यम्,' 'श्रिय पतिप्पदि,' 'चरमम्,' 'अर्चिरादि,' 'नव विध सम्बन्ध' —देखो तत्व शेखर की फुट नोट, पृ० ७०।

दुःख की निवृत्ति नहीं है किन्तु आनंदानुभव है। अनादिष्ट आनंद ही हमारा ध्येय है। ऊपर वर्णन की हुई मुक्तावस्था मे जीव, भगवान् से सान्निध्य पाता है और उसमे परमानंद पाता है किन्तु वह भगवान् की बराबरी नही कर पाता। बंधन सत्य है और उसका निवारण भी सत्य है। प्रपत्ति बंधन-निवारण का एक साधन है। यह प्रपत्ति व्यवहित एव अव्यवहित होती है, पहली मे, शरणागति सगुण और आत्यंतिक है और एक बार ही होती है।[1] अव्यवहित प्रपत्ति भगवान् का प्रेम से सतत ध्यान करना तथा साथ ही साथ शास्त्रोक्त कर्म करना तथा वर्जित कर्म न करना है। यह निम्न कोटि की है, योग्य व्यक्ति पहला मार्ग ही अपनाते हैं।

पिल्लै लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' के मुख्य विषय पृथक् खड मे दिए जाएँगे जब हम सौम्य जामातृ (कनिष्ठ) और रंगुतम की इस टीका और वृत्ति का वर्णन करेंगे। श्री वचन भाष्य ४८४ छोटे वाक्यो का ग्रंथ है जो सूत्रो से कुछ लम्बे हैं। किन्तु कुछ दार्शनिक वाक्यो मे छोटे है। लोकाचार्य ने इस शैली को दूसरे ग्रन्थो मे भी जैसे 'तत्वत्रय' और 'तत्व शेखर' मे अपनाया है।

रम्य जामातृ मुनि या सौम्य जामातृ मुनि जो मणवालम मुनि या पेरिय जीयार भी कहलाते थे, तिकलक्की अण्डान तिरुना विरुदैयापीरान तातर अण्णार के पुत्र और पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे और कोल्लिकवलदसर के पौत्र थे, कोल्लिकवलदसर लोकाचार्य के शिष्य थे। वे तिन्नैवल्लि जिले मे १३७० ई० मे जन्मे थे और ७३ वर्ष तक अर्थात् १४४३ तक जीवित रहे। पहले उन्होने श्री शैलेश से शिक्षा पाई जिन्हें तिरुवायमोर्री मे तिरुमरैं आलवार भी कहते हैं। उनकी युवावस्था की प्रथम कविता 'यतिराज विंशति' रामानुज के सम्मान मे लिखी गई थी। यह वरवर मुनि की 'दिनचर्या' मे सगृहीत हो प्रकाशित हुई। रामानुज के प्रति असीम भक्ति होने के कारण ये यतींद्र प्रवण के नाम से जाने जाते थे, उन्होने तिरुवरगत्तमुदनार की 'प्रपन्न सावित्री' या 'रामानुज नुरण्दादी' नामक रामानुज की सक्षिप्त जीवनी पर एक टीका

[1] प्रपत्ति की इस प्रकार व्याख्या की गई है। भगवदा ज्ञातिवर्तन-निवृत्ति भगवदानुकूल्य-सर्व-शक्तित्वानुसधानप्रेमृति सहित. याचागर्भो विजृम्भ रूप ज्ञान विशेप तत्र त्रैयाकारेश्वरस्य निरपेक्ष-साधनत्व ज्ञानाकारो व्यवसायात्माकत्वम् एतच्च शास्त्रार्थत्वात् सकृत् कर्त्तव्यम्।

—तत्व शेखर, पृ० ६४।

जिस प्रकार शकर मतवादी मानते हैं, कि एक ऐसे वाक्यो से जीव और ब्रह्म का एकता-ज्ञान जब हो गया तब और कुछ करने को बाकी नही रहता। यहाँ पर भी भगवान् मे पूर्ण शरणागति होने पर जीव ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान होता है एक बार यह होने पर फिर कुछ नही करना पडता। फिर ईश्वर को ही भक्त को अपना बनाना पडता है।

भी लिखी है। श्री शैलेश से शिक्षा लेने के बाद वे श्री रगम् मे रहे और वहाँ उन्होने दिव्य प्रबधो पर टीका एव 'श्रीवचन भूपण' और 'द्रविड वेदान्त' का अध्ययन किया। दिव्य प्रबध और गीता रहस्य के अध्ययन मे उन्हे अपने पिता ततर अण्णार से मदद मिली। उन्होने किदम्बी तिरुमलै नयिनार जो कृष्णादेशिक भी कहलाते थे, के साथ 'श्रीभाष्य' और 'श्रुत प्रकाशिका' ग्रन्थ पढे। उन्होने यादवगिरि के देवराज गुरु अर्थात् अण्णाचार्य से 'आचार्य हृदय' पढा। वे ससार त्याग कर सन्यासी बन गए और श्रीरगम् के पल्लव मठ मे बस गए। वहाँ उन्होने व्याख्यान मण्डप बनाया जहाँ से धर्मोपदेश किया करते थे। वे द्रविड वेदान्त मे निपुण थे, उन्होने मणि प्रवाल शैली सस्कृत तमिल का मिश्रण मे अनेक ग्रन्थ रचे और उनके बहुत से अनुयायी थे। उनका एक पुत्र रामानुजाचार्य था और पौत्र विष्णु चित्त था। उनके शिष्यो मे से आठ बहुत विख्यात थे, भट्टनाथ, श्रीनिवास यति, देवराज गुरु वाधुल वरद नारायण गुरु, प्रतिवादी भयकर, रामानुज गुरु, सुताख्य और श्रीवानाचल योगीद्र। ये शिष्य वेदान्त के महान् आचार्य थे।[1] उन्होने रगराज को भाष्य पढाया। दक्षिण के बहुत से राजा उनके शिष्य थे। उनके ग्रन्थो मे से निम्न जानने लायक हैं 'यतिराज विशति,' 'गीता तात्पर्यदीप,' (गीता पर सस्कृत मे टीका) 'श्रीभाष्यार्थ,' 'तैत्तरीयोपनिपद् भाष्य,' 'परतत्व निर्णय'। उन्होने पिल्लै लोकाचार्य के 'रहस्यत्रय,' 'तत्वत्रय' और श्री वचन भूपण पर भी टीका लिखी। तथा वादि केसर नाम से विख्यात, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) के 'आचार्य हृदय' पर भी टीका लिखी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के भाई थे। उन्होने 'पेरियालवर तिरुमोर्री,' 'ज्ञान सार' और देवराज के 'प्रमेय सार' पर भी टीकाएं लिखी। विर्रॅमिसोलॅप्पिलै की सप्तगाथा की भी टीका की तथा उन्होने 'तत्वत्रय,' 'श्री वचन भूपण' और 'दिव्य प्रबध' (इडू) की टीकाएँ लिखी तथा 'तिरुवायमोर्कीनुरुण्डाडि,' 'आरती प्रबध,' 'तिरुवायराघन क्रम' आदि तामिल पद्य रचे और अनेक सस्कृत पद्य भी लिखे। उन्होने रामानुज जैसा स्थान प्राप्त किया। उनकी मूर्ति दक्षिण के मदिरो मे पूजी जाती है। उनके बारे मे भी अनेक ग्रथ रचे गए हैं। जैसेकि 'वरवर मुनि दिनचर्या,' 'वरवरमुनि शतक,' 'वरवरमुनि काव्य,' 'वरवरमुनि चम्मू,' 'यतीद्र प्रवण प्रभाव,' 'यतीद्र प्रवण भद्र चम्पू' इत्यादि। उनकी 'उपदेश रत्नमाला' का पाठ दिव्य प्रबध के पाठ के बाद श्रीनिवास करते हैं। उपदेश रत्नमाला मे वे पूर्ववर्ती आलवार और अर्गीयस का वर्णन करते है। उनके पौत्र अभिराम वराचार्य ने इसका सस्कृत अनुवाद किया। अभिराम वराचार्य के 'अष्टादश भेद निर्णय' का उल्लेख हम इस ग्रन्थ मे कर चुके हैं। उन्होने शठकोप की प्रशसा मे एक दूसरा ग्रन्थ 'नक्षत्र मालिका' लिखा।[2]

---

[1] प्रपन्नामृत देखो, अ० १२२।

[2] हम सौम्य जामातृ मुनि के ग्रन्थो के विषय मे कुछ जानकारी एम०टी० नरसिहायगर

यद्यपि नृसिंहायगर कहते हैं कि सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने श्रीवचन भूषण पर मणि प्रवाल शैली में टीका लिखी है किन्तु इस टीका की पाण्डुलिपि, जिस पर रघूत्तम की एक उप टीका है, वर्तमान लेखक को प्राप्त हुई है। यह एक पूरा संस्कृत का बृहत् ग्रन्थ ७५० पृष्ठ वाला है, इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरण विषय अन्य स्थान पर दिए जाएंगे।

की उपदेश रत्नमाला के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना से जान पाए हैं अतः हम उनके उपकृत हैं।

यामुनाचार्य का दर्शन

यद्यपि पिछले समय मे बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठायक माने गए हैं किन्तु ब्रह्म सूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नही है, इसलिए हम यामुन को उत्तरकाल के वैष्णव दार्शनिको मे सर्व प्रथम मान सकते है। ऐसा सुनने मे आता है कि टक, द्रमिड और मरुचि इत्यादि अन्य लोगो ने बोधायन की टीका के उपदेशो के आधार पर ग्रन्थ लिखे, जिनमे अन्य सम्प्रदायो के मतो का खण्डन किया गया था। द्रमिड ने भाष्य लिखा जिसे श्री वत्साक मिश्र ने विस्तृत किया, इसका उल्लेख यामुन अनेक वार करते हैं। महात्मा वकुलाभरण ने, जो शठकोपाचार्य भी कहलाते थे, तामिल भाषा मे भक्ति-पथ पर एक विशद ग्रन्थ लिखा। किन्तु यह आजकल दुष्प्राप्य है। इस प्रकार आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास, व्यावहारिक दृष्टि से यामुनाचार्य से ही प्रारम्भ होता है, जो १०वी शताब्दी के उत्तरकाल एव ११वी के प्रारम्भ मे हुए। यामुन महापूर्ण के आचार्य थे ऐसा माना जाता है जिनसे महान् रामानुज ने दीक्षा ली। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यामुन ने चार ग्रन्थ लिखे है जो 'सिद्धित्रय,' 'आगम प्रामाण्य' 'पुरुष निर्णय' और 'काश्मीरागम' हैं। इनमे से केवल पहले दो ही प्रकाशित हैं।

अन्य मतों की तुलना में यामुन का आत्म-सम्बन्धी सिद्धान्त

हम देख चुके है कि चार्वाक से लेकर वेदान्तियो मत तक अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय हुए और उनमे से प्रत्येक ने आत्म-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन किए। हमने चार्वाक के सम्बन्ध में पहले ग्रन्थ मे थोडा ही विवेचन किया है और अन्य दर्शनों ने जो चार्वाक विरोधी आक्षेप किए है उन्हे भी छोड दिया गया है। चार्वाको का महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि शरीर के सिवाय और कोई आत्मा नामक पदार्थ नही है। उनमे से कुछ इन्द्रियो को आत्मा मानते थे और कुछ मनस् को। वे चार भूतो को मानते थे जिनसे जीवन और चेतना का उद्भव हुआ। हम भी देह के सम्बन्ध मे ही आत्मा का व्यवहार करते हैं, देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नही है। चार्वाक साहित्य भारत से विलुप्त हो गया है। हम अन्य ग्रन्थो मे प्राप्त उल्लेखो से ही जान पाते है कि उनका मौलिक साहित्य भी सूत्र रूप मे था।[1]

---

[1] बृहस्पति का पहला सूत्र 'अथ तत्त्वम् व्याख्यास्याम' और दूसरा, 'पृथ्वी-अप्-तेज वायु इति तत्त्वानि,' और तीसरा, 'तेभ्यश् चैतन्यम् किण्वादिभ्यो मद-शक्तिवत्'।

बनता। संघात एक दूसरे के लिए होते है जिसका वे स्वार्थ साधन करते है, संघात रूप नही है और न वह किसी अन्य के स्वार्थ के लिए अस्तित्व रखता है।

इसके अतिरिक्त, चेतना देह का कार्य नही माना जा सकता। चेतना एक मादक द्रव्य जैसा, चार तत्वो का कार्य नही माना जा सकता क्योकि चार तत्वो का मिश्रण हर कोई शक्ति नही पैदा कर सकता। कारण की शक्ति की भी मर्यादा होती है, वह एक सीमा मे ही कार्य उत्पन्न कर सकता है, मादक गुण उत्पन्न करने के लिए परमाणु मे तदनुरूप गुण उपस्थित है, मादकता की चैतन्य से तुलना नही की जा सकती, तथा इसका किसी अन्य भौतिक कार्य से साम्य भी नही है। ऐसा भी सोचा नही जा सकता कि कोई परमाणु ऐसे हो जिनमे चेतना उत्पन्न होती है। अगर चैतन्य कोई रासायनिक मिश्रण का कार्य होता, जैसाकि चूना और कत्थे के मिश्रण से लाल रग, तो चैतन्य के अणु भी पैदा हो सकते हैं, इस प्रकार हमारी चेतना उन चेतन परमाणुओ का संघात होती जैसाकि रासायनिक मिश्रण मे होता है। कत्थे और चूने के मिश्रण से उत्पन्न लाल रग, उस पदार्थ मे अस्तित्व रखता है जिसका प्रत्येक अणु लाल है। इस प्रकार अगर चेतना इस देह के द्रव्य का रासायनिक कार्य है, तो उसमें कुछ चेतना के अणु उत्पन्न होते और हमे प्रत्येक परमाणु मे अनेक आत्माओ का अनुभव होता और चेतना और अनुभव की एकता का अनुभव नही होता। इस तरह यह मानना पडेगा कि चेतना आत्मतत्व मे अस्तित्व रखती है और वह देह से भिन्न है।

चैतन्य इन्द्रियो मे भी नही माना जा सकता, क्योकि अगर वह प्रत्येक इन्द्रियो मे है तो फिर जो एक इन्द्रिय (आँख) से प्रत्यक्ष होता है वह दूसरी इन्द्रिय (स्पर्श) से नही होगा, इस प्रकार ऐसा ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, जैसे 'मैं उसे स्पर्श करता हूँ जिसे पहले देखा था'। अगर समस्त इन्द्रियाँ मिलकर चेतना उत्पन्न करती है तो हम एक इन्द्रिय (जैसे आँख) से किसी को नही जान सकते और न हमे चेतना ही होगी या किसी इन्द्रिय के नाश होने पर उस इन्द्रिय के अनुभव की स्मृति भी नही होगी, आदमी अन्धा होने पर, चेतना हीन हो जाएगा और आँख से देखी हुई वस्तुओ को याद भी नही कर सकेगा।

मन को भी आत्मा नही कह सकते, क्योकि मनस् के ही कारण ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रम से होता है। अगर यह माना जाय कि मनस् एक पृथक् साधन है जिसके द्वारा हम क्रम बद्ध ज्ञान प्राप्त करते है तो फिर हम आत्मा के अस्तित्व को ही मान लेते है, भेद इतना ही रहता है कि जिसे यामुन और उनके अनुयायी आत्मा कहते है उसे चार्वाक मनस् कहते हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते है कि ज्ञान स्वय प्रकाश्य होता हुआ विषय को भी प्रकट करता है, इस ज्ञान को भी आत्म कहना चाहिए। इन बौद्धो के विरोध मे यामुन का यह कहना है कि अगर ज्ञान का कोई नित्य स्थान नहीं माना जाता है तो,

व्यक्ति मे एकत्व का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा, क्षणिक स्व-प्रकाश्य ज्ञान से नही समझाई जा सकती है। अगर हर ज्ञान क्षण मे आकर चला जाता है और वहाँ कोई व्यक्ति है ही नही केवल ज्ञान-क्षणो का प्रवाह ही है तो कोई वर्तमान काल के अनुभव का भूतकाल के अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है ? क्योकि स्थायी तत्व कोई न होने से, ऐसा नही माना जा सकता कि कोई भी ज्ञान स्थायी होकर ठहरे जिसके आधार पर व्यक्ति की एकता का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा समझाई जा सके। जब हर एक ज्ञान, दूसरे के आने से पहले अनुपस्थित हो, तब सादृश्य के आधार पर साम्य के भ्रम का भी अवसर नही रहता।

शकर सम्प्रदाय का सिद्धान्त कि एक नित्य निर्गुण शुद्ध चैतन्य ही है, इसे यामुन समस्त अनुभव के विरुद्ध मानते हैं। इस प्रकार, चेतना, किसी एक व्यक्ति की है ऐसा अनुभव मे आता है, जो उत्पन्न होती है, कुछ समय तक रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। गाढ निद्रा मे हम सभी को ज्ञान नही रहता और यह इस सस्कार से प्रभावित है कि जगने के बाद हम कहते है कि हम देर तक सोये और हमे कोई चेतना नही थी। अगर अन्त करण जिसे अद्वैतवादी, 'अहम्' का आधार मानते हैं, निद्रा मे डूब जाता है, तो हमे यह भान नही हो सकता कि हम देर तक सोये। किसी ने कभी शुद्ध ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान वस्तुत (ज्ञाता) 'किसी' को होता है। शकर-मतवादियो का कहना है कि ज्ञान का उत्पन्न होना अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय विषय का उसी समय तादात्म्य होना है। किन्तु ऐसा है नही, क्योकि किसी विषय के ज्ञान की सच्चाई देश और काल मर्यादा से सम्बन्धित है, न कि विषय या ज्ञान के मुख्य गुण से। यह भी धारणा कि ज्ञान नित्य है, निर्मूल है, क्योकि जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह देश और काल की मर्यादा मे ही होता है। किसी ने भी कभी प्रकार-रहित ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान इत्यादि द्वारा ही होता है, ऐसा ज्ञान हो ही नही सकता तो प्रकार-रहित हो या नितान्त गुण-रहित हो। शकर मतवादी आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप या अनुभूतिरूप मानते हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा अनुभूति का कारक है, ज्ञाता है, ज्ञान या चैतन्य नही है। पुन बौद्धवाद की तरह शकर मत से भी, प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न हल नही होता, क्योकि व्यक्ति के एकत्व के अनुभव या प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यही है कि ज्ञाता भूतकाल मे था और अब भी है, जैसाकि हम कहते हैं, 'मैने यह अनुभव किया,' किन्तु अगर आत्मा शुद्ध चैतन्य है तो कोई प्रत्यक्ष कर्त्ता (ज्ञाता) भूत और वर्तमान मे अस्तित्व रखता हुआ नही हो सकता और 'मैने यह अनुभव किया था', इसे समझाया नही जा सकता, इसे भ्रम, मिथ्या कहकर ही हटाया जा सकता है। विषय का ज्ञान, 'मै चेतना हूँ' ऐसे नही होता, किन्तु मुझे इसका ज्ञान है, इस प्रकार होता है। अगर प्रत्येक ज्ञान का प्रकार, शुद्ध ज्ञान पर मायिक अध्यास है, तो चेतना मे परिवर्तन

होना चाहिए या और मुझे चेतना है, ज्ञान है इसके बजाय ज्ञान का प्रकार 'मै चेतना हू, ज्ञान हू" इस प्रकार होना चाहिए। शकर मतवादी यह भी मानते हैं कि ज्ञातृत्व (ज्ञातृभाव) शुद्ध चैतन्य पर भ्रम-जनित अध्यास है। अगर ऐसा ही है तो चैतन्य स्वय अज्ञानजनित अध्यास माना जाएगा, क्योकि वह अन्त तक अर्थात् मुक्ति तक रहता है तब जबकि शुद्ध या सच्चे ज्ञान (तत्व ज्ञान) का यह परिणाम है कि आत्मा ज्ञातृत्व-भाव खो देता है तो फिर तत्व ज्ञान के बजाय मिथ्या ज्ञान अपनाना चाहिए। 'मै जानता हू" यह भान, आत्मा ज्ञातृत्व की सिद्धि है और ज्ञाता से पृथक् शुद्ध ज्ञान का अनुभव का नही हो सकता। 'अहम्' यह प्रत्यय ज्ञाता को देह, इन्द्रिय, मनस् और ज्ञान से विविक्त कर देता है ऐसे आत्मा को साक्षी भी कहा है क्योकि सारे विषय इसके साक्षित्व मे प्रत्यक्ष होते हैं।

साख्य मत के अनुसार अहकार या बुद्धि को ज्ञाता माना है। क्योकि ये सब प्रकृति के विकार हैं इसलिए जड हैं। ऐसा माना नही जा सकता कि चैतन्य का प्रकाश इस पर पड कर प्रतिबिम्बित होकर उसे ज्ञाता बना देता है क्योकि प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष वस्तु से ही उत्पन्न होता है। कभी-कभी शकर मतवादी ऐसा भी कहते है कि चैतन्य, नित्य और अपरिणामी है और अहकार इसी से प्रकाशित होता है और उसी सम्पर्क से इस ज्ञान को प्रकट करता है, जैसे दर्पण या पानी की सतह सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाती है, और जब अहकार इत्यादि के बन्धन गाढ निद्रा मे टूट जाते है तब शुद्ध चैतन्य स्वाभाविक ही स्वय ज्योति और आनन्द रूप से प्रकाशित हो जाता है। यह भी समझ के बाहर है क्योकि अगर अहकार इत्यादि शुद्ध चैतन्य से ही प्रकाशित होते हैं तो यही फिर शुद्ध चैतन्य को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? वास्तव मे यह कल्पना भी नही की जा सकती कि वह किस प्रकार का प्रकाशन है जो अहकार द्वारा होता है क्योकि यहां सर्व प्रकार की सादृश्य निरर्थक ठहरते है। साधारण दृष्टि मे जब ढकने वाले आवरण दूर हो जाते हैं तब वस्तु प्रकट हो जाती है या जब दीप अधकार को नष्ट कर देता है या जब दर्पण विषय को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु यहाँ इनमे से एक भी सादृश्य या उपमा ठीक नही बैठती जिससे यह समझ मे आ जाय कि किस प्रकार शुद्ध चैतन्य अहकार द्वारा प्रकट होता है, यदि चैतन्य प्रकट होने के लिए किसी की अपेक्षा है तो वह स्वय प्रकाश नही रहता, वह अन्य विषयो जैसा बन जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान शुद्ध चैतन्य मे से अज्ञान के क्रमबद्ध निवारण से होता हैं। अज्ञान (न ज्ञान-ज्ञान नही) का अर्थ ज्ञान की अनुपस्थिति या वह क्षण जब ज्ञान उत्पन्न होने जा रहा है किन्तु ऐसा अज्ञान चैतन्य (ज्ञान) का अवरोधक नही हो सकता। शकरमतवादी ऐसा मानते हैं कि अनिर्वचनीय भाव रूप अज्ञान से जगत् बना है। किन्तु यह सब बिलकुल अर्थ-शून्य है। जो किसी को प्रकाशित करता है वह प्रकाश्य अपना ही अश या अपना परिणाम नही बना सकता। अहकार किसी अन्य

अभी और न मुक्तावस्था मे ही, क्योकि आत्मा 'मै' के ही रूप से प्रकट होता है और अगर मुक्तावस्था मे आत्मा प्रकाशित होता है तो 'मै' के ही रूप मे होगा। वैदिक शास्त्र ग्रन्थो मे भी हम यह पाते हैं मुक्त जन—वामदेव और मनु, अपने विषय मे 'मै' के रूप मे ही सोचते थे। ईश्वर भी अपने व्यक्तित्व के भान से रहित नही है जैसाकि उपनिषद् के पाठो से सिद्ध होता है जिसमे वह कहता है कि 'मैने यह जगत् उत्पन्न किया है'। आत्मा 'मै' का वह ज्ञान मिथ्या है जब उसका देह, जन्म या सामाजिक पद वे अन्य किसी वाह्य सहचार से, तादात्म्य किया जाए या जब वह अभिमान या आत्म श्लाघिता को जन्म दे। इस प्रकार के अहकार को शास्त्र मे मिथ्या कहा है। 'मै' जब आत्मा का ही निर्देश करता है, तब वह सच्चा ज्ञान है।

सुख और दु ख के अनुभव भी 'मै' या आत्मा के गुण के रूप मे प्रकट होते है। 'मै' अपने आपको भी प्रकट करता है इसलिए उसे अजड मानना चाहिए। यह तर्क कि 'मै' का भान ज्ञान का सहोपालम्भ होता है इसलिए ज्ञान ही का केवल अस्तित्व है और मै उससे भिन्न नही है, इसका खण्डन इसी तर्क को देकर किया जा सकता है कि मै का ही अस्तित्व है—ज्ञान का नही। हर कोई यही अनुभव करता है कि ज्ञान 'मै' ज्ञाता, से भिन्न है जैसाकि ज्ञेय है। यह कहना कि आत्मा स्वरूपतः स्वय प्रकाश्य है ज्ञानात्मक है, यह दोनो भिन्न तथ्य है क्योकि आत्मा ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय इत्यादि के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, आत्मा, ज्ञाता है, मै है जो विपय को जानता है इससे वह ज्ञानवान् है।

'मै' ज्ञाता, आत्मा, असदिग्ध ही स्वचैतन्य द्वारा प्रकट होता है इसलिए जिन्होने आत्मा को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की वे निष्फल हुए। इस प्रकार नैयायिक सोचते है कि आत्मा द्रव्य है जिसमे ज्ञान, इच्छा, सुख, दु ख इत्यादि समवाय सम्बन्ध से जुडे हैं। किन्तु ऐसे अनुमान से हम यह जान भी जाएँ कि कोई कुछ है जिसमे ये गुण समवाय सम्बन्ध से अस्तित्व रखते हैं किन्तु इससे यह अनुमान नही लगता कि वह पदार्थ हमारी आत्मा है। क्योकि जब ऐसा कुछ हम नही पाते जिसमे ज्ञान इच्छा इत्यादि रह सकें, तो यह भी दलील दी जा सकती है कि ज्ञान इत्यादि गुण नही है या कोई ऐसा नियम नही है कि गुणो का किसी पदार्थ मे रहना आवश्यक है। ये पारिभाषिक रूप मे गुण माने जाते है, नैयायिक इन्हे गुण मान लें, और इनसे अनुमान लगालें कि कोई एक अन्य पदार्थ होगा (जो अन्य प्रमाण से सिद्ध नही है) जो उपरोक्त गुणो का आधार है। किन्तु यह विलकुल युक्ति युक्त नही है कि हम नए पदार्थ आत्मा को स्वीकार करलें (जिसे हम अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नही कर सकते), केवल इसी तर्क पर कि गुणो का कोई आधार होना चाहिए। विरोधियो का यह सिद्ध वाक्य है कि गुण किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिए और वे

उपमा सगतिहीन है। राजा अपने राज्य के लोगो से लाभान्वित होता है, किन्तु पुरुष, क्योकि केवल देखना मात्र उपलक्षित करता है इसलिए द्रष्टा नही माना जा सकता।

आत्मा का स्वरूप जैसाकि हमने वर्णन किया है उपनिषदो द्वारा भी पुष्ट होता है। आत्मा प्रत्यय रूप से 'मैं' के रूप मे स्पष्ट प्रकट होता है। सुख-दुःख, राग द्वेष, ये इसकी अवस्थाएँ है, जो आत्मा के 'मैं' के रूप मे प्रकट होने के साथ ही प्रकट हो जाती हैं। कुमारिल की मान्यतानुसार आत्मा किसी इन्द्रिय या मनस् से भी गोचर नही है क्योकि प्रश्न यह उठता है कि अगर आत्मा मनसा गोचर है तो वह कब होता है ? यह ठीक उसी समय गोचर नही हो सकता जब विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योकि आत्मा और विषयो का ज्ञान एक ही क्षरण उत्पन्न होने के कारण यह सम्भव नही कि उनमे से (आत्मा) ज्ञाता या निर्णेता बना रहे और अन्य ज्ञेय या (विषय) निर्णीत लेंगे। अगर विषय-ज्ञान और आत्मा का ज्ञान दो पृथक् क्षरण मे दो कार्य के रूप मे उत्पन्न होते हैं तो यह कठिनाई आती है कि वे ज्ञाता-ज्ञेय भाव से कैसे सम्बन्धित हो सकता है ? इसलिए यह नही माना जा सकता है कि आत्मा चैतन्यावस्था मे अपने आपको हमेशा प्रकट करता है तो भी इन्द्रियाँ या मनस् द्वारा गोचर होता है। पुन॰ कुमारिल यह मानते है कि ज्ञान एक नयी वस्तु या कार्य है, और जब इन्द्रियो के व्यापार से हममे ज्ञान क्रिया उत्पन्न होती है तब विषय मे भी आत्मा के सम्पर्क से ज्ञानता या प्रकाश्यता उत्पन्न होती है और इस प्रकाश्यता से ज्ञान क्रिया अनुमानित की जा सकती है और आत्मा ज्ञानवान् होने से, मनस् द्वारा गोचर है। किन्तु यह मत कि आत्मा स्वय चैतन्य नही है, अन्य बाह्य ज्ञान अपेक्षित है यह नही स्वीकार किया जा सकता। क्योकि किसी को भी इस भेद की कल्पना तक नही है कि आत्मा (स्वय का ज्ञान) अब किसी अन्य से प्रकाशित हो रहा है जो पहले नही था। तदुपरान्त, ज्ञान-क्रिया, आत्मा को तत्क्षरण प्रकाशित नही करती तो यह भी शका हो सकती है कि आत्मा ने विषय को जाना या नही और जैसाकि सामान्य अनुभव है प्रत्येक ज्ञान के अनुभव मे आत्मा स्पष्ट प्रकट नही होता।

पुन कुछ ऐसा मानते है कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, वह तो विषय के ज्ञान के ज्ञाता से होता है। यह सरल ही है कि हम इस सच्चाई को स्वीकार नही कर सकते, यह सरलता से समझ मे आ सकता है। क्योकि विषयगत चैतन्य या ज्ञान तो विषय को निर्देश करता है, वह आत्मा का ज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकता है ? इस मतानुसार ज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध करना कठिन है, क्योकि ज्ञान स्वय प्रकाश न होने से, प्रकट होने के लिए अन्य की अपेक्षा रखता है, अगर ऐसा माना जाता है कि, यद्यपि ज्ञान स्वय प्रकाश्य है, तो भी वह उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट होता है जिसमे वह समवाय-सम्बन्ध से स्थित है, हर एक व्यक्ति को नहीं। अगर वास्तव मे

एक वस्तु दूसरी से इस प्रकार सम्बन्धित हो कि वह उसके विना रह नही सकती तो वह उसका आवश्यक और अभिन्न लक्षण ही तो हो सकता है। ऐसा नही कहा जा सकता कि यह सामान्यीकरण ठीक नही है, क्योकि हम देह के सयोग मे होते हुए स्वचैतन्यवान् है, जो आत्मा का अनिवार्य गुण नही है, क्योकि आत्मा का मैं रूप मे या 'मैं जानता हूँ' के रूप मे ज्ञान, देह को लक्ष्य करके या उसके स्वय से आवश्यक रूप मे सम्वन्धित नही है। पुन यह भी नही कहा जा सकता कि चैतन्य, अगर आत्मा का अभिन्न और आवश्यक गुण है तो गाढ निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था समझाई नही जा सकती, क्योकि ऐसा सिद्ध करने का कोई प्रमाण नही है कि तथा-कथित अचेतावस्था मे आत्मा को ज्ञान नही है। जगने पर हमे ऐसा अनुभव होता है कि हमे उस समय कोई ज्ञान नही था क्योकि हमे वहाँ उसकी स्मृति नही रहती। जाग्रतावस्था मे अचेतावस्था का भान होने का कारण यह है कि हमे उन अवस्थाओ की स्मृति नही है। स्मृति तव ही शक्य है जवकि विषय का आवगाहन होता है और ज्ञान के विषय के सस्कार हमारे चित्त मे रह जाते हैं, जिससे उनके द्वारा हम स्मृति के विपय को याद कर सके। निद्रा मे कोई विपय प्रत्यक्ष नही होता और न सस्कार ही रहते है और परिणाम मे हमे उनकी स्मृति भी नही रहती। आत्मा तव अपने आत्म-चैतन्य की स्वलक्षणता मे रहता है किन्तु तव ज्ञान किसी का नही होता। स्वचैतन्य आत्मा कोई सस्कार, मानसिक कारणो पर सस्कार नही छोड जाता, जैसे मनस् इत्यादि, क्योकि उस समय वे निष्क्रिय होते हैं। आत्मा पर कोई भी सस्कार नही किया जा सकता यह सरलता से समझ मे आता है क्योकि अगर ऐसा होता और आत्मा पर सस्कारो का समूह बढता रहता तो आत्मा उन्हे हटाकर कभी भी मुक्त नही हो सकता। तदुपरान्त, स्मृति की यह विलक्षणता है कि जब कुछ एक बार प्रत्यक्ष हो गया है, किन्तु जिसका सतत अनुभव नही हो रहा है, उसे वर्तमान मे याद किया जा सकता है जब साहचर्य द्वारा भूतकाल के वे सस्कार जागृत हो जाते हैं। किन्तु स्वचैतन्य आत्मा हमेशा एक-सा ही रहता है इसलिए उसकी कोई भी स्मृति नही हो सकती। गाढ निद्रा मे जगने पर हमे ऐसा अनुभव होता है कि हम सुख से सोये, यह तथ्य, इस बात को सिद्ध नही करता कि गाढ निद्रा मे हमे वास्तव मे सुख की स्मृति थी, वह तो शरीर का सुखमय अनुभव है जो गहरी नीद से होता है, जिसका यह अर्थ लगा लिया जाता है या ऐसा कहा जाता है कि हमे गाढ निद्रा मे सुख का अनुभव हुआ। हम कहते है, 'मैं वही हूँ जो कल भी था' किन्तु यहाँ आत्मा की स्मृति नही होती किन्तु यहाँ स्मृति का विपय विशेष समय का साहचय ही है।

विपय का प्रत्यक्ष हमे तब होता है जब चैतन्य किसी इन्द्रिय के सम्बन्ध से किसी पदार्थ से सयोग मे आता है। इसी कारण यद्यपि आत्मा स्वचैतन्ययुक्त है, तो भी, जब आत्मा का चैतन्य इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा किसी बाह्य पदार्थ मे होता है तब

सकता है कि परमाणु इत्यादि का इस वर्तमान रूप मे सयोग, जगत् के सारे मनुष्यो के अदृष्ट कर्म द्वारा हुआ है। पाप और पुण्य हम सब में होते हैं और वे जगत् की गति को ढालते हैं यद्यपि हम इसे देख नहीं सकते। इस प्रकार जगत् को मनुष्य कर्मो का परिणाम कहा जा सकता है, ईश्वर का नही, जिसे किसी ने कभी भी देखा नही है। तदुपरान्त, ईश्वर, जिसे कोई इच्छा पूर्ति करने को नही है वह जगत् को क्यो उत्पन्न करे? यह जगत्, पहाड, नदी और महासागर के साथ, किसी एक से उत्पन्न हुआ कार्य नही माना जा सकता।

यामुन न्याय की पद्धति स्वीकारते हैं और जगत् कार्य है इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए यह मानते हैं जगत् ज्ञानवान् पुरुष द्वारा उत्पन्न किया होना चाहिए जिसे द्रव्य का साक्षात् ज्ञान है। उसे मनुष्यो के धर्म और अधर्मो का साक्षात् ज्ञान है जिसके अनुसार वह सारे जगत् का निर्माण करता है और यह नियत्रण करता है कि जिससे प्रत्येक वही अनुभव करे जिसके वह योग्य है। वह, केवल अपने सकल्प द्वारा जगत् को गति देता है। उसके शरीर नही है किन्तु तब भी वह अपने मनस् द्वारा सकल्प-व्यापार करता है। उसे असीम ज्ञान और शक्तिमान् पुरुष मानना ही पडेगा, नही तो वह किस प्रकार इस जगत् का निर्माण और उसका नियन्त्रण कर सकता है?

शकर मतवादियो ने ऐसा माना है कि जब उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म के सिवाय और कुछ अस्तित्व नहीं रखता तो इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का ही केवल अस्तित्व है और जगत् मिथ्या है, किन्तु यह कहने मे कोई सार नहीं है। इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य दूसरा ईश्वर नहीं है और उसके जैसा दूसरा और कोई नही है। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि जो कुछ देखते हैं वह ब्रह्म ही है और वह जगत् का उपादान कारण है, इससे यह अर्थ नही निकलता कि और किसी का अस्तित्व है ही नहीं और निर्गुण ब्रह्म ही एक सत्ता है। अगर हम यह कहे कि सूर्य एक ही है तो इसका अर्थ यह नही है कि उसमे रश्मियाँ नही है। अगर हम कहे कि सात समुद्र हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि समुद्र मे लहरें इत्यादि नहीं हैं। ऐसे पाठो का केवल अर्थ यह हो सकता है कि जगत् की उत्पत्ति उसमे से—ब्रह्म से उसी तरह है जैसे अग्नि से स्फुलिंग और अन्त मे जगत् उसी मे अन्तिम स्थान और आधार पाता है। जगत् की समस्त वस्तुओं—वायु, अग्नि, पृथ्वी ने उसमे अपनी शक्तियाँ प्राप्त की है और उसके बिना वे कुछ भी करने मे असमर्थ रहते हैं। अगर इसके विपरीत, यह माना जा सकता है कि सारा जगत् मिथ्या है तो हमे अपने सारे अनुभवो की बलि दे देनी पडती है और ब्रह्म का अनुभव भी इन्हीं अनुभव के अन्तर्गत आ जाता है इसलिए वह भी खत्म हो जाता है। वेदान्त का तर्क जो कि भेद के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने को दिया जाता है वह हमारे किसी उपयोग का नही

जैसाकि शकर मतवादियो ने माना था। वे एक स्थान पर कहते है कि वे नैयायिको के अखड परमाणु को नही मानते। मूल तत्व का सबसे छोटा अणु त्र्यसरेणु है जो हवा मे उडता धूल का कण है जबकि सूर्य की किरणें एक छेद से आती है। वे इससे अधिक जगत् की अन्तिम सत्ता के बारे मे कुछ भी नही कहते या इस बारे मे भी नही कहते कि जगत् क्या है तथा वह किस प्रकार हुआ? वे मुक्ति के साधन और मुक्तावस्था के विषय मे भी मूक रहते हैं।

रामानुज, वेंकटनाथ और लोकाचार्य के अनुसार ईश्वर का स्वरूप

भास्कर ने कहा था कि यद्यपि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ गुण-सम्पन्न है और अपने आप मे समस्त मल-रहित है, तो भी वह अपनी शक्ति से जगत् के रूप मे परिणत होता है और उसकी सारी स्थितियाँ एव मर्यादाएँ, सारे भूतल तत्व और घटनाएं उसी की शक्तियाँ हैं, वह अपनी शक्ति से सामान्य जीव के रूप मे प्रकट होता है और मुक्ति भी प्राप्त करता है। रामानुज ऐसा मानते हैं कि उनके मतानुसार ब्रह्म का ऐसा कोई स्वरूप नही है जो किसी भी बन्धन की मर्यादा के परे है, वह मर्यादा, शक्ति इस जगत् के रूप मे प्रकट होती है। ब्रह्मन् अपनी शक्ति से जो जगत् के रूप मे स्थित है, हमेशा सम्बन्धित रहने के कारण जगत् की सभी कमियो का आवश्यक रूप मे विषय बनता है। इसके अतिरिक्त जब शक्ति ब्रह्म-शक्ति को मान लिया जाता है तो फिर ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है। अगर शक्ति को ही परिणाम मान लिया जाय, तब भी यह नही स्वीकारा जा सकता कि ब्रह्म को अपनी शक्ति से जगत् रूप मे परिणत होने के लिए अपनी शक्ति से सम्पर्क करना ही चाहिए।

एक दूसरे वेदान्तिन् (सम्भवत यादव प्रकाश, जो प्रारम्भ मे रामानुज के गुरु रहे) मानते थे कि ब्रह्मन्, अपने स्वरूप से जगत् रूप से परिणत हुए। यह तर्क भी आपत्तिपूर्ण है कि ब्रह्म का जगत् रूप से परिणाम होने पर, जगत् की समस्त कमियो और त्रुटियो से युक्त हो जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि ईश्वर अपने एक अश मे सर्वातिशायी है और अनेक श्रेष्ठ गुणो से युक्त है और दूसरे अश मे जगत् के परिणाम की त्रुटियो से युक्त है, तो जो एक अश मे इतना अशुचि है कि उसकी यह मल पूर्णता, उसके दूसरे निर्मल अश से इतनी प्रति सतुलित कैसे हो सकती है जिससे वह तब भी ईश्वर कहा जा सके?

रामानुज, इसलिए, मानते हैं कि सारे परिवर्तन एव परिणाम ईश्वर के देह मे ही होते है उसके स्वरूप मे नही। इसलिए ईश्वर, अपने स्वरूप से सर्वदा मल से रहित है और श्रेष्ठ गुण-युक्त है जिससे जगत् का क्षोभ जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, लेश मात्र भी नही स्पर्श करता। बाह्य जगत् की उपादानभूत वह वस्तु सारय का

गुण-द्रव्य नही है, किन्तु वह केवल प्रकृति अति प्राचीन कारण तत्व है, जिसमे अनेक गुण है जिनका वर्गीकरण सत्व, रजस् और तमस् के रूप में किया जा सकता है। यह प्रकृति अपने सूक्ष्म रूप मे, ईश्वर का शरीर है और ईश्वर द्वारा समस्त परिणामों की ओर गतिशील होती है। जब वह प्रकृति को परिणामो से रोकता है और उसकी गति का निरास करता है, तब प्रलय होता है, तब भगवान् प्रकृति को उसकी सूक्ष्मावस्था मे, देह रूप से धारण करता हुआ कारणावस्था मे रहता है। प्रकृति, ईश्वर का देह और प्रकार भी है। जब वह व्यक्तावस्था मे होती है तब सृष्टि रचना होती है। प्रकृति तन्मात्र, अहकार इत्यादि के रूप मे परिणत होती है, तो भी ये भगवान् के देह के सूक्ष्म तत्व हैं, तन्मात्र इत्यादि को उत्पन्न करने मे जिन परिणामों मे से प्रकृति गुजरती हैं, वे गुणो के मिश्रण से नही होता, जैसाकि सांख्य मे माना गया है, किन्तु वह प्रकृति का उन अवस्था मे से गुजर जाना है। प्रत्येक अवस्था में प्रकृति का विशेष गुण रहता है जिसमे से वह आगे बढती है। गुण का अर्थ यहाँ सामान्य अर्थ मे समझा जाने वाला गुण का बोधक है और ऐसा माना गया है कि ईश्वर द्वारा गतिशील होती हुई, प्रकृति नवीन गुण धारण करती है। जगत् की वर्तमान अवस्था भी प्रकृति की एक विशेष अवस्था बताती है जिसमे उसने यह लक्षण प्राप्त किए है जो हम अपने जगत् मे देखते हैं।

हमने पहले देखा है कि यामुन ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह अनुमित करते है। किन्तु रामानुज कहते है कि जितना इसके पक्ष मे कहा जा सकता है उतना ही विपक्ष मे भी कहा जा सकता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि, अगर यह मान भी लिया जाए कि पर्वत इत्यादि कार्य है तो भी यह नही कहा जा सकता कि वे किसी एक व्यक्ति ने बनाए हैं, क्योकि सारे घडे उसी एक मनुष्य ने नही बनाए हैं। ईश्वर का भी निषेध साख्य मतानुसार किया जा सकता है, और यह माना जा सकता है कि कर्मानुसार, गुणो के सयोग से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनो में कहा जा सकता है। रामानुज यह मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। उसे शास्त्रो के आधार पर ही मानना पडेगा।[1] न्याय और योग ने, तदुपरान्त, ईश्वर को केवल निमित कारण ही माना है, किन्तु रामानुज की दृष्टि मे ईश्वर सर्व देश और काल मे सर्व व्यापक है। ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नही है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है, या वह जगत् की सत्ता से एक रस है, अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। इसका अर्थ जैसाकि सुदर्शनाचार्य ने रामानुज भाष्य सूत्र २ पर (अपनी श्रुत प्रकाशिका मे टीका मे कहा है) कि वह किसी भी प्रकार की देश की मर्यादा से बधा

[1] देखो, रामानुज भाष्य, सू० ३।

नहीं है। वरद और नारायण और वेंकटनाथ भी, सर्व व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणो मे मर्यादा या प्रतिवन्ध का अभाव है ऐसा मानने मे एक मत हैं (इयद् गुणक इति परिच्छेद-रहित)।[1] ईश्वर के देह के सिवाय अन्य कुछ नही है, इसलिए देह-दृष्टि से भी वह जगत् मे सर्व-व्यापक माना जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही नही है किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकट कुछ विस्तार से यह सिद्ध करते हैं कि सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस् है और उसकी नित्य इन्द्रियो को प्रकट होने के लिए किसी देह या अग की आवश्यकता नही होती। वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते हैं सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पचरात्र के व्यूह सिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्वत्रय पर वरवर भाष्य मे सक्षिप्त विवरण मिलता है। सकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन, वासुदेव के तीन भिन्न रूप कहे गए हैं। जिनके द्वारा वे जीव, मनस् और वाह्य जगत् का नियन्त्रण करते है। जिस क्रिया के प्रकार से जीव, सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ मे प्रकृति से पृथक् किए जाते है, वह ईश्वर के सकर्षण रूप से सम्वन्ध रखता है, जब यह पृथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एव शासन करती है और उन्हे अन्त मे श्रेय और पुण्य मार्ग पर ले जाती है तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्वन्ध रखती हैं। अनिरुद्ध भाव-प्रधान वह रूप है जिससे वाह्य जगत् उत्पन्न होता है और नियत्रण मे रखा जाता है और जिसमे हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्पर्क पूरे उतरते हैं। ये रूप भिन्न-भिन्न ईश्वर नही हैं, किन्तु भगवान् के भिन्न व्यापार हैं या कार्य की दृष्टि से भगवान् की ऐसी कल्पना की गई है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है। वह और उसके रूप एक रस है। वे रूप वासुदेव की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ है। इसलिए इन्हें विभव कहा गया है। उनकी शक्तियो की ऐसी अभिव्यक्ति महान् धार्मिक पुरुषो मे भी पाई जाती है जैसेकि व्यास अर्जुन इत्यादि। लोकाचार्य आगे ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अपने स्वरूप से केवल सर्वज्ञ ही नहीं है किन्तु यह सर्वज्ञता, सम्पूर्ण और नित्यानन्द से जुडी हुई है। उसके ज्ञान और शक्ति मे परिवर्तन नही होती न उनकी तुलना की की जा सकती है क्योंकि वे सर्वदा सर्वोच्च और अचित्य हैं। वह हम सबो को कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार इच्छापूर्ति करता है। जो अज्ञानी हैं उन्हे ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन हैं उन्हे शक्ति देता है, अपराधियो को क्षमा, दुखी जनो को दया, दुष्टो को भलाई, कुटिल को सरलता और जो हृदय मे दुष्ट है उन्हें सहृदयता देता है। जो उनसे जुदा नही रहना चाहते उनसे वह जुदा रह नहीं सकता, और जो उनका दर्शन करना चाहते हैं वह उनके निकट आ जाता है। जब वह दुखी

---

[1] देखो न्याय सिद्धाजन वेंकटनाथ कृत।

गुण-द्रव्य नही है, किन्तु वह केवल प्रकृति अति प्राचीन कारण तत्व है, जिसमे अनेक गुण है जिनका वर्गीकरण सत्व, रजस् और तमस् के रूप मे किया जा सकता है। यह प्रकृति अपने सूक्ष्म रूप मे, ईश्वर का शरीर है और ईश्वर द्वारा समस्त परिणामों की ओर गतिशील होती है। जब वह प्रकृति को परिणामो से रोकता है और उसकी गति का निरास करता है, तब प्रलय होता है, तब भगवान् प्रकृति को उसकी सूक्ष्मावस्था मे, देह रूप से धारण करता हुआ कारणावस्था मे रहता है। प्रकृति, ईश्वर का देह और प्रकार भी है। जब वह व्यक्तावस्था मे होती है तब सृष्टि रचना होती है। प्रकृति तन्मात्र, अहकार इत्यादि के रूप में परिणत होती है, तो भी ये भगवान् के देह के सूक्ष्म तत्व है, तन्मात्र इत्यादि को उत्पन्न करने मे जिन परिणामों मे से प्रकृति गुजरती हैं, वे गुणो के मिश्रण से नही होता, जैसाकि साख्य मे माना गया है, किन्तु वह प्रकृति का उन अवस्था मे से गुजर जाना है। प्रत्येक अवस्था में प्रकृति का विशेष गुण रहता है जिसमे से वह आगे बढ़ती है। गुण का अर्थ यहाँ सामान्य अर्थ मे समझा जाने वाला गुण का बोधक है और ऐसा माना गया है कि ईश्वर द्वारा गतिशील होती हुई, प्रकृति नवीन गुण धारण करती है। जगत् की वर्तमान अवस्था भी प्रकृति की एक विशेष अवस्था बताती है जिसमे उसने वह लक्षण प्राप्त किए हैं जो हम अपने जगत् मे देखते हैं।

हमने पहले देखा है कि यामुन ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह अनुमित करते है। किन्तु रामानुज कहते हैं कि जितना इसके पक्ष मे कहा जा सकता है उतना ही विपक्ष मे भी कहा जा सकता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि, अगर यह मान भी लिया जाए कि पर्वत इत्यादि कार्य हैं तो भी यह नही कहा जा सकता कि वे किसी एक व्यक्ति ने बनाए हैं, क्योकि सारे घडे उसी एक मनुष्य ने नही बनाए हैं। ईश्वर का भी निषेध साख्य मतानुसार किया जा सकता है, और यह माना जा सकता है कि कर्मानुसार, गुणो के सयोग से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनो मे कहा जा सकता है। रामानुज यह मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। उसे शास्त्रो के आधार पर ही मानना पडेगा।[1] न्याय और योग ने, तदुपरान्त, ईश्वर को केवल निमित कारण ही माना है, किन्तु रामानुज की दृष्टि मे ईश्वर सर्व देश और काल मे सर्व व्यापक है। ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नही है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है, या वह जगत् की सत्ता से एक रस है, अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। इसका अर्थ जैसाकि सुदर्शनाचार्य ने रामानुज भाष्य सूत्र २ पर (अपनी श्रुत प्रकाशिका मे टीका मे कहा है) कि वह किसी भी प्रकार की देश की मर्यादा से बधा

[1] देखो, रामानुज भाष्य, सू० ३।

नही है। वरद और नारायण और वेंकटनाथ भी, सर्व व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणो मे मर्यादा या प्रतिबन्ध का अभाव है ऐसा मानने मे एक मत है (इयद् गुणक इति परिच्छेद-रहित')।[1] ईश्वर के देह के सिवाय अन्य कुछ नही है, इसलिए देह-दृष्टि से भी वह जगत् मे सर्व-व्यापक माना जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही नही है किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकट कुछ विस्तार से यह सिद्ध करते है कि सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस् है और उसकी नित्य इन्द्रियो को प्रकट होने के लिए किसी देह या अग की आवश्यकता नही होती। वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते है सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पचरात्र के व्यूह सिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्वत्रय पर वरवर भाष्य मे सक्षिप्त विवरण मिलता है। सकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन, वासुदेव के तीन भिन्न रूप कहे गए हैं। जिनके द्वारा वे जीव, मनस् और वाह्य जगत् का नियन्त्रण करते हैं। जिस क्रिया के प्रकार से जीव, सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ मे प्रकृति से पृथक् किए जाते है, वह ईश्वर के सकर्षण रूप से सम्वन्ध रखता है, जव यह पृथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एव शासन करती है और उन्हे अन्त मे श्रेय और पुण्य मार्ग पर ले जाती है तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्वन्ध रखती है। अनिरुद्ध भाव-प्रधान वह रूप है जिससे वाह्य जगत् उत्पन्न होता है और नियत्रण मे रखा जाता है और जिसमे हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्पर्क पूरे उतरते हैं। ये रूप भिन्न-भिन्न ईश्वर नही है, किन्तु भगवान् के भिन्न व्यापार हैं या कार्य की दृष्टि से भगवान् की ऐसी कल्पना की गई है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है। वह और उसके रूप एक रस है। वे रूप वासुदेव की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए इन्हे विभव कहा गया है। उसकी शक्तियो की ऐसी अभिव्यक्ति महान् धार्मिक पुरुषो मे भी पाई जाती है जैसेकि व्यास अर्जुन इत्यादि। लोकाचार्य आगे ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अपने स्वरूप से केवल सर्वज्ञ ही नही है किन्तु यह सर्वज्ञता, सम्पूर्ण और नित्यानन्द से जुडी हुई है। उसके ज्ञान और शक्ति मे परिवर्तन नही होती न उनकी तुलना की की जा सकती है क्योकि वे सर्वदा सर्वोच्च और अचित्य हैं। वह हम सबो को कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार इच्छापूर्ति करता है। जो अज्ञानी हैं उन्हे ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन हैं उन्हे शक्ति देता है, अपराधियो को क्षमा, दुखी जनो को दया, दुष्टो को भलाई, कुटिल को सरलता और जो हृदय से दुष्ट है उन्हें सहृदयता देता है। जो उनसे जुदा नही रहना चाहते उनसे वह जुदा रह नही सकता, और जो उनका दर्शन करना चाहते है वह उनके निकट आ जाता है। जब वह दुखी

[1] देखो न्याय सिद्धाजन वेंकटनाथ कृत।

मनुष्यों को देखता है तो उन पर दया करता है और सहायता देता है। इस प्रकार उसके गुण दूसरों के लिए हैं, अपने लिए नहीं। उसका प्रेम हमारे लिए बहुत ऊँचा है, प्रेम से प्रेरित होकर वह हमारे दोषों को नहीं देखता और हमें श्रेय मार्ग में लगाया करता है। उसने यह जगत् अपने में ही उत्पन्न किया है, परन्तु यह इच्छापूर्ति के लिए नहीं, लीला के लिए किया है। सृष्टि उत्पत्ति में, वैसे ही उस विनाश करने और प्रलय करने में वही लीला सदा धारण करती है और प्रकट करती है। प्रलय भी उसकी लीला है जैसे जगत् की उत्पत्ति है। यह सब उसी से और उसी में से उत्पन्न हुआ है।

रामानुज और वेंकटनाथ के अनुसार जीव का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

यामुन के अन्य दर्शनों के मुकाबले में जीव की पृथक् और स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसका विवरण हमने उनके जीव-विषयक सिद्धान्त का उल्लेख करते विस्तार से किया है। जीव अणु रूप है जैसाकि यामुन ने कहा है। विष्णु मिश्र और वेंकटनाथ ने यह माना है कि जीव की व्यावहारिक स्थिति में उसका ज्ञान विस्तार पाता है और सकुचित होता है। मुक्तावस्था में वह विकास की चरमावस्था पर पहुँचता है जब वह समस्त जगत् पर व्याप्त हो जाता है। विकास और सकुचित होना कर्मों के कारण से है जो अविद्या भी कहलाती है।

रामानुज 'वेदान्तदीप' ग्रन्थ में जीव के अणु रूप होने से शरीर के एक भाग में रहते हुए भी, ज्ञान की शरीर के भिन्न भागों में उत्पत्ति समझाने के लिए, दीपक की रश्मि की उपमा देते हैं। जीव देह के एक भाग में ही रहता है और अपना प्रकाश शरीर के सारे भागों पर फैलाता है जैसेकि एक दीपक। रामानुज कहते हैं कि ईश्वर जीवों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की अनुमति देता है। जीवों की इच्छा को ईश्वर की सम्मति बिना गति मिलना अशक्य है। स्वचैतन्य युक्त जीव अपनी स्वेच्छानुसार कर्म करना चाहते है इसमे भगवान अवरोध नहीं करते। ईश्वर सर्वदा जीवों को कर्म करने देते हैं अर्थात् अपनी इच्छानुसार अगों को हिलाने देते हैं, यह एक प्रकार का प्रसगागत कारणवाद है जिसके अनुसार मैं अपने प्रत्येक कर्मों के करने मे ईश्वर के सकल्प पर आश्रित हूँ। मैं अपने अग हिला सकता हूँ क्योंकि वह ऐसा चाहता है। ईश्वर हमारे समस्त कार्यों का आश्रय है इस सामान्य नियम के अलावा उसके अनुग्रह और अकृपा के कुछ अपवाद हैं जो उससे विशेष प्रकार से सम्बन्धित हैं उनके प्रति भगवान् अधिक अनुग्रह दिखाते हैं और वह अपनी कृपा द्वारा उनमे ऐसी इच्छा उत्पन्न करते हैं कि जिससे वे उन्हे योग्य कर्म द्वारा उसे पा सकें। जो उनसे विरुद्ध हैं उनमे वह ऐसी इच्छाएं उत्पन्न करते हैं कि वे उनसे और दूर हो

जाते हैं।[1] ईश्वर हम सब मे अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस अन्तर्यामी रूप का प्रतिनिधि हमारा जीव है। यह जीव अपनी इच्छा ज्ञान और प्रयत्नो मे स्वतन्त्र है।[2] यह ज्ञान, इच्छा इत्यादि की स्वतन्त्रता, ईश्वर ने हम सभी को दी है और वह इस भौतिक जगत् मे क्रियाओ की इस तरह व्यवस्था करता है कि वे हमारी इच्छानुसार होवें। इस प्रकार वह हमे स्वातत्र्य ही नही देता किन्तु उन्हे बाह्य जगत् मे फलीभूत होने के लिए सहायता भी करता है और अन्त मे अच्छे-बुरे कर्मानुसार पाप-पुण्य भी देता है।[3] इस प्रकार ईश्वर का आधिपत्य हमारी इच्छा को लूट नही लेता। उसका अनुग्रह और अप्रसन्नता भी भक्त की ईश्वर के सम्पर्क मे आने की तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए ही है। उसकी अप्रसन्नता पक्के पापी को उसकी इच्छा की पूर्ति करता हुआ उसे अपने से दूर सासारिक सुखो की ओर ले जाती है। बहुधा आत्मा चेतन या ज्ञानमय कही जाती है क्योकि वह चैतन्य की तरह स्वय प्रकाश्य है।[4] वह इन्द्रियो के सम्पर्क द्वारा सभी पदार्थों को प्रकट करती है। समस्त जीव, फिर भी ईश्वर मे ही आधृत है। रामानुज ने जीवो को केवल ईश्वर की देह माना है, किन्तु वरवर और लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते है। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए है उसी प्रकार ईश्वर और जीव मे शेप और शेषी सम्बन्ध है। ईश्वर शेष है और जीव ईश्वर के नियन्त्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

जीव यद्यपि स्वरूपत निर्मल और शुद्ध है किन्तु अज्ञान से तथा अचित् के सम्पर्क से सासारिक इच्छाओ से सम्बन्धित हो जाता है। अविद्या का अर्थ ज्ञानाभाव है, लक्षणो का मिथ्या आरोपण मिथ्या-ज्ञान इत्यादि है, यह अविद्या, जो अनेक सासारिक इच्छाओ तथा अपवित्र प्रवृत्तियो का कारण है वह जीव के अचित् सयोग से है, जब यह सयोग छूट जाता है तब जीव अविद्या से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है।[5]

जब वह अच्छे गुरु के पास से शास्त्रो का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर प्रतिदिन, आत्म सयम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, दान, अहिंसा आदि का अभ्यास करता है और नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करता है और निषेध कर्मो का त्याग करता है और तत्पश्चात् भगवान् मे शरणागति लेता है, उसकी स्तुति

---

[1] देखो, तत्त्वत्रय पर वरवर टीका।

[2] देखो, रामानुज भाष्य २ ३ ४०,४१।

[3] देखो, रामानुज भाष्य ६ ३ ४०,४१।

[4] देखो, रामानुज भाष्य २,३,२६,३०।

[5] तत्त्वत्रय पर वरवर की टीका, चित् प्रकरण।

वस्था के विषय मे कहते है कि यह वह स्थिति है जो मनुष्य, अविद्या-रहित होकर प्राप्त करता है और उसे परमात्मा और उसके साथ अपने सम्बन्ध का सहज ज्ञान होता है। वे इस अवस्था को उस मुक्ति से विविक्त करते हैं जिसमे मनुष्य कर्म-रहित होकर अपने आप मे यह अनुभव करता है कि वह ही ईश्वर के गुणो का अवरोधक है। वह कैवल्य या अपने आपको ब्रह्म अनुभव करना, निम्न कोटि की मुक्ति है। यहाँ पर यह कहना अप्रासगिक नही होगा कि वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय को क्रमश आनन्द भाव और भगवत्-शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुँचाया है।

अचित् या अतिप्राचीन द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार

वेंकटनाथ, अचित् जड के स्वभाव का वर्णन करते हुए, न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते है। जड वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद मे से जाती हुई सूर्य-रश्मि मे दीखता है। इससे भी सूक्ष्म-पदार्थ द्वणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योकि वे दृष्टि-गोचर नही होते। उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नही की जा सकती जो हवा के साथ उडकर सुगध फैलाती है, क्योकि इन अणुओ मे गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म है और उनमे कोई भी गोचर गुण नही होता। अनुमान से भी ये सिद्ध नही किए जा सकते। क्योकि अगर हम यह मानें कि इन्हे विभाजन करते हुए उस अवस्था पर पहुँचें कि जहाँ वे आगे विभाजित नही किए जा सकते और उन्हे परमाणु कहे तो यह भी अशक्य है, क्योकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे अणु ही नही है किन्तु उनका विशेष प्रकार का एक गुण है जो पारिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है और इसे अनुमान करने को हमारे पास कोई भी आधार नही है। अगर लघुत्व ही लक्षण है तो हमे त्रसरेणु पर ही रुक जाना चाहिए (सूर्य-रश्मि मे दीखता अणु)। इसके उपरान्त परमाणु-वाद के विरोध मे और भी आपत्तियाँ है। जैसा शकराचार्य ने प्रतिपादन किया है कि परमाणु जो अखड है वे दूसरे परमाणु के सयोग मे नही आ सकते और न कोई पूरी इकाई बना सकते है या परमाणु का परिमाण्डल्य परिमाण द्वयणुक मे दूसरा नवीन परिमाण नही उत्पन्न कर सकता या द्वयणुक त्रसरेणु मे भिन्न प्रकार का परिमाण नही उत्पन्न कर सकता। यह ससार त्रसरेणु के सयोग से उत्पन्न होता है यह नही स्वीकारा जा सकता। सत्व, रजस् और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पडेगा। अहकार की अभिव्यक्ति के पहले और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था, जिसमे कोई विकार पैदा नही होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियो के उत्पन्न होने के पहले की स्थिति अहकार कहलाती है। महत् और अहकार बुद्धि या अह की आत्मगत अवस्था नही है

बीसवाँ अध्याय

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

निर्गुण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शंकर के मत

शकर कहते है कि ब्रह्मन् चिन्मात्र है सर्वथा अरूप है और अन्तिम सत्ता (परमार्थ) है, ज्ञाता और ज्ञेय, भेद तथा भिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोपण मात्र है और मिथ्या हैं। उनके मतानुसार मिथ्या तत्व जो दोष से उत्पन्न होता है भ्रम है, जो सद् वस्तु के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। दोष सद् वस्तु को छिपाकर भिन्नत्व प्रकट करता है। ससार का भ्रम जिस दोप से उत्पन्न होता है वह अविद्या या माया है, जो सत् या असत् कुछ भी नही कही जा सकती है। (सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्)। यह ब्रह्म के ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। यह सच है कि हम व्यवहार-दृष्टि मे भिन्नत्व और नानात्व का अनुभव करते हैं किन्तु यह दोपपूर्ण है क्योकि अदोपपूर्ण शास्त्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते है और यद्यपि वेदो मे, अन्य स्थान पर हमे शास्त्रोक्त धर्मपालन करने का आदेश किया है जो नानात्व के अस्तित्व का समर्थन करते हैं, तो भी शास्त्र के वह अश जो एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते है, अधिक महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक हैं, क्योकि वे अन्तिम-परम-सत्ता के बारे मे कहते हैं, जबकि अन्य वेदो के आदेश भ्रमपूर्ण जगत् के बारे मे ही प्रमाण है या उसी सीमा तक प्रमाण है जहाँ तक अन्तिम सत्ता को नही जाना गया है। पुन वेद, ब्रह्म को सत्य, ज्ञानमय और अनन्त कहते हैं ये ब्रह्म के गुण नही है, ये एक ही अर्थ का बोध कराते हैं और उसी अभिन्न निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य करते है।

रामानुज उपरोक्त वाद का खण्डन करते हुए, शकर के इस मत को पहले लेते है कि ब्रह्म निर्विशेप है। वे कहते हैं कि जो सत्ता को निर्गुण बताते है उनके पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई साधन नही है। क्योकि सारे प्रमाण गुणो की मान्यता पर ही आश्रित है। यह निर्गुणत्व, प्रत्यक्ष अनुभव का विपय नही हो सकता जैसाकि वे मानते है, क्योकि अनुभव बिना कोई गुण के आश्रय के नही हो सकता। अनुभव मेरा स्वय का होने से सगुण ही होगा। अगर तुम इस प्रकार सिद्ध करने की कोशिश करो जिससे अनुभव सगुण होता हुआ भी निर्गुण है तो भी तुम किसी विशेप गुण का आश्रय लेकर ही कह सकते हो कि यह गुण दृष्टि मे वह ऐसा है, और इसी प्रयत्न

से तुम्हारा सिद्ध करना भी व्यर्थ जाता है, क्योकि वह विशेषता एक गुण है। ज्ञान स्वय प्रकाश्य है उसी के द्वारा ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि निद्रा या मूर्छा मे भी अनुभव निर्गुण नही होता। जब भी यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है, अनन्त है, तब अर्थ यही होता है कि ये ब्रह्मन् के गुण हैं, यह कहना निरर्थक है कि वे कोई भी गुणो को लक्ष्य नही करते। शास्त्र किसी निर्गुण सत्ता का समर्थन नही कर सकते, क्योकि शास्त्र, शब्दो का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमे प्रत्यय और उपसर्ग है, इसलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का, अर्थ प्रकट नही कर सकते जो निर्गुण हो। अगर प्रत्यक्ष को देखा जाय तो, यह सर्वमान्य है कि सविकल्प प्रत्यक्ष सगुणयुक्त पदार्थ को ही प्रकट करता है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी कुछ गुणो को अवश्य प्रकट करता है क्योकि निर्विकल्पना का अर्थ यहाँ विशेष गुणो के निषेध से है, ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष नही हो सकता है जो गुणो के प्रकट करने का सर्वथा निषेध करता हो। सारे अनुभव 'यह ऐसा है' ऐसे वाक्यो मे बाधे जाते हैं और इस प्रकार वे किसी न किसी गुण को ही प्रकट करते हैं। जब कोई वस्तु पहले प्रत्यक्ष होती है तब कुछ विशेष गुण दीखते हैं, जब वह फिर प्रत्यक्ष होती है तब पहले देखे हुए गुणो की स्मृति जागृत होती है और उनकी तुलना द्वारा उन विशेष गुणो का समीकरण होता है। इसे ही हम सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं, जिसमे पहले क्षण के निर्विकल्प ज्ञान से भिन्न, सामान्य या जातिगुणो की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे कोई विशेष गुणो का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है इसलिए प्रत्यक्ष मे विशेष गुणो का ज्ञान होना आवश्यक है, इस प्रकार हमारे ज्ञान के तीनो स्रोत अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, गुणरहित किसी भी वस्तु को प्रकट करते हैं—ऐसा नही हैं।

शकर और उसके अनुयायियो का कहना है कि प्रत्यक्ष केवल शुद्ध सत्ता को ग्रहण करता है (सन्मात्र ग्राही) है, किन्तु यह कभी भी सत्य नही हो सकता क्योकि प्रत्यक्ष जाति-गुणो से सम्बन्ध रखता है जो भेद प्रत्यय का अपेक्षी है, प्रत्यक्ष के पहले ही क्षण मे, वस्तु या विषय के भेद-युक्त लक्षण का, जिससे वह दूसरी वस्तुओ से विविक्त होता है, ज्ञान होता है। अगर प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल शुद्ध सत्ता से ही होता तो 'यह घडा है' 'यह कपडे का टुकडा है' आदि प्रत्यक्ष कैसे होता? और प्रत्यक्ष मे यदि लक्षणो का ज्ञान नही होता तो फिर हमें, जब घोडा चाहिए, तब भैंसे से भिडन्त क्यो नही हो जाती? शुद्ध सत्ता के रूप मे, सब एक सरीखे हैं, और सत्ता ही, ऐसा कहा जाता है, प्रत्यक्ष द्वारा प्रकट होती है तो फिर स्मृति, एक से दूसरे का भेद प्रकट नही करेगी और एक वस्तु का ज्ञान सभी वस्तुओ के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अगर एक प्रत्यक्ष दूसरे से भिन्न है, यह मान लिया जाता है

तो यही बात या तथ्य, निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के आग्रह का नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ, अपने योग्य गुणो का ही ग्रहण कर सकती हैं, जैसेकि आँख रग का, कान शब्द का इत्यादि, इन्द्रियाँ निर्गुणता का अवगाहन नही कर सकती। फिर आगे, ऐसा कहा है कि ब्रह्मन् शुद्ध सत्ता स्वरूप है, और यही शुद्ध सत्ता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव होता है तो फिर इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मन् इन्द्रियगोचर है। अगर ऐसा है तो ब्रह्मन् अन्य इन्द्रियगोचर वस्तु की तरह, परिणामी और विनाशी हो जाता है, जो किसी को भी मान्य नही हो सकता। अत इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष मे भेद का ज्ञान होता है, शुद्ध निर्गुणता का नही।

पुन ऐमा तर्क किया गया है, क्योकि घडे इत्यादि का अनुभव देशकाल के साथ भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् हम एक जगह घडा और दूसरी जगह कपडे का टुकडा और दूसरे क्षण, एक जगह खिलौना और दूसरी जगह घोडा देखते हैं, और इस प्रकार हमे हर देश और काल मे एक ही वस्तु का निरन्तर अनुभव नही होता, इसलिए ये सब वस्तुएं मिथ्या हैं। परन्तु ऐसा क्यो होना चाहिए ? इस तथ्य मे कही भी विरोध अथवा असगति नही है कि दो वस्तुएँ एक ही स्थान पर दो अलग-अलग काल मे स्थित रहती है, अथवा दो वस्तुएँ दो अलग-अलग स्थानो पर एक ही समय विद्यमान रह सकती है। इसलिए जो कुछ हम देखते है वह सब मिथ्या है तथा विपय या वस्तु स्वरूपत शुद्ध सत्ता रुप हैं। इसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई तर्क नही है।

पुन ऐसा तर्क प्रस्तुत किता गया है कि अनुमव या अपरोक्षानुमव (जो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है) स्वय प्रकाश है, किन्तु यह केवल प्रत्यक्षकर्त्ता के विपय मे, किमी विशेप समय के, प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही सत्य है। कोई अनुभव नितान्त स्वय प्रकाश नही है। दूसरे मनुष्य का अनुभव, मुझे कुछ भी प्रकट नहीं करता और न मेरा ही भूतकाल का अनुभव अभी वर्तमान मे मुझे कुछ प्रकट करता है, क्योकि मेरे भूतकाल के अनुभव के विपय मे मैं केवल यही कहता हूँ 'मैं ऐमा पहले जानता था' न कि 'मैं, अभी जानता हूँ'। यह भी सत्य नही है कि किसी भी अनुभव का फिर आगे अनुभव नही किया जा मकता क्योकि मैं अपने भूतकाल के अनुभव को याद कर सकता हूँ या उसके वारे मे ठीक उसी प्रकार जान सकता हूँ जैसे मैं दूसरो के ज्ञान की अनुभूति को जान सकता हू। अगर यह तथ्य कि दूसरे का अपना ज्ञान, किसी के ज्ञान का विपय वन जाने से वह सविद् या अनुभूति नही रहता तो फिर, कोई भी अनुभूति उपलव्ध नही रहती। अगर कोई, दूसरो के अनुभव को जान नहीं सकता तो वह अपने को व्यक्त करने के लिए, कोई भापा का उपयोग नही कर सकता और न वह दूसरो की भापा को भी समझ सकता है, इस प्रकार समस्त भापा और वाणी निरर्थक हो जाती है। 'यह घडा' इत्यादि का अनुभव (सविद्) नहीं जाना जा

निर्विकार अनुभव नही होता। इस प्रकार ऐसी कोई अवस्था नही है जिसमे बिना विषय के शुद्ध ज्ञान का अनुभव हो। इसलिए ऐसा तर्क नही किया जा सकता कि, क्योकि ज्ञान अपनी अनुपस्थिति या अभाव की अवस्था को प्रकट नही कर सकता इसलिए, वह हमेशा वर्तमान ही है और उत्पन्न नही किया जा सकता, जबकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषय से नित्य सम्बन्वित है और प्रत्येक पदार्थ या विषय समय की मर्यादा मे है अत ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

पुन यह तर्क कि ज्ञान या अनुभूति अज्ञात है (उत्पत्ति रूप नही है) इसलिए उसमे कोई परिणाम या भेद नही हो सकता, यह मिथ्या है। तर्क करने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान उत्पत्तिरहित है तो भी उसे आवश्यक रूप से परिणाम-रहित क्यो होना चाहिए? प्रागभाव अनादि है किन्तु वह सान्त है। ठीक उसी प्रकार शकर मतवादियो की अविद्या है जो अनादि मानी गई है और भेद तथा परिणाम-युक्त है, जिसका प्रमाण जगत्-आभास की उत्पत्ति है। आत्मा भी, जो अनादि और अनन्त है वह भी देह और इन्द्रियो से जो उससे भिन्न हैं, सबंधित है, जुडा हुआ है। आत्मा का अविद्या से भेद-युक्त ज्ञान, ज्ञान का एक विशेषप्रकार है और इसे ही (इस भेद को)ही न माना जाय तो आत्मा को अविद्या से अभिन्न मानना पडेगा पुन यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य, चित् या सविद् शुद्ध अनुभवरूप है क्योकि अगर वह ऐसा है तो उसे आत्म प्रकाश, नित्य या एक कहने की भी क्या आवश्यकता है? ये सब भिन्न गुण हे औरये वस्तु के सगुण रूप को निर्दिष्ट करते हैं जिसमे ये पाए जाते हैं। यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य निर्गुण है, क्योकि कम से कम उसमे निषेधात्मक गुण है जिसके फलस्वरूप वह भौतिक, और अन्य आश्रित पदार्थों से पृथक् किया जाता है जो शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं। पुन यदि इस शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है तो यही इसका एक गुण होना चाहिए। परन्तु यह किसके लिए सिद्ध किया जाता है? आत्मा जो जानता है उसी के लिए वह सिद्धि अर्थ रखनी चाहिए, और इस अवस्था मे विशेष लक्षण का आत्मा को अनुभव होना चाहिए। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मज्ञान और आत्मा दोनो एक ही है तो यह सब असम्भव दीखता है, क्योकि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न होता है, जो किसी विषय को प्रकट करता है। ज्ञाता अपने समस्त ज्ञान-व्यापार मे नित्य होना चाहिए, और इसी द्वारा स्मृति और प्रत्यभिज्ञा समझ मे भी आ सकती है। विभिन्न वस्तुओ के सुख और दुःख के अनुभव आते और जाते हैं, किन्तु ज्ञाता हर अनुभव मे एक सा ही रहता है। तो फिर अनुभव और अनुभव-कर्त्ता दोनो का तादात्मय कैसे किया जा सकता है? 'मैं जानता हूँ' 'अभी मैं भूल गया हूँ' इसी से हम यह जानते हैं हमारा ज्ञान आता और जाता है और ये अवस्थाएँ हम से भिन्न हैं। ज्ञान या चैतन्य का ज्ञाता या आत्मा से तादात्म्य कैसे हो सकता है?

सकता, केवल इसलिए कि वे स्वरूपतः उससे भिन्न हैं, इसलिए नहीं कि वे किसी अन्य के ज्ञान का विषय हैं, अनुभव का यह लक्षण नहीं है।

पुन ऐसा कहा जाता है कि अनुभूति या संविद् उत्पन्न नहीं की जा सकती, क्योंकि हम यह नहीं बता सकते कि उसकी सत्ता पहले नहीं थी (प्रागभावाभावाद् उत्पत्तिनिरस्यते)। ऐसा भी कहा जाता है कि कोई भी अनुभूति या संविद् यह नही प्रकट कर सकती कि कौनसी स्थिति मे उसका अस्तित्व नहीं था। क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी अनुपस्थिति किस प्रकार प्रकट कर सकती है जबकि वह अपनी अनुपस्थिति मे वर्तमान नही रह सकती। रामानुज, शंकरवाद के इस तर्क के जवाब मे कहते हैं कि ऐसा क्यों आवश्यक समझा जाए कि अनुभूति केवल उसे ही प्रकट करे जो उसका तात्कालिक हो ? क्योंकि अगर ऐसा होता तो भूत और भविष्य के बारे मे कोई भी बातचीत नही हो सकती। निःसन्देह प्रत्यक्ष ज्ञान मे केवल समय तथा काल स्थित उसी का अनुभव होता है जिसके विषय मे प्रत्यक्ष इन्द्रियों का व्यापार होता है। यह सिद्धान्त वतमान के प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध मे है किन्तु यह सिद्धान्त सब प्रकार के ज्ञान के लिए लागू नही किया जा सकता। स्मृति, अनुमान, शास्त्र तथा ऋषियो की अपरोक्ष रहस्यानुभूति (योगि-प्रत्यक्ष) के द्वारा भूतकालीन घटनाओ और भविष्य मे होने वाली स्थितियो का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाना सम्भव है। इस प्रकार के तर्क से यह अर्थ निकलता है कि 'घट' जैसे सामान्य वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान काल-विशेष मे होता है और इसकी अनुभूति सभी समय कालादि मे नही होती। इस प्रकार इसकी अनुभूति नही होने का यही अर्थ है कि ज्ञान की अनुभूति (सविद् या अनुभूति) काल से मर्यादित नही है तो वस्तु की अनुभूति भी काल द्वारा बाधित नही हो सकती और इस प्रकार घट इत्यादि पदार्थ भी स्वरूप से नित्य माने जाने योग्य हैं जो यथार्थ मे सच नही है। इसी प्रकार का तर्क, अनुमान के ज्ञान के प्रकटीकरण के बारे मे भी दिए जा सकते हैं। तर्क किया जा सकता है, जबकि पदार्थ का स्वरूप अनुभूति स्वरूप ही होना चाहिए, जैसाकि वह प्रकट करती हैं तो, अगर ज्ञान या अनुभूति समय से मर्यादित नही है और नित्य है तो पदार्थ भी नित्य होगे। बिना पदार्थ या विषय के ज्ञान नही हो सकता। ऐसा नही कहा जा सकता कि निद्रा, मदमत्तावस्था और मूर्च्छा मे बिना विषय के शुद्ध ज्ञान होता है। अगर शुद्ध अनुभव उस अवस्था मे होता है तो जगने पर उसकी स्मृति रहनी चाहिए, क्योंकि प्रलयावस्था एव शरीर-अभाव की अवस्था को छोडकर, सभी अनुभवो की स्मृति रहती है। किन्तु मूर्च्छा या निद्रा का क्या अनुभव है उसकी किसी को स्मृति नही रहती इससे यह पता चलता है कि उस समय कोई शुद्ध ज्ञान प्रकट नही होता न उसकी सत्ता ही है। रामानुज का कहने का अर्थ यह है—और जो आगे और स्पष्ट हो जाएगा कि मूर्च्छा और निद्रा में हमें आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है और शुद्ध चित्त का

निर्विकार अनुभव नही होता। इस प्रकार ऐसी कोई अवस्था नही है जिसमे विना विपय के शुद्ध ज्ञान का अनुभव हो। इसलिए ऐसा तर्क नही किया जा सकता कि, क्योकि ज्ञान अपनी अनुपस्थिति या अभाव की अवस्था को प्रकट नही कर सकता इसलिए, वह हमेशा वर्तमान ही है और उत्पन्न नही किया जा सकता, जबकि प्रत्येक ज्ञान अपने विपय से नित्य सम्बन्वित है और प्रत्येक पदार्थ या विपय समय की मर्यादा मे है अत ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

पुन यह तर्क कि ज्ञान या अनुभूति अज्ञात है (उत्पत्ति रूप नही है) इसलिए उसमे कोई परिणाम या भेद नही हो सकता, यह मिथ्या है। तर्क करने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान उत्पत्तिरहित है तो भी उसे आवश्यक रूप से परिणाम-रहित क्यो होना चाहिए? प्रागभाव अनादि है किन्तु वह सान्त है। ठीक उसी प्रकार शकर मतवादियो की अविद्या है जो अनादि मानी गई है और भेद तथा परिणाम-युक्त है, जिसका प्रमाण जगत्-आभास की उत्पत्ति है। आत्मा भी, जो अनादि और अनन्त है वह भी देह और इन्द्रियो से जो उससे भिन्न है, सवधित है, जुडा हुआ है। आत्मा का अविद्या से भेद-युक्त ज्ञान, ज्ञान का एक विशेपप्रकार है और इसे ही (इस भेद को)ही न माना जाय तो आत्मा को अविद्या से अभिन्न मानना पडेगा पुन यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य, चित् या सविद् शुद्ध अनुभवरूप है क्योकि अगर वह ऐसा है तो उसे आत्म प्रकाश, नित्य या एक कहने की भी क्या आवश्यकता है? ये सव भिन्न गुण हे औरये वस्तु के सगुण रूप को निर्दिष्ट करते हैं जिसमे ये पाए जाते हैं। यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य निर्गुण है, क्योंकि कम से कम उसमे निपेधात्मक गुण है जिसके फलस्वरूप वह भौतिक, और अन्य आश्रित पदार्थों से पृथक् किया जाता है जो शुद्ध चैतन्य से भिन्न है। पुन यदि इस शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है तो यही इसका एक गुण होना चाहिए। परन्तु यह किसके लिए सिद्ध किया जाता है? आत्मा जो जानता है उसी के लिए यह सिद्धि अर्थ रखनी चाहिए, और इस अवस्था मे विशेप लक्षण का आत्मा को अनुभव होना चाहिए। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मज्ञान और आत्मा दोनो एक ही है तो यह सव असम्भव दीखता है, क्योकि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न होता है, जो किसी विपय को प्रकट करता है। ज्ञाता अपने समस्त ज्ञान-व्यापार मे नित्य होना चाहिए, और इसी द्वारा स्मृति और प्रत्य-भिज्ञा समझ मे भी आ सकती है। विभिन्न वस्तुओ के सुख और दुख के अनुभव आते और जाते है, किन्तु ज्ञाता हर अनुभव मे एक सा ही रहता है। तो फिर अनुभव और अनुभव-कर्त्ता दोनो का तादात्मय कैसे किया जा सकता है? 'मैं जानता हूँ' 'अभी मैं भूल गया हूँ' इसी से हम यह जानते हैं हमारा ज्ञान आता और जाता है और ये अवस्थाएँ हम से भिन्न है। ज्ञान या चैतन्य का ज्ञाता या आत्मा से तादात्म्य कैसे हो सकता है?

जैसेकि सीप मे रजत का भ्रम होता है। किन्तु रामानुज आग्रह करते है कि ऐसा नही हो सकता, क्योकि अगर ऐसा भ्रम होता तो लोगो को यह रजत है इस प्रकार 'मैं चैतन्य हू' ऐसा अनुभव होता। कोई भी ऐसी भूल नही करता, क्योकि हम दोनो को पृथक् करते है और अपने को ज्ञान से भिन्न अनुभव करते हैं जैसेकि 'मैं' अनुभव करता हूँ। (अह अनुभवामि)।

ऐसा तर्क किया गया है कि आत्मा अपरिणामी होने से ज्ञान-व्यापार का कारक और ज्ञाता नही हो सकता और इसलिए ज्ञातृ-भाव केवल अहकार का ही धर्म है जो परिणामी प्रकृति का विकार है। यह अहकार अन्त करण है और इसे ही ज्ञाता कहा जा सकता है, क्योकि ज्ञान-व्यापार का कारक, वस्तुनिष्ट और साश्रय गुणयुक्त है इसलिए वह आत्मा का गुण नही हो सकता। अगर आत्मा मे अह भावना तथा कृनकत्व के गुण के निक्षेप की सम्भावना होती तो, आत्मा देह की तरह जड और पराश्रित सत्तायुक्त हो जाता क्योकि इस तरह वह स्वप्रकाशहीन हो जाता है। रामानुज इन आक्षेपो के उत्तर मे कहते है कि अगर अहकार शब्द का अन्त -करण के अर्थ मे उपयोग किया जाता है तो उसमे देह के सभी जडत्व के गुण आ जाते हे और उसे ज्ञाता कभी भी नही कहा जा सकता। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नही है (विक्रियात्मक), क्योकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमे ज्ञान करने का गुण है (ज्ञान-गुणाश्रय) और ज्ञान, क्योकि, नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है इसलिए वह भी नित्य है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी जैसे प्रकाश तत्व, प्रकाश और रश्मि, दोनो रूप से सत्ता रखता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान या चैतन्य रूप से और गुणाश्रय रूप से सत्ता रख सकता है (मणि प्रभृतीनाम् प्रभाश्रयत्वम् इव ज्ञाना-श्रयत्वमपि अविरुद्धम्)। ज्ञान स्वरूप मे अमर्यादित एव अपरिच्छिन्न है (स्वय अपरिच्छिन्नम् एव ज्ञानम्) तो भी वह सकोच और विकास कर सकता है (सकोच विकाशाहम्) देहाश्रित आत्मा मे कर्म के प्रभाव से वह सकुचित रूप मे है (सकुचित-स्वरूपम्) तो भी उसमे उत्तरोत्तर विकसित होने की शक्ति है। व्यक्ति के सम्बन्ध मे इसे यो कहा जाता है कि उसमे इन्द्रियो के प्रतिबन्ध के अनुसार, ज्ञान न्यून या अधिक है।[1] इसी वजह से हम ज्ञान का उदय और ज्ञान का अन्त कहते हैं। जब ज्ञान का उदय होता है तब हम उसे ज्ञाता कह सकते हैं। इस प्रकार यह मान्य होना है कि ज्ञातृ-भाव या ज्ञातृत्व-शक्ति आत्मा मे निसर्गत नही है, किन्तु धर्म से है, इसलिए यद्यपि आत्मा स्वय ज्ञाता है किन्तु वह चैतन्य की दृष्टि से अपरिणामी है। किन्तु यह तो कभी भी स्वीकारा नही जा सकता कि जड अहकार, चित के सम्पर्क से ज्ञाता बन जाता है क्योकि चित् स्वरूप से ज्ञाता नही माना जा सकता। अहकार भी ज्ञाता

[1] श्री भाष्य, पृ० ४५।

जैसेकि सीप में रजत का भ्रम होता है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अगर ऐसा भ्रम होता तो लोगों को यह ज्ञान है इस प्रकार 'मैं चैतन्य हूँ' ऐसा अनुभव होता। कोई भी ऐसी भूल नहीं करता, क्योंकि हम दोनों को पृथक् करते हैं और अपने को ज्ञान से भिन्न अनुभव करते हैं जैसेकि 'मैं' अनुभव करता हूँ। (अहं अनुभवामि)।

ऐसा तर्क किया गया है कि आत्मा अपरिणामी होने से ज्ञान-व्यापार का कारक और ज्ञाता नहीं हो सकता और इसलिए ज्ञातृ-भाव केवल अहंकार का ही धर्म है जो परिणामी प्रकृति का विकार है। यह अहंकार अन्तःकरण है और इसे ही ज्ञाता कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान-व्यापार का कारक, वस्तुनिष्ठ और साश्रय गुणयुक्त है इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। अगर आत्मा में अहं भावना तथा कर्तृत्व के गुण के निक्षेप की सम्भावना होती तो, आत्मा देह की तरह जड़ और पराश्रित सत्तायुक्त हो जाता क्योंकि इस तरह वह स्वप्रकाशहीन हो जाता है। रामानुज इन आक्षेपों के उत्तर में कहते हैं कि अगर अहंकार शब्द का अन्तःकरण के अर्थ में उपयोग किया जाता है तो उसमें देह के सभी जड़त्व के गुण आ जाते हैं और उसे ज्ञाता कभी भी नहीं कहा जा सकता। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नहीं है (विक्रियात्मक), क्योंकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमें ज्ञान करने का गुण है (ज्ञान-गुणाश्रय) और ज्ञान, क्योंकि, नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है इसलिए वह भी नित्य है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी जैसे प्रकाश तत्त्व, प्रकाश और रश्मि, दोनों रूप से सत्ता रखता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान या चैतन्य रूप से और गुणाश्रय रूप से सत्ता रख सकता है (मणि प्रभृतीनाम् प्रभाश्रयत्वम् इव ज्ञाताश्रयत्वमपि अविरुद्धम्)। ज्ञान स्वरूप से असमर्यादित एवं अपरिच्छिन्न है (स्वतः अपरिच्छिन्नम् एव ज्ञानम्) तो भी वह संकोच और विकास कर सकता है (संकोच विकासाहम्) देहाश्रित आत्मा में कर्म के प्रभाव से वह संकुचित रूप से है (संकुचित-स्वरूपम्) तो भी उसमें उत्तरोत्तर विकसित होने की शक्ति है। व्यक्ति के सम्बन्ध में इसे यों कहा जाता है कि उसमें इन्द्रियों के प्रतिबन्ध के अनुसार, ज्ञान न्यून या अधिक है।[1] इसी तरह से हम ज्ञान का उदय और ज्ञान का अन्त कहते हैं। जब ज्ञान का उदय होता है तब हम इसे ज्ञाता कह सकते हैं। इस प्रकार यह मान लेना है कि ज्ञातृ-भाव या ज्ञातृत्व-शक्ति आत्मा में निसर्गत नहीं है, किन्तु सत्य है, इसलिए यद्यपि आत्मा स्वयं ज्ञाता है किन्तु वह चैतन्य की दृष्टि से अपरिणामी है। किन्तु यह तो कभी भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि वह अहंकार, चित् के सम्पर्क से ज्ञाता बन जाता है क्योंकि चित् स्वरूप से ज्ञाता नहीं माना जा सकता। अहंकार में ज्ञान

---

[1] श्री भाष्य, पृ० ४५।

नही है और ज्ञाता को इस दृष्टि से समझाया नही जा सकता। यह कहना निरर्थक है कि चित्त का प्रकाश जड अहकार पर सानिध्य की वजह से पडता है, क्योकि अदृश्य चित्त जड अहकार को किस प्रकार प्रकाश दे सकता है।

निद्रा मे भी आत्मा का अनुभव 'मै' के रूप मे रहता है क्योकि जगने पर हमे अनुभव होता है कि 'मै सुख-पूर्वक सोया'। इससे यह पता चलता है कि निद्रा मे 'मै' को अपना ज्ञान रहता है और वह सुख का अनुभव करता है। यह भी मान लिया गया है कि निद्रा से पहले और निद्रा मे और उसके बाद भी 'मै' की निरन्तरता रहती है क्योकि 'मै' को निद्रा के पहले का हाल याद रहता है। हमे यह भी ज्ञान होता है कि निद्रा मे मुझे किसी का ज्ञान नही था इस तथ्य से यह अर्थ नही होता कि मुझे कुछ भी ज्ञान नही था। इसका अर्थ है कि 'मै' को उन विषयो और पदार्थो का ज्ञान नही था जो उसे जागने पर होता है। 'मै' को निद्रा मे ज्ञान था इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही है, क्योकि शकर मतवादी भी कहेगे कि निद्रा मे आत्मा को अज्ञान का साक्षी रूप से ज्ञान है और कोई भी ज्ञाता हुए विना साक्षी रूप से ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। इस प्रकार निद्रा के बाद जब कोई कहता है कि 'मै' इतना अच्छा सोया कि मैने अपने को भी नही जाना यह कहने का मतलब यह नही होता है कि उसने अपने जाति, कुटुम्ब इत्यादि विशेष गुणो सहित नही जाना, जैसाकि वह जागने पर जानता है। इससे यह अर्थ नही निकलता है कि उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नही था। मुक्ति के बाद भी 'अहमर्थ' तत्व बाकी रहता है। क्योकि वह आत्मा को निर्देश करता है। अगर मुक्ति मे मुक्तावस्था को जानने वाला ही कोई नही है, तो वह कौन है जो मुक्त हुआ है और फिर ऐसी मुक्ति का प्रयास कौन करता है? अपने आपको प्रकट होना आत्म चैतन्य है और वह 'मै' जो जानता है उसे अवश्य ही अनुमित करता है इसलिए 'मै' यह प्रत्यय आत्मा को, स्वरूप से निर्देश करता है जोकि अनुभव और ज्ञान करता है। किन्तु अहमर्थ प्रत्यय को जड चित्त तत्व या अन्त करण से पृथक् करना चाहिए जो प्रकृति का एक विकार है और जो अभिमान की मिथ्या-भावना हैं और जिसे हमेशा बुरा माना हैं, यह बडो के प्रति अपमान जताता है, यह अविद्यागत है।

इस सम्बन्ध मे रामानुज, विवाद का दूसरा प्रश्न खडा करते है जो वे अपने इस आशय को सिद्ध करने के लिए देते हैं कि ऐसी कोई सत्ता नही है जो नितान्त निर्गुण हो। शकराचार्य का यह कहना कि श्रुति ने पर्याप्त प्रमाण दिए हैं जिससे हमे यह मानना पडता है कि सत्ता निर्गुण है और हमे इन प्रमाणो को श्रेष्ठ और अकाट्य मानना चाहिए, रामानुज इसका खण्डन करते है। शकर ने कहा है कि प्रत्यक्ष से श्रुति प्रमाण श्रेष्ठ है। किन्तु श्रुति अनेकत्व की मान्यता पर खडी है और

जिसके बिना भाषा प्रयोग अशक्य है। इसलिए ये प्रमाण मिथ्या हैं। श्रुति को इसलिए श्रेष्ठ माना है कि वे यह सिद्धान्त प्रतिपादन करती हैं कि नानात्व और भेद मिथ्या हैं और सत्ता नितान्त निर्गुण और भेद-रहित है किन्तु जबकि श्रुति का अर्थ एव अभिव्यक्ति ही भेद पर आश्रित है तो फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है ? पुन जबकि वे प्रत्यक्ष की तरह नानात्व पर आधारित होने से मिथ्या है तो फिर उन्हे प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ कैसे माना जाएगा ? जबकि श्रुति ही मिथ्या पर आधारित है तो फिर जो ये श्रुतियाँ कहती हैं वह भी मिथ्या है, यद्यपि वे प्रत्यक्ष द्वारा विरोधी प्रमाणित न भी किया गया हो। अगर किसी व्यक्ति का जिसका किसी भी अन्य मनुष्य से कुछ भी सम्पर्क नही है उसे नेत्र-रोग हो जाए जिससे वह दूर स्थित वस्तुओ को दोहरा देखता है तो उसका आकाश मे दो चन्द्र देखना भी मिथ्या ही होगा, चाहे फिर यह अनुभव, स्वय उसके अथवा दूसरो के अनुभवो द्वारा कभी भी खण्डित हो। अत यदि दोष है तो इस दोष द्वारा प्रसूत ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि जब ब्रह्मन् जोकि ज्ञान का विषय है, यदि अविद्या से ग्रस्त है, तब वह भी मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है इसलिए, अविद्या ही जब मिथ्या है तो, अविद्या के व्यक्त रूप शास्त्र द्वारा कहा गया ब्रह्म भी मिथ्या ही होगा और कोई भी इस प्रकार तर्क कर सकता है, क्योंकि ब्रह्म, अविद्या-दूषित साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय है इसलिए मिथ्या है जिस प्रकार कि जगत् मिथ्या है, (ब्रह्म मिथ्याविद्याद्युत्पन्न-ज्ञान-विषयत्वात् प्रपचत्वात्)। ऐसे तर्कों की कल्पना करते हुए शकर इस प्रकार परिहार करने का प्रयत्न करते हैं मिथ्या स्वप्न भी अच्छी या बुरी घटना की आगाही दे सकते है अथवा साप का मिथ्या भ्रम भी सच्ची मृत्यु ला सकता है। रामानुज इसका यो उत्तर देते हैं, स्वप्न मिथ्या है यह कहने का अर्थ यह है कि उनमे जो कुछ ज्ञान है उसके अनुरूप वास्तव मे कोई भी विषय नही है, इस तरह भ्रम मे भी ज्ञान का अश है और ऐसे ज्ञान से सच्चा भय पैदा होता है यद्यपि बाह्य जगत् मे ज्ञान के अनुरूप कोई भी विषय नही होता। इस प्रकार ऐसे उदाहरणो मे भी सच्चाई या सच्ची वस्तु या घटना का निवेदन मिथ्या नही होता किन्तु सच्चे ज्ञान द्वारा होता है क्योंकि ऐसी कोई भी शका नहीं करता कि उसे स्वप्न या भ्रम मे ज्ञान नही हुआ। स्वप्न मे ज्ञान हुआ था इस तथ्य को अगर माना जाता है तो स्वप्न सत्य है इसलिए यह कहना नितान्त निरर्थक है कि स्वप्न मे मिथ्यात्व से, सच्ची घटना की आगाही होती है।

इस तरह किसी भी दृष्टिकोण से तर्क किया जाय, तो पता चलेगा कि ब्रह्म निर्गुण और भेद-रहित है ऐसा सिद्ध करना अशक्य है चाहे फिर वह मना शुद्ध सत् हो, या सत् चित् और आनन्द की इकाई हो या शुद्ध अनुभूति हो। ऐसा विवाद, शास्त्र की प्रमाणता को ऐसा कुचल देगा कि उसके आधार पर कुछ भी सिद्ध नहीं

किया जा सकता और प्रत्यक्ष से शास्त्र की श्रेष्ठता की योग्यता भी स्थापित नही की जा सकती। किन्तु शास्त्र भी निर्गुण और निर्विकार सत्ता को प्रतिपादन नहीं करते। क्योकि शास्त्र के पाठ, जो ब्रह्म को शुद्ध सत् (छा० ६ २ १) या परात्पर मानते हैं (मु ड० १ १ ५) या जब ब्रह्म का, ज्ञान या सत्य से तादात्म्य प्रतिपादित है (तैत० २ १ १) तो ये सब निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य नही करते किन्तु वे उस ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसा साबित किया जा सकता है—जिसमे सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमता, सर्व-व्यापकता, नित्यता इत्यादि गुण हैं। गुणो के निपेध का अर्थ हेय गुणो से सम्बन्ध रखता है (हेय गुणान् प्रतिपिद्ध्य)। जब ब्रह्म को शास्त्रो ने एक कहा है इसका अर्थ यही है कि जगत् का कोई और दूसरा प्रतिस्पर्धी कारण नही है। किन्तु इसका यह अर्थ नही होता कि उसकी इकाई इतनी उत्कट है कि उसमे कोई भी गुण नहीं हैं। जहाँ-कही भी जब ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप कहा है तो अर्थ यह नही निकलता है कि यह ज्ञान-स्वरूपता निर्गुण और निर्विकार है, क्योकि ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्वरूप होने के कारण, वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि दीप जो प्रकाश स्वरूप है वह प्रकाश रश्मिवान् कहा जा सकता है।[1]

शंकराचार्य की अविद्या का खण्डन

शकर ऐसा कहते हैं कि स्वप्रकाश, भेदरहित सत्ता दोष के प्रभाव से नानात्व के रूप मे दीखती है। अविद्या रूपी यह दोष, अपना स्वरूप छिपाता है और नाना रूप प्रकट करता है जो सत् या असत् दोनो नहीं कहे जा सकते, इसे सत् इसलिए नही कह सकते क्योकि तब भ्रम और उसका मिथ्या अनुभव होना समझाया नही जा सकता, और वह असत् भी नही कहा जा सकता क्योकि तब हम ससार प्रपच और उसका मिथ्यात्व नही समझा सकते।

रामानुज, अविद्या का खडण्न करते हुए कहते हैं कि अविद्या असम्भव है क्योकि अविद्या का कोई आश्रय होना आवश्यक है और वह आश्रय स्पष्ट रूप से जीव नही हो सकता, क्योकि वह स्वय अविद्या से उत्पन्न है। ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नही हो सकता, क्योकि वह स्वप्रकाश चैतन्य है इसलिए अविद्या का विरोधी है और अविद्या सत्यज्ञान के प्रकाश के होते ही भ्रम रूप से जानी जाती है। ऐसा भी तर्क नही किया जा सकता कि ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, यह ज्ञान ही अविद्या को नाश करता

---

[1] ज्ञान स्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्व मणि द्युमणि प्रदीपादिवदिति उक्तम् एव। श्री भाष्य, पृ० ६१। उपरोक्त विचार श्रीभाष्य मे 'महापूर्वपक्ष' तथा 'महासिद्धात' मे प्रकट किए गए है। श्रीभाष्य, पृ० १०।

है, न कि यह ज्ञान की शुद्ध ज्ञान ब्रह्म का सरभाग है क्योकि ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता और ब्रह्म का अविद्या नाशक ज्ञान, इन दोनो मे कोई भेद नही है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञान से जो ब्रह्म का लक्षण प्रकट होता है वह उसकी स्वप्रकाशता मे विद्यमान ही है जो अविद्या का आवश्यक रूप से नाश करता है।[1] पुन शकर के मतानुसार, ब्रह्म, अनुभूति स्वरूप होने के कारण किसी अन्य ज्ञान का विषय नही हो सकता और इसलिए ब्रह्म को अन्य किसी प्रत्यय का विषय भी नही होना चाहिए। अगर ज्ञान का, अविद्या या अज्ञान से विरोध करना है तो फिर उसे अपने स्वरूप से वैसा ही होना चाहिए जैसा वह है, और इस प्रकार ब्रह्म, शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अविद्या से उसका विरोध होना चाहिए। पुनः ऐसा कहना कि ब्रह्म जो स्वरूप से स्वप्रकाश है वह अविद्या से ढका गया है तो इससे ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश हो जाता है, क्योकि ऐसी अवस्था मे स्वप्रकाशता कभी उत्पन्न ही नही हो सकती, स्वप्रकाशता का ढक जाना यही अर्थ रखता है कि वह नष्ट हो जाती है। क्योकि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने के सिवाय अन्य कुछ नही है। पुन, अगर यह निर्विषय, शुद्ध स्वप्रकाश अनुभूति ही, अविद्या-दोष द्वारा नानात्व रूप धारण करती है जिसे वह आश्रय देती है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह दोष सत् है या असत्। अगर यह सत् है तो अद्वैतवाद नष्ट होता है और यह असत् है तो, प्रश्न यह उठता है कि यह असत् दोष किस प्रकार उत्पन्न होता है? अगर यह किसी अन्य दोष से उत्पन्न है तो उसके भी असत् होने के कारण, वही प्रश्न फिर उठता है, और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि अधिष्ठान न होते हुए भी, एक असत् दोष दूसरे असत् दोष का कारण हो सकता है और इस प्रकार अनादि श्रृंखला चलती है तो हम शून्यवाद मे पड जाते हैं (माध्यमिक पक्ष या शून्यवाद)।[2] अगर

[1] सुदर्शन सूरि यहाँ कहते हैं कि, यदि स्वरूप दृष्टि तथा अविद्यानाशक दृष्टि से ब्रह्म मे ऐसा भेद है तो अर्थ यह होगा कि ब्रह्म का एक रूप दूसरे से भिन्न है या दूसरे शब्दो मे ब्रह्म सगुण है। श्रुत प्रकाशिका, पडित सस्करण बनारस, प्र० स० ६, —पृ० ६५८।

[2] सुदर्शन सूरि यहाँ सूचन करते है कि शकर मतानुयायी यहाँ अनवस्था दोष को तीन प्रकार से बचाने की कोशिश करते है। पहला, जो अविद्या का जीव से सम्बन्ध मानते हैं (जीवाज्ञानवादी), वे इसे बीजांकुर न्याय द्वारा समझाते हैं, जो खडित अनवस्था नही है, क्योकि उनके मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या जीव से उत्पन्न है (अविद्यायाम् जीव जीवादविद्या), जो अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध मानते हैं (ब्रह्माज्ञानवादी) वे कहते है कि अविद्या स्वरूप से अनादि है इसलिए उसकी प्रकृति की अकारणता और असगति [illegible] का कारण नहीं होना चाहिए। जीव के अनादि प्रवाह मे अविद्या भी अनादि है। इस मत का और

इन आक्षेपो से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि दोष, ब्रह्म या अनुभूति का ही स्वरूप है तो ब्रह्म नित्य होने के कारण दोष भी नित्य होगे और मुक्ति तथा जगत् प्रपच का नाश कभी शक्य नही होगा। पुन इस अविद्या को अनिर्वचनीय कहा है, क्योकि वह सत्-असत्-विलक्षण है। परन्तु यह कैसे हो सकता है ? वस्तु सत् या असत् ही हो सकती है। कोई वस्तु सत् और असत् दोनो ही और न भी हो यह कैसे हो सकता है ?

अज्ञान एक भाव पदार्थ है और मैं अज्ञानी हूँ 'मै अपने को और दूसरो को नही जानता' इत्यादि अनुभवो द्वारा अज्ञान प्रत्यक्ष-गोचर होता है इस कथन के समर्थन मे शकर मतवादी जो तर्क देते हैं उनका निर्देश करते हुए रामानुज कहते हैं कि ये प्रत्यक्ष अनुभव के लक्ष्य विषय के ज्ञान के अभाव से हैं, जो अनुभव से पूर्व विद्यमान था (प्राग भाव)। रामानुज तर्क करते हैं कि अविद्या किसी विशेष तथा असदिग्ध विषय का निर्देश नही कर सकती, क्योकि अगर वह ऐसा करती है तो उस विषय का ज्ञान हो जायगा और अज्ञान को स्थान न रहेगा, और अज्ञान किसी विशेष विषय को निर्देश नही करता तो अज्ञान आप ही अकेला बिना आधार के कैसे अनुभव में आएगा ? अगर ऐसा कहा जाता है कि अज्ञान का अर्थ यहाँ अविशद-स्वरूप ज्ञान है तो भी यह कहा जा सकता कि इसे सदिग्ध ज्ञान के उदय का अभाव मानना

जीव ज्ञानवादियो के मतानुसार जीव और अविद्या का जो सम्बन्ध (इस मत का) खण्डन करने के लिए, अज्ञान ब्रह्म मे ही है यह मत ही पर्याप्त है। क्योकि उन्होने कहा है कि उपरोक्त मत, जीव अनादि है यह सर्वसाधारण द्वारा मान्य मत का विरोध करता है क्योकि इस मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या से जीव की उत्पत्ति है। दूसरा मत, भ्रम की शृखला स्वत· ही अनादि शृखला है यह उससे अधिक अच्छी नही है, क्योकि, अगर एक भ्रम दूसरे भ्रम का कारण, अनादि शृखला की तरह है, तो यह मत शून्यवाद से लगभग एकसा उतरता है। तदुपरात, अगर भ्रम को स्वभावत ही अनादि मान लिया जाता है तब भी हमे मूलकारण ढूँढना पडेगा जिसमे से यह भ्रम की शृखला उत्पन्न हुई (मूल दोषापेक्षा), इस प्रकार यहाँ भी दोषपूर्ण अनवस्था प्राप्त होती है। अगर मूल दोष की माँग न की जाय, तो फिर हमे मूल दोष रूप मे अविद्या ही है इसे मानने की आवश्यकता नही रहती। अगर ऐसा माना जाता है कि अविद्या स्वरूपत: न्याय-विसगत है तो वह मुक्त जीवो को और ब्रह्म को क्यो प्रभावित नही करती ? अगर उत्तर ऐसा दिया जाता है कि मुक्त जीव और ब्रह्म शुद्ध होने से, अविद्या इन्हें प्रभावित नही करती तो इसका अर्थ यह होगा कि अविद्या न्याय-युक्त है, सगतिपूर्ण है न्याय-विरोधी नही है।

—श्रुत प्रकाशिका, अ० ६, पृ० ६३६–६५।

चाहिए। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान को मान लिया जाय तो भी उनका अपने से किसी अन्य का सम्बन्ध होना आवश्यक है जिसे वह निर्देश करता है। अज्ञान को ज्ञान के अभाव के रूप मे या ज्ञान से कोई अन्य पदार्थ के रूप मे, या ज्ञान के विरोधी रूप मे, कोई किसी भी दृष्टि से समझाना चाहे यह तब ही शक्य होता है कि जब हम उसे उस विषय के ज्ञान के रूप मे समझें, जिसका वह विरोधी है। अधकार को भी प्रकाश का विरोधी मानना ही पडेगा, इसलिए अधकार को समझने के लिए प्रकाश का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योकि वह उसका विरोधी है। किन्तु शकर मतवादियो का अज्ञान अपने आप खडा नही रह सकता इसलिए उसे उस विषय का निर्देश करना होगा कि जो अज्ञात है इसलिए, उपरोक्त अनुभवो मे, जैसेकि 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैंने अपने आप तथा अन्य को नही जाना' हमे यह मानना पडेगा कि इस अवस्था मे हमे ज्ञान के उदय के अभाव का अनुभव है न कि कोई भाव रूप अज्ञान का, क्योकि भावरूप अज्ञान भी, उद्देश्य और विधेय के सापेक्ष है, ज्ञान के अभाव से इसकी स्थिति अधिक न्याययुक्त नही है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म जोकि सर्वदा स्वतन्त्र और नित्य शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूप है उसे अविद्या का अनुभव कभी भी नही हो सकता। अज्ञान, ब्रह्म का आवरण नहीं कर सकता, क्योकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है, केवल वही है। अगर ब्रह्म, अज्ञान को देख सकता है तो वह जगत् प्रपच को भी देख सकता है, अगर अज्ञान ब्रह्म को आवृत करके ही ब्रह्म को दिखाई देता है तो ऐसा अज्ञान सत्य ज्ञान द्वारा नष्ट नही किया जा सकता, क्योकि उसमे ज्ञान को आवृत करने की शक्ति है और उसके द्वारा प्रभावित करने की शक्ति है। आगे, यह भी नही कहा जा सकता कि अविद्या ब्रह्म को अश रूप से ही आवृत करती है क्योकि ब्रह्म निष्कल है। इसलिए उपरोक्त अनुभव 'मैंने कुछ नही जाना' स्मृति रूप से जो जाग्रत अवस्था मे होता है और जो गाढ निद्रा मे अनुभव को लक्ष्य करता है, वह गाढ निद्रा मे किए साक्षात् अज्ञान या अविद्या के अनुभव की स्मृति नहीं है, किन्तु यह जाग्रत अवस्था मे किया हुआ अनुमान है कि सुषुप्ति मे स्मृति न होने से, हमे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ।[1] अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान भी उपयोगी नही है, क्योकि ऐसा तर्क केवल दोषपूर्ण ही नहीं होता किन्तु उसके अनुरूप कोई योग्य दृष्टात भी ढूँढा नही जा सकता जो वास्तविक घटना के आधार पर तर्क की माँग को सतुष्ट कर सके। तदुपरान्त, और भी कई अनुमान सरलता से दिए जा सकते है जो अज्ञान के बारे मे शकर मतावादियो की मान्यता का खण्डन कर सकते हैं।[2]

---

[1] अतो न किंचित् अवेदिषम् इति ज्ञानम् न स्मरणम् किन्तु अस्मरणनिबन्धनम् ज्ञानाभाव-विषयम् अनुमितिरूपम्। श्रुत प्रकाशिका, पृ० १७८ (निर्णयसागर ६१,६)।

[2] श्रुत प्रकाशिका, पृ० १७८-१८०।

रामानुज का भ्रम विषय में मत—समस्त ज्ञान सत्य है

रामानुज कहते है कि समस्त प्रकार के भ्रम सक्षेप मे इस प्रकार वर्णन किए जा सकते हैं कि भ्रम मे, एक वस्तु जो है उससे कुछ और प्रतीत होती है (अन्यस्य अन्यथावभासः)। यह मानना न्याय-विरुद्ध है कि अनुभव मे भ्रम से जो देखा गया है उसका कोई भी कारण नही है या भ्रम सर्वथा अगोचर है या सर्वथा अज्ञात है (अत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु-कल्पना-योगात्)। अगर भ्रम के अनुभव के (अर्थ) विषय मे इस प्रकार अत्यन्त असम्भव सी कल्पना की जाती है तो वह अनिर्वचनीय अवश्य ही होगा किन्तु भ्रम का कोई भी विषय अनिर्वचनीय नही है। वह तो सत्य ही दीखता है। अगर वह अनिर्वचनीय वस्तु जैसा दीखता है तो भ्रम और उसका निवारण भी शक्य नही होता। इसलिए यह मानना पडता है कि प्रत्येक भ्रम मे (जैसेकि रजत् और सीप) एक वस्तु (सीप) दूसरे रूप मे दीखती है (रजत्)। भ्रम के प्रत्येक मत मे, चाहे फिर उसमे मिथ्यात्व का कितना भी अश विद्यमान हो, हमे मानना पडेगा कि एक वस्तु दूसरे रूप मे दीखती है। वे कहते हैं कि शकर मत-वादियो का विरोध करते हुए, यह पूछा जा सकता है कि, यह अनिर्वचनीय रजत् कहाँ से उत्पन्न होता है ? भ्रमपूर्ण अनुभव इसका कारण नही हो सकता, क्योकि प्रत्यक्ष अनुभव अनिर्वचनीय रजत् उत्पन्न होने पर ही होता है, वह कारण होने से इसके पहले विद्यमान नही हो सकता। भ्रम हमारी इन्द्रियो के दोष से भी उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि ये दोष व्यक्ति से सम्बन्धित है इसलिए ये विषय के गुणो पर असर नही कर सकते। इसके अतिरिक्त अगर यह अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है तो फिर वह रजत् के रूप में किसी विशेष परिस्थिति और असदिग्ध रूप से क्यो दिखाई देता है ? अगर ऐसा कहा जाता है कि इसका कारण रजत और सीप का साम्य है तो फिर पूछा जा सकता है कि यह साम्य सत् है या असत् ? यह सत् नही हो सकता, क्योकि विषय भ्रम रूप है और वह असत् भी नही हो सकता क्योकि वह किसी वास्त-विक पदार्थ को निर्देश करता है (दूकान मे रहे रजत को)। इस प्रकार भ्रम का यह मत अनेको आक्षेपो का ग्रास बनता है।

रामानुज, भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद की ओर झुकते हैं ऐसा दीखता है और वे कहते है कि भ्रम के ज्ञान के अन्तर्गत, ज्ञान के बोध का या ऐसे ज्ञान से सूचित व्यवहार की विफलता का कोई समझौता नहीं होगा, जबतक, हम अन्ततोगत्वा यह न माने कि मिथ्यात्व या मूल एक वस्तु का दूसरे रूप मे दीखना है। वे ऐसा भी कहते हैं कि भ्रम के अन्य वादो को (सम्भवतः यथार्थ ख्याति को छोडकर, जैसाकि 'श्रुतप्रकाशिका' की टीका से सूचित होता है—यथार्थ ख्याति व्यतिरिक्तपक्षेपु अन्यथा-ख्याति-पक्ष प्रवल) मिथ्यात्व का विश्लेषण इसी प्रकार स्वीकारना होगा कि

वह एक पदार्थ का भ्रम से दूसरा दीखना है (ख्यात्यन्तराणाम् तु सुदूरम् अपि गत्वा अन्यथावभास आश्रयणीयः ॥ रामानुज भाष्य)। रामानुज, आगे यह भी बताते है, कि अख्यातिवाद भी (अर्थात् सीप मे 'इद' और 'रजत' की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि से उत्पन्न भ्रम) अन्यथाख्याति का ही एक प्रकार है क्योकि यहाँ पर भी अन्त मे यही मानना पडता है कि दो लक्षणो या विचारो के बीच भ्रम से तादात्म्य किया गया है। वेकटनाथ, 'न्याय परिशुद्धि' मे, इसी विषय पर टीका करते हुए कहते है एक वस्तु का दूसरे रूप से दीखना भ्रम का अनिवार्य कारण है, किन्तु भेद की अनुपलब्धि को, भ्रम से तादात्म्य करने की समस्त घटनाओ का अनिवार्य कारण मानना पडेगा। इसलिए इसमे सरलता (लाघव) है, तो भी अन्यथा ख्यातिवाद, भ्रम का योग्य और सत्य वर्णन करता है और भी भ्रम सिद्धात भ्रम का यथार्थ वर्णन करने वाले इसे माने विना चल नही सकता। इस तरह वेंकटनाथ कहते हैं कि रामानुज भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद से सहमत होते हुए भी, अख्यातिवाद की उत्कृष्ट सरलता को मान्यता प्रदान करते हैं, क्योकि वह समस्त प्रकार के भ्रमो की अनिवार्य दशा है।

यद्यपि, जोकि रामानुज स्वय भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद को पसन्द करते है तो भी वे यथार्थख्यातिवाद मत की अवज्ञा नही कर सके जो बोधायन नाथमुनि और वरद विष्णु मिश्र इत्यादि जैसे ज्येष्ठ अनुयायी और प्रतिष्ठापको ने माना था और जिनकी उन्होने टीका की थी। इस प्रकार, रामानुज के सामने दो वाद उपस्थित थे, एक तो वह जो वे स्वय मानते थे और दूसरा जो उनके ज्येष्ठ अनुयायियो ने माना था। सौभाग्यवश, उनके अन्यथा ख्यातिवाद की भूमिका मनोवैज्ञानिक थी और यथार्थ ख्यातिवाद की भूमिका सत्ता मीमासा परक थी, जिससे एक वाद को मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से और दूसरे को सत्ता मीमासा की दृष्टि से स्वीकारना शक्य था। रामानुज, इसलिए यथार्थ ख्यातिवाद का एक विकल्प के रूप मे प्रतिपादन करते हैं। वेंकटनाथ कहते है कि यथार्थख्यातिवाद श्रुति प्रमाण के आधार पर ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अनुभव के आधार पर एक दार्शनिक वाद की तरह उसका समर्थन नही किया जा सकता और इसलिए यह भ्रम का वैज्ञानिक मत नही कहा जा सकता। हमे इन दोनो अन्यथा ख्याति के और अख्याति मे से किसी एक के प्रति अपनी स्वीकृति देने का चुनाव कर लेना चाहिए।

रामानुज, अपने गुरुजनो द्वारा मान्य यथार्थ ख्याति से, जिसे वे 'वेदविदा मतम्' कहते हैं, पृथक् करते हुए, अपने मत को कई पदो द्वारा प्रतिपादन करते है और कहते है कि वे श्रुति के आधार पर ऐसा समझते है कि भौतिक जगत् अग्नि, जल और पृथ्वी इन तीन तत्वो के मिश्रण से बना है, इसलिए, प्रत्येक पदार्थ मे ये तीन तत्व विद्यमान हैं। जब किसी पदार्थ मे कोई एक तत्व प्रधान होता है तब उस पदार्थ मे उस तत्व के गुण अधिकाश रूप से प्रधान होते है और तब उन गुणो वाला कहा जाता है यद्यपि उसमे अन्य तत्वो के गुण रहते हैं। इस प्रकार [illegible]

कि सभी पदार्थ सब पदार्थों मे विद्यमान हैं। सीप मे तेज या रजत के गुण है
वजह से यह रजत से एक दृष्टि से मिलता-जुलता भी कहा जा सकता है। भ्रम
ऐसा होता है कि इन्द्रिय-दोप इत्यादि से सीप मे रहे गुण जो अन्य तत्व का प्र
निधित्व करते है उन्हे नही देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष, उन्ही गुणो को ग्रहण क
है जो रजत के है और जो सीप मे विद्यमान है और सीप इस प्रकार, रजत रूप दे
जाती है। इस प्रकार सीप मे रजत का ज्ञान न मिथ्या है, न असत् है, किन्तु स
और वह वास्तविक पदार्थ को निर्देश करता है जो सीप मे रजत अश है,[1] भ्रम
इस वाद की दृष्टि से, समस्त ज्ञान किसी यथार्थ विपय या पदार्थ को निर्देश क
है।[2] प्रभाकर के वाद मे और इसमे भेद यह है—प्रभाकर जबकि भ्रम के कारण
वर्तमान मे चमकते सीप का अनुभव और दुकान मे रहे रजत की स्मृति के भेद
अनुपलब्धि रूप निषेधात्मक दशा को मानकर ही सतुष्ट है और कहते है कि इ
स्मृति या प्रत्यक्ष रूप, दोनो रूप से सत्य है और भ्रम इन दोनो के भेद को न जा
से है, रामानुज अधिक मौलिक हैं क्योकि वे बताते हैं कि सीप मे रजत देखने
कारण, सीप मे रजत अश का सचमुच देखना और इन्द्रियादि-दोप के कारण विपय
विद्यमान—उन अशो की अनुपलब्धि है जो उस भेद को बता सकते थे। इस त
सीप मे रजत का भ्रम किसी यथार्थ पदार्थ को निर्देश करता है, जो भ्रम का मूल ह

रामानुज स्वप्न को, ईश्वर की रचना कहकर, समझाते है जिसका आशय स्व
देखने वालो के चित्त मे वैसा ही अनुभव उत्पन्न करने का है। कामला रोग से पीि
व्यक्ति को सीप पीली दीखती है, इसे वे इस प्रकार समझाते हैं कि पीला रग आँखो
पित्त से उत्पन्न होकर, आँखो की रश्मि द्वारा सीप पर छा जाता है जो सफेद सीप
पीला कर देता है। जब सीप पीला दीखता है तब वह सचमुच पीला बन जाता
जो कामला के रोगी का नेत्र देखता है, यद्यपि यह उसी व्यक्ति को दीखता है और
नहीं क्योकि पीलापन उसकी आँखो के निकट है।[3]

[1] देखो श्रुत प्रकाशिका, पृ० १८३–६।

[2] सुदर्शन सूरि के मतानुसार यह वाद बोधायन नाथमुनि, राममिश्र इत्यादि
साम्प्रदायिक मत है जिसे रामानुज ने अपने को उस सम्प्रदाय के एकनिष्ठ अनुया
के नाते माना है, रामानुज यो कहते हैं—

यथार्थं सर्व विज्ञानम् इति वेदविदा मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतित ॥

—भाष्य और श्रुति प्रकाशिका, पृ० १८३

[3] दूसरे प्रकार के भ्रम या मिथ्यापन, रामानुज इस प्रकार समझाते हैं—वे यथा
सत्ता रूप हैं, उसमे मिथ्यापन उन अन्य तत्वो के न जानने से है जो यथार्थ है अ

आख्यातिवाद और यथार्थख्यातिवाद इस बात पर एक मत है कि आरोपित विचार के अनुरूप यथार्थ विषय है जो उसका आधार है। किन्तु जबकि पहला मत यह मानता है यथार्थ आधार भूतकाल का अनुभव है, दूसरा मत यह मानता है कि वह विषय के साथ-साथ प्रस्तुत होता है अर्थात्, रजत अश का सीप के अश से मिल-जुल जाना इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय होता है, किन्तु परिस्थिति, इन्द्रियादि दोषो की वजह से, सीप मे जो अनुभव का प्रधान अश होना चाहिए उसका प्रत्यक्ष नही होता। इस प्रकार रजत अश ही प्रत्यक्ष मे आता है जिससे भ्रम होता है। इस प्रकार सीप का अप्रत्यक्ष होना दोनो मे एक जैसा है, जबकि अख्यातिवाद की दृष्टि से रजत अश अतीत अनुभव की स्मृति से उत्पन्न प्रतिमा है। यथार्थ ख्यातिवाद उपनिषद् के त्रिवृत् करण के सिद्धान्त का आधार लेता है और मानता है कि रजत अश उस समय प्रत्यक्ष ही होता है। किन्तु सुदर्शन सूरि अन्य आचार्यों (केचित् आचार्या) के मतो का ब्यौरा देते हुए कहते है कि त्रिवृत् करण-सिद्धान्त, एक भूत का दूसरे रूप मे मिथ्या देखने को भी समझा सकता है, किन्तु साम्य के कारण भ्रम की घटना को समझाने मे त्रिवृत्-करण अनुपयोगी है, क्योकि त्रिवृत्करण और पचीकरण भूतो के मिश्रीकरण को समझा सकते हैं किन्तु भौतिक को नही, या पाँच तत्वो के पदार्थ के रूप मे होने वाले विकार को नही समझा सकते जैसेकि सीप और रजत, जो साम्य होने की वजह से एक दूसरे का भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए यह मानना पडेगा कि भूतो के विकार मे भी त्रिवृत्करण का सिद्धान्त कुछ अश मे लागू होता है, क्योकि यहा पर पदार्थ के अणु अधिक अश मे एक तत्व के विकार से और कम अश मे अन्य तत्वो के विकार से बने हैं। सीप के अणु इस प्रकार अधिक अश मे सीप के तत्व से और न्यून अश मे रजत तत्व से बने हैं, यह एक तत्व का दूसरे तत्व से साम्यता को स्पष्ट करते हैं। साम्य, एक तत्व मे दूसरे तत्व के वास्तविक रूप से विद्यमान होने से है और इसे प्रतिनिधि-न्याय कहते है या यथार्थ निरूपण द्वारा सादृश्य निर्धारक नियम के रूप मे जानते है। इस प्रकार साम्य की वजह से एक वस्तु को अन्य अनुभव करने मे, सचमुच मिथ्या अनुभव नहीं होता किन्तु दूसरी प्रतिवस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है जो उनके सादृश्य का आधार है और जो उस वृहत् अश की अनुपलब्धि है जिसने प्रतिवस्तु को सदृश रूप से ग्रहण कर रखा था। सीप मे शुक्त्यश अधिक है और रजत अश न्यूनरूप से है, इसी कारण से वह सीप जाना जाता है, रजत नही जाना जाता। सीप अश के विद्यमान होते हुए भी रजत के अर्थ मे निरुपयोगी है क्योकि शुक्ति का वृहत् अश उसका अवरोधक है इसलिए हम कहते है कि हमे सीप दिखाई देती है रजत नहीं। जब यह कहा जाता है कि यह सीप है रजत नहीं है (नेद रजतम्) 'यह [illegible]

उस पदार्थ से सम्बन्धित है जो भ्रम के विषय [illegible], [illegible] [illegible] गये है।

—[illegible] वही, पृ० १८७,१८८।

नही है' इसका अर्थ सीप से ही है जिसके अनुभव से रजत का विचार हट जाता है। 'यह रजत नही है' कह कर निषेधात्मक रूप से सीप ही लक्ष्य है और स्वीकारात्मक रूप से भी सीप लक्ष्य है।

रामानुजाचार्य यानी वादिहसाम्बुवाहाचार्य, जो वेंकटनाथ के मामा थे, वे रामानुज के सत् ख्यातिवाद का यो कहकर समर्थन करते हैं कि अन्य तीन प्रतिस्पर्धीवाद अर्थात् अन्यथा ख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति, एक दूसरे को काटते हैं, इसलिए असगत हैं। किन्तु वे यह सिद्ध करने का कठिन प्रयत्न करते हैं कि अन्यथा ख्याति एव अख्याति के वास्तविक वाद के अन्तर्गत आए हुए तार्किक सम्बन्धो के आधार पर, सत् ख्याति का समर्थन हो सकता है। वे अख्यातिवाद के वस्तुवाद (वास्तविकवाद) और उसके सबध को मानकर विवाद करना शुरू करते है। वे यह मानते हैं कि वह भी अन्त में अन्यथा ख्यातिवाद को ही पहुँचेगा, इसलिए (सत् ख्याति को छोडकर) सम्भवत अन्यथा ख्याति सबसे श्रेष्ठ है। वे अपने 'न्याय कुलिश' मे कहते हैं कि जबकि ज्ञान-व्यापार के लिए इन्द्रियो को विषय तक पहुँचना आवश्यक है तो भ्रम के अनुभव मे भी कोई विषय होना चाहिए जिस पर इन्द्रियाँ पहुँचती है, क्योकि वे ऐसे विषय का ज्ञान नही दे सकते जिससे उनका सम्बन्ध न हो।[1] दोष, नए ज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योकि वह तो किसी ज्ञान या प्रत्यक्ष का अवरोधक है, दोष केवल कार्य-कारण के स्वाभाविक क्रम का अवरोध करता है।[2] जिस प्रकार अग्नि बीज की अकुर उत्पादन शक्ति का नाश कर देती है। इसके अतिरिक्त सीप-रजत का पुराना उदाहरण लेकर यह पूछा जा सकता है कि अगर रजत विषय रूप से विद्यमान न था तो फिर ऐसी असत् वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? जबकि हमारी चेतना असत् वस्तु का निर्देश नही कर सकती, इसलिए प्रत्येक प्रकार की चेतना उसके अनुरूप विषय की सत्ता को सिद्ध करती है। रजत-सीप के भ्रम मे भूतकाल में अनुभव किए रजत की स्मृति होती है और इसका भूतकाल मे अनुभव हुआ होता है और दोष के कारण, रजत भूतकाल की स्मृति है, यह नही समझा जाता, केवल उस समय 'यह' ही हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है तो उस समय अनुभव मे आता है (दोषात् प्रभुषिततदवमर्शं)।[3]

[1] इद्रियाणाम् प्राप्यकारित्वेन अप्राप्तार्थप्रकाशनानुपपत्ते। न्याय कुलिश। मद्रास गव० ओरिऐन्टल हस्तलिखित, स० ४९१०।

[2] दोषाणा कार्यविघातमात्रहेतुत्वेन कार्यान्तरोपजनकत्वायोगात्, न हि अग्नि सस्पृष्टस्य कलमबीजस्य अकुरोत्पादने सामर्थ्यम् अस्ति।

—वही।

[3] इद इतिपुरो वस्तुनि अनुभव रजतम् इति च पूर्वानुभूत-रजत-विषयास्मृति।

—वही।

वादि हसाम्बुवाह, प्रतिस्पर्धी अन्यथा और अख्याति वादो के तर्कों की तुलना करते हुए अन्यथा ख्यातिवाद के तर्कों का प्रतिपादन करते हैं। अख्यातिवाद के विरोध मे उठाए गए आक्षेपो के विरुद्ध उनका कथन है कि जैसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे से भिन्न है, तो फिर भ्रम किस प्रकार से समझा सकता है कि वह पूर्व अनुभूत रजत की स्मृति और वर्तमान मे प्रत्यक्ष का विषय बने 'इदम्' की अनुपलब्धि है। इस तर्क के पक्ष मे वे कहते हैं कि भेद, जो यहाँ नही देखा जाता है वह पदार्थ के वे गुण है, जिनकी वजह से, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ जैसा सकीर्ण नही किया जाता या भ्रम रूप नही देखा जाता और इसी भिन्न करने वाले लक्ष्य के न जानने से ही सीप मे रजत का भ्रम उत्पन्न होता है, (ससर्ग-विरोधी वैधर्म्य-विशेषरूप भेदाग्रह प्रवृत्ति हेतु)।[1] किन्तु भ्रम के आख्यातिवाद को अत्यन्त सतोषजनक मानने मे, सच्चे आक्षेप ये हैं, कि, इसे मानने से हम, पदार्थ अमुक धर्म वाला है ऐसा मानते जैसा ससर्ग व्यवहार होता है, जैसाकि पडितो के विवाद तथा हमारे भ्रम के प्रत्यय तथा व्यवहार मे पाया जाता है, इसे मानने पर हमे अन्यथा ख्याति को अपरिहार्य एव अन्तिम स्पष्टीकरण के रूप मे मानने को बाध्य होना पडता है।[2]

[1] मद्रास गवर्नमेट हस्त० स० ४६१०।

[2] रामानुज ने निर्देश किए हुए 'वेदविदाजन' की तरह, प्रभाकर भी समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते है (यथार्थं सर्वम् एवह विज्ञानम् इति। प्रकरण पचिका पृ० ३२)। किन्तु वे इसे 'सत्व मीमासा' के आधार पर मानते हैं जबकि प्रभाकर मनोवैज्ञानिक और प्रयोग के आधार पर मानते हैं। प्रभाकर का मत प्रतिपादन करते हुए शालिकनाथ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान का जो भी विषय होता है, वही जाना जाता है और सीप रजत भ्रम के समय, जो कुछ जाना जाता है वह 'यह रजत है' किन्तु उस समय सीप का ज्ञान नही है, क्योकि उस समय वह अनुभव का विषय नहीं होता। इस प्रकार यह नही कहा जा सकता कि भ्रम मे सीप रजत रूप से जाना जाता है किन्तु 'इदम्' को रजत जाना जाता है, क्योकि जब भ्रमयुक्त रजत का ज्ञान होता है तब सीप का नहीं होता। भ्रम मे, दोष के कारण सीप का भेद उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म नहीं जानने मे आता, सीप सामान्य धर्म से एक विषय के रूप मे ही दीखता है। फिर रजत की स्मृति का प्रश्न है, मनो व्यापार के दोष से (मनोदोष) रजत देश और काल के मूल सहचार के साथ वह वहीं रजत है तो वहां देखा था ऐसा स्मरण नही होता किन्तु केवल एक प्रतिमा रूप से रजत का स्मरण होता है (तदित्यश परामर्श-विवर्जितम्)। यद्यपि 'मैं रजत का स्मरण करता हूँ' ऐसा स्पष्ट अनुभव नहीं होता, तो भी रजत का विचार स्मृति से उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि यह अन्य किसी प्रमाण द्वारा, जैसे कि प्रत्यक्ष या अनुमान, से उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार, [illegible] प्रमाणों [illegible]

अँगूठी बनने मे शक्तिमान् है उसे ऐसा नही किया जा सकता (यदि त्वगुलीयकादिहेतुतया भिमतस्य व्यवहारस्य भस्म हेतुत्वको हि अत्र विशेष)। अगर भ्रम का यही अर्थ समझा जाता है तो वह एक प्रकार के व्यवहार के कारण को, दूसरे प्रकार का कारण-ग्रहण करने के सिवाय और कुछ नही है (अन्य हेतु व्यवहारोऽन्यहेतुतयावगत)। यह तो अन्यथा ख्याति हुई, क्योकि अगर यहाँ पर भी यह कहा जाय कि भेद ग्रहण नही हुआ है, तो भी यहाँ पर यह नही समझाया जाता कि ऐसी परिस्थिति मे एक वस्तु को दूसरा कैसे मान लिया गया ?[1] ऐसी सभी परिस्थितियो मे अनुभव को ही प्रमाण मानना चाहिए, जो इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक भ्रम के दृष्टान्त मे एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है।[2]

किन्तु यद्यपि वादिहसाम्बुवाहाचार्य इस प्रकार भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थन करते है तो भी वे अख्यातिवाद को तुच्छ नही मानते, किन्तु वे मानते है कि यह भी भ्रम की दशा को, जब हम दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं, तब समझा सकता है। क्योकि अगर सीप और रजत का भेद का अग्रहण न होता तो सीप को रजत समझा ही न जाता, इसलिए, अन्यथाख्याति मे भी, अख्याति का एक अश उपस्थित है, क्योकि हम सीप के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करें जैसाकि रजत के प्रति होना चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि हम हमारे सामने जो उपस्थित है और जिसका स्मरण होता है, इस भेद को न जाने। किन्तु यद्यपि अख्याति के निषेधात्मक अश को अर्थात् भेद के अग्रहण को—एक आवश्यक अवस्था माना जा सकता है, तो भी, ससर्ग के विध्यात्मक अश को आवश्यक क्रम के रूप मे मानना ही पडेगा, जो अनुभूत प्रत्यक्ष के भिन्न तत्वो को जोडता है। हमारी समस्त प्रवृत्ति और कर्म का मूल कारण ससर्ग है इसलिए यह मानना गलत होगा कि भेद का अग्रहण स्वत ही हमारे प्रवृत्ति के कर्म का सच्चा कारण है (न च मूलभूते ससर्गज्ञाने प्रवृत्ति कारणे सिद्धे तदुपजीविनो निरन्तर ज्ञानस्य प्रवृत्ति हेतुत्वम् इति युक्त वक्तुम्)।[3] यद्यपि वादिहसाम्बुवाह सारा

---

[1] सुदर्शन सूरि, श्रुत प्रकाशिका मे रामानुज ने कहे वेदविदाजन की यथार्थ ख्यातिवाद पर टीका के सबध मे अख्यातिवाद पर टीका करते हुए कहते हैं कि अख्यातिवाद मे लाघव गुण है, सरलता है, या वह वाद कम से कम पूर्व-कल्पना को ग्रहण करता है, जैसेकि भ्रम मे अस्पष्ट पदार्थ ही दीखता है और 'इदम्' और स्मृति-जनित प्रतिमा के बीच भेद को नही जाना जाता। इसे प्रत्येक भ्रमवाद के सिद्धान्त मे मानना पडेगा और इसके उपरान्त दूसरी पूर्व कल्पना भी माननी पडेगी।

[2] यदि चात्रापि भेदाग्रह शरणम् स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध-व्यवस्था न सिध्येत्।

—गव० ओरि० हस्त० स० ४६१०।

[3] यदि चात्रापि भेदाग्रह शरणम् स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध-व्यवस्था न सिध्येत्।

—ग० ओ० हस्त० स० ४६१०।

विवाद भ्रम के सभाव्य वादो मे अख्याति और अन्यथा ख्याति की आपस की सम्बद्ध श्रेष्ठता बताने मे ही व्यस्त करते हैं, तो भी वे रामानुज द्वारा माने गए भ्रम के वाद की ओर लक्ष्य करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु मे उपस्थित है इसलिए कोई ज्ञान भ्रम-युक्त नही है। वे इस वाद को अत्यन्त सच्चा और ठीक समझते हैं। किन्तु अगर ऐसा है तो भ्रम के अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद के विवाद मे उतरना व्यर्थ ठहरेगा। वादिहसाम्वुवाह यह वताने का प्रयत्न नही करते कि अगर इस वाद को माना जाय तो अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद को किस प्रकार माना जायगा।[1] वे आगे अनिर्वचनीय ख्याति (सीप रजत भ्रम मे रजत का दीखना—अनिर्वचनीय उत्पत्ति है) जो शकरमतवादी मानते हैं, पुराने घिसे-पिटे ढग से खण्डन करते हैं जिससे हम पहले से ही परिचित हैं।

१९वी शताब्दी के लेखक, अनन्ताचार्य ने भ्रम के इस वाद पर वल दिया है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक मे उपस्थित है और इसलिए सीप का रजत रूप दिखना न तो भ्रम है और न प्रत्यक्ष और स्मृति के बीच भेद का अग्रहण ही है, क्योकि 'यह रजत है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान, दो प्रत्यक्षो का 'यह' और 'रजत' का मिश्रण है। अगर यह प्रत्यक्ष अनुभव न होता तो हमे ऐसा प्रतीत न होता कि हमने हमारे सामने उपस्थित 'इदम्' को रजत रूप से अनुभव किया है। दोप का कार्य केवल सीप अश को प्रत्यक्ष से ढकना था (जो रजत से मिश्र हुआ था)। ऐसा कहना कि प्रत्येक प्रत्यक्ष के अनुरूप विषय होते हैं (यथार्थ) इसका अर्थ यह नही होता कि वस्तु वैसी ही है जैसाकि हमे उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, किन्तु अर्थ यह निकलता है कि जिसका प्रत्यक्ष होता है उसके अनुरूप विषय का आधार नही है यह वात सत्य नही है।[2] रजत मे जो तेज अश है जो उसका निमित्त कारण है, वह अवश्य ही तेज तत्व भी है और सीप मे निमित्त कारण रूप पृथ्वी अशक्षिति तत्व मे भी हैं, ये तत्व शकर की मूलावस्था मे त्रिवृत्करण की वजह से मिश्रित हो गए हैं और यही तथ्य रजत-भ्रम की दशा मे रजत के अनुरूप विषय की उपस्थिति को समझाते हैं।[3] अनताचार्य तर्क

---

[1] यद्यपि भूतानाम् पचीकरण-लब्ध-परस्पर व्याप्तया शुक्ति कायाम् अपि सादृश्यात् रजतैकदेशो विद्यत एव इति सिद्धान्त तथापि न विद्यत इति कृत्वा चिंत्यते वायुद्धाहरण प्रसिद्धयनुरोधाय। —गर्व ओ० हस्त० स० ४९१०।

[2] तद् विपयक-ज्ञान-सामान्य विशेष्यावृत्तिधर्मप्रकारकत्वाभावा दिति यथार्थं सर्व-विज्ञानम्। 'ज्ञान याथार्थ्यवाद' —हस्त० स० ४८८४।

[3] यादृश धर्मावच्छिन्नात् तेजोऽशाद् रजतारम्म तादृशधर्मा वच्छिन्ननाम् अपि अशानाम् महाभूतात्मके तेजसि सत्वेन शत्तयारम्भकतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नानाम् पार्थिव-भागानाम् अपि महापृथिव्याम् सत्वेन तयो महाभूत त्रिवृत् करण दशायाम् एव मेलानासम्मवाच्छुत्तयादौ रजतासद्‌भावोपपत्ते। —वही।

श्रुत प्रकाशिका में किए गए आक्षेप का जो हमने अभी देखा है, यही उत्तर है।

करते हैं कि यह स्पष्ट है कि सीप रजत रूप मे नही दीख सकती, क्योकि सीप रजत नही है, वह फिर रजत कैसे दीखेगी। 'यह रजत है' इस अनुभव को पूर्णतया समझाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि 'यह रजत है' इस मिश्र दशा के 'इदम्' और 'रजत' यह दो अश प्रत्यक्ष मे निश्चित हैं। क्योकि इसी प्रकार ही, हम 'मैं रजत देखता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को न्याय-युक्त कह सकते हैं।

ईश्वरवादी प्रमाणों की विफलता

ईश्वर की सत्ता केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है। अन्य दूसरे प्रमाण जो ईश्वर की सत्ता प्रतिपादन करते हैं, अन्त मे विफल ही होते हैं, क्योकि उनका खण्डन करने के लिए अन्य योग्य विरोधी तर्क सफलता से दिए जा सकते हैं।

ईश्वर, किसी भी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा गोचर नही हो सकता क्योकि इन्द्रियाँ उनका ही ज्ञान करा सकती है जिसके वे सम्पर्क मे आती हैं। और मन (दुःख और सुख की भावनाओ को छोडकर) जिनका साक्षात्कार वह करता है उन वाह्य पदार्थों को इन्द्रियो के विना ज्ञान नही करा सकता। और ईश्वर योगि प्रत्यक्ष द्वारा भी अनुभव किया नही जा सकता, क्योकि योगि-प्रत्यक्ष स्मृति रूप है और इन्द्रिय द्वारा अननुभूत तथ्यो का ज्ञान नही देता। योगी, अनुभूत विषय को ही जान सकते हैं चाहे ये विषय उनके सामने उपस्थित न हो। अतिसूक्ष्म विषय भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही है क्योकि इनमे इन्द्रिय का सबध नही हो सक्ता। ऐसा कोई हेतु भी प्रत्यक्ष नही हो सकता जिससे यह अनुमान किया जा सके कि कोई एक परम पुरुष है जिससे समस्त पदार्थों का साक्षात् परिचय है और जिसमें उन्हे उत्पन्न करने की शक्ति भी है। साधारण तर्क जो दिए जाते हैं वे कार्य-कारण रूप होते हैं—ससार कार्य है इसलिए इसका कारण होना चाहिए, कोई कर्त्ता होना चाहिए, जिसे पदार्थों से तथा उनकी उपयोगिता से परिचय हो और वह उन्हे भोगता भी हो। ससार अन्य कार्यो की तरह, एक कार्य है, और खण्डो का समूह-सा (सावयव) है, इसलिए वह स्वस्थ मानव देह की तरह किसी एक ही पुरुष के मार्ग-दर्शन और अधीक्षण मे है। किन्तु इन उदाहरणो मे साम्यता नही है। मनुष्य की देह न तो जीव (आत्मा) द्वारा उत्पन्न होती है और न उसके अधीक्षण से जीवित रहती है। देह की उत्पत्ति उस मनुष्य के केवल कर्मो (अदृष्ट) के कारण ही नही हैं किन्तु जो लोग उनसे लाभ उठाते हैं या उसमे किसी प्रकार सबधित है उनके कारण भी हैं। देह की, अवयवो के अन्तर्सम्बध के रूप मे सत्ता, उसके अवयवो की इकाई के कारण है, वह उन जीवित मनुष्य के अधीक्षण पर आधारित नही है। देह का जीवित रहना वह उसकी विलक्षणता है जिसका समस्त जगत् मे कोई उदाहरण नही है। एक पुरुष का अधीक्षण, उसकी प्रवृत्ति का नियत कारण मानना आवश्यक नही है क्योकि यह तो प्रसिद्ध है कि बहुत

कार्य उत्पादन करने के लिये देह और साधन होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार परम कारण को भी देह और कार्य करने के लिये साधन होना चाहिये। यह नही हो सकता, क्योकि हम जानते हैं कि कितने ही कार्य, इच्छा और सकल्प मात्र से ही सिद्ध होते हैं और इच्छा और सकल्प की सत्ता के लिये देह की आवश्यकता नही है, क्योंकि वे देह से उत्पन्न न होकर मन से होते हैं। मन की सत्ता देह की सत्ता से स्वतत्र है, क्योकि मनस् की सत्ता देह से अलग होने पर भी, विद्यमान रहती है। जबकि, पाप और पुण्य के प्रभाव मे रहने वाले, परिमित जीव, इस विचित्र अनेक प्रकार की रचना वाले बहुरूप जगत् को उत्पन्न करने मे शक्तिमान् नही है इसलिये यह मानना ही पडता है कि एक परम पुरुप है जिसने यह सब उत्पन्न किया है। और जबकि उपादान कारण, कर्त्ता और कारण रूपी कारण से सर्वथा भिन्न होता है ऐसा सभी ज्ञात उदाहरणों मे देखा गया है, तो फिर ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनो नही हो सकता है।

इस तर्क का इस तरह उत्तर दिया जा सकता है, हम यह मानते हैं कि जगत् एक कार्य है और महान् भी है, किन्तु यह कोई नही जानता कि इस विशाल जगत् के सभी भाग एक ही समय और एक ही पुरुप द्वारा बने हैं। एक अज्ञात परम पुरुप के लिए यहा कहा स्थान बचता है और इस शक्यता की किस प्रकार अवगणना की जा सकती है कि भिन्न-भिन्न जीवो ने, अपने विशेप कर्म और शक्ति से, भिन्न-भिन्न समय मे जगत् के भिन्न भागो को बनाया हो जो अब हमे एक रूप से दिखाई देते हैं मानो एक पुरुप द्वारा बने हो ? जगत् के भिन्न भाग भिन्न समय मे बनाये गये हो और उसी प्रकार भिन्न समय मे नष्ट किये जायेंगे यह मानना शक्य है। एक परम पुरुप की सत्ता की कल्पना करना, जिसने इस बहुरूप जगत् को बनाया हो, असभव कल्पना मानना चाहिये। जगत् एक कार्य है, इस तथ्य से यही तर्क किया जा सकता है कि यह किसी चेतन पुरुप द्वारा बनाया गया होगा, किन्तु यह आवश्यक रूप से, एक ही चेतन पुरुप द्वारा बनाया गया है, इसका कोई आधार नही है। यह विराट् जगत् एक ही क्षण मे उत्पन्न नही हो सका होगा और ऐसा हुआ है इसका कोई प्रमाण भी नही है और अगर यह क्रम से उत्पन्न हुआ है तो यह भी माना जा सकता है कि यह अनेक चेतन पुरुप द्वारा क्रम से बनाया गया हो। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सर्वथा पूर्ण होने के कारण रचना की आवश्यकता पडी होगी ऐसा सोचा भी नही जा सकता। उनके न तो शरीर है न हाथ है जिससे वह जगत् की रचना करे। यह सत्य है कि मनस् शरीर के साथ मर नही जाता, किन्तु यह शरीर से सम्बन्धित न होते हुए सक्रिय दशा मे पाया भी नही जाता। अगर ऐसा मान लिया जाता है कि ईश्वर के देह है तो वह नित्य भी नही हो सकता। अगर उसका शरीर, सावयव होते हुए भी, नित्य है तो इसी आधार पर इस जगत् को भी नित्य माना जा सकता है। अगर यह संसार उनकी इच्छा मात्र से उत्पन्न हुआ है ऐसा माना जाता है तो यह इतना विचित्र ... कि यह ज्ञात, कार्य-कारण

के उदाहरणो से सर्वथा भिन्न है। इसलिये ज्ञात कार्य-कारणो के अनुभूत उदाहरणो के आधार पर, अगर किसी को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है, और यदि ऐसे ईश्वर को श्रेष्ठ गुण-युक्त माना जाता है जो उसमे बहुधा माने जाते हैं, और यदि जगत् की विचित्र रचना-शक्ति भी उसमे मानी जाती है, तो वह ऐसा कारण होगा जो ज्ञात कारण और उनके कार्य के प्रकार के साम्यत के आधार पर, कभी भी अनुमित नही किया जा सकता। इस प्रकार ईश्वर अनुमान के आधार पर कदापि सिद्ध नही हो सकता। उसकी सत्ता शास्त्र-प्रमाण से ही माननी पडेगी।

भास्कर और रामानुज

रामानुज और भास्कर का अध्ययन करने वाले, प्रत्येक सावधान पाठक ने यह पाया होगा कि रामानुज अपने दार्शनिक, विचारो और मतो के लिये, भास्कर के अधिकाश ऋणी है और अधिक विषय पर दोनो के मत एक से ही हैं। रामानुज अपने मतो के लिये वोधायन तथा अन्य वैष्णव लेखको के भी ऋणी रहे होगे ऐसी सभावना है, यह चाहे कैसे भी हो, भास्कर के प्रति उनका ऋण भी बहुत था जैसाकि दोनो मतो का तुलनात्मक अध्ययन बताता है तो भी ये दो मत एक सरीखे नही है, कई महत्वपूर्ण विषयो पर दोनो मे विरोध है। भास्कर मानते हैं कि ब्रह्मन् शुद्ध सत् चित् रूप है निराकार और कारण रूप है, और वह प्रकट कार्य-रूप से जगत् है। भास्कर के अनुसार इस सिद्धान्त मे कोई असगति या कठिनाई नही है क्योकि प्रत्येक वस्तु के ऐसे उभय स्वरूप हैं जैसाकि एक और अनेक, या एकत्व और अनेकत्व। अनेकत्व मे एकत्व प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। रामानुज मानते हैं कि भेद और एकत्व एक ही साथ किसी एक पदार्थ में नही स्वीकृत हो सकते। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं 'यह ऐसा है,' तब यह सत्य नही है कि एक ही वस्तु दोनो उद्देश्य और विधेय है। उदाहरणार्थ, उपरोक्त वाक्य मे यह गाय को लक्ष्य करता हो तो विधेय 'ऐसा' उसके किसी विशेष विलक्षण शारीरिक रूप को लक्ष्य करता है। पिछला पहले का गुण मात्र है, और उसके स्वभाव और गुण को निश्चित करता है। उद्देश्य और विधेय का तादात्म्य जोडना कोई अर्थ नही रखता या यह भी कहना अर्थ नही रखता कि वही पदार्थ इकाई के रूप से उद्देश्य है और भेद के दूसरे रूप से विधेय है। भास्कर तर्क करते हैं कि अवस्था और जिसका अवस्था पर प्रभाव है (अवस्था तावस्था च) दोनो सर्वथा भिन्न नही हैं, और न द्रव्य और गुण हैं जैसेकि कपडा और उसका सफेद रग। विना गुण के द्रव्य नहीं है और द्रव्य विना गुण के। प्रत्येक भिन्नता एकत्व भी है। द्रव्य की शक्ति और गुण उससे भिन्न नही है, अग्नि उसकी दहन-शक्ति एव प्रकाशात्मक गुण दोनो एक ही हैं। इस तरह, प्रत्येक वस्तु एकरूप और भिन्न रूप दोनो ही है और किसी एक को दूसरे से एकरूप नही किया जा सकता। किन्तु रामानुज यह मानते हैं कि सारे वाक्य एक ही प्रकार के हैं जिससे विधेय उद्देश्य का गुण है। यही

गुणवाचक सिद्धान्त जाति और वर्ग, कार्य और कारण, और सामान्य और विशेष के उदाहरणो मे लागू होता है। भिन्नता और एकता वस्तु के दो स्वतत्र रूप नहीं हैं 'जो दोनो सत्य भी है,' किन्तु भिन्नता, एकत्व के स्वभाव या लक्षण को विशिष्ट बनाता है या उसके रूप मे भेद करता है और यह हमारे मिश्र या यौगिक सत्ता के अनुभवो से सिद्ध भी है।[1] रामानुज के अनुसार एक ही वस्तु मे एकत्व और भिन्नता को स्वीकारना विरोधाभास है। भेद की सच्चाई का स्वतत्र एव अपना स्वय अस्तित्व रखना अनुभव से प्रमाणित नही है, क्योकि गुण और मात्रा इत्यादि भेद से इकाई के रूप मे उद्देश्य के स्वभाव और लक्षण मे भेद उत्पन्न होता हैं, और यही केवल हमारे अनुभव मे आता है।

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं, प्रकट–व्यक्त रूप तथा नाना रूप और चित् और सत् के तादात्म्य का अव्यक्त, निराकार रूप ब्रह्म का यह पिछला रूप ही हमारी भक्ति और उच्च ज्ञान का विषय है। रामानुज, इस निराकार और भेद-रहित ब्रह्मन् को इन्कार करते हैं और विशिष्ट सगुण ब्रह्म मे विश्वास करते हैं जो व्यापक ईश्वर रूप से अपने मे, जीवो को और अचित् जगत् को शरीर रूप से धारण करता है। जीव और ब्रह्म के सम्बध मे भास्कर कहते हैं कि जीव अत करण की उपाधि से सकुचित, ब्रह्म ही है। जब ऐसा कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अश है तब अश शब्द 'भाग' एव 'कारण' के अर्थ मे उपयोग नही किया गया है, किन्तु अत करण की उपाधि से परिमित इस पारिभाषिक अर्थ मे उपयोग किया गया है। यह सीमितता मिथ्या भी नहीं है और न असत् है, इसी कारण जीव अणु रूप है। रामानुज के अनुसार भेद, अज्ञान के कारण है, इसलिये यह भेद असत् है। रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म मे भेद नहीं है। जीव की अपूर्णता, सीमितता और ब्रह्म की पूर्णता एव असीमता इत्यादि का दीखना यह भेद अविद्यागत है, जब जीव को यह अनुभव होता है कि वह ब्रह्म ही देह रूप है तब यह भेद मिथ्या हो जाता है। रामानुज के अनुसार, भेद स्वय की कोई सत्ता नही है, वह, केवल जिस अभिन्न एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है उसके लक्षण को निश्चित करता है और उसके रूप का परिवर्तन करता। वस्तु और उसके गुण अभिन्न हैं। भास्कर, अभिन्नता और भेद के दो प्रकार मानते हैं जो दोनो, अपने में सरीखे और स्वतत्र रूप से सत्य हैं, यद्यपि वे आपस में एक दूसरे से सम्बधित है। भास्कर के विरोध मे यह कहा जाता है कि अगर ब्रह्म के मर्यादित रूप भी सत्य हैं तो वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से मर्यादित बना देंगे, क्योकि ब्रह्म निर्विशेष है, वे इस प्रकार उसे पूर्णरूप से दूषित कर देंगे। भास्कर के प्रति यह आक्षेप, रामानुज ने बहुत कुछ सूक्ष्म रूप से तथा युक्तिपूर्ण चातुर्य से किया है।[2] अगर हम भास्कर का यह तादिक दशा

---

[1] तादिमयखण्डन।

[2] रामानुज भाष्य, पृ० २६४, ६६। श्रुत प्रकाशिका के साथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६।

मान लें कि एकत्व और अनेकत्व, कार्य और कारण, एक ही सत्ता के अस्तित्व के दो प्रकार हैं और ये दोनो ही सत्य हैं तो भास्कर के विरुद्ध रामानुज के तर्कों का कोई प्रभाव रहा हो ऐसा नही लगता। भास्कर के तार्किक पक्ष का पूर्णरूप से, खण्डन किया जा चुका हो, ऐसा प्रतीत नही होता।

रामानुज ब्रह्म को जीव और जड जगत् से अभिन्न मानते हैं किन्तु ब्रह्म को जीव और जड जगत् से अलग भी कहते हैं। किन्तु वे इसी अर्थ मे अभिन्नता को मानते हैं जिस अर्थ मे द्रव्य अपने अश या गुण से एक साथ अभिन्न भी और भिन्न भी है या एक पूर्ण वस्तु अपने अश से अभिन्न और भिन्न है। व्यक्तिगत जीव और जड जगत्, अपने आप स्वतत्रता से सत्ता नही रख सकते, केवल ब्रह्म के अश रूप से ही सत्ता रख सकते हैं। जीव ब्रह्म के अश रूप हैं इस तथ्य से उनकी ब्रह्म से अभिन्नता उतनी ही प्रधान है जितनी उनकी भिन्नता है, अगर हम यह ध्यान रखें कि द्रव्य उसके गुण से भिन्न है।[1] भास्कर और रामानुज के बीच, मुख्य विरोध यह रह जाता है कि भास्कर देह और अश या द्रव्य और गुण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने की आवश्यकता नहीं समझते। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मन् सर्वान्तिर्यामी और पर, एक साथ ही है, अभिन्नता और भिन्नता दोनो एक साथ ही वस्तु मे स्वीकार की जा सकती हैं, तथा कार्य और कारण एव द्रव्य और गुण इत्यादि की दृष्टि द्वारा इसे प्रमाणित किया जा सकता है।

रामानुज-दर्शन का सत्ता ज्ञान विषयक पक्ष

अद्‌भुत रचना युक्त, यह सारा जगत्, जो अद्‌भुत नियम और विधि द्वारा नियन्त्रित किया जा रहा है वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा उसकी सत्ता पोषण की जा रही है और अत मे वह उसी मे मिल जायगा। ब्रह्म की महानता की कोई मर्यादा नहीं है। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और सहार, तीन प्रकार के गुण के अर्थ मे व्यवहृत हैं किन्तु वे तीन द्रव्यो को लक्ष्य नही करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमे वे रहे हुए है। उसका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणामी सत्ता और नित्य सर्वज्ञता और देश, काल और लक्षणो मे अमर्यादितता मे रही है। शकर के इस सूत्र (१-१-२) के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्मन् को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्म सूत्र के इस पाठ (१-१-२) मे कहे हुए ब्रह्म के गुण को ठीक नही समझा सकते, क्योकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है

---

[1] जीववत् पृथकसिद्ध्यनर्हं विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्, विशिष्टस्त्वेक देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्यः विशेषण विशेष्ययोः स्वरूप-स्वभावभेदेन भेद-व्यवहारोऽपि मुख्य।
—श्री भाष्य, ३ २ २८।

ऐसा कहने के वजाय उन्हे यो कहना चाहिये कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है। किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नही होती, क्योकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला हो जायगा। वह स्वप्रकाश-स्वरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और अगर उसमे यह भेद हैं तो वह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेद-रहित ही।[1]

यह शकर के उपरोक्त सूत्र के सच्चे अर्थ के बारे मे महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। क्या वे सचमुच यही मानते थे जैसाकि रामानुज ने उनके बारे मे बताया है कि जिस वस्तु मे से जगत् की उत्पत्ति का भ्रम होता है वही ब्रह्म है ? या वे सचमुच यही मानते थे कि ब्रह्म तथा वह स्वत ही अकेला इस जगत् की सचमुच उत्पत्ति का कारण है ? शकर, जैसाकि प्रसिद्ध है, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि इन ग्रथो मे ऐसे अनेक अवतरण है जो ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं और यह भी कि इस वास्तविक जगत् की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा ही सचमुच हुई है। शकर को इन अवतरणो को समझाना था और उन्होने हमेशा अद्वैतिक भाषा का कठोर प्रयोग नही किया, क्योकि उन्होने तीन प्रकार की सत्ता मानी है और सब प्रकार के शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु शकर ने उस समय जिन शब्दो का प्रयोग किया, उनके प्रति सावधानी रखना आवश्यक था, जो उन्होने हर समय नही रखी। उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे पाठ नजर आते हैं जो वास्तव मे ईश्वरवाद का सकेत करते है, दूसरे द्व्यर्थक है जिनका दोनो प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है, और कुछ दूसरे पाठ ऐसे हैं जो नितान्त अद्वैतवादी हैं। किन्तु अगर महान् टीकाकारो और शकर-मत के स्वतन्त्र लेखको की साक्षी ली जाय, तो शकर के सिद्धान्त को शुद्ध अद्वैत एकत्ववाद के अर्थ मे ही समझाया जा सकता है। ब्रह्म निश्चित रूप से अपरिणामी, अनन्त है और वह जगत्-प्रपच के उत्थान, स्थिति और प्रलय का एकमात्र अधिष्ठान है और वह सभी के अतर्हित एक सत्य है। किन्तु जगत्-प्रपच के भास मे दो तत्व उपस्थित हैं, एक ब्रह्म जो मूल अधिष्ठान रूप है, जो सत् और चित् स्वरूप है और दूसरा भेद और परिणामी तत्व माया है जिसके विकास या परिणाम से नानात्व का भास सभव है। किन्तु, शकर भाष्य मे ब्रह्म सूत्र के १ १.२ पाठ की टीका मे ऐसे पाठ मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि जगत्-प्रपच केवल भास मात्र नही है, किन्तु सत्य है क्योंकि उसका अधिष्ठान केवल सत्य ही नहीं है किन्तु वह ब्रह्म द्वारा प्रसूत है। यदि सयत होकर देखा जाय, तो ब्रह्म ही केवल जगत् का उपादान कारण नही है पर वह अविद्या के साथ उपादान कारण है, और

---

[1] जगज्-जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेऽति स्वोत्प्रेक्षा-पक्षेऽपि न निर्विशेष-वस्तु-सिद्धिः इत्यादि। —वही, १ १.२०।

ऐसा जगत्, ब्रह्म पर आधारित है और उसी मे वह लय पाता है। वाचस्पति भामती मे, शकर भाष्य के उसी सूत्र पर (ब्र० सू० १ १ २) पर यही टीका करते हैं।[1] प्रकाशात्मन्, अपने 'पचपादिका विवरण' मे कहते है कि सर्जन कार्य जो यहा कहा गया है वह ब्रह्म मे नही है और ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे खोज का अर्थ यह नही है कि वह इन गुणो से सम्बन्धित है, ऐसा जाना जाता है।[2] भास्कर ने यह प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म ने ही जगत् रूप से परिणाम किया है और यह परिणाम सत्य है उसकी शक्तियो का नाना रूप यह जगत् है। किन्तु प्रकाशात्मन्, परिणामवाद का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि जगत्-प्रपच, भले ही माया रूप क्यो न हो, चूँकि यह माया ब्रह्म से सम्बन्धित है इसलिये यह जगत्-प्रपच ऐसा होते हुए भी, इसका वोध, निषेध या असत्ता अनुभव मे नही आता, केवल इतना ही पता चलता है कि वह अन्ततोगत्वा सत् नही है।[3] माया का अधिष्ठान ब्रह्म है (आधार ब्रह्म है) और जगत्-प्रपच, माया का परिणाम होने से ऐसे परिणाम रूप से सद्रूप है। वह भी ब्रह्म पर आधारित है किन्तु उसकी अन्तिम सत्ता केवल यहा तक है जहा तक वह इस अधिष्ठान या ब्रह्म पर आश्रित है। जहा तक जगत्-प्रपच का प्रश्न है वह माया का परिणाम होने से अपेक्षित रूप से ही सत् है। ब्रह्म और माया के सयुक्त कारणत्व का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है, माया और ब्रह्म दो ततु रूप हैं जो वुनकर एक ततु बने हैं, या ब्रह्म और माया उसकी शक्ति रूप से, जगत् कारण है, या ब्रह्म, माया का आधार होने से, जगत् का गौण रूप से कारण है।[4] पिछले दो वादो मे माया, ब्रह्म पर आश्रित है इसलिये, माया का कार्य जगत् भी ब्रह्म पर आश्रित है, और इन दोनो वादो मे उपरोक्त अर्थ लगाने से, शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण होता है। सर्वज्ञात्मा मुनि भी, जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म उपादान कारण है, वे माया के कार्य को, ब्रह्म के साथ सयुक्त उपादान कारण है, ऐसा नही मानते, किन्तु उसे वह साधन है, सामग्री है ऐसा मानते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म का कारणत्व, नानात्व भिन्न जगत्-रूप से प्रगट होता है। किन्तु इस वाद के अनुसार भी नानात्व का उपादान माया है, यद्यपि माया का, इस

---

[1] अविद्या-सहित-ब्रह्मोपादान जगत् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते।

—भामती १ १ २।

[2] नहि नानाविध-कार्य-क्रियावेशात्मकत्व तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्व वा जिज्ञास्य-विशुद्ध-ब्रह्मान्तर्गतम् भवितुम् अर्हति। पचपादिका विवरण। —पृ० २०५।

[3] सृष्टेश्च स्वोपाधौ अभावव्यावृत्वात् सर्वे च सोपाधिकधर्मा स्वाश्रयोपाधौ अवाध्यतया सत्या भवन्ति सृष्टिरपि स्वरुपेण न वाध्यते किन्तु परमार्था सत्यत्वाशेन।

—वही, पृ० २०६।

[4] वही, पृ० २१२।

प्रकार से प्रकट होना, मूल कारणत्व, ब्रह्म की अनुपस्थिति में असभव है।[1] ब्रह्म के कारणत्व के स्वरूप पर विचार करते हुए, प्रकाशात्मन् कहते हैं कि वेदान्त का अद्वैत-वाद का सिद्धान्त इस तथ्य से समर्थन पाता है कि कारण को छोडकर कार्य मे कुछ भी नही है जिसे वर्णन किया जा सके या व्यक्त किया जा सके (उपादान व्यतिरेकेण कार्यस्य अनिरुपणाद् अद्वितीयता)।[2] इस प्रकार, भिन्न-भिन्न प्रकार से, शकर-दर्शन की व्याख्या की गयी है, अत शकर के लगभग सभी अनुयायियो ने यह माना है कि यद्यपि ब्रह्म ही जगत् का अन्त मे मूल कारण ही है, तथापि जगत् जिन पदार्थो से बना है वह ब्रह्म नही होकर केवल माया तत्व है और इसलिए नानात्व जगत् की सत्ता-सापेक्ष मात्र है और यह सापेक्ष सत्ता ब्रह्म की सत्ता की तरह सत्य नही है।[3] शकर स्वय कहते हैं कि ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्व विपय को प्रकाश करने और प्रकट करने की नित्य शक्ति मे ही है (यस्य हि सर्व-विपयावभासन-क्षम ज्ञान नित्यम् इति)। यद्यपि इस सर्वव्यापी चैतन्य मे कोई भी क्रिया या साधन की आवश्यकता नही रहती तो भी वह ज्ञाता कहा जाता है जबकि सूर्य स्वय दाहक और प्रकाशक कहा जाता है जबकि सूर्य स्वय ताप और प्रकाश की अभिन्नता के सिवाय और कुछ नहीं है (प्रततोष्ण्य-प्रकाशेपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातत्र्य-व्यपदेश-दर्शनात् एवम् असत्यपि ज्ञान-कर्मणि ब्रह्मणः तद् ऐक्षत इति कर्तृत्व-व्यपदेशदर्शनात्)। जगत् की उत्पत्ति के पहले, इस सर्वव्यापी चैतन्य का जो विपय है वह अनिर्वचनीय नाम रूप है जिसे 'यह' या 'वह' कहकर निश्चित नही किया जा सकता।[4] ब्रह्म की सर्वज्ञता, इसलिये सबको प्रकट करती

---

[1] सक्षेप शारीरिक १-३३२, ३३४ और रामतीर्थ की अन्वयार्थ प्रकाशिका टीका।

[2] पचपादिका विवरण, पृ० २२१।

[3] प्रकाशात्मन्, ब्रह्म और माया के बीच किये गये अनेको सबधो का उल्लेख करते हैं जैसेकि, ब्रह्म मे माया शक्ति रूप है, और सारे जीवो का सबध अविद्या से है: माया और अविद्या मे प्रतिबिम्बित ब्रह्मन्, जगत्-कारण है (माया विद्या प्रतिबिम्बित, ब्रह्म जगत्-कारणम्): शुद्ध ब्रह्म अमर है जीव अविद्या से सबधित है, जीव, जगत् के बारे मे अपना ही भ्रम है और ये सादृश्य की वजह से एक नित्य जगत् रूप से दीखता है, ब्रह्म का अपनी अविद्या के कारण ही भासमात्र परिणाम होता है। किन्तु इन किसी भी विचारो मे जगत् ब्रह्म का सच्चा रूप है ऐसा नही माना गया है। —पचपादिका विवरण, पृ० २३२।

ब्रह्म किस प्रकार अनादि वेदो का कारण है, इस विषय को प्रकाशात्मन् यो समझाते है कि ब्रह्म अतरम्थ सत्ता थी, जिसमे, वेद, जो इस पर निक्षिप्त किये गये थे, प्रकट हुए। —वही, पृ० २०३-२३१।

[4] किं पुन तत् कर्म ? यत् प्रागुत्पत्तेरीश्वर ज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये नाम रूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूम।

—शकर भाष्य, १ १ ५।

है जिससे माया की समस्त सृष्टि, बुद्धि का ज्ञानात्मक विषय बन जाती है। किन्तु यह प्रकट करना ज्ञान-कर्म नही है, किन्तु चैतन्य का नित्य स्थिर प्रकाश है जिससे माया के मिथ्याभास प्रकाशित हो उठते हैं और जाने जाते हैं।

रामानुज का अभिप्राय इससे अत्यन्त भिन्न है। वे शकर के इस मत को कि कारण ही एक मात्र सत्य है और कार्य सारे मिथ्या है—इसे नही मानते। कार्य रूप जगत् के मिथ्यात्व के लिये एक कारण यह दिया जाता है कि कार्य अनित्य है। इससे कार्य का मिथ्यात्व नही सिद्ध होता, केवल इसका नाशवान् और अनित्य स्वभाव ही सिद्ध होता है। जब एक वस्तु एक देश और काल मे विद्यमान रहती हुई, उसी देश और काल मे नही रहती है तब वह मिथ्या कहाती है, किन्तु यदि वह दूसरे देश और काल मे रहती हुई नही पाई जाती है तो उसे मिथ्या नही कह सकते, वह केवल नाशवान् और अनित्य है। यह मान्यता गलत है कि कारण का स्वरूप परिवर्तित नही होता, क्योकि समय, स्थान के सयोग से नये तत्वो का उदय होता है जिसके फलस्वरूप उसमें परिवतन होता है। कार्य न तो असत् हैं और न भ्रम है क्योकि वह कारण से उत्पन्न होने के पश्चात्, तबतक किसी निश्चित देश और काल मे दीखता है जबतक कि वह नष्ट नही हो जाता। हमारा यह अनुभव मिथ्या है ऐसा सिद्ध करने का कुछ भी प्रमाण नही है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जो श्रुति-शास्त्र प्रतिपादन करते हैं वे इस अर्थ मे सत्य हैं कि ब्रह्म ही केवल जगत् का कारण है और कार्य-कारण, अन्त मे, भिन्न नही है। जब ऐसा कहा जाता है कि घडा मिट्टी के सिवाय और कुछ नही है तो कहने का अर्थ यह है कि वह मिट्टी है जो विशेष और निश्चित रूप से घडा कहलाती है और पानी लाने इत्यादि का कार्य करती है, यद्यपि वह ऐसा करती है तो भी वह मिट्टी से भिन्न द्रव्य नही है। घडा इस प्रकार, मिट्टी स्वय की अवस्था ही है, और जब यह विशेप अवस्था बदल जाती है तब हम कहते हैं कि कार्य रूप घडा नष्ट हो गया है, यद्यपि कारण, मिट्टी वैसी ही रहती है। उत्पत्ति का अर्थ पहली स्थिति का नाश और नयी स्थिति का निर्माण है। द्रव्य, इन सब स्थितियो मे एक-सा ही रहता है इसी कारण कि कार्य, कारण साधनो की क्रिया के पहले ही विद्यमान हैं, यह कारणवाद सच माना जा सकता है। वास्तव मे, दशा या रूप जो पहले नही थे वे उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्थिति या दशा, जो द्रव्य मे दीखती है, उसकी द्रव्य से स्वतत्र रूप मे सत्ता नहीं होती, उसकी नयी उत्पत्ति, कार्य-कारण मे पहले से ही विद्यमान है, इस कारणवाद पर प्रभाव नही डालती। इस तरह, एक ही ब्रह्म स्वय जगत् रूप से परिणत हुआ है और नाना जीव, उसकी विशेप दशाए या स्थिति होने के कारण, उससे एक रूप हैं और तो भी उसके अश रूप या अवस्था होने से सचमुच अस्तित्व रखते हैं।

पूर्ण या अद्वैत यहा ब्रह्म है, जीव और जड जगत् उसकी देह हैं। जब ब्रह्म, जीव और जड जगत् के सूक्ष्म रूप देह के साथ रहता है तब वह कारण या ब्रह्म की

कारणावस्था कहलाती है। जब वह, जीव और जगत् की साधारण प्रकट अवस्था रूपी देह से युक्त है तब ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है।[1] जो कार्य को मिथ्या मानते हैं वे यह नही कह सकते कि कार्य कारण से अभिन्न है, क्योकि उनके अनुसार जगत्, जो मिथ्या है वह ब्रह्म से जो सत्य है, अभिन्न नही हो सकता।[2] रामानुज, बलपूर्वक इस सुझाव का निषेध करते हैं कि सन्मात्र रूप कोई ऐसी वस्तु, जीव और जगत् की सूक्ष्मावस्था रूप देह वाले नियता कारण ईश्वर से, अतत अधिक सत्य है, क्योकि वे इसे भी अस्वीकार करते हैं कि ईश्वर को केवल सन्मात्र माना जाय, क्योकि ईश्वर सर्वदा, सवज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, इत्यादि अनन्त श्रेष्ठ गुणो से युक्त हैं। रामानुज इस प्रकार, ईश्वर के अश रूप, जड और जीव के द्विविभक्त सिद्धान्त को पकडे रहते हैं, जो ईश्वर इन अशो का निरन्तर अतर्यामी हैं। वे निश्चय रूप से सत्कार्य-वादिन् हैं किन्तु उनका सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कार्यवाद से, जो शकर ने माना है अधिक साख्य की राह पर है। कार्य, कारण की केवल बदली हुई अवस्था है और इसलिये जड और जीव रूप से प्रकट जगत्, जो ईश्वर की देह है, इसे केवल इसलिये कार्य माना है कि यह कार्य रूप से प्रकटावस्था के पूर्व, ईश्वर मे सूक्ष्म और निर्मल अवस्था मे विद्यमान था। किन्तु, ईश्वर मे यह जड और जीव का भेद हमेशा से विद्यमान था और उसमे कोई ऐसा अश नही है जो इससे अधिक सत्य और चरम हो। यहा पर रामानुज भास्कर का पूर्णत साथ छोड देते हैं। क्योकि भास्कर के अनुसार, जोकि कार्य रूप से ईश्वर जड और जीवमय प्रकट सृष्टि-रूप से विद्यमान था, तो भी कारण रूप से ईश्वर की सत्ता भी थी, जो नितान्त अव्यक्त और निर्विशेष रूप से सन्मात्र था। ईश्वर, इसलिये, सर्वथा जड, जीव और उसके अतर्यामी, के त्रिविध रूप से विद्यमान था, और प्राकृत या कारणावस्था और प्रलयावस्था का अर्थ, जड और जीव की व्यक्तावस्था से भिन्न सूक्ष्म और निर्मल अवस्था से है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि जैसे मनुष्य मे देह और आत्मा के बीच भेद है, और जैसे देह की कमी और दोष आत्मा को प्रभावित नही करते, उसी प्रकार परम अतर्यामी ईश्वर और उसका शरीर, जीव और जड जगत् रूपी के बीच, स्पष्ट रूप से भेद है और जगत् के दोष ब्रह्म को इसलिये प्रभावित नही कर सकते। इस प्रकार, यद्यपि ब्रह्म के शरीर है तो भी वह अखण्ड (निरवय) है और कर्म से सर्वदा रहित है यद्यपि उनकी निश्चयात्मक चेष्टाए अहेतुकी हैं। वह, इसलिये, सभी दोषों के प्रभाव से रहित है और अपने मे, अनन्त हितकारी गुण धारण करता हुआ, शुद्ध और पूर्ण है।

रामानुज, अपने 'वेदार्थ सग्रह' और 'वेदान्त दीप' मे यह बताने की कोशिश करते है कि किस प्रकार, शकर के अद्वैतवाद को दूर करके, उन्हे भास्कर के सिद्धान्त और अपने पूर्वगामी गुरु यादव प्रकाश के सिद्धान्त से भी, हट कर रहना पडा। वे भास्कर का साथ न दे सके, क्योकि भास्कर मानते थे कि ब्रह्म उन मर्यादाओ और सीमाओ से सम्बन्धित है जिनसे वह बधन मे पडता है और जिनके निवारण से वह मुक्त होता है। वे यादव प्रकाश से भी सहमत न हो सके, जो मानते थे कि ब्रह्म एक ओर शुद्ध है और दूसरी ओर, स्वय नाना रूप जगत् मे परिणामित होता है। इन दोनो मतो की उपनिषद् के पाठ से सगति नही बैठती।

वेंकटनाथ का प्रमाण-निरूपण

जिस प्रकार शून्यवादी बौद्ध या माध्यमिक किसी भी तथ्य या प्रतिज्ञा की न्याययुक्त सत्ता का निषेध प्रतिपादित करते है, उसी प्रकार शकर मतवादी उक्त प्रश्नो पर अपना निर्णय दे सकने मे असमर्थ है। खण्डनखण्डखाद्य के पूर्व पक्ष मे, इस प्रश्न के उत्तर मे कि सारे विवादो (कक्षाओ) को, लक्ष्य करने वाले तथ्यो और प्रतिज्ञाओ की पहले ही सिद्धि और असिद्धि मान लेनी चाहिये अथवा नही, इसका उल्लेख करते हुए भी श्री हर्ष कहते हैं कि ऐसी कोई मान्यता अनिवार्य नही है, क्योकि विवाद, दो प्रतिस्पर्धी पुरुषो की आपस की स्वीकृति से ही, यह मानकर किया जा सकता है कि, वे विवाद का किसी एक मध्यस्थ द्वारा निश्चित किये गये कुछ सिद्धान्तो की सच्चाई या मिथ्यापन के आधार पर उनकी अतिम सच्चाई का प्रश्न खडे किये बिना, सम्मान करें। यदि कुछ सिद्धान्तो, तथ्यो का प्रतिज्ञाओ की सिद्धि या असिद्धि मान भी ली जाय, तब भी, प्रतिस्पर्धी विवाद करने वालो के बीच मध्यस्थ द्वारा शासित किये गये, यह या अन्य सिद्धान्तो के बारे की स्वीकृति, समस्त विवाद के लिये प्रारम्भिक आवश्यकता होगी।[1] रामानुज सप्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेंकटनाथ, इन मतो के विरोध मे, सत्य या हेतु या ज्ञेय विषय की खोज की प्रारम्भिक अवस्था के तौर से, कुछ प्रतिज्ञाओ या तथ्यो मे स्वाभाविक धर्म के रूप मे प्रामाण्य या अप्रामाण्य मानना आवश्यक है या नही इसे निश्चित करना चाहते हैं। अगर प्रामाण्य या अप्रमाण्य प्रतिज्ञाओ का भेद नही माना जाय तो, कोई भी प्रबध (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं की जा सकती और न कोई व्यवहार ही सम्भव है। यद्यपि सामान्य लोगो की स्वीकृति के आधार पर प्रमाण

[1] न च प्रमाणादिना सत्तापि इत्थम् एव ताभ्याम् अगीकुर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार-नियममात्रेणैव कथा प्रवृत्त्युपपत्ते। प्रमाणादिसत्ताम् अभ्युपेत्यापि तथा व्यवहार-नियम-व्यतिरेके कथा-प्रवृत्ति विना तत्व-निर्णयस्य जयस्य वा अभिलसितस्य कथकयोरपर्यवसानात्, इत्यादि। —खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ३५।

और अप्रमाण प्रतिज्ञाओ का भेद इस प्रकार मानना पडता है, तब भी उनके सच्चे स्वरूप का परीक्षण करना ही पडता है। जो इस भेद को अस्वीकार करते हैं उनके लिये चार विकल्प उपस्थित होते है, जैसाकि (१) सारी प्रतिज्ञाएँ प्रमाण हैं, (२) सारी प्रतिज्ञाएँ अप्रमाण है, (३) सारी प्रतिज्ञायें आपस मे परस्पर-विरोधी है, या (४) सारी प्रतिज्ञाएँ शकास्पद है। यदि सारी प्रतिज्ञाए प्रमाण है, तो ऐसी प्रतिज्ञाओ का निषेध भी प्रमाण है, जो स्वतोविरोधी हो जाता है। अगर वे सभी अप्रमाण हैं, तो यह प्रतिज्ञा भी अप्रमाण ठहराती है और इस प्रकार अप्रमाणता प्रतिपादित नही की जा सकती। तीसरे विकल्प के बारे मे, यह बताया जा सकता है कि अप्रमाण प्रतिज्ञा कभी भी प्रमाण प्रतिज्ञा का बाध नही कर सकती। यदि एक प्रमाण-प्रतिज्ञा दूसरी प्रमाण-प्रतिज्ञा के क्षेत्र को निरुद्ध करती है तो इसे विरोध नही माना जा सकता। एक प्रमाण-प्रतिज्ञा को उसकी प्रमाणता प्रकट करने के लिये दूसरी प्रतिज्ञा पर आश्रित होना नही पडता। क्योकि प्रमाण-प्रतिज्ञा स्वत प्रमाणित है। अन्त मे, यदि आप सभी के बारे मे शका करते हैं, तो कम से कम आप इसे तो शका नही करते कि आप शका करते हैं, इस प्रकार तुम्हारा यह कहना असगतिपूर्ण है कि आप सभी के बारे मे शका करते हैं।[1] इस प्रकार यह मानना पडता है कि दो प्रकार की प्रतिज्ञाएँ होती हैं, प्रमाण और अप्रमाण। प्रतिज्ञाओ के बीच प्रमाणता और अप्रमाणता का सामान्य भेद यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी, कोई विशेष प्रतिज्ञा, प्रमाण है अथवा नही है इसे निश्चित करने के लिये, उक्त प्रतिज्ञा का परीक्षण, पूछताछ खोज इत्यादि किया जाना न्याय युक्त है। प्रमाण उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा सही ज्ञान (प्रमा) उपलब्ध हो।[2] उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के लिए दोष-रहित नेत्र ध्यान-सगत मानसिक व्यापार एव विषय की योग्य निकटता इत्यादि के सयुक्त स्वरूप से 'प्रमाण' की उपलब्धि होती है। किन्तु शब्द, प्रमाण मे, ज्ञान की प्रमाणता, बोलने वाले की दोष-रहितता से है। शास्त्र प्रमाण हैं, क्योकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिन्हे वस्तु का सच्चा ज्ञान है। वेदो की प्रमाणता, हमारे ज्ञान के साधनो की दोष-रहितता पर आश्रित नही है। यह कैसे भी हो, प्रमाण का अतिम निश्चय प्रमा द्वारा या सच्चे ज्ञान द्वारा ही है। जिससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है वही प्रमाण है। वेद प्रमाण हैं क्योकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं जिसे

[1] यह उक्ति डेकार्टं का स्मरण कराती है—सर्वं सदिग्धम् इति ते निपुणस्यास्ति निश्चय सशयश्च न सदिग्ध सदिग्धाद्वैतवादिन।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ३४। चौखम्बा स० सी०।

[2] यहा करण प्रामाण्य और आश्रय प्रामाण्य के बीच भेद किया गया है। (प्रमाश्रयस्य ईश्वरस्य, प्रामाण्य, अगीकृतम्) न्यायसार, न्याय परिशुद्धि की टीका, श्री निवास कृत, पृ० ३५।

सच्चा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान की सच्चाई ही, अन्त मे, प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[1]

वात्स्य श्री निवास जो रामानुज-सम्प्रदाय के श्री वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण, यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की तात्कालिक नित्य एव ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणो मे सबसे विशिष्ट सिद्धिकर उपकरण है। अत उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष मे चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की उपलब्धि सभव है यद्यपि इस क्रिया मे बीच की सक्रिय क्रिया (अवान्तर व्यापार) के माध्यम से आँख का वस्तु से सम्पर्क होता है।[2] न्याय के सुविख्यात लेखक, जयन्त, ने अपनी 'न्याय मजरी' मे, इस विषय पर भिन्न ही मत प्रकट किया है। उन्होने माना है कि प्रमा की उत्पादक सामग्री मे से किसी एक को भी, दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण या अतिशय नही कहा जा सकता। कारण साधन की अतिशयता का अर्थ उनकी कार्योत्पादक शक्ति है, और वह शक्ति, उत्पादक सामग्री के सभी तत्वो मे सयुक्त होकर ही है, इसलिये प्रमा उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण कारण—उत्पादक सामग्री को ही प्रमाण मानना पडेगा।[3] उद्देश्य और विधेय भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं माने जा सकते, क्योकि वे भी उद्देश्य और विधेय के बीच, उत्पादक सामग्री द्वारा ही, इच्छित सम्बन्ध उत्पन्न करके ही, प्रकट होते हैं।[4] न्याय के अनुसार उत्पादक सामग्री बोधा बोध-स्वभाव रूप है।[5]

अगर वेदान्त परिभाषा का मत माना जाता है तो शकर अनुयायियो का मत भी इस विषय पर रामानुज के मत जैसा बहुत कुछ हो जाता है, क्योकि धर्म राजाध्वरीन्द्र

[1] करण प्रामाण्यस्य आश्रय प्रामाण्यस्य च ज्ञानप्रामाण्याधीनज्ञानत्वात् तदुभय-प्रामाण्य-सिद्धयर्थमपि ज्ञान-प्रामाण्यमेव विचारणीयम्।

—न्यायसार, पृ० ३५।

[2] प्रमा करण प्रमाणम् इति उक्तम् आचार्ये सिद्धान्त सारे प्रमोत्पादक-सामग्री-मध्ये यह अतिशयेन प्रमागुणकम् तत् तस्या. कारणम्, अतिशयश्च व्यापार, यद्धि यद् जनयित्वैव यद् जनयेत् तत्तत्र तस्यावान्तर व्यापारः। साक्षात्कारि प्रभाया इन्द्रिय कारणम् इन्द्रियार्थं सयोगोवान्तर व्यापार।

—रामानुज सिद्धान्त सग्रह। गव० ओ० हस्त० स० ४९८८।

[3] सच सामग्र्यन्तर तस्य न कस्यचिद् एकस्य कारकस्य कथयितु पार्यते, सामग्र्यस्तु सोऽतिशय सुवच सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नम् एव फलम् इति।

—न्याय मजरी, पृ० १३।

[4] साकल्य प्रसाद लब्ध प्रमिति-सम्बन्ध-निबधन प्रमातृ-प्रमेयो मुख्यस्वरूप लाभः।

—वही, पृ० १४। न्याय मजरी।

[5] बोधा बोध स्वभावा सामग्री प्रमाणम्। —न्याय मजरी, पृ० १५।

और रामकृष्ण दोनो प्रमाण को प्रमा का कारण मानने मे एक मत है। चाक्षुप प्रत्यक्ष से तथा अन्य मे, इन्द्रिया ही प्रमाण मानी गई हैं, और इन्द्रिय-सयोग इस कारण का व्यापार माना गया है।

रामानुज और न्याय के मत मे भेद यह है कि जबकि न्याय उत्पादक सामग्री के प्रत्येक तत्वो को समान महत्व देता है, रामानुज का मत, उसी निमित्त कारण को विशेप महत्व देता है जो व्यापार से साक्षात् सबधित हैं। शकर अनुयायी भी ज्ञान के ऐसे उत्पादक मत को मानते है, यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं, तो भी, वे वृत्ति-ज्ञान की उत्पत्ति मे मान्यता रखते हैं। क्योकि यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं तो भी, वे, वृत्ति-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, ऐसा मानते है। शकर और रामानुज के मत, न्याय से एक मत हो, ज्ञान के उत्पादक सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि दोनो के मतानुसार जगत् विपय रूप से, ज्ञाता के बाहर है और प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियो से, अर्थ का व्यापार द्वारा सयोग होने से उत्पन्न होता है। रामानुज-मत मे कारण और करण (विशेप साधन) के बीच भेद किया गया है और वह कारण जो कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापारो से, अतिशय रूप से और साक्षात् सम्बन्धित है, वह करण है।[1] इसी कारणवश यद्यपि रामानुज का मत सामग्री को स्वीकार कर लेता है, किन्तु कुछ अर्थ मे वह इन्द्रियो को भी प्रधान साधन मानता है, दूसरे सब सहायक हैं या अन्य रूप से उत्पादन में सहकारी हैं।

कुछ बौद्ध ऐसे भी है जो पूर्ववर्ती क्षण के मानसिक तथा मनोबाह्य कारक की सयुक्त सामग्री ही, ज्ञान तथा उत्तर क्षण की बाह्य घटना को उत्पन्न करती है, ऐसा मानते है, किन्तु वे मानसिक तत्व सीधे सीधे ज्ञान उत्पन्न करते है ऐसा मानते हैं, जबकि मनोबाह्य तथा बाह्य पदार्थ केवल उत्तेजक या सहकारी साधन हैं। इस मत के अनुसार, ज्ञान अनुभव के पूर्व ही, अन्तर से निश्चित होता है, यद्यपि बाह्य विषयो के प्रभाव का निपेध नहीं किया गया है। बाह्य जगत् मे कारणता के व्यापार के सम्बन्ध में, वे मानते हैं कि यद्यपि वर्तमान क्षण के ज्ञानमय तत्व, सहायक रूप से उन्हे प्रभावित करते हैं, तो भी अतिशय कारण-व्यापार तो बाह्य विषयो मे ही ढूढना पडेगा। पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानेतर तत्व, सयुक्त रूप से, जगत् मे, उत्तर क्षण की प्रत्येक घटना को निश्चित करते है, चाहे वे मानसिक या भौतिक ही क्यो न हो, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के निदान मे तो ज्ञान तत्व ही प्रधान हैं, बाह्य दशाए केवल सहकारी ही हैं। बाह्य घटना को निश्चित करने मे, ज्ञान तत्व सहायक हैं और बाह्य कारण निकटतम साधन रूप हैं। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति मे, यद्यपि विशिष्ट बाह्य

पदार्थ सहायक माने जा सकते है किन्तु उनका अचिरात् और अव्यवहित रूप से निर्धारक तत्व विज्ञान ही है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध जो प्रत्यय-बोध और पदार्थ-वस्तु मे भेद नही करते उनकी मान्यता हैं कि अरूप प्रत्यय ही नील, लाल इत्यादि भिन्न रूप धारण करता है, क्योकि वे इन प्रत्यय बोधो के अलावा किसी अन्य वाह्य विषय को नही मानते और इसलिये, विभिन्न रूप मे प्रत्यय बोध (विज्ञान) को ही प्रमाण कहते हैं और इन्द्रियो अथवा अन्य सामग्री की मान्यता अस्वीकार करते हैं। प्रमाण और प्रमाण-फल, या प्रमाण-व्यापार की निष्पत्ति मे यहा भेद नही किया गया है।[2] अत विज्ञानवादी बौद्धो मे पदार्थ की स्थिति एव उसकी जानकारी के भेद का कोई खुलासा नही किया गया है। अर्थात् वे चेतना और उसके अर्थ या विषय का भेद समझाने मे असफल रहते हैं।

कुमारिल की मीमासा शाखा का विचार है कि आत्मा-इन्द्रिया मनस् विषय-सयोग क्रम को अनुसरण करते हुए, कोई ऐसा ज्ञान-व्यापार है, जोकि वह साक्षात् प्रत्यक्ष नही होता, तो भी उसे ज्ञान के विषय को प्रकट करने का नियत व्यापार मानना ही पडेगा (अर्थ-दृष्टता या विषय-प्रकाशता)। यही अदृष्ट किन्तु न्याय अनुमित, ज्ञान-व्यापार है जो प्रमाण कहलाता है।[3] जयन्त, ऐसे अदृष्ट व्यापार का ज्ञान-क्रिया को मान नही सकते, क्योकि न्याय-मतानुसार, एक ही प्रकार का व्यापार माना

---

[1] ज्ञान जन्मनि ज्ञानम् उपादान कारणमर्थं सहकारि कारणमर्थं जन्मनि च अर्थं उपादान कारण ज्ञान सहकरिकारण।

—न्याय मजरी, पृ० १५।

जयन्त ने इस मत के प्रति यह आक्षेप किया है कि, अगर ज्ञान और वाह्य पदार्थ और दोनो घटना, पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोतर तत्वो के सयुक्त व्यापार से निश्चित होते हैं तो हम पूछते हैं कि एक तथ्य-ज्ञान है और दूसरा भौतिक है, एक दृष्टा है और दूसरा दृश्य है, इसे कौन निश्चित करता है।

[2] निराकारस्य बोधरूपस्य नील-पीताद्यनेक-विषय-साधारणत्वाद् जनकत्वस्य च चक्षुरादावपि भावेनातिप्रसगात् तदाकारत्वकृतम् एव ज्ञानकर्म नियमम् अवगच्छन्त साकार-विज्ञानम् प्रमाणम् · अर्थस्तु साकार-ज्ञानवादिनो न समस्त्येव।

—वही, पृ० १६।

[3] नान्यथा ह्यर्थं सद्भावो दृष्ट सन्नुपपद्यते।
ज्ञान चेन्नेत्यत पश्चात् प्रमाणम् उपजायते॥

—श्लोक वार्तिक, शून्यवाद, १७८।

जयत यह भी कहते हैं, फलानुमेयो ज्ञान-व्यापारो ज्ञानादि-शब्द-वाच्य प्रमाणम्।

न्याय मजरी, पृ० १७।

गया है जो परमाणु की गति है या कारण चक्र द्वारा उत्पन्न किये गया परिस्पद (चलन) है।[1]

जैन मतवादी सामग्री की सयुक्त कारणता का या किसी भी व्यक्तिगत कारण का, जैसे कोई भी इन्द्रिय या प्रत्यक्ष ज्ञान मे किसी भी प्रकार के इद्रिय-सम्बन्ध, या अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का खण्डन करते है। प्रभाचद्र, इस प्रकार 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' मे, विवाद करते हैं कि कोई भी व्यक्तिगत कारण या कारण-सामग्री का सयोग, ज्ञान की उत्पत्ति नही कर सकता है। क्योंकि ज्ञान हमारे इच्छित विषय के प्रति, या अनिच्छित विषय से दूर, ले जाने मे, स्वतत्र और स्वत निश्चित है, और किसी अर्थ मे इन्द्रियो का कारण-व्यापार या इन्द्रियो का सयुक्त व्यापार या अन्य किन्ही तत्वो को, ज्ञान का कारण नही कह सकते। इस प्रकार, स्वत. ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए जो इच्छित विषय को प्राप्त कराता है।[2]

प्रमाण के विषय मे, विभिन्न मतो का सारा निचौड ज्ञान की उत्पत्ति मे, इन्द्रियो का विषय या वस्तु और अन्य सहकारी परिस्थितियो के सबध के प्रकार को निश्चित करने मे ही रहा है। जैसाकि हमने देखा है, रामानुज के मतानुसार, ज्ञान, अनेक कारण तत्वो का कार्य माना गया है जिसमे, प्रत्यक्ष ज्ञान मे, इद्रिया साक्षात् (अचिरात्) और नियत रूप से महत्वपूर्ण कार्य करती है। जैन और बौद्ध (विज्ञान-वादी) (यद्यपि उनमे आपस मे उत्कट मतभेद है) ज्ञान के आत्मनिर्धारण को मानने मे एक मत हैं, जिसके अनुसार, ज्ञान, इद्रिया या वाह्य पदार्थो के व्यापार जो ज्ञान के विषय वनते हैं और उससे प्रकाशित होते हैं, स्वतत्र है।

वेंकटनाथ का संशय निरूपण

वेंकटनाथ सशय को, विशिष्ट विरोधी गुणो के अग्रहण मे, दो या अधिक विकल्पो (जो आपस मे असगत हैं) का दीखना कहते है और दोनो मे कुछ सामान्य साधारण लक्षणो का अनुभव करना है, जैसेकि जव केवल ऊँची वस्तु ही दीखती है, वह फिर चाहे मनुष्य हो या ठूठ हो, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने से एक साथ दोनो नही हो सकते। इसलिए, दोनो विकल्प, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नही होने चाहिए, और वस्तु को देखने से पता नही चलना चाहिए कि वह एक या दूसरी है,

---

[1] तस्मात् कारक-चक्रेण चलता जन्यते फलम् ।
तत्पुरस्सरनाद् अन्यो व्यापार उपलभ्यते ।। —वही, पृ० २० ।

[2] स्वतोऽन्य-निरपेक्षतया स्वार्थं परिच्छिन्न साधकतमत्वात् ज्ञानम् एव प्रमाणम् ।
—प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० ५ ।

इसी से सशय उत्पन्न होता है। वेंकटनाथ सशय के इस विश्लेषण को पूर्वगामी आचार्यों को लक्ष्य करके, न्यायपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे सशय को मन की उस स्थिति कहते हैं, जिसमे वह एक विकल्प से दूसरे की तरफ दोलायमान होकर अनुभव करना है (दोलावेगवदत्र स्फुरण-क्रमः), क्योकि एक ही वस्तु का एक ही समय मे दोनो होना, असगतिपूर्ण है। 'आत्मसिद्धि' के रचयिता ने, इसलिए, सशय को मन का दो या अधिक वस्तुओ से शीघ्र क्रम मे शिथिल सयोग कहा है (वहुभिर्युगपद-दृढ-सयोग)। सशय, सामान्य लक्षणो के ज्ञान से–जैसेकि, ऊँचाई से, प्रत्यक्ष वस्तु चाहे पुरुष हो या वृक्ष का ठूठ हो या जो दृष्टिगोचर होता है या किसी अन्य प्रकार से जाना गया है, उससे सूचित भिन्न सभावनाएँ और भिन्न विरोधी लक्षणो के पारस्परिक वलो के बीच, निश्चित न कर पाने से, उत्पन्न होता है (अग्रह्यमान वल तारतम्य विरुद्धा-नेकज्ञापकोपस्थापनम् इह विप्रतिपत्ति)। इसलिए, जब भी दो या अधिक सभाव्यताएँ होती हैं, जिनमे से कोई भी और प्रमाणित किए बिना हटाई (निरास) नही जा सकती तो सशय उत्पन्न होता है।[1]

[1] वात्स्यायन के भाष्य मे (१ ११ २३) मे सशय का न्याय-दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है। शक्य वस्तुओ के, जब सामान्य लक्षण देखे जाते हैं, किन्तु विशिष्ट गुणो को नही देखा जाता जिससे निश्चित रूप से यह है या वह है ऐसा कहा जा सकता है तब मन की, उस समय, एक या दूसरे के पक्ष मे निश्चित करने की वेदना, सशय है। सशय मतो के द्वद्वात्मक स्थिति (विप्रतिपत्ति) से भी उत्पन्न होता है, जैसेकि, कोई कहते हैं कि आत्मा है, जव अन्य कहते हैं आत्मा नही है। सशय, उन निर्णयात्मक लक्षणो के ज्ञान से भी (विभाजन से उत्पन्न, विभागतत्व) उत्पन्न होता है, जो लक्षण एक वस्तु मे (उदाहरणार्थ, शब्द) दूसरी वस्तु के साथ सामान्य रूप से है (उदाहरणार्थ, द्रव्य, गुण कर्म इत्यादि)। सशय, वस्तु के न होते भी, उसे निश्चित करने की इच्छा के कारण भ्रमपूर्वक देखने, से भी उत्पन्न होता है (मृगतृष्णा) और सशय इस प्रकार भी उत्पन्न हो सकता है कि जव हम वस्तु (वहाँ है पर अप्रकट है) नहीं दीखती है, पर हम उसके लक्षण जानने की इच्छा रखते हैं जिससे हमे यह निश्चय हो जाय कि वस्तु वहाँ थी या न थी। वेंकटनाथ का, इस विषय मे, मुख्य योग यह है कि वे सशय का साधारण (सामान्य) विश्लेषण, विशिष्ट प्रकार के पाँच सशय कहने के वजाय, एक मानसिक परिस्थिति के रूप मे करते हैं। वेंकटनाथ यह स्पष्ट करते हैं कि सशय पाँच प्रकार के ही हो ऐसा नही है, किन्तु अनेक प्रकार के हो सकते हैं, और इसमे सवो की स्वीकृति है कि सशय की स्थिति मे मन एक विकल्प से दूसरे की तरफ, वस्तु, के विशिष्ट एव निश्चयात्मक लक्षणो को देखे विना, केवल कुछ सामान्य लक्षणो को देखने के कारण, भिन्न सम्भाव्य विकल्पो के पारस्परिक वलो के प्रति अनिश्चितता से, दोलायमान रहना है।

इस प्रकार, संशय, सच्चे और झूठे प्रत्यक्ष के बीच उत्पन्न होता है जब मैं दर्पण मे मुँह देखता हूं, किन्तु यह नहीं जानता कि वह सचमुच मुँह है या नही जबतक कि मैं उसे स्पर्श कर निश्चित नहीं करता। इसी तरह, सिद्ध या असिद्ध अनुमान के बीच भी, जब मैं धुएँ से यह अनुमान करता हूँ कि पर्वत पर आग लगी है, और तब भी प्रकाश न देखकर संशय करूँ कि सचमुच आग लगी है या नहीं, शास्त्र वाक्यो मे विरोध होने पर, 'जीव ब्रह्म से भिन्न कहा गया है,' और 'वह उससे एक रूप है,' तब सचमुच जीव ब्रह्म से भिन्न है या एक रूप है, आप्त वचनो के मतभेद होने पर, (उदाहरणार्थ, वैशेषिक दार्शनिक और उपनिषदो के सिद्धान्त) जैसेकि, इन्द्रिया भौतिक हैं या अहकार के कार्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच भी यही परिस्थिति है। (पीले सीप का भ्रमयुक्त देखना, उसे पीला देखकर अनुमान करना कि वह पीला नहीं हो सकता, क्योंकि वह सीप है तब संशय होता है कि सीप सफेद है या पीला इत्यादि)।

वेंकटनाथ, अपने 'प्रज्ञापरित्राण' मे, वरदनारायण के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उन्होंने संशय का जो त्रिविभाजन, सामान्य लक्षणो के ज्ञान से, भिन्न विकल्पो के ज्ञान से, पडित और आप्त लोगों मे मतभेद से, किया है, वह न्याय-दृष्टि को अनुकरण करके किया है,[1] क्योंकि अत के दो विकल्प एक ही है। वेंकटनाथ, आगे संशय के विषय मे, उस न्याय-मत का निरसन करते हैं जिसमे, वात्स्यायन, न्याय-सूत्र १ ११ २३ को समझाते हुए कहते हैं कि संशय विशेष लक्षित गुणो से भी उत्पन्न हो सकता है। इस तरह पृथ्वी मे गध का, विशिष्ट लक्षित गुण है जो न तो आत्मा जैसे नित्य द्रव्य मे है और न जल जैसे अनित्य द्रव्यो मे है, और स्वाभाविक रूप से यह संशय किया जा सकता है कि पृथ्वी, नित्य द्रव्य से भिन्न होने से, अनित्य है, या अनित्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण नित्य है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यहाँ संशय, इस कारण नही होता कि पृथ्वी मे यह विशेष या लक्षित गुण है। सीधा कारण यही है कि गध का होना, नित्यता या अनित्यता निश्चित करने के लिए, बिलकुल असगत है क्योंकि यह नित्य और अनित्य द्रव्य, दोनो मे प्राप्त है। जब तक कि कोई विशेष लक्षित गुण, जो नित्य और अनित्य वस्तु मात्र मे है, और वह पृथ्वी मे भी पाया जाता है, जिनके बल पर यह निश्चित किया जा सके कि वह नित्य है या अनित्य है तब तक संशय बना ही रहेगा (व्यतिरेकि-निरूपण-विलम्बात्)। वेंकटनाथ, अनेकों उदाहरणों द्वारा, यह बताते हैं कि संशय, दो समान्य विकल्पों के प्रति अनिश्चय की वजह से, मन का दोलायमान होना है। वे 'इस वृक्ष का क्या नाम होगा ?' ऐसे

---

[1] साधारणाकृतेर्दृष्ट्याऽनेकाकार ग्रहात्तथा ।
विप्रतिपत्त्या विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते ॥
—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० ६७ ।

प्रश्न को भी सशय मानते है और केवल अनिश्चय या ज्ञान की कमी को नहीं मानते (अनध्यवसाय)। ऐसी जिज्ञासा, युक्त रूप से, सशय स्वीकार की जा सकती है, क्योकि यह दो या दो से अधिक वैकल्पिक नामो के बारे मे सशय उत्पन्न करता है, जो मन मे दोलायमान हो रहे हैं और किसी एक या दूसरे नाम का निश्चय करने की इच्छा हो रही है। इस प्रकार यहाँ पर भी स्थिर निर्णय न ढूँढ पाने के कारण, दो विकल्पो के बीच अनिश्चिय है (अवच्छेदकादर्शनात् अनवच्छिन्न-कोटिविशेष)। ऐसी दोलायमान स्थिति का अवसान किसी एक सभाव्य विकल्प के पक्ष या विपक्ष मे मानसिक क्रिया से हो सकता है जिसे ऊहा कहते हैं (किन्तु इसे अनुमान के सम्बन्ध मे तर्क नामक ऊहा से पृथक् रखना चाहिए), जो सशय को दूर कर अनुमान की ओर ले जाती है।[1] अनतार्य, जो रामानुज सप्रदाय के उत्तरकालीन लेखक हैं, सशय का और प्रकार से वर्णन करते हैं कि सशय मन की वह स्थिति है जिसमे सामने कुछ है इतना ही दीखता है, किन्तु उसका विशिष्ट गुण, रूप या लक्षण नही दिखाई देता (पुरोवृत्तिमात्रम् अगृहीत-विशेषणम् अनुभूयते)। केवल दो विकल्प ही (उदाहरणार्थ वृक्ष या ठूठ और पुरुष) ही याद आते हैं। स्वार्थ सिद्धि के अनुसार हमारे सामने किसी का सदोष निरीक्षण, उसके अनुरूप सस्कार जाग्रत करता है, जो बारी से उन सस्कारो को जाग्रत करता है जिससे दो सभाव्य विकल्प एक ही स्मरण मे युगपद् याद आ जाते हैं जिनमे से किसी को भी निश्चित नही किया जाता।[2] इस सम्बन्ध मे, लघु और बहुमतवादियो के बीच यह मतभेद का विषय है, अल्पमतवादी मानते हैं कि हमारे सामने किसी पदार्थ का अनुभव, सस्कारो को जाग्रत करता है जो बारी से दो भिन्न सस्कारो को जाग्रत करता है जिससे एक स्मरण, दो विकल्पो से युक्त हो जाता है, और बहुमतवादी यह मानते हैं कि हमारे सामने उपस्थित पदार्थ अविलम्ब ही दो विकल्पो की स्मृति उत्पन्न करता है जो सशय अर्थ मे लिया जाता है। पहला मत, दो स्मृतियो को एक ज्ञान से जोडता है और दोलायमान स्थिति को निर्णय का एक कर्म मानता है इसलिए वे ऐसा मानते हैं कि सशय मे भी एक निर्णय की जगह दूसरा भूल से निवेश होता है, जो अन्यथाख्याति के अनुसार है। पिछला मत, जो यह मानता है कि दो सम्भव विकल्पो की दो भिन्न स्मृतियाँ है, वह रामानुज को ज्ञान

[1] ऊहस्तु प्राय· पुरुषेणानेन भवितव्यम् इत्यादि रूप एककोटिसहचरितभूयोधर्मदर्शनाद् अनुभूतान्य कोटिक स एव।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६८, चौखम्भा।

[2] पुरोवृत्यनुभव-जनित-सस्कारेण कोटि द्वयोपस्थिति-हेतु-सस्काराभ्याम् च युगपदेक-स्मरण सशय-स्थले स्वीक्रियतइति सथार्थसिद्धौ उक्तम्।

—अनतार्य का ज्ञान यथार्थवाद, गव० ओ० हस्त० स० ४८८४।

यथार्थवाद का मानने वाला समझता है या इस मत को कि जो कुछ भी जाना जाता है या अनुभव मे आता है उसका एक उद्देश्य और सच्चा आधार है।

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम और संशय

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम, जब एक या अधिक असगत (विरोधी) लक्षण किसी वस्तु मे, उनकी असगति या विरोध को जाने बिना, निर्दिष्ट किए जाते हैं, तब उत्पन्न होता है। यह सामान्यत, दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित, मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जैसेकि सीप को पीला अनुभव करना, एक बडे चद्र को छोटा एव दो देखना, एक ही वस्तु में विरोधी गुणों का अनेकान्त प्रतिपादन करना या शकर मतवादियो का जगत् को सत् और असत् दोनो कहना है।[1] सशय, दूसरी ओर, तब उपस्थित होता है, जब अनुभूत लक्षण जो व्यावर्तक और आपस मे विरोधी दीखते हैं, दो या अधिक पदार्थों मे स्वीकार किए जाने पर विरोध उत्पन्न नहीं करते हैं और जो इसीलिए, दोनों एक ही समय स्वीकृत नहीं किए जा सकते। इसलिए, इस अवस्था को कुछ लोग मन की एक दशा से दूसरी दशा पर दोलायमान होना कहते हैं। निश्चय तब ही होता है जब मन एकार्थ हो, एक ही विषय पर दृढ निश्चय करता है, सशय बहुअर्थी दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, जैसाकि आत्मसिद्धि मे बताया है। मन की दिशा मे दृढता की अनुपस्थिति, मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण है जिससे विरोधी विकल्प को आवश्यक रूप से त्याग देना पडता है। भट्टारक गुरु, इसी विचार को 'तत्त्व रत्नाकर' मे दोहराते हैं जब वे सशय को, किसी एक वस्तु के साथ दो विरोधी या विपरीत गुणों का सम्बन्ध जोडना कहते हैं। वेंकटनाथ के अनुसार सशय दो प्रकार के हैं, समान धर्म और विप्रति पत्ति से, अर्थात्, जब दो भिन्न सूचनाएं दो या अधिक निष्पत्ति को सूचित करती हो, और इन सूचनाओ का अपेक्षित बल निश्चित न किया जा सके। पहले उदाहरण मे सशय की दशा अनिश्चितता है जो इस घटना के कारण है कि दो विपरीत विकल्प जिनका सापेक्ष बल, कुछ समान गुणों के कारण निश्चित नहीं किया जा सकता है वे स्वीकृति देने के लिए बाध्य करते है (समानधर्म-विप्रति पत्तिभ्याम्)। इस प्रकार, जब हम अपने सामने कुछ ऊंची वस्तु देखते हैं तब दो सम्भावनाएं उठ हो जाती हैं—ऊंची वस्तु पुरुष या खम्भा हो सकता है—क्योंकि वे दोनो ही ऊंचे होते हैं। यद्यपि ज्ञान के भिन्न (प्रमाणों) उद्गमों का सापेक्ष बल, उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष, स्मृति, अनुमान शब्द इत्यादि भिन्न निष्कर्ष को ग्रहण करने मे (अगृह्यमाणबल तारतम्य) निश्चित नहीं कर पाते और दोनों ही एक ही वस्तु या निष्कर्ष को स्वीकार करने पर बाध्य करते हैं तब सशय उत्पन्न होता है कि

किसे स्वीकार किया जाय। इस प्रकार जब कोई दर्पण मे अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखता है, जो स्पर्श द्वारा प्रमाणीकृत नही होता है तब प्रतिबिम्ब की सचाई के विषय मे सशय उत्पन्न होता है। पुनः सशय पर्वत्त मे अग्नि है इसके बारे मे दो अनुमानो से उत्पन्न हो सकता है, धूम्र है, इसलिए अग्नि है और प्रकाश है इसलिए सम्भवतः अग्नि नही है। पुन उपनिषदो मे कुछ पाठ ऐसे हैं जो कुछ तो एकत्ववादी है और दूसरे द्वैतवादी हैं, इसलिए सशय हो सकता है कि कौनसा उपनिषद् का मत सच्चा है इत्यादि। सशय दो विरोधी विवादो से भी उत्पन्न हो सकता है जैसेकि परमाणुवादी और उपनिषदकारो के बीच इस विषय मे कि इन्द्रियाँ भूत से उत्पन्न हुई हैं या अहकार से। वह सामान्य-जनो की दो विरोधी प्रतिज्ञाओ से भी उत्पन्न हो सकता है, प्रत्यक्ष (सीप को भ्रमयुक्त पीला देखना) और यह अनुमान कि सीप पीली नही हो सकती, आत्मा का ज्ञान कि वह देह-युक्त है और शास्त्र प्रमाण कि वह अणु है, भी सशय के विषय हैं।

सशय, जगत् अणुरूप है इस अनुमित ज्ञान और शास्त्रोक्त ज्ञान कि ब्रह्म ही जगत् का मूल आधार है, के बीच उत्पन्न हो सकता है। नैयायिक तो ऐसा भी सोचते हैं कि दो विरोधी पक्षो के भिन्न मतो के बारे मे भी सशय उत्पन्न हो सकता है।[1] वेंकटनाथ बताते हैं कि 'न्याय सूत्र' और 'प्रज्ञा परित्राण' दोनो का यह कहना कि सशय उत्पन्न करने मे समान धर्म और अनेक धर्म का ज्ञान, स्वतन्त्र कारण है, गलत

[1] समानानेक धर्मोपपत्तेविप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श सशय।
न्यायसूत्र, १ १ २३।

उद्योतकार इसका यह अर्थ करते हैं कि प्रत्येक सशय की अवस्था मे तीन बातें होती हैं, जैसेकि (१) सामान्य गुणो का ज्ञान (२) विशिष्ट गुणो का ज्ञान और (३) विरोधी प्रतिपादन तथा कोई भी विपरीत समाव्यताओ के विषय मे निश्चित करने की कमी के कारण विवाद करने वालो की अनिश्चित मानसिक स्थिति का ज्ञान और व्यावर्त्तक गुण जानने की तीव्र इच्छा। उद्योतकार सोचते हैं कि, सशय ज्ञान की विप्रतिपत्ति के ही कारण उत्पन्न होता है ऐसा नही है किन्तु विवादी पुरुषो के मतो मे विप्रतिपत्ति से भी होता है, यहाँ विप्रतिपत्ति का अर्थ वे वादी-विप्रतिपत्ति से लेते हैं। यह मत वरद विष्णु मित्र भी 'प्रज्ञा परित्राण' में प्रतिपादन करते हैं जो निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है।

साधारणाकृतेर्दृष्टयानेकाकारग्रहात् तथा,
विपश्चिताम विवादाच्च त्रिधा सशय इष्यते ॥

—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि मे उद्धृत, पृ० ६१। वेंकटनाथ इसे, न्याय मत को भय होकर स्वीकारना कहते हैं।

है।[1] अनेक धर्म से उत्पन्न सशय के वारे मे यह निरूपण किया गया है कि जैसे गध का लक्षण अनित्य पदार्थो मे नही होता, अत हम इसलिए, पृथ्वी को नित्य पदार्थो मे सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं और पुन यह गध का लक्षण किसी भी अनित्य पदार्थों मे नही पाया जाता इसलिए पृथ्वी को अनित्य पदार्थों मे भी सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते है। किन्तु यहाँ सशय अनेक गुण के ज्ञान से नहीं होता, बल्कि मन के व्यतिरेकी गुण के निश्चय करने मे विलम्ब होने से उत्पन्न होता है, जिससे वह एक को दो मे से किसी एक मे समाविष्ट न कर सके। गधत्व स्वय, अनित्यता या नित्यता की अनिवार्य उपाधि नही है। इसलिए नित्य या अनित्य द्रव्यो मे समान गुणो के वारे मे जिज्ञासा उत्पन्न होती है जो गधमय पृथ्वी मे उपस्थित हो जिससे वर्गीकरण किया जा सके। यहाँ सशय इस कारण नही है कि गध पृथ्वी का विशेष गुण है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी मे ऐसे गुण है जो नित्य पदार्थो में है और कुछ लक्षण ऐसे है जो अनित्य पदार्थों मे है। जब यह भी कहा जाय कि गधत्व, पृथ्वी को नित्य और अनित्य पदार्थो से विविक्त करता है और यही सशय का कारण है तो यह वताया जा सकता है कि सशय, इस व्यावर्तक गुण के कारण नही है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी मे नित्य और अनित्य पदार्थों के समान गुण है। कुछ ऐसे भी है जो सोचते है कि विप्रतिपत्ति (अर्थात् विवादी पुरुपो मे युक्ति-सगत प्रतिपादनो के कारण अनिश्चितता) की दशा से सशय को भी समान धर्म (समान गुणो का अनुभव) के कारण है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि विरोधी प्रतिपादनो मे आपस मे यह साम्य है कि विवादी पुरुप उन सवो को सत्य मानते है। वेंकटनाथ इससे सहमत नहीं है। वे मानते हैं कि यहाँ सशय केवल इस तथ्य के वल पर नही होता कि विवादी पुरुपो द्वारा विरोधी प्रतिपादन सत्य माने गए है, किन्तु इस कारण है कि हम इन प्रतिपादनो के समर्थन मे विभिन्न तर्कों को याद करते है जव हम इन तर्कों की सभावनाओ की सापेक्ष शक्ति की प्रमाणता निश्चित नही कर पाते। इस प्रकार, विप्रतिपत्ति को सशय का स्वतत्र उद्गम मानना पडेगा। सशय, सामान्यत, दो समाव्य विकल्पो के वीच उत्पन्न होता है, किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती है,

---

[1] वात्स्यायन सादृश्य गुणो के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न सशय का उदाहरण देते हुए मनुष्य और खम्भे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमे ऊंचाई इत्यादि सामान्य गुण दृष्टिगोचर होते है किन्तु असाधारण गुण नही दीखते। विशेप गुणो के प्रत्यक्ष से सशय का उदाहरण पृथ्वी का गधवान होना देते है कि गध द्रव्य का विशेप गुण नहीं है, न कर्म और न गुण है, इससे सशय उत्पन्न होता है कि पृथ्वी को द्रव्य, कर्म या गुण कहा जाय। इसी प्रकार पृथ्वी मे गध का विशेष गुण होने से यह सशय उत्पन्न हो सकता है कि वह नित्य है या अनित्य क्योंकि किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु मे यह गुण नही पाया जाता।

जिनमे दो सशय मिलकर एक हो जाते है और एक सकीर्ण सशय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। जबकि ऐसा जानते हैं कि दो मे से एक व्यक्ति चोर है, किन्तु कौन, यह नहीं जानते, तब सशय हो सकता है 'यह व्यक्ति चोर है या वह'। ऐसी परिस्थिति में दो सशय उपस्थित है, 'यह पुरुष चोर है या नही हो सकता,' और 'वह पुरुष चोर है या नही हो सकता,' और ये दो एक होकर सकीर्ण रूप से प्रकट होते हैं (सशय द्वय समाहार)। सकीर्ण सशय मे मानने की आवश्यकता तभी लुप्त हो सकती है जबकि हम चोर होने के गुण को दो मे से एक पुरुष के विषय मे शका करते हैं। सशय स्वय मे भी स्वीकारात्मक पहलू उपस्थित करता है क्योकि इसमे यह अर्थ निहित है कि अगर एक विकल्प का निरास किया जाता है तो दूसरा आवश्यक रूप से स्वीकृत है। किन्तु, जबकि यह निश्चित नही किया जा सकता कि किसे निराश किया जाय, तो सशय उत्पन्न होता है। सशय और स्वीकार भाव मे कोई भी विरोध नही है, क्योकि सशय का यही अर्थ है कि शकित गुण दो विकल्पो मे से किसी एक मे ही है।[1]

किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिनमे दो विकल्प ऐसे हो कि शकित गुण सचमुच दोनो मे से किसी मे भी स्वीकार नही किया जा सकता है, और यह उन परिस्थितियो से भिन्न है जिसमे ऐसे विकल्प हैं कि शकित गुण का अगर एक से निषेध किया जाता है तो दूसरे मे वस्तुत स्वीकार्य है। इन दो दृष्टिकोणो से हमे सशय का द्विधा विभाजन प्राप्त होता है। इस प्रकार जब घास के ढेर से उठती हुई धुएँ की राशि, इस सशय का विषय होती है कि वह पर्वत है या हाथी, इस अवस्था मे एक विकल्प का निषेध दूसरे की स्वीकृति नहीं बताता। अनिश्चितता (अनध्यवसाय, 'अर्थात् इस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है ?') मन की स्वतत्र दशा नही मानी जा सकती, क्योकि इसे भी सशय की स्थिति माना जा सकता है जिसमे वृक्ष के सम्बन्ध मे अनेक सभाव्य नामो की अनिश्चितता है। ऐसा लगता है कि वेंकटनाथ उन मतो का सतोषकारक निरास नही कर सके है जो अनिश्चितता या जिज्ञासा को मन की एक पृथक् अवस्था मानते हैं। ऊहा (सभाव्यता के अर्थ मे, जैसेकि 'यह पुरुष ही होना चाहिए') मे दो विकल्पो के बीच दोलायमान स्थिति नही होती, किन्तु मन का वह भाव होता है, जिसमे, एक तरफ की सभाव्यता अधिक बलशाली होने के कारण उस विकल्प को अधिक निश्चित रूप से स्वीकार करने की स्थिति उत्पन्न करती है, इसलिए सशय के साथ वर्गीकरण नही किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष ही कहा जाता है और जब यह अनुमान द्वारा स्वीकृत होता है तो उसे अनुमान कहा जाता है।

---

[1] सर्वस्मिन् अपि सशये धर्म्याशादो निर्णयस्य दुस्त्यजत्वात्।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६६।

वेंकटनाथ, रामानुज का अनुसरण करते हुए, तीन प्रमाणो को मानते हैं, जैसेकि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। रामानुज गीता[1] की टीका मे, योगि प्रत्यक्ष को भी एक स्वतत्र प्रमाण मानते है, किन्तु वेंकटनाथ मानते है कि उसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट करना चाहिए और उसे पृथक् इसलिए माना है कि वह प्रत्यक्ष के विशिष्ट इसका पहलू को प्रकट करता है।[2] सच्ची स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए। स्वतन्त्र प्रमाण मे वर्गीकरण नही करना चाहिए, किन्तु इसका समावेश प्रमाण के अन्तर्गत करना चाहिए जिसके कारण स्मृति होती है (उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष)।[3]

मेघनादारि, स्मृति को प्रमाण मानने के विषय मे विवाद करते कहते हैं कि स्मृति प्रमाण की उस आवश्यक उपाधि को सतुष्ट करती है कि उसे प्रकट होने के लिए किसी अन्य पर आश्रित नही होना चाहिए, क्योकि स्मृति, सहज होने से, किसी अन्य पर प्रकट होने के लिए आश्रित नही है। यह निस्सदेह सत्य है कि स्मृति मे विषय का प्रकट होना इस तथ्य पर आश्रित है कि उसे पहले अनुभव किया हो किन्तु स्मृति व्यापार, बिना सदेह के सहज ही है।[4] किन्तु ऐसा तर्क किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा प्रकट किए विषय, यदि उन्हे पहले अनुभूत नही किया गया हो तो उनका कभी भी स्फुरण नही हो सकता, स्मृति, जोकि अशत अपने व्यापार के सम्बन्ध मे ही प्रमाण है, वह विषय के स्फुरण मे अप्रमाण है क्योकि वह पूर्व अनुभव पर आश्रित है और इसलिए इसे सहज स्फुरण, जोकि प्रमाण के लिए आवश्यक उपाधि है, नही माना जा सकता। इसका उत्तर मेघनादारि यह कह कर देते है कि यह समीक्षा ठीक नही है। क्योकि सहज स्फुरण तत्क्षण स्मृत विषय का प्रकट होना ही है और इसलिए स्मृत विषय का प्रकट होना किसी अन्य उपाधि पर आश्रित नही है। स्मृति, इसलिए, अपने स्वय को एव विषय को प्रकट करने मे प्रमाण है। इस सम्बन्ध में

[1] ज्ञानमिन्द्रिय-लिंगागम-योगजो वस्तु निश्चय।

—गीता भाष्य, १५-१५।

[2] विष्णुचित्त भी अपने 'प्रमेय सग्रह' मे कहते है कि रामानुज तीन ही प्रमाण में मानते थे।

[3] इस मत का भट्टारक गुरु अपने 'तत्व रत्नाकर' मे समर्थन करते हैं। वरद विष्णु मिश्र, अपने 'प्रज्ञा परित्राण' मे, दिव्य (ईश्वर की कृपा से साक्षात् ज्ञान) और स्वय सिद्ध (स्वाभाविक सर्वज्ञता) को स्वतत्र प्रमाण मे समाविष्ट करते हैं किन्तु ये सब प्रत्यक्ष के प्रकार ही हैं।

जिनमे दो सशय मिलकर एक हो जाते है और एक सकीर्ण सशय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। जबकि ऐसा जानते हैं कि दो मे से एक व्यक्ति चोर है, किन्तु कौन, यह नही जानते, तब सशय हो सकता है 'यह व्यक्ति चोर है या वह'। ऐसी परिस्थिति मे दो सशय उपस्थित हैं, 'यह पुरुष चोर है या नही हो सकता,' और 'वह पुरुष चोर है या नही हो सकता,' और ये दो एक होकर सकीर्ण रूप से प्रकट होते हैं (सशय द्वय समाहार)। सकीर्ण सशय मे मानने की आवश्यकता तभी लुप्त हो सकती है जबकि हम चोर होने के गुण को दो मे से एक पुरुष के विषय मे शका करते हैं। सशय स्वय मे भी स्वीकारात्मक पहलू उपस्थित करता है क्योकि इसमे यह अर्थ निहित है कि अगर एक विकल्प का निरास किया जाता है तो दूसरा आवश्यक रूप से स्वीकृत है। किन्तु, जबकि यह निश्चित नही किया जा सकता कि किसे निराश किया जाय, तो सशय उत्पन्न होता है। सशय और स्वीकार भाव मे कोई भी विरोध नही है, क्योकि सशय का यही अर्थ है कि शकित गुण दो विकल्पो मे से किसी एक मे ही है।[1]

किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिनमे दो विकल्प ऐसे हो कि शकित गुण सचमुच दोनो मे से किसी मे भी स्वीकार नही किया जा सकता है, और यह उन परिस्थितियो से भिन्न है जिसमे ऐसे विकल्प हैं कि शकित गुण का अगर एक से निषेध किया जाता है तो दूसरे मे वस्तुत स्वीकार्य है। इन दो दृष्टिकोणो से हमे सशय का द्विधा विभाजन प्राप्त होता है। इस प्रकार जब घास के ढेर से उठती हुई धुएँ की राशि, इस सशय का विषय होती है कि वह पर्वत है या हाथी, इस अवस्था मे एक विकल्प का निषेध दूसरे की स्वीकृति नहीं बताता। अनिश्चितता (अनध्यवसाय, 'अर्थात् इस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है ?') मन की स्वतत्र दशा नही मानी जा सकती, क्योकि इसे भी सशय की स्थिति माना जा सकता है जिसमे वृक्ष के सम्बन्ध मे अनेक सभाव्य नामो की अनिश्चितता है। ऐसा लगता है कि वेंकटनाथ उन मतो का सतोपकारक निरास नही कर सके हैं जो अनिश्चितता या जिज्ञासा को मन की एक पृथक् अवस्था मानते हैं। ऊहा (सभाव्यता के अर्थ मे, जैसेकि 'यह पुरुष ही होना चाहिए') मे दो विकल्पो के बीच दोलायमान स्थिति नही होती, किन्तु मन का वह भाव होता है, जिसमे, एक तरफ की सभाव्यता अधिक बलशाली होने के कारण उस विकल्प को अधिक निश्चित रूप से स्वीकार करने की स्थिति उत्पन्न करती है, इसलिए सशय के साथ वर्गीकरण नही किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष ही कहा जाता है और जब यह अनुमान द्वारा स्वीकृत होता है तो उसे अनुमान कहा जाता है।

---

[1] सर्वस्मिन् अपि सशये धर्म्यशादौ निर्णयस्य दुस्त्यजत्वात्।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ६६।

चाक्षुष प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा प्रमाणित होता है। ये दार्शनिक समर्थन या अविसवादित्व को प्रमाण की वैधता की आवश्यक उपाधि मानते हैं। मेघनादारि इसकी आलोचना करते हुए बताते हैं कि इस मत के अनुसार प्रत्येक प्रमाण की प्रमाणता को किसी अन्य के आश्रित रहना पडेगा और इस प्रकार अनावस्था स्थिति उत्पन्न होगी।[1] इसके अतिरिक्त बोद्धो के सविकल्प ज्ञान को, जो अविसवादी है, उपरोक्त मत से प्रमाण मानना ही पडेगा।

वेंकटनाथ से विपरीत, मेघनादारि यह मानते हैं कि रामानुज पाँच प्रमाण को मानते थे, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' करते हैं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से अवर्णनीय है और विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है (ज्ञान-स्वभाव-विशेष-स्वात्म-साक्षिक)। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न नही होता है जैसाकि अनुमान, शब्द या स्मृति मे होता है।[2] वरदविष्णु, अपने 'मान याथात्म्य निर्णय' मे प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं (प्रमाया प्रापरोक्ष्य नाम विशदावभासत्वम्) विशदता और सजीवता से उनका अर्थ, पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणो का प्रकाशन से है, जो शब्द और अनुमान मे दीखने वाले जाति-लक्षणो से भिन्न हैं।

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं (अर्थ परिच्छेदक साक्षाज् ज्ञानम्)। यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणों पर आश्रित नही है। यही इसका साक्षात्व है। यह निस्सदेह, सत्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नही है, क्योंकि इन्द्रिया सामान्य कारण हैं, जो अनुमान मे भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील हैं।[3] अनुमान से भिन्न, प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणों के माध्यम से उत्पन्न होता है।[4] मेघनादारि, वरद विष्णु की 'प्रत्यक्ष

---

[1] प्रमाणान्तरस्याप्यविसवादार्थं प्रमाणान्तरान्वेषणेनानवस्था। —वही।

[2] ज्ञानकरणज-ज्ञान स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। न्याय परिशुद्धि। वेंकटनाथ पृ० ७०-७१। वेंकटनाथ ने इस मत का समर्थन 'प्रमेय रत्न' और 'तत्व रत्नाकर' मे भी किया है।

[3] इन्द्रियाणां सत्ता-कारणत्वेन करणान्तरानाधार।

यह बताया जा सकता है कि ज्ञान का प्रकट होना आवश्यक रूप से, विषय के प्रकट होने का भी अर्थ रखता है। इसलिए, विषय का प्रकट होना, किसी अन्य उपाधि पर आश्रित है, ऐसा नही मानना चाहिए क्योकि वह ज्ञान प्रकट होने पर सहज ही प्रकाशित होता है।[1]

दर्शन के कई सम्प्रदायो मे प्रमाण की व्याख्या मे यह कहा गया है कि प्रमाण वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत ग्रहण किया हुआ विषय पहले कभी भी ज्ञात नही हुआ हो अर्थात् प्रमाण द्वारा ही सर्वप्रथम ज्ञात किया गया हो (अनधिगतार्थ-गतृ), क्योकि दर्शनशास्त्र की इन शाखाओ मे स्मरण शक्ति को प्रमाण के स्तर से पृथक् माना गया है। मेघनादारि इस पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि जो उपाधि लगाई गई है वह यह स्पष्ट नही करती कि जिस विषय के ज्ञान का बहिष्कार किया गया है, यह ज्ञाता के सम्बन्ध मे कहा गया है या किसी अन्य पुरुष के सम्बन्ध मे कहा गया है। नित्य पदार्थों का जहां तक प्रश्न है जैसेकि आत्मा या आकाश, ये सब तो बहुतो ने अनुभव किए हैं तो भी प्रस्तुत ज्ञाता के प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रमाणता अस्वीकार नही की जाती।[2] यह भी नही कहा जा सकता कि वैध प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय ऐसा होना चाहिए कि वह प्रस्तुत ज्ञाता द्वारा पहले नही देखा गया हो, क्योकि जब कोई एक विषय को, जो उसने पहले जाना था और अब देखता है, उसे ढूंढना चाहता है तो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रामाण्य हो जायगा, और उसी तरह, जब आंख से देखा गया कोई विषय, फिर से स्पर्श द्वारा ज्ञात होता है तो स्पर्श-ज्ञान अप्रामाण्य होगा।[3] उत्तर जो बहुधा दिया जाता है, (उदाहरणार्थ, धर्मराजाध्वरद्रे ने वेदान्त परिभाषा में) कि, जब ज्ञात विषय फिर से देखा जाता है, उसमें नए काल का धर्म होता है इसलिए उसे नया माना जा सकता है। मेघनादारि की इसके प्रति आलोचना यह है कि अगर काल का नया लक्षण विषय को नवीन बनाता है तो प्रत्येक विषय और स्मृति भी नए होगे। इस प्रकार कोई भी ऐसी वस्तु न रहेगी जिसका इस उपाधि द्वारा निष्कासन नही किया जा सकता कि वस्तु नवीन होनी चाहिए (अनधिगतार्थ गतृ)।

अन्य लोग भी जो मानते हैं कि किसी प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुमान की प्रामाणता, इस तथ्य पर आश्रित है कि वह अन्य इन्द्रियो के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित होती है, जैसेकि

---

[1] ज्ञान-स्फुरित्वाद् विषयस्यापि स्फूर्ति। —वही।

[2] स्थायित्वेनाभिमताकाशादे पूर्वैश्वगतत्वसम्भवात् तद्विषयानुमानादेरप्रामाण्य-प्रसगात्। —वही।

[3] स्वविदितस्यार्थस्य सत्वानेषणे प्रत्यक्षादेरप्रामाण्य-प्रसगाच्चक्षुषा दृष्ट-विषये द्रव्ये स्पर्शनस्याप्रामाण्य-प्रसगात्।

—मेघनादारि की 'नय द्यु मणि'।

चाक्षुष प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा प्रमाणित होता है। ये दार्शनिक समर्थन या अविसवादित्व को प्रमाण की वैधता की आवश्यक उपाधि मानते हैं। मेघनादारि इसकी आलोचना करते हुए बताते हैं कि इस मत के अनुसार प्रत्येक प्रमाण की प्रमाणता को किसी अन्य के आश्रित रहना पडेगा और इस प्रकार अनावस्था स्थिति उत्पन्न होगी।[1] इसके अतिरिक्त बौद्धो के सविकल्प ज्ञान को, जो अविसवादी है, उपरोक्त मत से प्रमाण मानना ही पडेगा।

वेंकटनाथ से विपरीत, मेघनादारि यह मानते हैं कि रामानुज पाँच प्रमाण को मानते थे, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' करते हैं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से अवर्णनीय है और विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है (ज्ञान-स्वभाव-विशेष-स्वात्म-साक्षिक)। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न नही होता है जैसाकि अनुमान, शब्द या स्मृति मे होता है।[2] वरदविष्णु, अपने 'मान याथात्म्य निर्णय' मे प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं (प्रमाया आपरोक्ष्य नाम विशदावभासत्वम्) विशदता और सजीवता से उनका अर्थ, पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणो का प्रकाशन से है, जो शब्द और अनुमान मे दीखने वाले जाति-लक्षणो से भिन्न हैं।

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं (अर्थ परिच्छेदक साक्षाज् ज्ञानम्)। यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणो पर आश्रित नही है। यही इसका साक्षात्व है। यह निस्सदेह, सत्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, इद्रियो के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नही है, क्योंकि इन्द्रिया सामान्य कारण है, जो अनुमान मे भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील हैं।[3] अनुमान से भिन्न, प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणो के माध्यम से उत्पन्न होता है।[4] मेघनादारि, वरद विष्णु की 'प्रत्यक्ष

---

[1] प्रमाणान्तरस्याप्यविसवादार्थं प्रमाणान्तरान्वेषणेनानवस्था। —वही।

[2] ज्ञानकरणज-ज्ञान स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। न्याय परिशुद्धि। वेंकटनाथ पृ० ७०-७१। वेंकटनाथ ने इस मत का समर्थन 'प्रमेय सग्रह' और 'तत्व रत्नाकर' मे भी किया है।

[3] इन्द्रियाणा सत्ता-कारणत्वेन करणत्वानावात।

—'नयद्युमणि'।

[4] साक्षात्व शब्द, कोई, स्वरूप धी (स्वय की जागृति या ज्ञान) से समझाते हैं। किन्तु यह अर्थ आक्षेप-पूर्ण है, क्योंकि अनुमित ज्ञान भी, विषय के कुछ लक्षण

विशदावभास है' इस परिभाषा का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अवभासत्व सापेक्ष पद है, और अनुमान मे भी भिन्न कोटि का अवभासत्व होता है। बुद्धि की स्पष्टता (धी-स्फुटता) भी प्रत्यक्ष की परिभाषा नही हो सकती क्योकि प्रत्येक धी स्फुट ही है जहाँ तक उनका ज्ञान होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के रूप मे की जाय तो भी आक्षेपयुक्त है, क्योकि ऐसी अवस्था मे वह केवल निर्विकल्प ज्ञान को ही उपयुक्त होगी, जिसमे इन्द्रियो के व्यापार से विषय के विशिष्ट लक्षण अंकित हुए हैं, परन्तु जो सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आगे नहीं लाए जा सके हैं।

वेंकटनाथ और मेघनादारि दोनो यह मानते हैं कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य, बिना लक्षण या सामान्य धर्मों के, अनुभव नही किया जाता। रामानुज का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि विषय, हमेशा जब भी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तब पहले ही क्षण मे कुछ लक्षणो सहित ग्रहण किए जाते हैं, नही तो यह समझाना कठिन हो जाता है कि वे उत्तर क्षणो मे किस प्रकार विभिन्न लक्षणो सहित ग्रहण किए जाते है। अगर वे पहले क्षणो मे ग्रहण नही किए जाते तो वे पूर्ण रूप से सम्बन्ध-सहित, उत्तर क्षणो मे कभी भी नही जाने जाएँगे। इसलिए, यह मानना ही पडता है कि वे सब, पहले ही क्षणो मे जाने गए है किन्तु वे पहले क्षण के छोटे फैलाव मे पूर्णता से अपने को प्रकट न कर सके। रामानुज के 'वेदार्थ संग्रह' मे, सारे प्रत्यक्षो की निर्विकल्पता, पहले क्षण के अनुभव मे, सामान्य धर्मों के ग्रहण द्वारा उद्धृत की गई है। इससे कुछ टीकाकार ऐसा समझने लगे कि प्रत्यक्ष के पहले क्षण मे, विशिष्ट धर्मो के ज्ञान का ग्रहण होना, केवल सामान्य धर्मों को ही लक्ष्य इसलिए करता है कि इसमे एक ही वेग में अनेक पदार्थों का ग्रहण करना होता है जो पहले ही क्षण से प्रारम्भ होना चाहिए जिससे वे उत्तर क्षण मे पूर्णतया प्रकट हो सकें। किन्तु, मेघनादारि मानते है कि रूप इत्यादि अन्य लक्षणो के भी ग्रहण मे जबकि विषय निकट या दूर हो, तब विशिष्ट भेद होता है। इसमे, एक ही वर्ण के प्रत्यक्षीकरण में वर्ण की विभिन्न आभाओ को ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे ही प्रत्यक्ष के पहले क्षण मे उन्ही के समान कारणो से होते हैं जिनके द्वारा पहले क्षण मे, सामान्य धर्मों का ग्रहण होना स्वीकार किया गया है।

ऐसा आक्षेप किया गया है कि समस्त ज्ञान का सविकल्पत्व या विशिष्टत्व न बुद्धिगम्य है और न परिभाष्य है। दो ही तत्व की सत्ता है, वह जिसके साथ सम्बन्ध है

प्रकट करता है। अगर स्वरूप का अर्थ यह लिया जाय, 'विषय के स्वरूप से अन्यथा कुछ नहीं' तो यह परिभाषा प्रत्यक्ष को भी नही दी जा सकती, क्योकि प्रत्यक्ष केवल विषय को ही प्रकट नही करता किन्तु अन्य विषयो के साथ सम्बन्ध को भी प्रकट करता है और इस प्रकार यह विषय जैसा भी है इस मर्यादा को अतिक्रमण करता है।

और सम्बन्ध स्वय। सम्बन्धत्व उनसे अभिन्न एव भिन्न दोनो नही हो सकता, क्योकि हम, जिससे सम्बद्ध हैं और सम्बन्ध इससे भिन्न सम्बन्धत्व को एक पदार्थ के रूप मे नही जानते। सम्बन्धत्व एक ही ज्ञान-व्यापार मे दो तत्वो का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार मे दो तत्वो का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार का विना अवकाश के दीखना भी नही कहा जा सकता, क्योकि एक वास्तविक निर्दिष्ट उदाहरण मे, जैसेकि 'घडा और वर्तन' के ज्ञान मे यद्यपि, विना अवकाश के दो अनुभूतियाँ उपस्थित हुई हैं तो भी उन्होने अपनी विलक्षण पृथक्कता नही खोई है। इस प्रकार सम्बन्धत्व के प्रत्यय को जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से भिन्न जाना जा सके, ऐसा कोई रास्ता नही है।

मेघनादारि इसका उत्तर देते हैं कि 'एक सफेद गाय लाओ' ऐसे वाक्य मे, क्रिया, विशिष्ट प्राणी 'सफेद गाय' को लक्ष्य करती है, 'सफेदपन' और 'गाय' के भिन्न तत्वो को नही करती। जिससे सम्बन्ध हैं और सम्बन्ध, दोनो का सविकल्प ज्ञान मे समावेश होता है जो 'सफेद गाय' है। स्पर्शात्मक प्रत्यक्ष मे, जैसेकि 'छडी वाला पुरुष' स्पर्श सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। सविकल्प (विशिष्ट) वस्तु का प्रत्यय, जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से, भिन्न नही है, किन्तु, उसे अनुमित करता है। इस प्रकार, सम्बन्ध और जिससे सम्बन्ध है मिलकर निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान कराते हैं।[1] सविकल्पत्व का सयोजक गुण, गौण वस्तु नहीं है किन्तु इस तथ्य को प्रकट करता है कि जगत् मे सारी वस्तुएँ सम्बन्ध द्वारा विशिष्ट होने के लिए, एक दूसरे से अपेक्षित हैं और वस्तुओ की यह सापेक्षता उनकी एकता है जिससे वे सविकल्प ज्ञान मे सम्बद्ध रूप से दीखती हैं।[2] पदार्थो की यह सापेक्षता से ही उनका अनुभव से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न होता है जो उससे युगपद् है, इन दोनो के बीच न कोई माध्यम है, न विचारो की रोक है।[3] यह सामान्य अनुभव है कि हमारे सारे प्रत्यक्ष, विचार एव प्रत्यय सर्वदा सम्बन्धित और सयुक्त दीखते हैं। भाषाबद्ध सारी अभिव्यक्तियाँ, हमेशा वाणी का आशय, सम्बन्धित और सयुक्त रूप से प्रकट करती हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो भाषा द्वारा विचारो का आदान-प्रदान अशक्य हो जाता है।

निर्विकल्प ज्ञान मे, विषय के कुछ ही सारभूत लक्षण देखे जाते हैं और अन्य कई

---

[1] न च प्रत्येक विशिष्टता-पात मिलितानामे व विशिष्टत्वात्।

—नयद्युमणि।

[2] एक बुद्धि विषयतार्हाणा पदार्थानाम् अन्योन्य सापेक्ष-स्वरूपत्व मिलितत्वम्।

—वही।

[3] विशिष्टत्व-धी-विषयत्वे च तेषा सापेक्षत्व च यौगपद्यात् तत्र विरामाप्रतीते नापेक्षता भिन्ना च।

—वही।

लक्षणो का विस्तार विशदता से नही होता ।[1] सविकल्प ज्ञान में, दूसरी ओर, अनेक गुण और लक्षणो, तथा साथ ही साथ उन विशिष्ट गुणो का ज्ञान होता है जिससे अन्य पदार्थों से उसका भेद किया जाता है ।[2]

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सादृश्य से अन्य इन्द्रियो का प्रत्यक्ष समझाया जा सकता है। नैयायिक द्वारा माने हुए समवाय सम्बन्ध को रामानुज, इस कारण नही मानते कि उसकी व्याख्या करना या उसे एक पृथक् पदार्थ मानना कठिन है। विभिन्न सबध, जैसाकि आधार और आधेय, ससर्ग इत्यादि, पदार्थ से सम्बन्धित होने के लिए परस्पर विभिन्न दिशाओ मे हो रही परीक्षा के अनुसार अनुभव मे प्रकट होते हैं, और ये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होने वाले भिन्न सम्बन्धो के स्वरूप को निश्चित करते हैं।[3] वेंकटनाथ भी बताते है कि वही सामग्री जो द्रव्य और गुण का भान कराती है, सम्बन्ध का भी भान कराती है, क्योकि अगर सम्बन्ध प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण मे ग्रहण नही होता

---

[1] निर्विकल्पकम् च घटादेरनुल्लेखितानुवृत्ति-धर्मघटत्वादि-कतिपय-विशेषण-विशिष्टत-यार्थावच्छेदकम् ज्ञानम् ।
—वही ।

[2] उल्लेखितानुवृत्त्यादिधर्मकानेक विशेषण विशिष्टतया साक्षाद् वस्तु व्यवच्छेदक ज्ञानम् सविकल्पकम् ।
—वही ।

वेंकटनाथ तो, सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान की इस प्रकार परिभाषा देते हैं, 'स प्रत्ययवमर्श-प्रत्यक्ष सविकल्पकम्' और 'तद्रहितप्रत्यक्ष निर्विकल्पकम् ।
—न्याय परिशुद्धि, पृ० ७७ ।

[3] अतस्ततत्सम्बन्धाद् वस्तुत उपाधितो वाधाराधेय भाव-वस्त्वन्तरमेव । एव च कल्पना लाघवम् । सचगुणादि भेदादनेक नचतत्सम्बन्धस्समवधिनो स्सम्बन्धान्तर कल्पना-याम् अनवस्था । अन्योन्य सापेक्ष-स्वरूपत्वरूपोपाधि-व्यतिरेकणार्था न्तराभावात् ।
—नयद्युमणि हस्त० ।

निर्विकल्प ज्ञान मे कुछ भाव-लक्षणो का समावेश होता है तथा ये इन्द्रियो के व्यापार से प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण मे सस्कारो को जाग्रत करते हैं। सविकल्प ज्ञान मे स्मृति के व्यापार से होने वाले भेदो के ज्ञान का समावेश होता है। इनकी, विष्णुचित्त, इस प्रकार व्याख्या करते हैं। सस्कारोद्‌बोध सहकृते न्द्रिय्य जन्य ज्ञानम् सविकल्पम् इति एक जातीयेपु प्रथमपिण्ड ग्रहणम् द्वितीयादि-पिण्ड-ग्रहणेपु प्रथमाक्ष-सन्निपातजम् ज्ञानम् निर्विकल्पम् इति ।

और तत्व रत्नाकर मे इस प्रकार है—

विशेपणाना न्वयोग व्यावृत्तिरविकल्पके,
सविकल्पेऽन्य योगस्य व्यावृत्ति सज्ञिना तथा ।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८२ ।

है तो, वह दूसरे क्षण मे, शून्य मे से, नही उत्पन्न हो सकता। सम्बन्धत्व पदार्थो का लक्षण होने से, पदार्थों की जानकारी का अर्थ, आवश्यक रूप से, सम्बन्ध की भी जानकारी से है।

रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन अनुयायियों द्वारा किये गए स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्यक्ष

रामानुज और उनके अनुयायी केवल तीन ही प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष है (साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि वह ज्ञान, अन्य ज्ञान के माध्यम से नही है (ज्ञानाकरणकज्ञानत्वम्)। प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है, ईश्वर-प्रत्यक्ष, योगि-प्रत्यक्ष और साधारण मनुष्यो का प्रत्यक्ष। योगियो के प्रत्यक्ष मे मानस प्रत्यक्ष और आर्ष प्रत्यक्ष का समावेश होता है, और योगि-प्रत्यक्ष योग-साधना द्वारा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा है, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निश्चित ज्ञान है जिसमे विषय को पहले अनुभव किए हुए देश और काल के सम्बन्ध का समावेश होता है। इस प्रकार जब हम घडा देखते है, हम यह सोचते हैं कि हमने इसे और जगह और दूसरे समय देखा था, और घडे का अन्य समय और जगह का यह उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित स्मृतिया जो इस उल्लेख के अन्तर्गत है, वह ऐसे प्रत्यक्ष के निश्चित लक्षण का निर्माण करती हैं, जिसकी वजह से वह सविकल्प कहलाता है।[1] प्रत्यक्ष, जो पदार्थ के विशिष्ट गुण को, उससे सम्बन्धित स्मृतियो का त्वरित उल्लेख न करते हुए—घडे को घडा रूप मे प्रकट करता है उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं।[2] निर्विकल्प ज्ञान की यह परिभाषा रामानुज के निर्विकल्प ज्ञान के मत को, भारतीय दर्शन मे माने गए अन्य मतो से पृथक् करती है।

अब यह स्पष्ट है कि रामानुज दर्शन के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान दोनों, स्वरूप मे गुण-युक्त एवं विशिष्ट हैं क्योंकि वे पदार्थों के गुणों (विशिष्टता) को लक्ष्य करते हैं (उभयविधम् अपि एतद् विशिष्ट-विषयम् एव)।[3] वेंकटनाथ कहते हैं कि नैयायिकों के मतानुसार, प्रथम क्षण मे निर्विकल्प या अविशिष्ट ज्ञान की रचना

का कोई भी प्रमाण या साक्ष्य नही हैं, क्योकि हमारा अनुभव इससे विपरीत है और बालको का भी ज्ञान, एव गूंगे और निम्न जाति के पशुओ का ज्ञान, नाम और प्रत्यय-रहित होता है, तो भी वह किसी प्रकार सविकल्प है क्योकि पदार्थ उनके लिए, उनकी रुचि-अरुचि तथा उनकी इच्छा या भय का सकेत रूप है।[1] क्योकि अगर इन पशुओ का तथाकथित निर्विकल्पज्ञान सचमुच सर्वथा निर्विशिष्ट हो तो वे किस प्रकार अनुकूल रुचिकर एव द्वेषात्मक व्यवहार कर सकते हैं? नैयायिक कहते हैं कि समस्त द्रव्यगुण-युक्त ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान के पहले, गुणो के मौलिक तत्वो का ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु यह उसी हद तक ही ठीक है, जैसाकि प्राप्त किया हुआ प्रत्यक्ष। मैं चन्दन के एक टुकडे को सुगन्धित देखता हूँ, सुगन्ध देखी नही जा सकती, किन्तु चन्दन के रूप इत्यादि का देखना और उसकी ऐसी प्रत्यभिज्ञा, सुगन्ध के सस्कारो को जाग्रत करती है जो दर्शन से तत्काल सम्बन्धित हो जाती है। यहा पहले, चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा चन्दन के गुण का ज्ञान होना आवश्यक है, जो घ्राणेंद्रिय से सम्बन्धित सुगन्ध के सस्कारो को जाग्रत करता है और अन्त में आंख से देखे गुणो से सम्बन्ध जोडता है। किन्तु द्रव्य गुण के ज्ञान मे, सम्मिश्रण (मिश्रज्ञान) को बनाने वाले तत्वो के इस क्रम को मानना आवश्यक नहीं है, क्योकि गुण का ज्ञान कराने वाले तत्व और वे जो द्रव्य का ज्ञान कराते हैं इन्द्रियो को एक साथ ही दिये जाते है और वे दोनो एक ही हैं (एक सामग्री वेद्यविशेषणेषु तन्निरपेक्षत्वात्)।[2] विवाद का मूल विषय यह है कि सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होता है या नही। अगर सम्बन्ध को द्रव्य और गुण का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है तो, सचमुच, दर्शन के प्रथम क्षण मे ही, ज्ञान, द्रव्य और गुण के साथ ही, आवश्यक रूप से देखा जाना चाहिए। अगर गुण का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध है तो यह, एक पदार्थ होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्रहण होना शक्य है और क्योकि यह द्रव्य और गुण को जोडने वाली मुख्य वस्तु है, तो इस तथ्य से, कि वह द्रव्य और गुण के साथ आंख द्वारा गृहीत है, हमे विश्वास हो जाना चाहिए कि द्रव्य और गुण का सम्बन्ध भी नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। क्योकि अगर यह माना जाता है कि समवाय का ग्रहण होता है तो वह, स्वय ही, गुण द्रव्य को विशिष्ट करता है इस प्रकार के द्रव्य गुण के ग्रहण के अपवाद को हटा देता है। गुण और द्रव्य की तरह, सम्बन्ध जो उन्हे जोडता है वह भी इन्द्रियो द्वारा

---

[1] बाल मूक तिर्यन्गादि ज्ञानाना अन्न कटक वह्निव्याघ्रादि शब्द वैशिष्ट्या नव ग्राहित्वेऽपि इष्टद्वैष्टता वच्छेदकान्नत्वा कटकत्वादि प्रकारावगाहित्व म अस्ति। न्याय सार, न्याय परिशुद्धि पर टीका, श्री निवास, पृ० ७८।

[2] न्याय परिशुद्धि, पृ० ७८। सुरभि चन्दनम् सोऽयम् घट इत्यादिज्ञानेषु सौरभतांशे चक्षुष स्वविजातीय-सस्कारजन्याया स्मृतेर्विशेषण-प्रत्यासत्तितया अपेक्षणेऽपि चक्षुर्मात्रजन्ये घटज्ञाने तपेक्षाया अभावात्। न्यायसार पृ० ७८।

ग्रहण होता है (धर्मवद् धर्मोविच्च तत्सम्बन्ध-स्यापर्येंद्रियकत्वाविशेषेण ग्रहण-सम्भवात्)।[1] क्योकि, अगर सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा, वस्तु और विषय के ज्ञान होने के समय, ग्रहण नहीं किया जा सकता तो वह दूसरे समय किसी भी प्रकार ग्रहण नही किया जा सकता।

सविकल्प ज्ञान मे, सस्कार, चक्षु और अन्य इन्द्रियो के सम्बन्ध में जाग्रत किए जाते हैं, और वे, इन्द्रियो द्वारा दिए हुए पदार्थों के विश्लेषण और एकीकरण, समीकरण और पृथक्करण की अन्तर-क्रिया उत्पन्न करने में, और सविकल्प ज्ञान मे होने वाले समान प्रत्ययों के पारस्परिक तुलना करने मे सहयोग देते हैं। इसे स्मृति से भिन्न करने वाला तथ्य यह है कि स्मृति, चित्त के केवल सस्कार जाग्रत होने से उत्पन्न होती है, जबकि निर्विकल्प ज्ञान, इन्द्रिय-व्यापार के साथ कार्य करते हुए सस्कार से उत्पन्न होता है।[2] सविकल्प ज्ञान मे, जागृत किए सस्कार, इन्द्रियो के साथ सहकार करते हैं, तो भी सविकल्प, योग्य रीति से, एक खरा प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह बताया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय मे भेद को एक स्वतत्र एव पृथक् तत्व नहीं माना है किन्तु वह जिन दो वस्तुओ के बीच भेद से प्रकट है, केवल उन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही गृहीत होता है। यह ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसमे एक को स्वीकार करना दूसरे के स्वीकार को वर्जित करता है, भेद का यही सार है।[3]

वेंकटनाथ, शकर मतानुयायियों द्वारा मान्य उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष का बलपूर्वक निरास करते हैं, जिसमे प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित होते हुए भी ज्ञान, शास्त्र (नियम) निर्देश के रूप मे, श्रवणेंद्रिय के बल पर किया जाता है। इस प्रकार, जब दसों मे से प्रत्येक पुरुष, अपने को गणना से दूर रखकर, दस के बजाय नौ पुरुषो की गणना करता था, तब बाहर से दूसरे प्रेक्षक ने गणना करने वाले को यह बताया कि वह स्वय दसवा पुरुष है। शकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि यह प्रतिज्ञा या वाक्य "तू दसवा है" यह साक्षात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष का दृष्टान्त है। किन्तु

---

[1] वही, पृ० ७६।

[2] स्मृताविव सविकल्पके सस्कारस्य न व्यापारभेदेन तावता येन प्रत्यक्षत्वं न स्यात् किन्तु इन्द्रिय-सहकारितया तथा चेन्द्रिय-जन्यत्वेन प्रत्यक्षम् एव सविकल्पकम्।

वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यद्यपि 'तू' इस शब्द से संकेत की हुई वस्तु साक्षात् प्रत्यक्ष होती है, तो भी वाक्य स्वय साक्षात् प्रत्यक्ष नही हो सकता, किन्तु सुनाई देने पर उस पर विचार किया जा सकता है, क्योकि, अगर जो कुछ भी सुना है वह प्रत्यक्ष किया जा सकता है, तो हम ऐसे तर्क वाक्यो के अर्थ, तुम धर्मवान् हो, (धर्मवान्त्वम्), को भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं या साक्षात् परिचय कर सकते हैं। किसी तर्क वाक्य के अर्थ को ग्रहण किया है इससे यह अर्थ नही होता कि वह साक्षात् प्रत्यक्ष किया है। यह मत, शकर के मत का किस प्रकार निरास करता है यह सरलता से समझा जा सकता है, जिसके अनुसार 'तत्वमसि' वाक्य के अर्थ का अनुभव, प्रत्यक्ष द्वारा, आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात् परिचय है।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान से है जिसमे समान वस्तुओ की स्मृति का समावेश नहीं है और सविकल्प प्रत्यक्ष से उस निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ है जिसमे पूर्वकालीन स्मृति के सहचार का समावेश है (अनुवृत्तिविषयक ज्ञान)। यह अनुवृत्ति या भूतकालीन स्मृति को लक्ष करना, केवल निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ नही प्रतिपादित करता (उदाहरणार्थ, घट का घटत्व धर्मयुक्त ज्ञान-घटत्व प्रकारकम् अय घट) किन्तु पूर्व मे अनुभव किये अन्य समान पदार्थों के प्रति ज्ञानपूर्वक लक्ष करने से है। सविकल्प प्रत्यक्ष मे, द्रव्य और सम्बन्धत्व और सम्बन्धित गुणो के सकीर्ण (मिश्रण) बनाने वाले विशिष्ट गुणो का नेत्रो द्वारा, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु इससे यह अर्थ नही है कि इसमे किसी सामान्य या जातिवाचक प्रत्यय का ग्रहण होता है जिसमे, ऐसे समान प्रत्यय या पदार्थों का सम्बन्ध भी समाविष्ट है। इस प्रकार, सविकल्प और निर्विकल्प मे समान रूप से नेत्र इन्द्रिया व्यापार करती है, किन्तु पहले मे, पहले अनुभव किए अन्य समान पदार्थों को, ज्ञानपूर्वक लक्ष्य किया जाता है।

सर्वव्यापी या जातिवाचक प्रत्यय को, जो सविकल्प प्रत्यक्ष मे ग्रहण होते हैं, स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ नही मानना चाहिए, किन्तु उन्हे केवल समान धर्मों का समीकरण मानना चाहिए। इस प्रकार, हम समान धर्म वाली, दो या अधिक गायो का उल्लेख करते हैं, ये समान धर्म जो प्रत्येक गाय मे पाए जाते हैं जिनके कारण ही हम उन पशुओ को गाय कहते हैं। इसलिए, इन सामान्य धर्मों से अलग जोकि प्रत्येक पशु में है, और किसी अन्य पदार्थ मे नहीं है इसे जाति या सर्वव्यापी प्रत्यय कहा जा

---

[1] अतएव तत्त्वमसि आदि शब्द स्वविषय-गोचर-प्रत्यक्ष-ज्ञान-जनक इत्याद्यनुमानानि निरस्तानि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ८९।

सकता है। सामान्यता (अनुवृत्ति) सादृश्यता से है (सुसदृशत्वम् एव गोत्वादीनाम् अनुवृत्ति)।[1] सदृश्य पुनः वह असाधारण कारण है जो उन दो वस्तुओ मे पृथक् रूप से रहता है और जो आपस मे एक दूसरे को निश्चित करता है और जिससे हम उन्हें समान कह सकते हैं। सामान्य नाम का उपयोग दो वस्तुओ को सदृश कहने का सक्षिप्त मार्ग है। यह सादृश्य दो प्रकार का है, धर्म-सादृश्य, जैसाकि द्रव्यो मे, और स्वरूप-सादृश्य, जैसाकि गुण इत्यादि अद्रव्य पदार्थों मे होता है।[2]

प्रत्यक्ष में, दो प्रकार से इन्द्रिय-ससर्ग माने गए हैं, विषय या अर्थ से सम्बन्ध (सयोग) और अर्थ के गुणो से इन्द्रिय ससर्ग (सयुक्ताश्रय)। इस प्रकार घडे से पहले प्रकार का सम्बन्ध है और उसके गुणो से दूसरे प्रकार का ससर्ग है।[3]

वेंकटनाथ का अनुमान पर विवेचन

रामानुज मतानुसार, अनुमान बहुत अश में नैयायिक मत जैसा ही है। अनुमान परामर्श का सीधा परिणाम है, अथवा तर्क-सम्मत ज्ञान की स्थिति है, अर्थात् शका और सन्देह-रहित विशुद्ध विषय है जो अनुभव-सम्मत है।[4] अनुमान एक प्रक्रिया है जिसमे एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य से, जिसमें समस्त विशेष उदाहरणो का समावेश होता है, हम एक विशेष उदाहरण को स्वीकार कर सकते हैं।[5] अनुमान, इसलिए, उन्ही उदाहरणो के विषय मे होना चाहिए जिनके बारे मे सर्वव्यापी वाक्य, गोचर पदार्थों से उत्पन्न अनुभव के आधार पर सामान्य वाक्य-प्रतिपादन किया गया है और वह अतीद्रिय अतीत विषय के बारे मे नही है—इसी कारण से रामानुज और उनके अनुयायी, ईश्वर की सत्ता को अनुमित नही कर सकते, क्योकि ईश्वर अतीद्रिय है। (अत एव च वयम् अत्यतातीद्रिय वस्त्वनुमानम् नेच्छाम)।[6]

[1] अथ माण्णादीमानयमपि साण्णादीमानिति साण्णादिरेव अनुवृत्त व्यवहार विषयो दृश्यते। —रामानुज सिद्धान्त सग्रह। हस्त० स० ४६८८।

[2] हस्त० स० ४६८८।

[3] दूरस्थ विषयो से नेत्र और श्रवणेन्द्रिय का सन्निकर्ष एक रहस्यमय व्यापार वृत्ति द्वारा हो सकता है। ऐसा माना गया है कि ये इन्द्रियां मानो उनके विषय द्वारा लम्बी हो जाती है (आप्यायमान)। —वही।

[4] परामर्श जन्य प्रमितिरनुमिति। —वही।

[5] परामर्श का अर्थ "व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानम् सर्वं विशेष सम्बन्धी सामान्य-व्याप्ति धीरपि विशेषानुमिति हेतु" है। न्याय परिशुद्धि, पृ० ६७।

[6] वही।

जैसाकि सम्प्रदाय के मत मे प्रतिपादन किया गया है, व्याप्ति सिद्धान्त के अनुसार, जो देश और काल की मर्यादा मे या तो बराबर है या दूसरे से न्यून है, व्याप्य या हेतु कहा जाता है, वह जो देश और काल की परिधि मे सम है या बडा है व्यापक या लिंग कहा जाता है।[1] किन्तु इस मत के अन्तर्गत सभी प्रमाणित व्याप्ति के उदाहरण नही आते। देश और काल के (सहचार) सह-अस्तित्व के उदाहरण जो दिए गए हैं वे हैं, ताड का रस और मिठास (गुड) या पुरुष की छाया और सूर्य का निर्दिष्ट स्थान, किन्तु ऐसे देश काल के सह-अस्तित्व के उदाहरण सभी प्रसगो को पूरा नही करते। जैसेकि सूर्यास्त और समुद्र मे लहर उठना। इस कारण, उत्तर-कालीन अनुयायियो ने व्याप्ति की कठोर परिभाषा की, जो निरुपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध है, व्याप्ति (निरुपाधिकतया नियतः सम्बन्धो व्याप्ति)।[2]

उद्गमन की रीति से सामान्यीकरण या व्याप्ति के सम्बन्ध में, हम 'तत्व रत्नाकर' जैसे पुराने प्रामाणिक ग्रन्थ मे पाते हैं कि व्याप्ति का प्रथम परामर्श, जो विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ हैं, वह सर्वव्यापि वाक्य (सामान्य) के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[3] किन्तु वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा नही हो सकता और व्याप्ति के विषय मे सामान्य वाक्य के प्रतिपादन करने के लिए, व्याप्ति का विपद अनुभव आवश्यक है।

[1] देशत कालतो वाऽपि समो न्यूनोऽपिवा भवेत्।
स्वव्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपिवा॥

—वही, पृ० १००

[2] न्याय परिशुद्धि।

[3] सबधोऽयम् सकृद् ग्राह्य' प्रतीति-स्व-रसात्तथा।
प्रतीतयो हि स्वरसाद् धर्माधर्म्यंवधीन् विदु॥

—तत्वरत्नाकर। हस्त०।

तत्व रत्नाकर के रचियता प्रतिपादन करते हैं कि जब जाति प्रत्यय (धूमधूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (जैसे धूम), तो धूम और अग्नि की व्याप्ति का अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्व का अग्नित्व (दाहकत्व) मे व्याप्ति ज्ञान हो गया है। इसलिए एक विशेष पदार्थ और उसके जाति-प्रत्यय के अनुभव मे, हम उस जाति-प्रत्यय मे सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जानते हैं—सन्निहित-धूमादि-व्यक्ति-सयुक्तस्य इन्द्रियस्य तदाश्रित-धूमत्वादि गुणाश्रित, तदाश्रयत्वेन व्यक्तयतराणि सयुक्तानि इत्यादि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० १०५ (चौखम्भा)।

एक महत्वपूर्ण विषय, जिसमे रामानुज मत का नैयायिको से भेद है, वह रामानुज की 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' की अस्वीकृति है जिसे नैयायिक मानते हैं। इस प्रकार, 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' मे, (जैसे, पृथ्वी गधमय होने से अन्य तत्वो से भिन्न है) नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि पृथ्वी का अन्य तत्वो से भेद, गधवती होने के कारण है और यह गुण अन्य तत्वो मे नहीं है—अत. यह भेद, ऐसे वाक्य से, सिद्ध नही किया जा सकता, जो अन्वय द्वारा प्राप्त है। इस मत का रामानुज-सम्प्रदाय के पूर्वकालीन तार्किक, जैसेकि वरद विष्णु मिश्र और भट्टारक गुरु, (तत्व रत्नाकर) मे) द्वारा समर्थित पाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वेंकटनाथ (अपनी न्याय परिशुद्धि मे) और सिद्धान्त सग्रह के रचयिता रामानुज दोनो यह बताते हैं कि जब यामुन अपने आत्म-सिद्धि के व्याख्यान मे 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकार करते हैं, तो यह मानना ठीक होगा कि उक्त पूर्वकालीन ग्रन्थकारो ने 'केवल व्यतिरेकी' का उल्लेख किया है जिसका अर्थ यह नही है कि उक्त ग्रन्थकारो ने केवल व्यतिरेकी को अनुमान का एक प्रकार माना है किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि उन्होंने नैयायिको की मान्यता मे इसकी केवल गणना की है।[1] सिद्धान्त सग्रह के लेखक रामानुज बताते हैं कि इस अनुमान को, अन्वय-व्यतिरेकी के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इस प्रकार हम तर्क कर सकते हैं कि देह, पृथ्वी जैसी है क्योकि उसमे गन्ध है. क्योकि जो गधवान् है वह पृथ्वी जैसा है और जिसमे गध नही है वह पृथ्वी जैसा नहीं है। इसलिए इसे अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान के तर्क के आकार मे इस प्रकार रखा जा सकता है। गधत्व को हेतु बताया जा सकता है जिसकी उपस्थिति पृथ्वी जैसी होना निश्चित करता है और अनुपस्थिति पृथ्वी जैसी न होना उससे भेद प्रकट करता है।

रामानुज-न्याय में अनुमान के लिए तर्क (अर्थात् परस्पर अपेक्षित सभावनाओ के बीच वैकल्पिक निष्कर्ष का ज्ञान) की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। अनुमान के अवयवो के बारे मे, वेंकटनाथ कहते हैं कि पांच अवयव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, ऐसा नही है। किस प्रकार अनुमान किया गया है उस पर यह आश्रित है कि कितने अवयव आवश्यक हैं। ऐसा हो सकता है कि अनुमान करने के समय, दो, तीन, चार या पांच अवयव आवश्यक हैं ऐसा सोचा गया हो। हम 'तत्व-रत्नाकर' मे ऐसा कथन पाते हैं कि यद्यपि पांच अवयव, पूर्ण प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है, तो भी अनुमान के लिए अवयवों की सख्या के बारे मे कोई निश्चित नियम नहीं है।[2]

वेंकटनाथ कहते हैं कि अनुमान प्रत्यक्ष विषय मे मर्यादित है। जो विषय इंद्रियातीत हैं वे अनुमान द्वारा ज्ञात नही हो सकते। अनुमान, जोकि, अबाध रूप से प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है, इस कारण, वह प्रत्यक्ष का एक प्रकार नही माना जा सकता, क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा अपरोक्ष है। अनुमान स्मृति-जनित है, यह भी नही माना जा सकता, क्योकि अनुमान नवीन ज्ञान प्राप्त कराता है। आगे, उसे साक्षात्कार का प्रकार भी नही कहा जा सकता, क्योकि अनुमान चित्त के सस्कारो को जाग्रत करके कार्य करता है, क्योकि ऐसे सस्कार प्रत्यक्ष मे भी क्रियाशील होते पाए जाते हैं और उसी सादृश्यता के आधार पर प्रत्यक्ष को भी साक्षात्कार कहा जा सकता है।

व्याप्ति उसे कहना चाहिए जिसमे, साध्य का क्षेत्र, देश और काल की दृष्टि से, हेतु से, कम नही हो, (अन्यून देशकाल-वृत्ति) और हेतु, वह है जिसका क्षेत्र, साध्य से कभी भी अधिक नही है (अनधिक-देशकाल-नियत व्याप्यम्)। देश और काल के यौगपद्य के उदाहरण के तौर पर, वेंकटनाथ, शक्कर और उसकी मिठास का उदाहरण देते हैं। कालिक यौगपद्य के लिए छाया का मान और सूर्य की स्थिति का उदाहरण देते हैं। केवल देशिक यौगपद्य के लिए ताप और उसके प्रभाव का उदाहरण देते हैं। कभी-कभी देश और काल मे पृथक् वस्तुओ में भी साहचर्य पाया जाता है, जैसे ज्वार-भाटा और सूर्य-चद्र का सम्बन्ध।[1]

हेतु और साध्य के बीच ऐसी व्याप्ति, अनेक उदाहरणो के निरीक्षण द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है (भूयो दर्शन गम्य), एक उदाहरण द्वारा नही, जैसाकि धर्म राजाध्वरिंद्र द्वारा शकर वेदान्त में प्रतिपादन किया गया है। भट्टारक गुरु, अपने तत्व रत्नाकर मे, व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझाते हुए, कहते हैं, कि जब हेतु और साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणो से देखी जाती है तब ऐसे निरीक्षणो का परिणाम, साध्य और हेतु के समस्त उदाहरणो की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष मे, सस्कार रूप से सग्रह होता है, और तब व्याप्ति के निरीक्षण का आखरी उदाहरण, चित्त मे, सभी साध्य और सभी हेतुओ मे व्याप्ति का विचार, पहले अंकित हुए सस्कारो की जाग्रति की मदद से, उत्पन्न करता है। जहां निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त हैं वहां वेंकटनाथ अन्वय व्यतिरेकी और केवलान्वयी विधि से व्याप्ति प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं। सामान्यत, व्यतिरेकी विधि यह सिद्ध करके, व्याप्ति के प्रत्यय मे योगदान देती है, कि प्रत्येक घटना, जिसमे साध्य नहीं है, उसमे हेतु भी नही है, किन्तु केवला-

---

[1] वेंकटनाथ ने व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है अत्रेदं तत्व यादृग् रूपस्य यद् देश काल वर्तिनो यस्ययादृग् रूपेण यद् देशकाल वर्तिना येनाविना भाव तद् उदग् [illegible] वर्तिना [illegible] व्याप्यम् तत् प्रतिसम्बन्धि व्यापकम् इति।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० १०१-१०२।

न्वयी व्याप्ति मे, जिसमे निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त होते हैं उन निषेधात्मक उदाहरणो मे, हेतु का अभाव (अनस्तित्व) नही बताया जा सकता। किन्तु ऐसे उदाहरणो मे निषेधात्मक उदाहरणो का न होना ही, केवलान्वयी व्याप्ति को ग्रहण कराने मे पर्याप्त है। केवलान्वयी व्याप्ति की प्रमाणता इस बात से सिद्ध है कि अगर हेतु अपरिवर्तित रहता है तो विपरीत साध्य की पूर्व मान्यता व्याघातक ठहरती है (व्याहत-साध्य-विपर्ययात्), और यह इसे, कुलार्क द्वारा, महाविद्या के सिद्धान्त के प्रतिपादन मे उपयोग में लाए गए, केवलान्वयी तर्कों से पृथक् करता है।

रामानुज स्वय इस बात पर अनिश्चित हैं कि कितने प्रकार के अनुमान माने जाएँ, क्योकि उन्होने इस विषय मे कोई निश्चित विचार नहीं दिया है। इसलिए, उनके आशय का, उनके अनुयायियो ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है, इस प्रकार, मेघनादारि अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से करते हैं, (१) कार्य से कारण, (कारणानुमान), (२) कारण से कार्य (कार्यानुमान) और (३) मानसिक सहचार से अनुमान (अनुभवानुमान) यथा कृत्तिका नक्षत्र से रोहिणी के उदय का अनुमान। वैकल्पिक वर्गीकरण इस प्रकार है, (१) अन्वय व्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवल व्यतिरेकी। भट्टारक गुरु और वरद विष्णु मिश्र ने भी, जो रामानुज न्याय की सगति पूर्ण रचना करने मे वेंकटनाथ के पूर्वगामी थे, तीन प्रकार के अनुमान माने हैं ऐसा दीखता है, जैसेकि, अन्वयी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी, जो 'तत्व रत्नाकर' और 'मानयाथात्म्य निर्णय' के उद्धरणो से स्पष्ट है। वेंकटनाथ तो उन्हे नगण्य मानते हैं और केवल व्यतिरेकी अनुमान को खण्डन करने का बडा कष्ट करते है।[1] उनका दावा यह है कि निषेधात्मक व्याप्ति मे कोई अनुमान नही प्राप्त हो सकता, जो वैध रूप से किसी विशेष लक्षण को स्वीकार करने के लिए अग्रसर नही करता, जब किसी भी लक्षण को स्वीकार करने वाला वाक्य (प्रतिज्ञा) नही है। अगर कोई ऐसा स्वीकारात्मक वाक्य, निषेधात्मक वाक्य से अनुमित किया मान लिया जाता, तब भी, केवल निषेधात्मक वाक्य से अनुमान प्राप्त हो सकता है, यह विरोध विफल होता है। अनुमान की प्रमाणता की एक शर्त यह है कि हेतु सपक्ष में रहना चाहिए (अर्थात् वे सब उदाहरण जिनमे साध्य है) किन्तु व्यतिरेकी अनुमान मे, उपस्थित उदाहरण के सिवाय दूसरे भावात्मक उदाहरण नही होते जिनमे हेतु और साध्य है, तो उपरोक्त शर्त निष्फल रहती है।[2] विरोधी पक्ष यह कह सकता है कि इसी सादृश्य के आधार पर,

---

केवलान्वयी अनुमान का भी निषेध होता है, क्योकि यहाँ निषेधात्मक उदाहरण पाए जाते हैं (अर्थात् इद वाच्यम् प्रमेयत्वात्) उत्तर यह होगा कि केवलान्वयी अनुमान की प्रमाणता इस बात से सिद्ध होती है कि उसमे विरोधी निष्कर्ष की मान्यता, व्याघातक है। विरोधी पक्ष का अगर यह आग्रह है कि हेतु के विषय की, साध्य के निषेध के साथ सर्वव्यापी व्याप्ति, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात को अनुमित करती है तो हेतु और साध्य का सन्निपात दोनो के विरोधियो का भी सन्निपात अनुमित करेगा। इससे यह अर्थ निकलेगा कि केवलान्वयी अनुमान मे, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात से, उनके विरोधियो का सन्निपात सिद्ध होता है, यह अयुक्त है।[1] इस प्रकार नैयायिक, जो केवलान्वयी अनुमान को मानते हैं, केवल व्यतिरेकी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार से व्यर्थ प्रयास नही कर सकते। पुन इसी विधि को लेकर, कोई तर्क कर सकता है कि घडा स्वप्रकाश है क्योकि वह घडा है (घटत्वात्), क्योकि अस्वप्रकाशत्व, अघटत्व मे पाया जाता है जैसेकि कपड़ा, जो असम्भव है। (यन्नवैम् तन्नवैम् यथा पट)। इस प्रकार, दो निषेधो की व्याप्ति से, उनके विरोधी की व्याप्ति प्रतिपादन नही की जा सकती। पुन उपरोक्त उदाहरण मे, 'अनुभूतिरननुभाव्या अनुभूति त्वात्' (अनुभूति अनुभव का विषय नही हो सकती क्योकि वह अनुभव का विषय है) अननुभाव्यत्व का अस्तित्व (अनुभव का विषय न होना) शकास्पद है, क्योकि वह उपस्थित दृष्टान्त के सिवाय कही नहीं देखा जाता और इसलिए, केवल अननुभाव्यत्व के निषेध की अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से अननुभाव्यत्व का प्रतिपादन अयुक्त है। इसके अतिरिक्त, जब कोई कहता है कि अनुभाव्य तात्कालिक अनुभूति नहीं है, तो निषेधात्मक सम्बन्ध की मात्र स्वीकृति, अनुभूति को निषेधात्मक सम्बन्ध मे अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बना देता है, जो इस निष्कर्ष को बाध्य करता है कि अनुभूति अनुभाव्य नही है। अगर पुन व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, जो लक्षण अनुमित किया जाता है वह पक्ष मे है यह पहले से ही जाना हुआ है, तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रहती। अगर वह कही अन्य जगत् मे विद्यमान है ऐसा ज्ञान है, जो जबकि सपक्ष[2] विद्यमान है तो वह केवल व्यतिरेकी अनुमान नहीं है। अगर,

---

यथा जलम्। उपरोक्त उदाहरण मे अननुभाव्यत्व (न जानना) केवल प्रत्यक्ष अनुभूति मे है। यहाँ अनुभूति का मोक्ष, जहाँ पहले अननुभाव्यत्व पाया गया था, वह नही है।

[1] इद वाच्य प्रमेयत्वात् (यह व्याख्या योग्य है क्योंकि जाना जा सकता है) इस मान्यता मे, वाच्यता और प्रमेयत्व की व्याप्ति से अवाच्यत्व और अप्रमेयत्व सिद्ध हो सकते हैं, जो सर्वथा दोषपूर्ण है क्योंकि ऐसे उदाहरण नही जाने गए हैं।

[2] सपक्ष, वे दृष्टान्त हैं (उपस्थित दृष्टान्त के बाहर) जहा हेतु साध्य के एक साथ विद्यमान रहता है।

हेतु और साध्य के निषेध की व्याप्ति द्वारा साध्य, हेतु के निषेधात्मक दृष्टान्तो के बाहर कही अन्य जगह रहता पाया जाता है तो भी उपस्थित दृष्टान्त मे उसकी उपस्थिति सिद्ध नही हो सकेगी। पुन, उपरोक्त दृष्टान्त मे, अगर, अननुभव्यत्व के निषेध की, अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से, यह तर्क किया जाता है, कि अवेद्यत्व लक्षण कही विद्यमान रहना चाहिए, तो ऐसा निष्कर्ष व्याघात दोष से पूर्ण होगा, क्योकि अगर ऐसा ज्ञात है कि कोई ऐसा पदार्थ है जो अनुभव का विषय नही है, तो वह उसी तर्क से अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बन जाता है। यदि केवल एक को छोडकर, सभी क्षेत्रो से अस्तित्ववान् एक विद्यमान पदार्थ को निकाल दिया जा सकता है तो वह अवशिष्ट क्षेत्र की बात हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'सकल्प, अस्तित्वमय गुण होने से, आत्मा को छोडकर सभी मे अनुपस्थित है, इसलिए वह उसमे (आत्मा) आवश्यक रूप से है।' ऐसा अर्थ करने पर भी, व्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं है, क्योकि सचमुच यह दृष्टान्त अन्वय का है, और इसे अन्वय रूप से अन्वय-सिद्धान्त के सूत्र रूप से स्पष्ट किया जा सकता है, जैसेकि, एक अस्तित्वमय पदार्थ, जो एक को छोडकर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह आवश्यक रूप से उस बचे हुए क्षेत्र में है।' पुन ऐसे दृष्टान्तो मे जैसाकि, सर्ववित्व (सब कुछ जानना) सभी ज्ञात क्षेत्रो मे अनुपस्थित होने के कारण, कही भी विद्यमान होगा, क्योकि हम ऐसा सोचते हैं, इसलिए कोई एक पदार्थ अवश्य होगा जिसमे वह विद्यमान है, और ऐसा पदार्थ ईश्वर है 'यह सुविख्यात सत्ता-विषयक तर्क है जो व्यतिरेकी प्रकार का है। ऐसे अनुमान के विरुद्ध मे, न्याय-दृष्टि से यह विवाद किया जा सकता है कि शश-विषाण का विचार जो सभी क्षेत्रो मे अनुपस्थित है किसी अनुभूत वस्तु मे अवश्य विद्यमान होना चाहिए, यह स्पष्ट ही मिथ्या है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर व्यतिरेकी अनुमान नही माना जाता है तो यह सभी व्यावर्तक लक्षणो का निषेध सरीखा हो जाता है, क्योकि व्यावर्तक लक्षण, परिभाषा किए जाने वाले पदार्थ को छोडकर सभी मे अनुपस्थित है और इस प्रकार परिभाषा या व्याख्या स्वरूपत व्यतिरेकी अनुमान है। इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि परिभाषा, किसी पदार्थ के विशिष्ट गुणो के अनुभव से, जो गुण उस पदार्थ के व्यावर्तक गुण विज्ञापित किए गए हैं, उत्पन्न होती है, इसलिए, इसका व्यतिरेकी अनुमान से कोई सम्बन्ध नही है।' यह भी तर्क किया जा सकता है कि व्यावर्तक गुण अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं, व्यतिरेकी द्वारा नहीं,

---

जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं। ऐसे दृष्टान्तो मे जहाँ वेदत्व (जानना) की, जो जानने मे आ सकता है ऐसी व्याख्या की गई है, वहाँ अभाव-सूचक दृष्टान्त नही पाए जाते तो भी वह परिभाषा बनी रहती है। परिभाषा की व्याख्या यही है कि व्यावर्तक गुण उसी मे विद्यमान है जिसकी परिभाषा देना है, और वह अन्य कहीं भी विद्यमान नही है (असाधारण-व्यापको धर्मो लक्षणम्)।[1] उन दृष्टान्तो मे जहाँ पदार्थ के वर्ग या जाति की व्याख्या की जाती है, वहाँ, व्यवच्छेदक जाति लक्षण, वे होगे जो उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति मे होने चाहिएँ, और अन्य जाति के व्यक्ति मे अनुपस्थित होने चाहिएँ। किन्तु, जहाँ व्यक्ति आप ही अकेला है (जैसे ईश्वर), जब इसकी व्याख्या की जाती है, वहाँ जातिगुण नही पाए जाते, किन्तु केवल विशेष लक्षण ही होते हैं जो उस व्यक्ति मे ही है और जाति मे नही है। ऐसे दृष्टान्तो मे भी, व्यवच्छेदक गुण, उस व्यक्ति को दूसरे से (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) भिन्न करते हैं, जिनके साथ, यह, आशिक समानता के कारण सकीर्ण किया जा सकता है। इस प्रकार परिभाषा, किसी पदार्थ मे लक्षणो की स्वीकृति का दृष्टात है और निषेध का नही है, जैसाकि व्यतिरेकी अनुमान से इसे सकीर्ण करने वाले मानते है। इसलिए, केवल व्यतिरेकी अनुमान का किसी भी तर्क से समर्थन नही होता।

अवयव के विषय मे, वेंकटनाथ मानते है कि, सभी अनुमानो के लिए पाँच ही अवयव होने चाहिए इसका कोई भी नियम नही है। इसलिए भिन्न तार्किको मे अवयव की सख्या के विषय मे, विवाद निरर्थक है, क्योकि अनुमान मे अवयव उतने ही लाए जाय, जितने वह व्यक्ति को अनुमान ग्रहण होने के लिए पर्याप्त समझता है। इस प्रकार जिस सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है उसके अनुसार, तीन, चार या पाँच अवयव हो सकते हैं।

अनुमान के अतिरिक्त वेंकटनाथ, शब्द या शास्त्र-प्रमाण को भी मानते हैं। शब्द-प्रमाण की विशद व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नही हैं क्योकि इसका निरूपण, अन्य दर्शनो जैसा ही है। यह स्मरण रहे कि शब्द और वाक्यो का अर्थ बोधन करने के विषय मे नैयायिक यह मानते थे कि, वाक्य का प्रत्येक पद, जैसेकि सामान्य शब्द (प्रातिपदिक) या प्रत्यय, अपना स्वतन्त्र और पृथक् अर्थ रखता है इन अर्थों मे, दूसरी विभक्तियो के लगाने के कारण, अर्थ मे वृद्धि होने से रूपान्तर होता है। इस दृष्टि से देखते हुए, वाक्य के घटक तत्व अणु रूप होते हैं, जो परप्रत्ययो के सम्बन्ध मे सकलित होकर धीरे-धीरे, वाक्य को पूर्ण अर्थ तक पहुँचाते है। इसे अभिहितान्वयवाद कहते है। विरोधी मत अन्विताभिधानवाद है, जोकि मीमासको का है, इसके अनुसार किसी भी वाक्य का विश्लेषण, एक दूसरे के सम्बन्ध के बिना

---

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० १४५।

जो धीरे-धीरे संग्रह होता जाता है, अर्थों के रूढ तत्वों में नहीं किया जा सकता। वाक्य का, कितनी ही रूढ अवस्था तक विश्लेषण किया जाय, तो भी उसका अतिरूढ अंश, किसी क्रियापद या पूर्ण अर्थ से सामान्य सम्बन्ध रखेगा। उपसर्ग और विभक्तियों का कार्य, प्रत्येक शब्द के सामान्य सम्बन्ध को मर्यादित या अवरोध करना होता है। वेंकटनाथ, अभिहतान्वयवाद के विरोध में, अन्विताभिधानवाद को, इस आधार पर मानते हैं कि, पिछला मत, अतिरूढ शब्द तत्वों के अर्थ का, उनके परप्रत्यय के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए, या परप्रत्यय सहित शब्दों में आपस मे सम्बन्ध जोड़ने के लिए और वाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिए आपस के सम्बन्ध को जोड़ने के लिए, पृथक् विशेष शक्ति की अनावश्यक कल्पना ग्रहण करता है।[1] अन्विताभिधान की स्वीकृति, रामानुज मत के लिए हितकर थी, क्योंकि वह विशिष्टार्थ की स्थापना करता है।

रामानुज स्वयं ने, अपने दर्शन के अनुरूप, अपने न्याय के मतों का निरूपण करने वाली कोई पुस्तक नहीं लिखी। किन्तु नाथमुनि ने 'न्याय तत्व' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमे उन्होंने गौतम के न्याय मत का खण्डन किया और उनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार परिशोध किया। विष्णु चित्त ने 'संगतिमाला' और 'प्रमेयसंग्रह', इसी दिशा में लिखे, भट्टारक गुरु ने 'तत्व रत्नाकर' लिखा और वरद विष्णु मिश्र ने भी 'प्रज्ञापरित्राण' और 'मान याथात्म्य निर्णय' विशिष्टाद्वैत न्यायानुसार लिखे। वेंकटनाथ ने इन्हीं रचनाओं के आधार पर, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' लिखी जिसमें उन्होंने कभी उनके मतों को और कभी उनसे कुछ विस्तार में भिन्न मत को स्पष्ट किया। किन्तु, सर्वांग रूप से, उपरोक्त लेखकों से उन्होंने विशिष्टाद्वैत न्याय के मतों को स्वीकार किया है। इसलिए, इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता बहुत मर्यादित है। मेघनादारि, वेंकटनाथ से अधिकांश रूप से भिन्न है क्योंकि वे उपमान और अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण के रूप मे मानते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष के निरूपण में भी कुछ बड़े अर्थपूर्ण योग दिए हैं और अनुमान के निरूपण में भी, वे वेंकटनाथ से व्यतिरेकी अनुमान को मानकर, पूर्ण विरोधी रहे हैं।

विचार करता है कि जो गाय वह इस समय नही देखता है, वह अभी दिखाई देते वन वृषभ जैसी है। यह ज्ञान, मेघनादारि कहते हैं, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हुआ है, क्योंकि गाय देखने वाले के समक्ष नही है, वह स्मृतिजनित भी नही है, क्योंकि सादृश्य का ज्ञान, गाय की स्मृति होने से पहले ही उदय होता है। मेघनादारि मानते हैं कि भेद के लिए कोई पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यक नही है, क्योंकि भेद का ज्ञान, सादृश्य का निषेध मात्र है। उपमान का यह निरूपण, न्याय से भिन्न है, जहाँ इसे, सादृश्य के आधार पर, शब्द का पदार्थ के साथ सम्बन्ध माना है, जैसे कि यह पशु गवय कहलाता है जो गाय के सदृश है। यहाँ सादृश्य के आधार पर गवय शब्द, उस पशु से सम्बन्धित है। मेघनादारि, इसे प्रत्यभिज्ञा के व्यापार द्वारा समझाने की कोशिश करते हैं, और इसे पृथक् प्रमाण मानने का विरोध करते हैं।[1] वे अर्थापत्ति को भी पृथक् प्रमाण के रूप मे मानते हैं। अर्थापत्ति को साधारणतया, निहितार्थ शब्द से अनूदित किया गया है, जहाँ एक प्राक् कल्पना का, जिसे मान्यता न देने पर अनुभव का गूढ विषय नही समझा जा सकता, निरीक्षण की नई अनुभूति घटना समझाने के लिए, चित्त पर लाने का आग्रह होता है। इस प्रकार, जब कोई, यह स्वतत्र आधार पर जानता है कि देवदत्त जीवित है, यद्यपि वह घर पर नहीं मिला तो, चित्त मे स्वाभाविक प्राक् कल्पना का उदय होता है कि वह घर से बाहर रहता होगा, क्योंकि नही तो, वर्तमान समय मे, उसका घर पर न होना मिथ्या है या, पूर्व ज्ञान, कि वह जीवित है यह मिथ्या होगा। वह जीवित है और घर पर नही है, इसे, इस प्राक्कल्पना द्वारा ही समझाया जा सकता है कि वह घर से बाहर कहीं है। इसे अनुमान का एक प्रकार नही माना जा सकता, "क्योंकि कही रहता हुआ देवदत्त घर पर विद्यमान नहीं है, वह कही अन्य स्थान पर है, क्योंकि कही अन्य जगह रहते हुए पदार्थ जो अपने स्थान पर नही है कहीं अन्य स्थान पर, मेरी तरह, जीवित होंगे।" इस प्रकार का अनुमान व्यर्थ है, क्योंकि एक स्थान पर अस्तित्व रखती हुई वस्तु का न होना, दूसरे शब्दो मे उसका कही अन्य स्थान पर होना ही है। इसलिए, वस्तु का एक स्थान पर न होने को उस निष्कर्ष पर पहुँचने का हेतु नही बनाना चाहिए (उसका अन्य स्थान पर होना) जो उससे भिन्न नही है। अर्थापत्ति को इस प्रकार, स्वतत्र प्रमाण मानना पड़ता है।

मेघनादारि तथा अन्य के अनुसार रामानुज दर्शन की ज्ञानमीमांसा

वेंकटनाथ, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' मे (रामानुज दर्शन के अनुसार) न्याय या नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयत्न करते हैं जिस पर रामानुजवाद का

---

[1] [illegible] नयद्युमणि, उपमान प्रकरण।

दर्शन आधारित है। वे इस क्षेत्र मे मौलिक नहीं थे। किन्तु उन्होने, विशिष्टाद्वैत न्याय को, जैसाकि यामुन के आचार्य, नाथ मुनि ने अपने 'न्याय तत्व' नामक ग्रन्थ मे और पराशर भट्ट के इस विषय के ग्रन्थ मे विशिष्टाद्वैत न्याय का प्रतिपादन किया है, उसका उन्होंने अनुसरण किया है एव उसे विशद रूप दिया है। गौतम प्रतिपादित न्याय के सम्बन्ध मे, वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप यह है कि यद्यपि वादरायण ने गौतम के सिद्धान्तो को, शिष्ट पडितो के लिए अयोग्य कह कर टाल दिया है, तो भी, उन्हे इस प्रकार समझाया जा सकता है कि वे विशिष्टाद्वैत के सच्चे सिद्धान्तो के साथ सगत हो सकते हैं। किन्तु, वात्स्यायन द्वारा गौतम-न्याय की व्याख्या उसे सच्चे मार्ग से दूर ले जाती है इसलिए वह खण्डन के योग्य है। जो कुछ भी हो, वेंकटनाथ, विष्णु-चित्त की तरह, गौतम के उन सिद्धान्तो को स्वीकार करने को उत्सुक हैं जो वेदान्त मत के विरुद्ध नही है। इस प्रकार, पदार्थो के सोलह सख्या मे वर्गीकरण के विषय मे मतभेद हो सकता है। इस विषय मे दो मत नही हो सकते कि कुछ पदार्थ न्याय-दृष्टि मे प्रमाण हैं, क्योंकि अगर नैयायिक प्रमाणता अस्वीकार की जाती है तो न्याय स्वय निराधार हो जाता है। हमारा समस्त अनुभव, कुछ दृष्ट तत्वो या विषयो को मानकर चलता है, जिन पर वह आधारित है। इन दृष्ट विषयो की सामान्य स्वीकृति, अनुभव की नीव को ही उखाड देती है। जब इन दृष्ट विषयो के अस्तित्व को सामान्य रूप से मान लिया जाता है तभी उनके विशेष स्वरूप के विषय मे खोज की जा सकती है। अगर सब कुछ ही अप्रमाण है तो प्रतिपक्षी का आक्षेप भी अप्रमाण होगा। अगर सब कुछ ही सशयास्पद है तो यह भी स्वबाधित हो जाएगा। सशय के विषय मे सशय नही किया जा सकता, और सशय के अस्तित्व को एक निश्चित निष्कर्ष के रूप मे मानना ही पडेगा। इसलिए, पूर्णरूप से सशय का अनुसरण किए जाने पर भी निश्चित निर्णय की सम्भावना को मानना अनिवार्य हो जाता है।[1] इसलिए, बौद्धवादियो का विवाद, कि कुछ भी प्रामाण्य नही है और ऐसा कुछ भी नही है जिसकी निश्चितता स्वीकार की जा सके, यह अस्वीकार्य है। अगर इसलिए, कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनका निश्चित एव प्रामाण्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो ज्ञान के साधन, जिनसे ऐसा प्रमाण-ज्ञान उपलब्ध हो सकता है उसके विषय

[1] व्यवहारो हि जगतो भवत्या लम्भने क्वचित्,
तत्सामान्य तो नास्ति कपन्ना तुपरीक्ष्यते,
सामान्य निश्चितार्थेन विशेषे नु बुभुत्सितन्
परीक्षा हि उचिता स्पष्ट प्रमाणा स्वादनादिषु ..

सर्वं सदिग्ध [illegible] ,
[illegible] ।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० ३१ ([illegible])

मे स्वाभाविक ही गवेषणा उदित होती है। प्रमाण शब्द, दो अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण का प्रथम अर्थ सही ज्ञान है और प्रमाण का दूसरा अर्थ वह प्रकार है जिसके द्वारा सही ज्ञान होता है। पहला अर्थ प्रमा से है, दूसरा अर्थ प्रमा उत्पन्न करने वाले साधन से है। वेंकटनाथ, पहले अर्थ मे प्रमाण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो ज्ञान, वस्तु अनुगुण है या यथार्थ वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है वह प्रमा है (यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)।[1] यह परिभाषा व्यवहार को अनिवार्य उपाधि के रूप मे इस प्रकार समावेश करती है कि अगर किसी दृष्टान्त मे व्यवहार सचमुच उत्पन्न न भी हो तो भी वह प्रमाण होगा, यदि ज्ञान ऐसा हो कि जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो।[2] जिसमें व्यवहार उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो वह ज्ञान और जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो ऐसे प्रमाण की परिभाषा मे स्मृति का समावेश सहज ही हो जाता है। रामानुज-दर्शन मे अबाधित स्मृति को, इस प्रकार प्रमाण माना है।[3] वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि भ्रम की नियत उपाधि के रूप मे नियम विरुद्ध स्मृति को, प्रविष्ट करना अयुक्त है, क्योंकि पीली सीप के भ्रम-युक्त ज्ञान मे, स्मृति के उद्भव होने का प्रकट अनुभव नहीं है। सीप साक्षात् पीला ही दीखता है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तो मे, जो नियत रूप से उपाधि-परिपूर्ण होते हैं एक वस्तु दूसरी दीखती है जिसे पारिभाषिक शब्दो मे अन्यथाख्याति कहा है। किन्तु इसका आग्रह किया जा सकता है कि रजत सीप के भ्रम मे, सीप का रजत रूप से दीखने का कारण, दूकान में देखे रजत के सस्कारो और चमकते हुए पदार्थ के बीच भेद का अग्रहण है, जो अख्याति कहलाती है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तो मे, जब एक वस्तु दूसरी दीखती है तब वहाँ, स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के बीच भेद न ग्रहण करने की दशा उपस्थित रहती है। अगर भ्रम को इस दृष्टि से देखा जाय, तो वह प्रधान एव साक्षात् रूप से, उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो अख्याति कहलाता है। इस प्रकार, भ्रम के ये दोनो वाद, रामानुज ने, इन दोनो दृष्टिकोणो से स्वीकार किए हैं। जबकि, अख्याति, भ्रम के मनोवैज्ञानिक कारणो का विश्लेषण और तर्क का परिणाम है।[4] दूसरा

---

[1] न्याय परिशुद्धि वेंकटनाथ कृत, पृ० ३६।

[2] अनुगुण पद् व्यवहार जननस्वरूप योग्य पर तेनाजनित व्यवहारे यथार्थ ज्ञान विशेषे ना व्याप्ति।

—न्याय परिशुद्धि पर श्रीनिवास का न्यायसार, पृ० ३६।

[3] स्मृति मात्रा प्रमाणत्व न युक्तम् इति वक्ष्यते,
अबाधित-स्मृते लोके प्रमाणत्व-परिग्रहात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ० ३८।

[4] इद रजतमनु भवामि इति एकत्वेनैव प्रतीयमानाया प्रतीतेर्ग्रहणस्मरणात्मकत्वम् पोषन्न च युक्ति सिद्धमान न प्रतीतिपथमारोहति। —न्यायसार, पृ० ४०।

यथार्थ-ख्यातिवाद, जो भ्रम को भी सच्चा ज्ञान, इस आधार पर मानता है कि पचीकरण के अनुसार, सभी वस्तु, सभी भूतो के प्राकृत मिश्रण का परिणाम है, वह न तो मनोवैज्ञानिक है और न विश्लेषणात्मक ही है, किन्तु तात्विक है और ऐसा होने से, भ्रम के स्वरूप को नही समझाता। इस मत के अनुसार, भ्रम मे, सीप मे ऐसे रजत को ग्रहण करना माना है जो गृह-उपयोग या आभरण बनाने के काम मे लाया जा सकता है, जबकि तात्विक विवरण सभी वस्तुओ मे सभी वस्तुओ, के तत्वो के सामान्य मिश्रीकरण मे, रजत के कुछ प्राकृत तत्व देखने का समर्थन करता है।

बौद्धो द्वारा माने हुए, भ्रम के आत्म-ख्यातिवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि अगर विज्ञानवादी बौद्ध एक मूलचैतन्य पर, भिन्न चेतनाओ के आरोपण की प्रमाणता को स्वीकार कर सकते हैं तो, उसी सादृश्य के आधार पर, अनुभूत पदार्थों की प्रमाणता भी, मानी जा सकती है। अगर अविषयगत और विषयगत भिन्न चेतनाओं को नही माना जाता तो सारे अनुभव, एक अभिन्न चेतना बन जाएँगे और वह बौद्धो के प्रमाणवाद से स्पष्ट रूप से विरुद्ध है। बौद्धो का यह मानना कि जो पदार्थ एक साथ अनुभव किए जाते है, वे एक हैं, यह अयुक्त है। ज्ञान और उसके अर्थ स्पष्ट रूप से भिन्न जाने जाते हैं इसलिए, उनका तादात्म्य प्रतिपादन करना, अनुभव-विरुद्ध है। माध्यमिकवादी बौद्ध पुन मानते हैं कि, जिस प्रकार, दोष के मिथ्या होने पर भी भ्रम होता है, इस प्रकार किसी अधिष्ठान के या नित्य वस्तु के मिथ्या होने पर भी, भ्रम एक भास के रूप मे, बिना आधार के दीख सकता है। ऐसे मत के विरोध मे, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लोग जिसे है या नही है ऐसा मानते हैं, वह किसी सत्ता को लक्ष्य करके ही ऐसा कहते हैं और सत्ता के आधार बिना कोई घटना हो, वह हमारे अनुभव की समझ के बाहर है। इसलिए, माध्यमिक बौद्धो का पूर्ण अभाववाद पूर्णत अनुभव-विरुद्ध है।[1] जब लोग कोई वस्तु अस्तित्व नही रखती ऐसा कहते हैं, तब वे देश काल का विशेषण लगाकर ही ऐसा कहते हैं। इस प्रकार, जब लोग कहते हैं कि पुस्तक नही है तो वे, इस अभाव को यहाँ या वहाँ और 'अभी' या 'कभी' ऐसा कहकर विशिष्ट करते हैं। किन्तु, शुद्ध अविशिष्ट अनस्तित्व तो सामान्य अनुभव के बाहर है।[2] पुन पदार्थों के सभी भावात्मक अनुभव, देश धर्म से

---

[1] लोके भावाभाव शब्दयोरस्तास्तीत्योरपि विद्यमानस्यैव वस्तुन अवस्था विशेष गोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। असाधारणस्य न लोक सिद्ध प्रमाणा विषयत्वादिति भावः।
—न्याय सार, पृ० ४६।

[2] सर्वोऽपि निषेध सप्रतियोगिको नियत देश कालश्च प्रतीयते। निरुपाधिकत्वा देशकाल अविशेषतो दिग्गणु रहितो निषेधो न प्रतीतो इति।
—वही, पृ० ४८।

विशिष्ट हैं (जैसेकि यहाँ घडा है), अगर यह देश की उपाधि को माना जाता है, तो यह नही माना जा सकता कि भ्रम निरधिष्ठान होता है (निरधिष्ठान-भ्रमानुपपत्ति.)। यदि, यहाँ और वहाँ की उपाधि को स्वीकार नही किया जाता, तो कोई भी अनुभव सम्भव नही है (अप्रतीतेरपह्नव एव स्यात्)।

वेदातियो के, भ्रम के अनिर्वचनीयवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि जब शकर मतवादी सभी वस्तुओ को अनिर्वचनीय कहते हैं तो 'अनिर्वचनीय' शब्द कुछ निश्चित गुण का अर्थ रखने वाला होना चाहिए, उस दशा मे वह अनिर्वचनीय नही रहेगा, या विशेष प्रकार से व्याख्या करने मे निष्फल रहेगा, जिस दशा मे शकर मतवादी भी रामानुज-मतानुसार जगत् के स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं। पुन॰ जब शकरमतवादी सत् असत् व्यतिरेकी रूप, स्वबाधपूर्ण पदार्थ को स्वीकारने को उद्यत हैं, तो वे वस्तु है और नहीं है, इन दोनो रूपो से, जैसाकि अनुभव बताता है, क्यो नही स्वीकार करते ? स्वबाधता दोनो मे एकसी ही रहेगी। अगर उनका सत् असत् रूप जगत् का वर्णन यह सिद्ध करने के हेतु है कि वह तुच्छ एव ब्रह्म दोनो से भिन्न है, तो रामानुज वादियो को उनसे कोई झगडा नही है। आगे, जगत् का मिथ्यात्व अनुभव-युक्त नही है, अगर ऐसे मिथ्यात्व को आधाररहित न्याय पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसी न्याय-युक्ति को लेकर ब्रह्म को भी स्वबाधयुक्त सिद्ध किया जा सकता है। पुन॰, जगत्-प्रपच असत् है, क्योकि नाशवान् है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना निराधार है, क्योकि उपनिषद् ब्रह्म जीव और प्रकृति को नित्य कहते हैं। शकर मतवादी भी नाश और व्याघात को उलझा देते हैं। (न चैक्य नाश बाधयो)।[1]

पतजलि के अनुयायी, भाषा-व्यवहार द्वारा जिसमे हम अविद्यमान (अभावात्मक) पदार्थों को भ्रमपूर्वक ग्रहण करते हैं, ऐसे भ्रम के विषय का प्रतिपादन करते हैं। इसे निर्विषय-ख्याति कहते है। इस प्रकार, जब हम 'राहु का शीश' कहते हैं, तब हम ऐसा सोचते हैं कि राहु अपने सर से पृथक् अस्तित्व रखता है, और यह राहु मे षष्ठी के प्रत्यय को अनुगमन करते भाषा-व्यवहार के कारण ग्रहण होता है, किन्तु वेंकटनाथ आग्रह करते हैं, कि ऐसे अनुभवो को समझाने के लिए एक पृथक् मत को स्वीकारना अनावश्यक है, क्योकि ऐसा भ्रम अख्याति या अन्यथाख्याति द्वारा भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है और वे तर्क करते हैं कि उन्होंने दूसरे ख्यातिवादो की असम्भवता को पहले ही सिद्ध कर दिया है।

मेघनादारि, तो, प्रमाण को ऐसा ज्ञान कहते हैं जो वस्तु को दूसरे प्रमाणों के आश्रय बिना, निश्चित करता है जैसेकि स्मृति।[2]

---

[1] न्याय परिशुद्धि, पृ० ४८-५१।

[2] तत्रान्यप्रमाणानपेक्षम् अर्थ-परिच्छेदकम् ज्ञान प्रमाणम्, अर्थ-परिच्छेदेऽन्य-प्रमाण-सापेक्ष स्मृत्यादिव्यावृत्तिपरिहारेऽन्य प्रमाणानपेक्षम् इति।

—नय द्युमणि, मद्रास, गव० मानु० हस्त०।

यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश्व है (स्वमूर्तावपि स्वयमेय हेतु.) और यद्यपि निद्रा मे या मूर्च्छा मे चेतना की निरन्तरता है, तो भी चेतना इन अवस्थाओ मे विषय को प्रकट नही कर सकती। यह तभी शक्य है जब ज्ञान प्रमाण-व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है। जब हम ज्ञान की स्वप्रमाणता के विषय मे कहते हैं, तब हम ज्ञान ग्रहण किए गए अर्थ (अर्थ-परिच्छिन्न प्रमाणम्) से प्रमाणित होता है ऐसा कह सकते हैं। किन्तु जब हम उसके विषय मे प्रत्यक्ष की दृष्टि से या ज्ञान के विषय के प्रमाणित होने के दृष्टिकोण से कहते हैं, तो हमे ज्ञान को अर्थ-निर्धारक (अर्थ-परिच्छेदक) रूप मे निर्धारित करना पडता है, न कि यह वह उससे निश्चित होता है। ज्ञान, इस प्रकार, ज्ञाता की दृष्टि से स्वत प्रामाण्य है। स्वत प्रमाण्यता उस अर्थ को लक्ष्य करता है जो ग्रहण किए गए विषयो से निश्चित होता है। इसे ज्ञान-ग्रहण करने के सभी प्रसगो मे और जगत् मे हमारे व्यवहार के लिए, विषय-दृष्टि से भी देखना पडता है, तब ज्ञान एक साधन दीखता है जिसके द्वारा, हम विषय के धर्म को निश्चित करते हैं और तदनुरूप व्यवहार करते हैं। अर्थ धर्म के परिच्छेदक के रूप मे ज्ञान की जो परिभाषा (अर्थ परिच्छेदकारी ज्ञानम् प्रमाणम्) जो मेघनादारि ने दी है, वह वेंकटनाथ से कुछ भिन्न है, वे ज्ञान का यथार्थ विषय को अनुभव कराने वाला व्यवहार या उसके अनुगुण है, ऐसी व्याख्या करते हैं। (यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)। वेंकटनाथ के अनुसार, ज्ञान व्यवहार का साधन है, और व्यवहार यथार्थता के स्वरूप को निश्चित करता है। मेघनादारि की परिभाषा मे व्यवहार और यथार्थता के सारे प्रश्न एक तरफ भुला दिए जाते हैं या कम से कम उन्हे पीछे तो धकेल दिया जाता है। उन्होंने विषय को निश्चित करने मे, ज्ञान के व्यापार पर बल दिया है। यहाँ सम्भवत यह कल्पना है कि, भूल या भ्रम के दृष्टान्तो में भी यथार्थ वस्तु देखी जाती है और अन्य बातों की अवगणना के कारण, भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके यथार्थ ज्ञान मे भ्रम असम्भव हो जाता। हम जान चुके हैं कि रामानुज के यथार्थ ख्यातिवाद के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के अणु प्रत्येक वस्तु मे हैं, जो उपनिषद् के त्रिवृत् करण-सिद्धान्त के आधार पर है जिसका कि पञ्चीकरण मे विशदीकरण हुआ है। इसलिए, भ्रम मे (रजत-सीप) नेत्र इन्द्रिय, रजत के अणु के सम्पर्क मे होती है जो सीप के एक अंश को बनाता है। रजत का यह अंश, निस्सन्देह ही, सीप के बहुत ही बड़े अंश की तुलना में अत्यन्त ही छोटा है। किन्तु नेत्र के क्षणिक दोष के या ध्यान उत्पन्न करने वाली दूसरी परिस्थितियो के कारण, सीप के ये बहुत बड़े अंश नहीं देखे जाते। परिणाम यह होता है कि केवल रजत का ही ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे आँखें सम्पर्क में थी और जबकि सीप का अंश, [illegible] से पूर्णत छूट गया था। इसलिए मात्र एक रजत अंश का ग्रहण हुआ, [illegible] और इस प्रकार भ्रम उत्पन्न हुआ। किन्तु, [illegible], भूल नही है। भूल, बहुत बडे अंश-सीप का [illegible] होना। इस प्रकार, भ्रम के ज्ञान मे भी, निस्सन्देह, यथार्थ विषय ही देखा

जाता है। अन्यथा ख्यातिवाद के अनुसार, भ्रम मे, एक वस्तु मे उन गुणो या लक्षणो को समावेश किया जाता है जो उसमे नही हैं। अप्रकट रूप से, यथार्थ ख्यातिवाद मे, यह वाद समाविष्ट है क्योकि यहाँ भी, सामने उपस्थित पुनरावर्ती वस्तु मे दिए गए गुण (रजत), उसमे नही है, यद्यपि भ्रम का यह मूल कारण नही है, और यहाँ प्रत्यक्ष का सचमुच भ्रम नही है। मेघनादारि, इस प्रकार, मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान, इस अर्थ मे सत्य है कि उसके अनुरूप हमेशा विषय रहता है, या जैसाकि अनताचार्य ने और भी निश्चित रूप से वर्णन किया है—कि समस्त ज्ञान लक्षण (भ्रमयुक्त या अन्य) सर्व साधारण रूप से ज्ञान के विषय के रूप मे, यथार्थ पदार्थों को लक्ष्य करता है।[1] हमने देखा है कि वेंकटनाथ ने भ्रम के विषय मे तीन दृष्टिकोणो से तीन वाद माने हैं, अन्यथा ख्याति, अख्याति और यथार्थख्याति। मेघनादारि के ग्रथो मे इसका समर्थन नही मिलता, क्योकि वे यथार्थ ख्यातिवाद ही केवल भ्रम का वाद है इसे सिद्ध करने मे और अन्य प्रतिस्पर्धी वादो का खण्डन करने मे, कोई प्रयत्न बाकी नही छोडते हैं। मेघनादारि के अन्यथा ख्यातिवाद के खण्डन की प्रधान धारा इस मत मे रही है—जब ज्ञान को, जिस विषय का ज्ञान होता है, उसे ही लक्ष्य करना चाहिए, इसलिए यह शक्य नही है कि वह विषय, ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे कि जिसका अर्थ नितान्त भिन्न हो, क्योकि तब वह किसी भी विषय को लक्ष्य न करेगा और इस प्रकार तुच्छ होगा। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि विषय अन्य स्थान पर विद्यमान है, तो आक्षेप किया जा सकता है कि जबकि विषय की उपस्थिति ज्ञान के अर्थ द्वारा ही निश्चित की जाती है और जबकि ऐसे विषय का, भ्रम के दृष्टान्तो मे निषेध किया गया है, जहाँ ऐसा ज्ञान है, तो विश्वास कैसे हो कि विषय अन्य दृष्टान्तो मे उपस्थित रहेगा? ऐसे दृष्टान्तो मे भी, ज्ञान ही वस्तु की उपस्थिति को निश्चय करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर ज्ञान ही अनुरूप विषय का विश्वास कराने वाला है तो यह कहना ठीक नही है कि दो दृष्टान्तो मे जहाँ ऐसा ज्ञान होता है, एक दृष्टान्त मे विषय विद्यमान है और दूसरे मे नही है।[2]

---

[1] तत्तद् धर्म-प्रकारक-ज्ञानत्व-व्यापक तत्तद् धर्मवद्-विशेष्यकत्वमिति यथार्थं सर्वविज्ञान-मिति।

—अनताचार्य ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०)।

[2] न च तद्वज्ज्ञाने स्फुरतीति वाच्य। तदाकारस्य सत्यत्वे भ्रान्तित्वानुपपत्ति· असत्वे तु न तस्य ज्ञानाकारता। तुच्छस्य वस्त्वाकारतानुपपत्ते.। तदा कारत्वे च ख्यातिरेव तुच्छेति शुक्ति कादौ न रजतार्थप्रवृत्ति।

—मेघनादारि नयद्युमणि (हस्त०)।

मेघनादारि के आशय की मुख्य विचारधारा, अनन्ताचार्य के शब्दो मे उनके ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०) मे इस प्रकार सक्षेप मे कही जा सकती है, 'तथा च

मेघनादारि, अनिर्वचनीय ख्याति का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि अगर ऐसा माना जाता है कि भ्रम मे अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है जो सच्चे रजत के रूप मे मूल में ग्रहण किया जाता है, यह अन्यथा ख्यातिवाद सरीखा ही है। क्योकि यहाँ भी एक वस्तु दूसरे रूप से ग्रहण होती है। इसके अतिरिक्त, यह समझाना कठिन हो जाता है कि ऐसे अनिर्वचनीय रजत का ज्ञान, किस प्रकार उसे उठाने की सच्ची इच्छा उत्पन्न करेगा, जो सच्चे रजत के ज्ञान से ही शक्य है। इच्छा जो यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हो सकती है वह भ्रमयुक्त विचार से कभी भी उत्पन्न नही हो सकती। केवल एक भ्रम युक्त विचार और सच्चे चमकते पदार्थ—रजत मे समानता भी नही हो सकती।[1] तथाकथित अनिर्वचनीय रजत या तो सत् असत् स्वरूप, या सत् असत् से भिन्न माना जायगा, जो दोनो ही, व्याघातात्मक नियम और मध्याभाव-नियम के अनुसार असम्भव है। अगर तर्क देने के लिए यह मान भी लिया जाय, कि ऐसा तर्कातीत पदार्थ शक्य है, तो यह समझना कठिन हो जायगा कि रजत जैसी भावात्मक वस्तु के साथ उसकी समानता कैसे हो सकती है ? यह माना नही जा सकता कि यह सत् असत् रूप वस्तु, शून्य स्वरूप है, क्योकि तब भी, इस शून्य पदार्थ और सच्चे रजत के बीच समानता समझना असम्भव हो जाएगा।[2]

पुन ऐसा कहा जाता है कि भ्रमरूप रजत, इसलिए अनिर्वचनीय कहा जाता है कि वह आत्मा जैसी शुद्ध सत्ता जो अनुभव मे कभी बाधित नही होती, उससे भिन्न है (आत्मनो बाधायोगात्) और शशविषाण जैसी तुच्छ वस्तु से भी भिन्न है जो ज्ञान का विषय कभी नही हो सकती। किन्तु, इसके उत्तर मे, यह बराबर कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती, क्योकि अगर आत्मा ज्ञान का विषय है तो वह जगत् की तरह मिथ्या होगी, और अगर वह ऐसी नही है तो उसकी कोई सत्ता नही है। यह भी नही कहा जा सकता कि उसकी सत्ता, सत्ता के जातिवाचक प्रत्यय से सम्बन्ध होने के कारण है, जबकि आत्मा एक है, ऐसा माना गया है इसलिए जाति

रजत एव शुक्तिनिष्ठा विषयता चन्द्रेकत्वा सावयत् शुक्ति प्रवृत्तिन्याग यो यः प्रवृत्ति न तन्निष्ठ धर्म निरूपिता चन्द्रेकत्वा भावयान् इति नासान् व्याप्तो दृष्ट निष्ठ ताञ्गुता चन्द्रेकत्वा नावयत् दन्तावृत्ति पत्तयादिकम् [illegible] ।[1]

उसका सम्बन्ध नही हो सकता ।[१] पुनः परिवर्तनशीलता का अभाव, सत्ता का गुण नही माना जा सकता, क्योकि यदि ज्ञात विषय परिवर्तनशील होने के कारण असत् है तो ज्ञाता स्वय, परिवर्तनशील विषय और अपरिवर्तनशील सम्बन्धो के साथ सहचार के कारण, मिथ्या हो जायगा । पुन सत्ता, जैसा माना जाता है उतनी सर्वव्यापी नही है, क्योकि वह, जिन पदार्थों मे मानी गई है (घडा इत्यादि) उससे भिन्न है और अभाव से भी भिन्न है,[२] (अभाव को भाव पदार्थ मानने वाले मत मे) । अगर आत्मा स्वय प्रकाश माना जाता है, तब यह आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसी स्वय प्रकाशता प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए, और यह भी आग्रह किया जा सकता है कि जब तक आत्मा की सत्ता ऐसे सिद्ध नही की जाती, उसका स्वय प्रकाश लक्षण भी सिद्ध नही किया जा सकता ।[३]

पुन· अख्यातिवाद, दो तरह से समझाया जा सकता है जिन दोनो मे वह कुछ अर्थ मे यथार्थ ख्याति कहा जा सकता है । पहले अर्थ मे, भ्रम इस प्रकार उत्पन्न होना समझा गया है नेत्र इद्रिय हमारे सामने किसी चमकते हुए से प्रभावित होती है, और यह चमकीलापन, रजत जैसा होने से रजत का चमकीलापन याद दिलाता है और क्योंकि चमकीलापन रजत मे है या किसी और मे है, यह स्पष्ट करना शक्य नहीं होता, और जबकि, सामने उपस्थित पदार्थ ऐसे अस्पष्ट चमकीलेपन से सम्बन्धित होता है, इसलिए, चमकीलापन अपने मे से ही खडा किया हुआ विचार है ऐसा नही माना जा सकता, किन्तु उसका सच्चा स्थान, उसमे है जो हमारी आँखो के सामने है ऐसा मानना पडता है, इस प्रकार रजत का विचार सच्चे ज्ञान का परिणाम है । अगर सीप, रजत रूप मे ग्रहण किया जाता तो वह मिथ्या ज्ञान होता, किन्तु ऐसे ज्ञान मे,

[१] तस्य दृश्यत्वानभ्युपगमे शशविषाणादि-साम्यम् । आत्मन प्रमेयता च नेष्टेति, न ततस्तद्गता-सिद्धि । तदभ्युपगतौ च प्रपचवन्मिथ्यात्व आत्मव्यक्तेरेकत्वाभि-मानात् तद्-व्यतिरिक्त-पदार्थस्यासत्वाभिमानाच्च सत्ता-समवायित्वानुपपत्तेः ।
—मेघनादारि, नय द्युमणि ।

[२] अथ घटपटादि-भेदाना व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यम् · आत्मनोऽपि घटपटादि-सर्व-पदार्थेभ्यो व्यावर्तमानत्वान्मिथ्यात्वापत्ति · अभिन्नत्वस्य पारमार्थ्येऽभिन्नस्यापार-मार्थ्यम् न च सत्तायैव समस्त पदार्थेषु अनुवर्तमान परमार्थ्यम् । घटादयोऽपि तद्भेदा व्यावर्तन्ते प्रभावस्य पदार्थान्तर-भावेऽपि तत्र सत्तानभ्युपगमात् सर्व-पदार्थानुगत्य भावात् ।
—वही ।

[३] न च तस्य स्वय प्रकाशत्वात् प्रमाणापेक्षेऽस्ति स्वय प्रकाशत्वस्याऽपि प्रमाणा-धीनत्वात् प्रमाणान्तर-सिद्धत्वा स्वय प्रकाशत्वस्य साध्यत्वाच्च । नहि धर्म्यप्रसिद्धौ धर्म साध्यता ।
—वही ।

सीप नहीं, किन्तु जो सामने है 'यह' वह रजत रूप से जाना जाता है। सामान्य उक्ति यह है कि विचार, जो विशेष व्यवहार से अनुगुण है, उसे, ऐसे व्यवहार मे अनुभूत पदार्थ का सच्चा प्रतिनिधि मानना चाहिए (यदर्थ व्यवहारानुगुणा या धी सा तदर्था)। यह उक्ति यहां इस तरह लागू होती है कि, सामने जो 'यह' है वह व्यवहार मे ऐसा अनुभव किया जा सकता है, और रजत लक्षण भी सच्चे रजत को ठीक तरह लक्ष्य करते हैं। इसलिए 'यह रजत' विचार को, दो विचारो का समाहार (मिश्रण), 'यह' और 'रजत' का मिश्रण मानना चाहिए। इस प्रकार, उपरोक्त अर्थ मे, ज्ञान, अख्यातिवाद के अनुसार सच्चा ज्ञान है। उपरोक्त स्पष्टीकरण के विषय मे, यह आक्षेप किया जाता है कि जिस प्रकार गुण और धर्म के दोनो विचार, एक ही प्रत्यय मे आ सकते हैं, तो एक ही भ्रम-युक्त ज्ञान—'यह' 'रजत' मे दो भिन्न विचारो की न्याय-युक्त एकता ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही आ सकती। ऐसा एकीकरण (मिश्रण), यहां दो विचारो के एक ही क्षण मे उत्पन्न होने से और दोनो के बीच अवकाश नही होने के कारण, शक्य है। यह अन्यथा ख्यातिवाद से भिन्न है, जिसमे एक पदार्थ दूसरा दीखता माना जाता है। इस मत के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि, दोष, एक वस्तु को दूसरी वस्तु मे परिणत नही कर सकता, दूसरा यह है कि, अगर भ्रम, एक वस्तु का दूसरा होकर दीखना माना जाता है तो, ऐसे दृष्टान्तो मे, जिन्हे सच्चा ज्ञान माना जाता है, उनमे भी ऐसे भय को स्थान है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान शंकास्पद हो जायगा और यह हमे संदेहवाद के घाट उतारेगा। अगर, इसलिए, ऐसा सूचन किया जाता है कि भ्रम, सीप की उपस्थिति और रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के बीच का भेद का अग्रहण है, तो वह भी असम्भव होगा। क्योंकि अगर भेद का अर्थ दो भिन्न वस्तु है (भेदो वस्तुस्वरूपमेव), तो भेद का अग्रहण (जो इस मत मे भ्रम का मूल कारण माना है) प्रत्यक्ष और स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के तादात्म्य का ज्ञान होगा और वह विशेषण-युक्त प्रत्यय को नही समझा पायगा, जहां, एक विचार (रजत) दूसरे विचार ('यह' आंखों के सामने) को विशिष्ट करता दीखता है। तदनुसार, अगर दो स्वतन्त्र विचार, जो द्रव्य गुण रूप से सम्बन्धित नही है, एक ही सत्ता के रूप मे मिथ्या ग्रहण किए जाते है, तो कोई भी विचार किसी से इस प्रकार [illegible]

[illegible]

के देशिक गुणो से सबधित होना आवश्यक है, चाहे फिर मूल देशिक गुण वदल जाय या परिणत हो जाय, तो ऐसे देशिक प्रतिबिम्ब को, द्रष्टा के सामने है ऐसा प्रतीत होने का कोई कारण नही होना चाहिए। यह भी कहना आवश्यक है, स्मृति-प्रतिबिम्ब और प्रत्यक्ष के बीच विशिष्ट भेद को अवश्य ही देखा जायगा, क्योंकि अगर ऐसे विशिष्ट भेद नही देखे जाएँ, तो स्मृति-प्रतिबिम्ब, रजत-प्रतिबिम्ब से भिन्न जानी नही जा सकेगी। यह नही कहा जा सकता कि यद्यपि प्रत्यक्ष, स्मृति प्रतिबिम्ब से भिन्न किया जा सकता है किन्तु स्मृति-प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष से भिन्न नही किया जा सकता, क्योंकि विवेक लक्षण दोनो मे एक ही है, जो सफेद चमकीलेपन से अन्य और कुछ नही है। अगर ऐसा आग्रह किया जाता है कि देशिक तथा अन्य विशिष्ट गुण, स्मृति-प्रतिबिम्ब मे आलेखित नही किए जाते, वह केवल प्रतिबिम्ब रूप से दीखती है, तो आक्षेप किया जा सकना है कि प्रत्येक स्मृति-प्रतिबिम्ब वर्तमान प्रत्यक्ष से सकीर्ण किया जा सकता है और एक पत्थर भी रजत दीख सकता है।

जबकि अनिर्वचनीय ख्याति और अख्याति दोनो ही, कुछ अर्थ मे, यथार्थ ख्याति हैं, इसलिए मेघनादारि ने इन दोनो भ्रम के वादो का खण्डन किया और यह बताने का प्रयास किया कि इन मतो मे यथार्थ ख्याति प्रतिपादित नही रहती। अब वे यह बताने का प्रयास करते हैं कि यथार्थ ख्याति के अन्य सभी सम्भावित अर्थ अप्रमाण है। यथार्थ ख्याति की मूल मान्यता यह है कि सभी ज्ञान, सच्चे ज्ञान की तरह, यथार्थ वस्तु के अनुरूप होने चाहिए।[1] इस प्रकार, दूसरे अर्थ-बोधनो मे, यथार्थ ख्याति या आनुरूप्य सिद्धान्त का यह अर्थ हो सकता है कि ज्ञान, यथार्थ वस्तु से, या दृष्ट प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है या अर्थ हो सकता है कि वह अबाधित अनुभव है, पहला विकल्प प्रतिपादित नही किया जा सकता क्योंकि रजत सीप के भ्रम मे भी रजत का विचार, यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हुआ है। दूसरा मत भी अयोग्य है, क्योंकि दूसरे मतानुसार रजत के भ्रम युक्त ज्ञान के अनुरूप, वस्तु, वहाँ सीप मे सचमुच उपस्थित नही है और जहा तक, भूतकाल मे अनुभूत रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के व्यापार का प्रश्न है (पूर्वानुभूत-रजत-संस्कार द्वारा) उसका कारणत्व सच्चे और भ्रम-युक्त ज्ञान दोनों मे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरा विकल्प, भी अमान्य है, क्योंकि बाधना का सम्बन्ध, ज्ञान से या विभावन से है वस्तु से नही है। अगर यह कहा जाता है कि ज्ञान, भ्रम के प्रत्यक्ष को लक्ष्य करता है, और इसलिए भ्रम-युक्त वस्तु ही जो बाहर (सामने) विद्यमान है वही ज्ञान का विषय है, तो स्पष्ट आक्षेप यह होगा कि ज्ञान, फिर, द्रष्टा के सामने अभ्रमयुक्त किसी वस्तु को लक्ष्य करता है और यह

---

[1] विप्रतिपन्न प्रत्ययो यथार्थः प्रत्ययत्वात्,
सर्वप्रत्ययधर्मिकत्वादिति। —नय द्युमणि, (हस्त०) पृ० १४०।

खण्डन नही किया जा सकता। अगर ज्ञान का विषय अभ्रमयुक्त कुछ वस्तु है, तो यह कहना व्यर्थ होगा कि भ्रमयुक्त प्रत्यक्ष आकार मात्र ही ज्ञान का विषय हो सकता है और अन्य नही हो सकता।

यह भी नही कह सकते हैं कि भ्रम के ज्ञान का कोई विषय नही है (निर्विषय-स्याति) और उसे ज्ञान इस कारण कहते हैं कि, यद्यपि वह सच्चे ज्ञान की तरह प्रवृत्ति उत्पन्न तो नही कर सकता, किन्तु प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है ऐसा भास उत्पन्न करता है, इसी मे सच्चे ज्ञान से इसका साम्य है। यह इसी प्रकार है जैसे शरद् ऋतु के वादल वर्षा नही ला सकते किन्तु वादल अवश्य कहलाते हैं। भ्रमयुक्त ज्ञान का विषय, न केवल भ्रम ही है किन्तु 'यह' रूपी अभ्रम विषय है जिसे वह दृश्य रूप एव विशेषण रूप से लक्ष्य करता है। सत्य तो वास्तव मे यह है, ज्ञान को दृश्य रूप होने के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वस्तु के सभी गुण प्रत्यक्ष ही दीखें, अगर कोई भी लक्षण प्रकट हैं, तो वे ही केवल, ज्ञान के लिए, उस वस्तु की दृश्यता स्थापित करने को पर्याप्त हैं। वस्तुस्थिति इसलिए यह है कि सारे ज्ञान दृश्य जगत् के, विशेष पदार्थ के अनुरूप है और उन्हे लक्ष्य करते है, और तत्व-मीमासायुक्त विश्वमीमासावाद की पूर्व मान्यता से पृथक् किसी अन्य वाद से समझाया जा सकता है, जो होमोयमेरीया (HOMOIOMERIAE) वाद के निकट है।

अनन्ताचार्य, अपने 'ज्ञान-यथार्थवाद' मे, मेघनादारि के दिए तर्कों की न्यूनाधिक रूप मे पुनरावृत्ति करते है। वे कहते हैं कि ज्ञान कभी भी दृश्य विषय के अनुरूप सम्बन्ध पर आधारित हुए बिना, शब्द नहीं हैं। इसलिए ज्ञान के अथ को दृश्य वस्तु के अनुरूप होना चाहिए जिसे वह लक्ष्य करता है। इस प्रकार, जबकि रजत का ज्ञान होता है (रजत सीप भ्रम मे) तो उसे उसके अनुरूप दृश्य अधिष्ठान को लक्ष्य करना ही चाहिए।[1] भ्रम स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के अविवेक युक्त ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा मीमासकों का ख्याल भी गलत है, क्योंकि ऐसी दशा मे हमे रजत याद आता है ऐसा अनुभव होना चाहिए और न कि उसे, हमारे सामने दृश्य वस्तु के रूप मे देखना।[2] मेघनादारि और अनन्ताचार्य यह सिद्ध करने का बड़ा परिश्रम करते हैं

---

[1] तथा च रजत तत्र शुक्ति-निष्ठ-विषयतावच्छेदकत्वाभाववत् [illegible]प्रवृत्तित्वात् [illegible] यत्प्रवृत्ति न [illegible]-धर्म-निरूपितावच्छेदकत्वाभाववानिति।

—ज्ञान यथार्थवाद, [illegible]।

[2] [illegible] इदं-पदार्थ-[illegible] रजतम् स्मरामीति [illegible], न तु रजतं पश्यामीति, [illegible]-विषयता [illegible] आगतात्। —वही।

कि उनकी परिभाषा, सभी प्रकार के भ्रम के दृष्टान्तो और स्वप्न के भी उपयुक्त है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है।[1]

ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त

प्रमाण, वस्तु का, यथार्थ ज्ञान है, (तथा भूतार्थ-ज्ञान हि प्रमाणमुच्यते), और अप्रमाण या झूठा ज्ञान, वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है (अतथा-भूतार्थ-ज्ञान हि अप्रमाणम्)। ऐसी प्रमाणता मेघनादारि कहते हैं, ज्ञान द्वारा स्वय प्रकट होती है (तथात्वावधारणात्मक प्रामाण्यमात्मनैव निश्चीयते)। इस परिभाषा से यह आलोचना नही सिद्ध होती कि ज्ञान निष्क्रिय है अत उसी समय सक्रिय नही माना जा सकता और इसलिए उसका प्रमाण निश्चित नही है (न च कर्म-कर्तृता-विरोध), क्योकि जब वह पदार्थ का स्वरूपत विश्वस्तः प्रतिनिधि है, इसलिए अपने स्वरूप को जैसा है वैसा प्रकट करना ही अपनी प्रमाणता को स्थापित करना है। अगर ज्ञान मे अपनी प्रमाणता प्रकट करने की शक्ति नही है, तो प्रमाणता प्रकट करने का कोई भी रास्ता नही रहेगा क्योकि कोई अन्य अतर्वर्ती व्यापार द्वारा, या किसी अन्य साधन के द्वारा, उसकी प्रमाणता की स्वीकृति हमेशा वही प्रश्न खडा करेगा कि उन व्यापारो या साधनताओ का साक्षित्व (प्रमाणता) किस प्रकार स्वीकार किया जाय। ऐसी मान्यता के अनुसार जबकि ज्ञान स्वत प्रमाण नही है, प्रत्येक ऐसे प्रमाण को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण आवश्यक होगा, और इसके लिए और कोई दूसरा, इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है।

मेघनादारि, अन्य मतो का खण्डन करते हुए, बताते हैं कि अगर प्रमाणता, ज्ञान के सामूहिक कारणो मे मानी जाती है (जिससे, आत्मा, इन्द्रियाँ और पदार्थ का समावेश है) तो पदार्थ को भी प्रमाण मानना पडेगा, और फिर कोई प्रमेय नहीं रहेगा। अगर, स्वीकृति चेतना स्वरूप मान ली जाती है तो स्मृति-ज्ञान को भी प्रमाण मानना पडेगा क्योकि वह चेतना स्वरूप है। आगे, अगर प्रमाण की स्वीकृति एक प्रकार की शक्ति है, तो ऐसी शक्ति अनुभवगम्य न होने के कारण उसे किसी अन्य प्रमाण द्वारा प्रकट करना पडेगा। यदि, पुनः प्रमाणता, ज्ञान के कारणों द्वारा उत्पन्न होनी मानी जाती है, तो स्वत प्रमाणता का सिद्धान्त त्याग देना पडेगा। निर्दोष [illegible] भी, प्रमाणता की व्याख्या नही मानी जा सकती, क्योकि [illegible] स्मृति को भी स्वत प्रमाण मानना पडेगा। इसे [illegible] ज्ञान [illegible] [illegible] नहीं की जा सकती, क्योकि ज्ञान, अपनी प्रमाणता जानने के लिए

पीछे नही देख सकता, इसलिए उसे किसी पर आश्रित होना पडेगा, तो इसका अर्थ यह रहेगा हमने परतः प्रमाणता स्वीकार कर ली है। पुन उन दृष्टान्तो मे, जहाँ भ्रम का कारण ज्ञात है, ज्ञान, मिथ्या होते हुए भी (अप्रतिहत) बिना प्रतिरोध के हमारे सामने प्रकट होता है जैसे, सूर्य की गति। प्रत्येक ज्ञान अपनी प्रमाणता से सम्बन्धित है, यह मान्यता, इन दृष्टान्तो मे उपयुक्त नही होती। यदि पुन, ऐसा माना जाता है कि जब कभी पिछला ज्ञान पहले ज्ञान को अस्वीकार करता है, तब हमारे पास पहला ज्ञान, पिछले क्षण के ज्ञान से किस प्रकार खडित होता है उसका एक स्पष्ट दृष्टान्त होता है। ऐसा भी आग्रह किया जा सकता है कि जब, किसी वस्तु का जातिगत ज्ञान, उसके सामान्य ज्ञान को हटाता है तब एक ज्ञान दूसरे का स्थानापन्न है ऐसा दृष्टान्त हमारे पास होता है यद्यपि यहाँ पहले ज्ञान की आलोचना नही होती।

भाट्ट मतानुसार, जहाँ, विषय, उसके विशिष्ट ज्ञान लक्षण की अवस्था को पहुँचता है तब उसका ज्ञान, एक आन्तरिक व्यापार के रूप मे अनुमित किया जाता है, तो यहाँ प्रमाणता और अप्रमाणता दोनो, विषय पर ही आश्रित होनी चाहिए। किन्तु, यह आग्रह किया जाता है कि प्रमाणता, साधनो एव ज्ञान की उपाधियो की दोष रहितता मे पाई जाती है तो वह परत प्रमाण बन जाएगा। प्रभाकर, के मत मे, हमे एक अधिक सुन्दर दृष्टान्त मिलता है जिसमे ज्ञान ही, ज्ञाता, विषय और ज्ञान को एक साथ प्रकट करता हुआ माना है, क्योंकि यहाँ ज्ञान को किसी बाह्य वस्तु पर आश्रित नही रहना पडता। इस दृष्टान्त के अनुसार स्मृति स्वत अप्रमाण हो जाती है जो पूर्व अनुभव पर आश्रित है। इस पर न्याय का आक्षेप यह है कि जबकि स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान है, और जबकि सब ज्ञान स्वय प्रकाश हैं, तो प्रभाकर मत-वादियो को न्याय-सगति से (अविरुद्ध ही) स्मृति की स्वत प्रमाणता माननी चाहिए।

प्रवृत्त होता है, हमारा स्वाभाविक तौर से यही मानना होता है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के आधार पर अपने ज्ञान की प्रमाणता का अनुभव है, क्योकि उसके बिना यत्न या प्रयास नही हो सकता। ऐसे दृष्टान्तो मे प्रमाणता के ज्ञान बिना ही ज्ञान प्रमाण है, ऐसा विवाद करना नितान्त अर्थहीन है। सत्य तो यह है कि प्रमाण और उसकी प्रमाणता एक ही वस्तु है। प्रमाणता, उपस्थित ज्ञान के क्षेत्र के बाहर अन्य किसी मे है, ऐसा सोचना गलत है। जब हम आग देखते हैं तो आग के विचार के साथ ही उसके दाहक गुण को भी ग्रहण करते हैं, किसी अदृष्ट शक्ति या आग की दाहक शक्ति को ग्रहण करने की राह नही देखते हैं। दाहक वस्तु के रूप मे अग्नि के ज्ञान मे ही, उसका दाहक शक्ति के साथ सम्बन्ध भी समाविष्ट है। दाहक शक्ति अकेली का ज्ञान हमे किसी कर्म मे प्रवृत्त नही करेगा, क्योकि हम पदार्थ के ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, उनकी शक्तियो से नही होते। इसलिए, पदार्थ को उसकी शक्ति से जुदा करना और शक्ति को हमारे प्रयास का कारण कहना गलत है। इसलिए, प्रमाण के ज्ञान मे, उसकी प्रमाणता समाविष्ट होती है। इस प्रकार प्रमाणता को विषय-ज्ञान से भिन्न नही किया जा सकता।[1] आगे, प्रमाणता की अव्याहतता के रूप मे परिभाषा

[1] वेंकटनाथ के मामा, रामानुजाचार्य एक आक्षेप की प्रतीक्षा करते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वस्तु को ही प्रकट करता है। ऐसी वस्तु का प्रकट होना ज्ञान सम्बन्ध को भी सकलित नही करता, जो आवश्यक रूप से अति भिन्न प्रकार का हो, क्योकि ज्ञान का वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। वस्तु मात्र का प्राकट्य बिना विशिष्ट ज्ञान-सम्बन्ध के इसलिए, विभावना का समावेश नहीं करता, यद्यपि, इस वस्तु की सत्यता, दूसरे क्षण मे निश्चित की जा सकती है जब यह 'मैं इसे जानता हूँ' इस विभावना रूप मे घटाया जाता है, वस्तु के प्रकट होने के क्षण मे, उसकी प्रमाणता निर्धारित करने की कोई सम्भावना नही है। इसके उत्तर मे रामानुजाचार्य कहते हैं कि वस्तु का प्रकट होना, आवश्यक रूप से ज्ञान-सम्बन्ध को सामान्य रूप से समावेश करता है, और इसलिए विशेष क्षण मे प्राकट्य के प्रकार से वस्तु को ग्रहण करने के साथ-साथ ही, किसी विशेष क्षण मे विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध का प्रकार, भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार जबकि वस्तु का प्रकट होना, विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध को निर्दिष्ट करता है, तो सारे ज्ञान सम्बन्ध रूप से विभावना जैसे माने जा सकते हैं और ज्ञान की स्वतः प्रमाणता पर कोई आक्षेप नही किया जा सकता।

नही दी जा सकती, क्योकि अगर परीक्षण प्रत्येक ज्ञान पर किया जाए तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यदि, किसी अनुभव की प्रमाणता के ज्ञान को, साधन और अनुभव की उपाधियो की दोष-रहितता या योग्यता पर आश्रित रहना पडता है तो, जबकि ऐसे ज्ञान की प्रमाणता को साधन एव उपाधि की दोष-रहितता के दूसरे ज्ञान पर आश्रित रहना पडेगा और उसे दूसरे पर, तो इस तरह स्पष्ट ही अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है। जबकि ज्ञान साधारणत विषय के अनुगुण है तो साधारणतया, ऐसे ज्ञान की उपाधि और कारणो की सदोषता से मूल (भ्रम) उत्पन्न होने का कोई भय नही रहना चाहिए, यह तो कोई विशेष उदाहरण में ही ऐसी शका उत्पन्न होती है, और तब ज्ञान के साधन और उपाधि की सदोषता या योग्यता के विषय मे परीक्षण करना पडता है। अगर प्रत्येक ज्ञान की प्रमाणता का परीक्षण होता है तो हम सदेहवाद के ग्रास हो जाएँगे। इस प्रकार, प्रमाणता यह अर्थ रखती है कि वस्तु का किसी प्रकार से प्रकट होना, किसी अन्य प्रमाण से दृढीकरण की अपेक्षा नही रखता (प्रमाणान्तरानपेक्षयार्थविच्छिन्नत्वम्), और प्रमाणता मे ऐसा विश्वास प्रमाण के साथ ही प्रकट होता है। स्मृति, तो पूर्वानुभव पर आधारित है, और इसलिए उसकी प्रमाणता मे विश्वास, पूर्व ज्ञान की प्रमाणता पर आश्रित है, इसलिए इसे स्वतः प्रमाण नही माना जा सकता।

वेंकटनाथ के मामा और उनके आचार्य रामानुजाचार्य, इस आक्षेप का पूर्ण ग्रहण करते हैं कि अगर ज्ञान की स्वत. प्रमाणता स्वीकार की जाती है, तो किसी भी अनुभव के बारे मे शका उपस्थित नही हो सकती।[1] रामानुजाचार्य का उत्तर है कि सारे ज्ञान स्वत प्रमाणता के सामान्य विश्वास से सम्बन्धित हैं, किन्तु इससे कोई विशेष दशा मे सशय उत्पन्न होने से नही रुकता। इस मत के अनुसार स्वत प्रमाणता का अर्थ यह है कि सभी ज्ञान स्वत ही अपनी प्रमाणता के विषय में सामान्य विश्वास उत्पन्न करते हैं यद्यपि ये विशेष दशा मे भ्रम का निष्कासन नहीं करते।[2]

वेंकटनाथ के अनुसार रामानुज संप्रदाय के सत्तामूलक पदार्थ

(क) द्रव्य

वेंकटनाथ ने, अपने 'न्यायसिद्धाञ्जन' और 'तत्व-मुक्त कलाप' मे, रामानुज दर्शन मे स्वीकृत या माने गए भिन्न पदार्थों का सरल वर्णन देने का प्रयास किया है, जिन्हे

की जा सकती, क्योंकि, उसे संघात का विचार उत्पन्न करने के लिए कालिक एकता को भी मान लेना पडेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि देश और काल दोनो एक ही हैं, क्योंकि ऐसा मत जो क्षणिकवाद के अनुसार सत्य है, क्षणिकवाद के खण्डन द्वारा मिथ्या है ऐसा आगे बताया जायगा। देश भी आकाश के स्वरूप जैसा नही हो सकता, जो बौद्ध मतानुसार अनवरोध स्वरूप है और भावात्मक प्रत्यय नही है। देश की इन्द्रियगुणो के साथ भौतिक एकता भी नही हो सकती, क्योंकि भिन्न इन्द्रिय-गुण, भिन्न क्षणो के लक्षण माने गए हैं।[1] अगर यह अर्थ है कि भिन्न इन्द्रियो के पीछे केवल एक ही पदार्थ है तो वह द्रव्य को मानना होता है।[2] अगर, इन्द्रिय, गुण एक ही भौतिक पदार्थ में अस्तित्व रखने के कारण संघात रूप माने जाते हैं, तो भौतिक पदार्थ को, उसके मूल तत्व का अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ मे हैं, इस कारण संघात है ऐसा वर्णन करना पडेगा, और वह पुनः किसी अन्य पदार्थ मे है और इस प्रकार अनवस्था दशा प्राप्त होती है। यह भी आग्रह नही किया जा सकता कि स्पर्श-संवेदना रूप-संवेदना से अनुमित की जाती है, क्योंकि ऐसा अनुमान, रूप और स्पर्श गुणो की व्याप्ति के ज्ञान को, उसकी पूर्व उपाधि के रूप मे परिग्रहण करेगा, जोकि जबतक दोनो गुण एक ही पदार्थ मे हैं ऐसा ज्ञान नहीं होता अशक्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्पर्श और रूप गुण दोनो आपस मे सम्बन्धित हैं, यह इस भावना को उदय करता है कि जिसे हम देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं, क्योंकि ये दो संवेदनाएँ स्वरूप से भिन्न जानी गई हैं और भिन्न इन्द्रियो से उत्पन्न हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श करते हैं, ऐसा हमारा अतः प्रत्यक्ष, वासना के व्यापार से है, इसलिए मिथ्या है, क्योंकि इसी सादृश्यता को लेकर और योगाचार के मत का अनुसरण करते हुए, हम बाह्य वस्तु का भी विषेध कर सकते हैं। अगर ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रिय-गुण अनुभव मे बाधित नही होते, और इस प्रकार विज्ञानवाद-मत मिथ्या है, तो यह अच्छी तरह बताया जा सकता है कि हमारा यह विचार कि हम पदार्थ का अनुभव करते हैं जिनमे स्पर्श और रूप गुण हैं ऐसा कहते हैं, यह भी अनुभव मे बाधित नहीं होता। अगर ऐसा कहा जाता है कि यह अनुभव तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, तो समान प्रबलता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि बाह्य इन्द्रिय-गुणों के अस्तित्व को भी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए, हमारा सामान्य अनुभव कि पदार्थ एक द्रव्य है जिसमे भिन्न इन्द्रिय-गुण हैं इसे अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। वायु को छोडकर अन्य चार तत्त्व स्वयं भिन्न लक्षण वाले हैं, और इसलिए वे रूप और स्पर्श गुण-युक्त

---

[1] न चैकत्वमपि स्पर्शरूपादीनां भिन्नस्वलक्षणोपादानत्वानुमानात् ।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६ ।

[2] एकोपादानत्वे तु तदेव द्रव्यम् ।

—वही ।

वेंकटनाथ का उत्तर है कि सारे धर्म धर्मरहित नही है। कुछ दृष्टान्तो मे धर्म स्वय विशेषित होता दीखता है, जोकि अनुभव से प्रमाणित है। उन दृष्टान्तो मे जहाँ, धर्म निर्देश द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, जैसेकि, 'यह धर्म ऐसा ऐसा है' (इत्थ भाव), वहाँ वह अपने ज्ञान के लिए अन्य धर्म पर आश्रित नही रहता। ऐसे गुणों के दृष्टान्त अमूर्त गुण एव सामान्य के द्वारा दिए जा सकते हैं और उनसे विपरीत धर्मो के दृष्टान्त, विशेषण रूप गुणो द्वारा दिए जा सकते है जैसाकि 'सफेद घोडा' सफेद घोडा इस वाक्य मे सफेद घाडे के सफेदपन का आगे और विशिष्ट निर्देश हो सकता है, जबकि शब्द 'सफेदपन' स्वय सिद्ध है और उसके बारे मे विशेष निर्देश की जिज्ञासा अस्वीकार्य होती है। न्याय-दृष्टि से इन दोनो ही दृष्टान्तो मे और अधिक विशिष्ट निर्देश की माँग की जा सकती है और अनवस्था दोष का भय भी हो सकता है, परन्तु अनुभव मे ऐसा नही होता।[1] इसके अतिरिक्त हम, अभिज्ञा की अभिज्ञा होना आवश्यक है ऐसा समझने पर अनवस्था स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु यह केवल तर्क की पराकाष्ठा है, क्योकि अभिज्ञा, अपने को प्रकट करने मे, अपने बारे में ज्ञान होने के लिए सभी कुछ को प्रकट करती है और इस अनवस्था-क्रम को बढाने से कोई लाभ नही होता। इस प्रकार एक धर्म मे और धर्म होना माना जा सकता है, किन्तु इनके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त होता है वह गुण द्वारा ही प्रकट होता है ऐसा माना जा सकता है।[2] पुन यह प्रतिपादन कि यदि धर्म स्वय निर्धर्मी हैं तो वे अवाच्य है तो यह बौद्ध मतवादियो को स्वय को महान् सकट मे ला देगा, जब वे पदार्थ को स्वलक्षण्य निर्धर्मी है और यदि जिसमे गुण नही है उसका वर्णन नही हो सकता, तो उसे स्वलक्षण कह कर विशेष निर्देश देना भी असम्भव है।[3]

ऐसा आग्रह किया जाय कि धर्म उसमे रहते हैं जो निर्धर्मी है या जिसमे धर्म है। पहले विकल्प का अर्थ यह होगा कि वस्तु अभाव रूप से अस्तित्व रखती है जो असम्भव है, क्योकि सब कुछ सर्वत्र अस्तित्व रखेगा और तुच्छ वस्तु भी जो कही भी

[1] उदाहृतेषु नियता-नियत-निर्धर्मक-शब्देषु जाति-गुणादेः प्रधानतया निर्देशेऽपि सन्ति केचित् यथा प्रमाणम् सत्यमाया स्वयाऽपि हेतु साम्यादिधर्माणा पक्षधर्मत्वादि-धर्मा. [illegible] पारम्पर्या च क्वचिद् उपगमनीया।

—तत्त्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १६।

[2] [illegible] च तदेतावत्वेन [illegible] -निर्वाहित्वम्। —वही।

[3] [illegible] — निर्धर्मत्वेऽपि क्वचिद् [illegible]। वही।

अस्तित्व रखती नही मानी गई है, वह भी अस्तित्व रखती मानी जाएगी। दूसरे विकल्प मे, एक धर्म दूसरे धर्म मे रहेगा, जो आत्माश्रय होने से, निरर्थक प्रत्यय है। वेंकटनाथ का इस पर यह उत्तर है कि वे ऐसा नहीं मानते है कि धर्म अभाव (निषेध) के प्रतियोगी मे रहता है या उसमे है जिसमे वह अब भी है, किन्तु यह मानते हैं कि एक विशेषित पदार्थ मे धर्म, विशिष्ठ पदार्थ होने के नाते नही है किन्तु उससे पृथक् स्वीकार करने के कारण है।[1] यह आग्रह नही किया जा सकता कि यह वास्तव मे, अभाव प्रतियोगी मे धर्म का अस्तित्व मानने का पुराने आक्षेप को अनुमित करेगा। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विशिष्ट पदार्थ का विशेष रूप, उसके किसी अवयवो मे नही रहता, और किसी भी अवयवो के गुण, अवयवी मे न भी रहें।[2] अगर प्रतितर्कमूलक पद्धति से, विशिष्ट पदार्थ मे धर्म के अस्तित्व के प्रकार की आलोचना की जाती है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यय, बिना पर्याप्त आधार के है या स्वबाधित है या ऐसा प्रत्यय स्वय अस्वीकार्य है। ये सब मत निरर्थक हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी की प्रचड आलोचना भी, अपने तर्क-साधनो में यही विशिष्ट पदार्थ के प्रत्यय का उपयोग करेगी। इसलिए, यह मानना पडता है कि धर्म, विशिष्ट धर्मों मे अनुसक्त है, और यह अनुसक्ति अनवस्था दोष उत्पन्न नही करती।

(ख) प्रकृति की सत्ता के स्थापक सांख्य तर्कों की आलोचना

वेंकटनाथ, भौतिक मत के रूप मे प्रकृति के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं, किन्तु वे यह सोचते हैं कि ऐसा सिद्धान्त केवल शास्त्र-प्रमाण से ही स्वीकारा जा सकता है, अनुमान द्वारा नहीं। इसलिए, वे साख्य के अनुमान की निम्न प्रकार से आलोचना करते हैं, न तो प्रकृति, और न उसके विकार, महत्, अहकार, तन्मात्र इत्यादि प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं, न वे अनुमान द्वारा ही जाने जा सकते हैं। साख्यकार मानते हैं कि कार्य मे वही गुण हैं जो कारण मे होते हैं। कार्य रूप यह जगत्, सुख-दुःख मोहात्मक है, इसलिए, उसका कारण भी सुख-दुःख और मोहात्मक स्वरूप होना चाहिए। इस पर स्वाभाविक प्रश्न, कारण गुणो का कार्य के साथ सम्बन्ध मे उठता है। ये एक नही हो सकते,—कपडे का सफेदपन ततु से जिसका कि वह बना है, अभिन्न नही है, पदार्थ रूप से कार्य, कारण गुणो से एक नहीं है, क्योंकि सफेद और कपडा दोनो एक नहीं हैं। आगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कार्य और कारण का तादात्म्य केवल यह अर्थ रखता है कि कार्य कारण के अधीन है, जैसे जब कोई

कहता है कि कपडा-कार्य-कारण मे समवाय सम्वन्ध से रहता है, अन्य किसी रूप से नही (अदृष्टेरेव ततु-समवेतत्वात् पटस्य ततृगुणत्वोक्ति), क्योकि स्पष्ट उत्तर यह है कि साख्य स्वय समवाय सम्वन्ध को स्वीकार नही करता, अवयव और अवयवी या पूर्ण और अश मे नितान्त भेद नही मानता। अगर ऐसा कहा जाता है कि अत मे कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण मे रहता है, तो यह सूचन किया जा सकता है कि ऐसी स्वीकृति मात्र से कुछ लाभ नही होता, क्योकि इससे, कारण प्रकृति मे कार्य पदार्थ जैसे गुण क्यो होने चाहिए, यह नही समझाया जा सकेगा (न कारणावस्थस्य सुख-दु.खाद्यात्मकत्व-सिद्धि)। अगर यह माना जाता जाता है कि कार्य मे, कारण जैसे गुण होते हैं तव भी यह इस सामान्य मान्यता के विरुद्ध है कि कार्य गुण कारण गुण से जनित हैं, और इसके अतिरिक्त, इस मान्यता का यह अर्थ होगा कि कार्य मे कारण गुणो के सिवाय और कोई गुण नही होने चाहिए। यह भी नही कहा जा सकता कि कार्य कारण का सजातीय है (सजातीय गुणवत्त्वम्), क्योकि साख्यकार महत् का, कारण रूप प्रकृति से अस्तित्व भिन्न मानते हैं, एक भिन्न पदार्थ के रूप में मानते हैं (विलक्षण-महत्वाद्यधिकारणत्वाद्)। अगर ऐसा माना जाता है कि कार्य मे केवल कारण के सदृश्य ही गुण होने चाहिए, तो इस स्वीकृति से ही यह माना जाएगा कि कार्य मे वैसे ही गुण हैं जो कारण मे है, तो कार्य कारण मे भेद ही नही रहेगा। यदि पुन, यह माना जाता है कि कुछ ही विशेष गुण, जो कारण के अयोग्य नही है वे कार्य मे स्थानान्तरित होते माने जा सकते हैं, और गुणो का, कारण से कार्य मे सचारण का सम्वन्ध, कारण के मुख्य गुण के विशिष्ट निरीक्षण से मर्यादित किया जा सकता है, तो ऐसे दृष्टान्त जिसमे जड गोवर से जीवित मक्खी उत्पन्न होती है, वे कार्य कारण के दृष्टान्त के रूप मे नही समझे जा सकेंगे।'

साख्यकार तर्क करते हैं कि यदि शुद्ध चैतन्य स्वभावत जगत् के पदार्थों के प्रति झुकता है तो मुक्त होने का कोई अवसर ही न रहेगा। इसलिए, उसका सम्बन्ध, किसी अन्य मध्यस्थ पदार्थ द्वारा ही मानना पड़ेगा। यह इन्द्रियाँ नही हो सकती, क्योंकि मनस् उनके बिना भी जगत् के पदार्थों की कल्पना कर सकता है। जब मनस्, निद्रा मे निष्क्रिय रहता है तब भी—वह अनेक पदार्थों के स्वप्न देख सकता है और इससे अहकार तत्व की पूर्व मान्यता ग्रहण करनी पड़ेगी और गाढ निद्रा मे, जब अहकार का कार्य स्थिर माना जाए, तब भी श्वासप्रश्वास की क्रिया होती ही है, जो तब इसमे तत्व महत् की, पूर्व मान्यता, की ओर ले जाती है। किन्तु क्योंकि इसका व्यापार सीमित

है तो यह किसी अन्य कारण की पूर्व कल्पना को उपस्थित करती है, अगर इस कारण को भी सीमित माना जाता है तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होती है। साख्यकार, इसलिए, इस पूर्व मान्यता पर रुक जाते हैं कि महत् का कारण असीम है और वह प्रकृति या अव्यक्त है। वेंकटनाथ का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का, जगत् के विषयों के साथ सम्बन्ध, कर्म के साधनत्व से है। विचार-व्यापार की सम्भावना के कारण मनस् की एक पृथक् तत्व के रूप मे अस्तित्व का अनुमान करना भी अशक्य है। क्योंकि मनस् की पूर्व कल्पना भी विचार-व्यापार को नही समझा सकेगी, क्योंकि मनस् स्वय, विचार उत्पन्न कर सकता है जिसके विचार-रूप विकार हैं ऐसा नही माना जा सकता। स्वप्नावस्था मे भी, स्वप्न समझाने के लिए, अहकार की सत्ता को एक पृथक् तत्व के रूप मे मानना आवश्यक नही है, क्योंकि यह मनस् को सस्कार के साथ रहकर कार्य-व्यापार से भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है। गाढ निद्रा मे श्वास-प्रश्वास-क्रिया, भी सामान्य जीव-पेशीय-व्यापार से समझाई जा सकती है, और इसलिए महत् की पूर्व कल्पना आवश्यक नही है।

यह भी सोचना मिथ्या है कि कारण, कार्य से अधिक अमर्यादित होना चाहिए, क्योंकि यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित नही है, जिसमे एक बडा घडा, मिट्टी के छोटे परिमाण के पिंड से बनाया जाता है। यह भी सोचना मिथ्या है कि जो कुछ भी कार्य मे रहता पाया जाता है वह कारण मे भी होना चाहिए (नहि यद् येनानुगत तत्तस्य कारणमिति नियम), क्योंकि गाय मे जो भिन्न लक्षण पाए जाते हैं वे उसके कारण नही माने जाते। इसी मान्यता का यदि अनुसरण किया जाय तो हमे एक

प्रकार, हमारे सुख-दुःख और मोहात्मक अनुभव से यह अनुमित नहीं होता कि सुख, दुःख और मोह के लक्षणों का एक सामान्य कारण होना चाहिए, क्योंकि ये अनुभव, किसी एक निर्दिष्ट दृष्टान्त में, निश्चित कारण द्वारा समझाए जा सकते हैं, और इसलिए, त्रिगुण के लक्षणों का एक सामान्य कारण स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि, साधारण सुख-दुःखात्मक अनुभवों को समझाने के लिए, कारणरूप, एक सुख-दुःख-मिश्र-तत्व को कारण के रूप मे स्वीकारा जाता है, तो इस मिश्र-तत्व के बारे में फिर प्रश्न खड़ा हो सकता है, जो अनवस्था की ओर ले जायगा। यदि, तीन गुण जगत् के कारण माने जाते हैं, तो यह हमें, जगत् एक कारण से उत्पन्न है इसके स्वीकारने को बाध्य नहीं करेगा, क्योंकि यद्यपि, तीन गुण साम्यावस्था मे हो, तो भी वे भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करने में निर्दिष्ट योग देते माने जा सकते हैं। इस प्रकार त्रिगुण या साख्य की प्रकृति अनुमान द्वारा सिद्ध नही हो सकती। शास्त्र ही एक मार्ग है जिससे यह सिद्धान्त जाना जा सकता है। तीन गुण प्रकृति मे स्थित हैं, और सत्व, रजस् और तमस् की क्रमिक प्रधानता के अनुसार, तीन प्रकार के महत् उत्पन्न होते हैं। इन तीन महत् से तीन प्रकार के अहकार उत्पन्न होते हैं। पहले (सात्विक) अहकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्तिम (तामसिक) अहकार से, तन्मात्र (या भूतादि) उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार का अहकार (राजसिक) ग्यारह इन्द्रियाँ और भूतादि उत्पन्न करने मे सहायक रूप से कार्य करता है। कुछ ऐसा भी कहते हैं कि कर्मेन्द्रियाँ राजसिक अहकार से उत्पन्न होती हैं। यह स्वीकारा नही जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र-विरुद्ध है। तन्मात्र, तामस अहकार और भूत की स्थूल तात्विक अवस्था के विकास की सूक्ष्म अवस्था है।[1] शब्द तन्मात्र (शब्द शक्ति) भूतादि से उत्पन्न होता है, और उसके स्थूल शब्द तत्व उत्पन्न होता है। पुनः रूप तन्मात्र (प्रकाश-ताप-शक्ति) भूतादि या तामस अहकार से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल ताप-प्रकाश तत्व उत्पन्न होते हैं इत्यादि। लोकाचार्य कहते हैं कि तन्मात्र और भूत की उत्पत्ति के विषय मे दूसरा मत भी है जिसका शास्त्र में भी समर्थन प्राप्त होता है, इसलिए यह उपेक्षा का पात्र नहीं है। यह इस प्रकार है, शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होते हैं और आकाश शब्द तन्मात्र से उत्पन्न होता है, आकाश पुनः स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न करता है और इससे वायु उत्पन्न होती है, तेजस् से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे जल उत्पन्न होता है। जल से, गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे पृथ्वी।[1]

यह मत, वरवर द्वारा इस मान्यतानुसार समझाया गया है, जैसे एक बीज, तुषसहित, होने पर ही अकुर उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार तन्मात्र भी भूतादि के कोष मे रहकर ही विकार उत्पन्न कर सकते हैं।[1]

उपरोक्त बोधार्थ के अनुसार विकासक्रम निम्न प्रकार है· भूतादि से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। फिर ऐसे शब्द तन्मात्र से स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो शब्द तन्मात्र को आवृत करते हैं। शब्द तन्मात्र द्वारा आवृत्त स्पर्श तन्मात्र, आकाश की आवश्यक सहायता से वायु उत्पन्न करते है। फिर इस स्पर्श तन्मात्र से रूप तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। रूप तन्मात्र, बारी से, स्पर्श तन्मात्र को आवृत्त कर रूप तन्मात्र, वायु की सहायता से तेजस् उत्पन्न करता है। पुनः रूप तन्मात्र से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो रस तन्मात्र को आवृत करते हैं। रूप तन्मात्र से आवृत रस तन्मात्र से तेज की सहायता से अप उत्पन्न होता है जो पुनः रस तन्मात्र से आवृत हो, पानी की सहायता से पृथ्वी उत्पन्न करता है।[2]

वरवर कहते हैं कि 'तत्व निरूपण' मे उत्पत्ति का दूसरा विकास-क्रम निम्न प्रकार दिया है। शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होता है उसकी स्थूल अवस्था से आकाश उत्पन्न होता है। भूतादि, शब्द तन्मात्र और आकाश को आवृत करता है। भूतादि से

'तत्त्वत्रय' पर अपनी टीका मे यह बताना चाहते हैं कि पराशर की टीका के अनुसार इसे तन्मात्र मे तन्मात्र की उत्पत्ति के रूप मे समझाया है, यद्यपि यह विष्णु पुराण के दृष्टान्त का विरोध करता है जबकि उसमे भूतादि से तन्मात्र की उत्पत्ति मानी है। वे आगे और सूचित करते हैं कि महाभारत (शान्ति पर्व मोक्ष धर्म, अ० ३०) मे १६ विकार और आठ कारण (प्रकृति) का वर्णन है। किन्तु, इस सोलह विकारों की गणना मे (११ इन्द्रियां और पांच पदार्थ-शब्द इत्यादि) पंच तन्मात्र और पंचभूत मे पृथक्ता नहीं की गई है, क्योंकि इन दोनों में, स्थूल, सूक्ष्म की अवस्था होने के कारण, मूल भेद नहीं है (तन्मात्राणां भूतेभ्यः स्वरूप-भेदाभावादवस्था भेद मात्रत्वात्)। इस बोधार्थ के अनुसार, आठ प्रकृति से तात्पर्य प्रकृति, महत् अहंकार और पांच भूत स्थूल रूप से है। सोलह विकारों मे समाविष्ट पांच

आवृत स्थूल आकाश की सहायता द्वारा परिणत शब्द तन्मात्र से, स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है और ऐसे स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होती है। शब्द तन्मात्र फिर स्पर्श तन्मात्र और वायु, दोनो को आवृत करता है और वायु की सहायता द्वारा, परिणत स्पर्श तन्मात्र से, रूप तन्मात्र उत्पन्न होता है। रूप तन्मात्र से उसी प्रकार, तेजस् उत्पन्न होता है, इत्यादि। इस मत मे, स्पर्श और अन्य तन्मात्रो की उत्पत्ति के लिए पूर्वगामी भूतो की सहायता आवश्यक पायी गई है।

वेंकटनाथ इस मत को स्वीकारते हैं कि आकाश का स्थूल भूत, पिछले भूतो को उत्पन्न करने में सहायक का कार्य करता है, इसलिए वे, तन्मात्रो के संयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है, ऐसे सांख्य मत की आलोचना करते हैं।[1] सांख्यकार पुनः सोचते हैं कि प्रकृति से भिन्न तत्वो की उत्पत्ति, अन्तःस्थित हेतु के कारण है, पृथक् कारको के व्यापार से नहीं है। वेंकटनाथ, रामानुज के निष्ठावान् अनुयायी होने से, इसका खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति का परिणाम-क्रम, स्वयं ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा ही हो सकता है।

(ग) अवयवी और अवयव के संबंध में न्याय परमाणुवाद का खण्डन

अवयव एक दूसरे से संबंधित रहकर अवयवी को बनाते हैं, और अन्त में अविभाज्य परमाणु संयुक्त होकर एक अणु बनाते हैं, न्याय के इस मत का खण्डन करने में, वेंकटनाथ निम्न तर्कों का प्रयोग करते हैं। अवयवो के संयोग द्वारा (अणु से आरम्भ होकर) अवयवी का अवयवों के साथ संयोग का जहां तक प्रश्न है, वेंकटनाथ को इस पर कोई आक्षेप नहीं है। उनका आक्षेप, अणु के बनाने में, परमाणु के संयोग की सम्भावना के विरोध में है। यदि परमाणु अपने अवयव द्वारा संयुक्त होते हैं तो इन अवयवो के अन्य अवयव होने की कल्पना की जा सकती है और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। यदि वे अवयव, अवयवी से भिन्न नहीं माने जाते हैं, तो भिन्न परमाणु, उसी अणु के देश में रहते हैं, ऐसा उसी प्रकार माना जा सकता है, और इस प्रकार, वे घटक परमाणु में प्रविष्ट रहकर परिमाण की वृद्धि उत्पन्न नहीं करेंगे। और यह धारणा भी नहीं की जा सकती कि अवयव की उपस्थिति के बिना अवयवी बने रह सकता है। इसी तरह से केवल, यदि परमाणु का संयोग, बृहत्तर परिमाण की उत्पत्ति भी नहीं करा सकता, तो राशिभूत होकर भिन्न

—

परिमाण के पदार्थ (पर्वत, या राई का बीज) की सम्भावना समझ के बाहर ही हो जायगी। यदि ऐसा कहा जाता है कि अवयव, परमाणु के भिन्न पार्श्वों को लक्ष्य करते हैं, तब भी, यह भी कहा जा सकता है अवयव-रहित परमाणु मे पार्श्व हो नहीं सकते।

ऐसा माना गया है कि, ज्ञान, एक होते हुए भी, अनेको को लक्ष्य कर सकता है, यद्यपि वह अखड है। इस सबध मे यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि वह सभी पदार्थों को एक साथ लक्ष्य करता है तो घटक तत्व, पृथक् रूप से लक्षित नहीं होंगे, और वह पदार्थों को भी पृथक् अशो में लक्ष्य नही करेगा, क्योकि तब बुद्धि स्वय अखड (निरवयव) न होगी। नैयायिक भी, इसी सादृश्य को लेकर आग्रह कर सकते हैं कि आदर्शवादी इस कठिनाई का जो भी हल कर पाएँगे, वह परमाणुवाद के भी उपयुक्त होगा। इस पर आदर्शवादी का स्पष्ट उत्तर यह है कि ज्ञान के विषय में, अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह एक और अखड होते हुए भी अनेको को लक्ष्य कर सकता है, पर नैयायिको के पक्ष में ऐसा कोई लाभ नही है, क्योकि नैयायिक यह नही मानते कि अवयवी कभी भी बिना अवयव के सयुक्त हो सकता है। बौद्ध मत के सघातवाद के प्रति यह आक्षेप नही लगाया जा सकता, क्योकि सघात सयोग से नही बनता है। परिच्छिन्न का विभु के साथ सबध के विषय मे नैयायिक आक्षेप तो करते देखे जा सकते हैं, किन्तु ऐसा सबध मानना पडेगा, क्योकि नही तो आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ सबध मानना पडेगा, क्योकि आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ सबध समझाया नही जा सकेगा, यह भी नही माना जा सकता कि विभु पदार्थ के अवयव है। इसलिए अन्तत यह मानना पडता है कि अखड विभु पदार्थ का परिच्छिन्न वस्तु से सबध है, और यदि उनकी प्रक्रिया मान ली जाती है, तो वही अवयव-रहित परमाणु के सयोग को भी समझा सकता है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विभु का परिच्छिन्न पदार्थों के साथ सबध का दृष्टान्त हमारे सामने तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हमने अवयवी मे कुछ निर्दिष्ट गुणो के खण्डन की [illegible] दी होती, किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य नैयायिको की इस असगति को बताना है कि सभी अवयवी के सयोग, तथाकथित निरवयव परमाणु के सयोग द्वारा होने चाहिए। वास्तव मे, भूल, निरवयवी परमाणु की मान्यता मे रही है। यदि ऐसा

वेंकटनाथ, और आगे, अवयव से अवयवी के बनने के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं, और बताते हैं कि यदि इसे स्वीकारा जाता है तो पदार्थ का भार परमाणु के भार से होना चाहिए, किन्तु नैयायिको के अनुसार परमाणु मे भार नही माना गया है। योग्य मत, इसलिए, यह है कि कार्य, या तथाकथित अवयवी, अवयव की परिणत या विकार अवस्था मानी जाय। इस मत के अनुसार कारण-व्यापार का कारण पदार्थ की दशा मे परिवर्तन करना न्याययुक्त हो जाता है और कार्य मे या अवयवी मे नया पदार्थ उत्पन्न करना युक्त नही होता, जैसाकि नैयायिक मानते है। पुन अवयव से अवयवी उत्पन्न होने के विषय पर विचार करते समय जब तन्तु पट का कार्य माना जाता है तो यह देखा जा सकता है कि उत्पत्ति के क्रम मे एक तन्तु के बाद दूसरे के सयोग द्वारा कई नई विभिन्नताएँ प्राप्त होती है। ऐसे प्रत्येक योग से एक नया अवयवी बनता है, जबकि क्रम कही भी समाप्त किया जा सकता है, और ऐसे मत मे दूसरा अवयवी उत्पन्न करने के लिए अवयवी मे अवयवो का योग करना पडता है। यह स्पष्ट ही न्याय मत से विरुद्ध है, जो उस सिद्धान्त का समर्थन नही करेगा जिसके अनुसार अवयव का अवयवी से जोड करने से ही दूसरा अवयव उत्पन्न होता है। नैयायिक आग्रह करते हैं कि यदि अवयवी को अवयव से पृथक् नही माना जाएगा और अवयवी परमाणु के सयोग से अन्य कुछ नही है यह समझा जाएगा, तो परमाणु अदृश्य होने मे अवयवी भी अदृश्य रहेगा। स्थूल अवयवी के उत्पादन की अस्वीकृति मे तथाकथित यह स्पष्टीकरण, कि परमाणु मे स्थूलता का भ्रम है, भी अस्वीकृत हो जायगा।[1] प्रश्न अब यह है कि स्थूलता का क्या अर्थ है। अगर इसका अर्थ नया परिणाम है तो वह रामानुज मत मे स्वीकृत है, जिसमे पृथक् अवयवी की उत्पत्ति नही मानी है, क्योंकि जिस प्रकार परमाणुवादी, परमाणु से नए अवयवी का उत्पन्न होना मानेंगे, उसी प्रकार रामानुज भी नए परिमाण की उत्पत्ति मान लेंगे। यदि नैयायिक इस पर आक्षेप करते हैं और यह आग्रह करते हैं कि परमाणु से नया परिमाण उत्पन्न नही हो सकता तो उनसे पूछा जा सकता है कि वे फिर पृथक् पदार्थों के समाहार के बहुत्व के प्रत्यय को किस प्रकार समझाएँगे, जिनमें से प्रत्येक स्वय में एक माना जा सकता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि बहुत्व के रूप मे सख्या का प्रत्यय विविधता को ग्रहण करता, मन की दोलायमान स्थिति मे उत्पन्न होता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि ऐसी दोलायमान स्थिति के अभाव मे पृथक्ता ग्रहण नही की जा सकती, जिससे स्थूल परिमाण का प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, इस तथ्य मे कोई असगति नही है कि यदि अवयव अदृष्ट हो, पर अवयवी दृष्ट हो। यदि स्थूलता का अर्थ, पृथक् अवयव द्वारा अधिक देश वेष्टित

करना है, तब भी यह अस्वीकृत है, क्योंकि छोटे अंगो के समाहार में, वे भिन्न दैशिक इकाई वेष्टित करते जाने जाते हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जब कोई पृथक् अवयवी उत्पन्न होते नही माने हैं इसलिए स्थूल परिमाण दृष्ट नही होता, तो स्पष्ट उत्तर यह होगा कि स्थूलता के ज्ञान का अवयवी के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्व्यणुक की उत्पत्ति होने से पहले भी, सयोग करने परमाणु, अपने व्यक्तिगत रूप से समष्टि रूप से अधिक देश वेष्टित करते मानने पड़ेंगे, नहीं तो वे अपनी समष्टि से वृहत् परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार, अवयव से पृथक् अवयवी की उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं है। तन्तु के विशिष्ट प्रकार के सयोग में, जिसमे नैयायिक सोचते हैं कि कपडा उत्पन्न होता है, रामानुजवादी सोचते हैं कि तंतु उसी दशा मे कपड़ा है और कोई पृथक् कपडे की उत्पत्ति नहीं होती।[1] किन्तु यह नही सोचना चाहिए कि पदार्थ की दशा के थोडे से भी परिवर्तन से वह नया पदार्थ बन जाएगा, जहाँ तक कि वह पदार्थ पर्याप्त रूप से इतना अपरिवर्तित है कि वह वैसा ही है, ऐसा व्यवहार-दृष्टि से जाना जाता है। रामानुजवादियों के अनुसार कारण-व्यापार, वर्तमान मे अस्तित्व रखने के कारण पदार्थ मे, केवल दशा और अवस्था का नया परिणाम ही लाता है। यह इस प्रकार साख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, जिसके अनुसार कार्य, कारण-व्यापार के प्राम्भ होने से पहले ही, कारण मे रहता है, वेंकटनाथ इसलिए साख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं।

(घ) सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन

साख्य, कार्य (घडा) कारण (मिट्टी) में पहले से ही विद्यमान रखता है ऐसा सोचने मे गलती करते हैं, क्योकि यदि ऐसा होता है तो कारण-व्यापार निरर्थक होता है। साख्य यह अवश्य कह सकता है कि कारण-व्यापार, कारण मे जो अव्यक्त है उसे प्रकट करता है, कारण-व्यापार का कार्य, इस प्रकार प्रकट करना है, उत्पन्न करना नही है। यह तो मिथ्या है, क्योकि प्रकटीकरण (व्यंग) और कार्य ये दो भिन्न प्रत्यय वाले, दो भिन्न शब्द हैं। व्यग, व्यक्त करने वाले कारक के व्यापार में ही केवल, सहकारी के सहयोग से, पदार्थ को, किसी देश मे, किसी विशिष्ट इन्द्रिय के लिए प्रकट कर सकता है, जहाँ प्रकट करने वाला कारक अस्तित्व रहता

[1] यदि ससृष्टास्तन्तव एव पटस्ततस्तन्तु राशि मात्रेऽपि पटधी. स्यादित्याह ससर्गादिरिति। नहि त्वयाऽपि ततु-ससर्ग-मात्रम् पटस्यासमवायि-कारण-मिष्यते तथा सति कुविन्दा-दि-व्यापार-नैरपेक्ष्य-प्रसगात् अतो यादृशा संसर्ग विशेषादवयवी तवोत्पद्यते तादृश-ससर्गविशिष्टास्तन्तव पर इति क्षातिप्रसगः।

—ख्याति प्रसग, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ४८।

है।[1] यह पहले सिद्ध किया जाएगा कि पूर्व विद्यमान कार्य व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं होता, तभी कारण-व्यापार की उपाधियों के विषय मे यह जिज्ञासा उपयुक्त होगी कि वे व्यजक, कारक की आवश्यक उपाधियाँ सतुष्ट करती है या नहीं। किन्तु सांख्य ऐसा सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। सांख्यकार कहते हैं कि कार्य, कारण-व्यापार के पहले ही अस्तित्व रखता है, किन्तु कारण-व्यापार स्वय ही कार्य है, और यदि उनका पहला कथन सत्य है तो वह जब कार्य अव्यक्त था तब अविद्यमान था। यदि कारण-व्यापार, कारण के अस्तित्व के समय भी था, तो कार्य भी, कारण मे व्यक्त रूप से उपस्थित रहा होगा। सांख्य कहते हैं, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और इससे यह अर्थ निकलता है कि वस्तु सत् है क्योंकि वह उत्पन्न की जा सकती है, जो, स्पष्ट रूप से स्वबाधित है। कार्य, कारण मे पूर्व से ही सत् है यह मत, अन्तिम आश्रय के रूप में मान लिया जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अनन्यथा सिद्ध के रूप मे उत्पत्ति के प्रसग को भलीभाँति समझा जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अन्यथासिद्ध के रूप मे उत्पत्ति के प्रसग को भलीभाँति समझा जा सकता है। इसलिए, ऐसे निरर्थक सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। पुन कार्य, कारण मे, अव्यक्त शक्ति से अन्यथा कुछ नहीं है ऐसा मानने के बदले, यह कहना और अच्छा होगा कि कारण मे ऐसी शक्ति है कि जिसमे वह विशिष्ट दशाओं मे कार्य उत्पन्न कर सकता है।[2] पुन उपादान और सहकारी कारण के विषय मे सोचा जाए कि यदि वे प्रयत्न प्रेरित करते हैं, जैसाकि वे सचमुच करते हैं तो उन्हे भी कार्य की अव्यक्त स्थिति के रूप मे स्वीकारना चाहिए। किन्तु, सांख्यकार इसे नहीं स्वीकारते, क्योंकि उनके अनुसार उपादान कारण ही अव्यक्त कार्य माना गया है। नहीं तो, पुरुष भी, जो प्रयोजनवत्ता की दृष्टि से, जगत् का उपादान कारण माना गया है, उसे प्रकृति का धर्म मानना पड़ेगा। पुन नष्ट करने वाले कारक देखिए। क्या नष्ट करने वाले कार्य नष्ट करने वाले कारण मे पहले से है? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वह उसे नष्ट नहीं कर सकता।[3] यदि ऐसा नहीं है और यदि वह स्वभाव से नष्ट हो जाता है, तो सब कुछ सब कुछ से नष्ट हो सकता है।

१

उपादान कारण के कार्य के बारे मे यह बताया जा सकता है कि जिसमे से उत्पन्न किया जाता है (तज्जन्यत्व) ऐसी उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, य तब निमित्तकारण का भी उपादान मे समावेश हो जाएगा। उसे विकार भी कहा जा सकता (तद्विकारत्व), क्योंकि तब कार्य, कारण का केवल गुण ही (और कार्य और कारण मे भेद न रहेगा। किन्तु हम देखते हैं कि पट तन्तु से है।[1] यदि कार्य कारण से अभिन्न इस कारण माना जाता है कि यद्यपि कार्य का मे कोई सयोग नही हो सकता तो भी पहला दूसरे से कभी बाह्य नही है, तो उत्तर है कि जिस मत के अनुसार कार्य पदार्थ नहीं है तो वहाँ सयोग आवश्यक नहीं है (यदि वह कारण का गुण है तो वह कभी उसके बाहर नही है।[2] कार्य । अभिव्यक्ति है इस मत पर, यह पूछा जा सकता है कि ऐसी अभिव्यक्ति नित्य है स्वय भी कार्य है। पहले विकल्प मे, अभिव्यक्ति के लिए कारण-व्यापार आवश्यकता नही रहती। दूसरे विकल्प मे, यदि अभिव्यक्ति, एक पृथक् कार्य मा जाता है तो यह सत्यकार्यवाद का अश मे त्याग के समान होगा। यदि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए, कारण-व्यापार आवश्यक है, तो अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति को ही कार्य माना जाता है, तो जबकि वह पहले नही था उसका उत्पन्न होना सत्कार्यवाद का त्याग होगा।

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि कार्य की उत्पत्ति कार्य जैसे स्वरूप से नही है, क्योंकि हमेशा यही कहा जाता है कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार, कार्य उत्पत्ति से भिन्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर कार्य व्यक्त हो सकता है इसे मान लेने मे क्या कठिनाई है? यदि उत्पत्ति शब्द अधिक न्याय-युक्त समझा जाता है, तो उसके विषय मे भी यही प्रश्न हो सकता है कि उत्पत्ति उत्पन्न की जाती है या व्यक्त होती है, पहले अर्थ मे अनवस्था दोष उत्पन्न होता है और दूसरे मे कारण-व्यापार की अनावश्यकता। अभिव्यक्ति के विषय मे भी वही कठिनाई है कि वह उत्पन्न की जाती है या व्यक्त और दोनो अवस्था मे अनवस्था दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति का अर्थ कारणो का व्यापार है और यदि वह व्यापार पुन अपने कारण घटक के व्यापार से उत्पन्न माना जाता है और वह दूसरे, से, तो निस्सदेह अनवस्था ही आती है, किन्तु वह दोष-युक्त नही है और सभी को स्वीकृत भी है। जब, धागे मे विशिष्ट प्रकार का चालन होता है तब कपडा बनता

[1] तद्धर्मत्व-हेतूक्त-दोषादेव उभयत्र पटावस्था तत्वारभा नभवति तन्तुभ्यो भिन्नत्वात् घटवदिति प्रतिप्रयोगस्य शक्यत्वाच्च। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६०।

[2] तादात्म्य विरहेऽपि अन्यतरस्या द्रव्यत्वात् सयोगाभाव· तद्धर्म-स्वभाव-त्वादेव अप्राप्ति-परिहारादिति अन्यथासिद्धस्य असाधकत्वात्। —वही, पृ० ६१।

है या अधिक अच्छी तरह कहा जाय कि ऐसे हलचल के पहले ही क्षण मे जब धागे की कपडे जैसी अवस्था प्राप्त होती है, हम कहते हैं कि कपडा उत्पन्न होता है।[1] इसी कारण हम कह सकते हैं कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। ऐसी उत्पत्ति मे फिर आगे उत्पत्ति नही है।

(ङ) बौद्ध क्षणिकवाद का खण्डन

बौद्ध मतवादी मानते हैं कि अर्थ-क्रिया-कारित्वाद यह सिद्ध करता है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान् है वह क्षणिक है, क्योकि वही कारण-क्षमता बार-बार उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए, प्रत्येक अर्थ-क्रिया या कार्य की उत्पत्ति के अनुसार, एक पृथक् पदार्थ मानना पडता है। जबकि क्षमता (अर्थ क्रिया कारित्व) दो भिन्न क्षणो मे एक ही नही हो सकती, तो उन्हे उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी एक नही होगे। जबकि एक ही पदार्थ मे भिन्न लक्षण, भिन्न क्षमता को लक्ष्य करते हैं, तो उनका एक ही पदार्थ मे आरोपण करना भी मिथ्या है। इसलिए, एक क्षण मे जितने भिन्न धर्म हैं उतने ही पदार्थ भी हैं। (यो तो विरुद्ध-धर्माध्यासवान् स स नाना)। इस पर वेंकटनाथ का यह उत्तर है, पदार्थ, भिन्न विरोधी धर्म से सम्बन्धित नही है और यद्यपि कुछ दृष्टान्तो मे, जैसेकि बहती नदी, या दीप-शिखा जैसे परिवर्तनशील पदार्थ अपरिणामी पूर्णता का भास उत्पन्न करते है किन्तु कुछ ऐसे भी दृष्टान्त है जिनमे हम अनुभव करते हैं कि एक ही वस्तु को हम देखते भी हैं और स्पर्श भी करते हैं ऐसी खरी प्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसे दृष्टान्तो मे, सस्कार कार्य करते हो, इस तथ्य की इतनी अतिशयोक्ति नही करनी चाहिए कि हम प्रत्यभिज्ञा को केवल स्मृति-व्यापार ही मानने लग जाएँ। प्रत्यभिज्ञा मे प्रत्यक्ष का आधिक्य है या नीचे स्तर पर हम उसे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनो का सगठित कार्य कह सकते है। स्मृति प्रत्यभिज्ञा को दूषित कर देती है यह आक्षेप अयुक्त है, क्योकि प्रत्येक स्मृति मिथ्या नही होती। यह भी कहना ठीक नही है कि स्मृति केवल व्यक्तिगत (स्वगत) व्यापार है, इसलिए वाह्य पदार्थ, का निश्चय नही करा सकती, क्योंकि स्मृति, केवल व्यक्तिगत नही है किन्तु किसी वस्तु मे भूतकाल के द्वारा लक्षी काल-धर्म को निर्दिष्ट करती है। पुन बौद्ध मतवादी कहते है कि एक वस्तु मे अनेक धर्मो का सयोग मिथ्या है। क्योकि प्रत्येक धर्म भिन्न, क्षणिक तत्व या कार्य (अर्थ क्रिया कारित्व) सूचित करती है, और इसलिए प्रत्यभिज्ञा मे अनेक धर्मो का सयोग सदोष है। इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते है कि यदि प्रत्यक्ष क्षणिक स्थाई, स्वय ही कार्य उत्पन्न करने मे समर्थ है, तो उसे यह

अपने स्वभाव से ऐसा करना चाहिए, और दूसरे सहयोगियों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसी सादृश्य का अनुसरण करते हुए किसी भी एक क्षणिक ईकाई की स्वलक्षणता, किसी अन्य क्षण की अन्य स्वलक्षणता से एक नही होगी, और इस प्रकार तादात्म्य का विचार असम्भव हो जाएगा और हमें शून्यवाद पर ले जाएगा। इसलिए, प्रत्येक धर्म, तत्व के अनुरूप पृथक् वस्तु होना चाहिए यह सोचना भूल है।[1] बौद्ध मतवादी ऐसा आगे आग्रह करते पाए गए हैं कि प्रत्यभिज्ञा का अनुभव, भूतकाल के क्षण का वर्तमान से तादात्म्य करता है, जो असम्भव है। वेंकटनाथ का उत्तर है कि यद्यपि भूतकाल को वर्तमान से जोडना अनर्थक है, किन्तु उन्हें, भूतकाल मे जो वस्तु रह चुकी है, और जो वर्तमान मे विद्यमान है, उनसे सम्बन्धित करना असगत नहीं है।[2] यह सत्य है कि भूतकाल को वर्तमान मे स्वीकार करना स्वविरोधी है, किन्तु प्रसग का सच्चा रहस्य यह है कि एक ही काल भिन्न उपाधियो से अनेक दीखता है। ऐसे प्रसगो मे, एक दूसरे द्वारा उपाधिगत कालक्षणो को भिन्न उपाधियो से सम्बन्धित करना व्याघात उत्पन्न करना है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भिन्न उपाधि और काल का उल्लेख अस्वीकार्य है, क्योकि यदि ऐसा होता तो, क्षणो की अनुक्रम-परम्परा का विचार भी अस्वीकार्य होगा, जबकि क्षण-परम्परा का विचार पूर्व और अपर को अनुमित करता है और वह किसी न किसी प्रकार, भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ जोड देता है। यदि वह स्वीकारा नहीं जाय तो क्षणिकत्व का सिद्धात त्याग देना पडेगा।[3] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि क्षण-सम्बन्धित का अर्थ कोई भी वस्तु की अपने आप की स्वलक्षणता है, तो उससे कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, भूतकाल का वर्तमान से सम्बन्ध, कालिक विरोध की ओर नहीं ले जाता।

पुन बौद्ध ऐसा आग्रह करते देखे गए हैं कि प्रत्यक्ष, वर्तमान क्षण को ही लक्ष्य करता है। यह हमे भूतकाल का ज्ञान नही दे सकता। इसलिए हमारा यह भ्रम

---

[1] विरुद्धाना देशकालाद्यसमाहित-विरोधत्वेन स्वलक्षणस्यापि विरुद्धशत क्षुण्णतया नानात्वे तत्क्षोदाना च तथा-तथा क्षोदे किंचिदपि एक न सिध्येत् तदभावे च कुतो नैकम् इति माध्यमिक मतापात'। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६६।

[2] काल-द्वयस्याऽन्योन्यस्मिन्नभावेऽपि तदुभय-सम्बन्धिनि वस्तुन्यभावाभावात्यस्तु तस्मिन् वस्तुन्यसम्बन्ध काल' तस्य तत्र सद्भाव न ब्रूम।

—वही, पृ० ६८।

[3] पूर्वापर काल योगो हि विरुद्ध स्वेनोपाधिनाऽवच्छिन्नस्यैकस्य कालस्या वान्तरोऽपाधिभिर्नानात्वेऽपि तत्तदुपाधिनामेव तत्तदवान्तर-काल-द्वयान्वय-विरोधः अन्यापेक्षया पूर्वापरकालयोरन्यस्य विरुद्धत्वे क्षण कालास्यपि अन्यापेक्षया पौर्वापर्यात् तत्काल-वर्तित्वम् अपि वस्तुनो विरुद्ध्येत। —वही।

है कि विद्यमान वस्तु ही वर्तमान में प्रवृत्त हो रही है, क्योंकि यह वासना व्यापार के कारण है जो भूत और वर्तमान में भेद नहीं करता, और वह सीप मे रजत की तरह भूत में वर्तमान को आरोपित करता है। वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष वर्तमान क्षण में, वस्तु के अभाव के विरोध के रूप में ही केवल वस्तु की उपस्थिति सिद्धि करता है, किन्तु इस कारण वह वस्तु की भूतकाल की सत्ता का निषेध नहीं करता। जिम प्रकार 'यह' वर्तमान क्षण मे वस्तु की उपस्थिति वताता है, प्रत्यक्ष अनुमव 'वह यह है' वस्तु के भूत और वर्तमान मे स्थायित्व को सिद्ध करता है।[1] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष, अपने विपय को वर्तमान पदार्थ के रूप मे प्रकट करता है, तो वौद्धो का यह मत कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, और वह वस्तु को, काल-धर्म से विशिष्ट वर्तमान वस्तु के रूप मे प्रकट नही कर सकता, खण्डित होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष प्रकटीकरण के क्षण मे, वस्तु की सत्ता प्रकट करता है, तव भी यह वौद्ध मतानुसार असम्भव है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जो इन्द्रिय से सवधित था, वह ज्ञान होने के समय पहले ही नष्ट हो गया है। इसलिए, किसी भी प्रकार वौद्ध मतवादी मानें, वह यह सिद्ध नही कर मकते कि प्रत्यक्ष वस्तु को वर्तमान के रूप मे प्रकट कर सकता है, रामानुज मत मे जवकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष, उससे सवधित पदार्थ और उससे सवधित काल-क्षण निरन्तर हैं और मानसिक अवस्था भी निरन्तर है और इसलिए प्रत्यक्ष जिस वस्तु से इन्द्रिय-सवध था उसे ही प्रकट करता है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष का अन्त होने पर भी, जिस पदार्थ से इन्द्रिय-सन्निकर्ष था, उसके ज्ञान को सूचन करती, मानसिक दशा जानी जाती है।[2]

पुन, यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जो कुछ भी किसी से नियत रूप से उत्पन्न होता है वह कारण-व्यापार की अपेक्षा विना, निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो ऐसा कहना चाहिए कि जव पत्ते और फूल उगते हैं तव वे विना उपाधि के उगते हैं, जो निरर्थक है। इसके अतिरिक्त जव क्षणिक पदार्थो की श्रेणी मे एक पदार्थ दूसरे का अनुसरण करता है तो कारण की अपेक्षा रखे विना ही ऐसा करना चाहिए, तब एक तरफ जवकि पूर्ववर्ती तत्व को पदार्थ को कोई विशिष्ट कार्य नही पूर्ण करना पड़ता तो वह अर्थ-क्रिया रहित रहेगा और इसलिए नही सा होगा, और दूसरी तरफ जवकि प्रत्येक उत्तरगामी तत्व, किसी कार्य की अपेक्षा विना उद्भव होता

है, वह पूर्व क्षण मे भी उत्पन्न हो सकता है, यदि ऐसा है तो परम्परा नहीं रहेगी। पुनः ऐसा तर्क किया जाता है कि जब जो कुछ उत्पन्न होता है वह अवश्य नष्ट होता है, इसलिए विनाश निरुपाधिक है, और बिना अपेक्षा के होता है। निषेध (अभाव) निरुपाधिक तभी हो सकता है जब वह भावत्व से अनुमित है जो वास्तव में उत्पन्न नही किया जाता किन्तु वह प्रत्येक भावत्व से सबंधित है (जैसे, गाय, घोडे का अभाव अनुमित करती है)। किन्तु जो अभाव उत्पन्न होते हैं वे उन्हें जिस प्रकार, एक कारण भाव-पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार अभाव भी उत्पन्न होने के लिए उन पर आश्रित है जैसाकि लकडी के प्रहार से घडे के नष्ट होने का दृष्टान्त है। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि लकडी का प्रहार कोई भी नाश उत्पन्न नही करता, किन्तु घडे के टुकडो के रूप मे अस्तित्व की एक नई परम्परा उत्पन्न करता है तो ऐसे भी अनेक दृष्टान्त है (दीप शिखा का बुझा देना) जिनमें नई परम्परा के उदय होने का कोई स्पष्टीकरण नही है। यदि तर्क किया जाता है कि निषेध (अभाव) कुछ भी नही है (शून्य) है और तुच्छ पदार्थ की तरह किसी कारण पर आश्रित नहीं है, जैसे, आकाश-पुष्प, ऐसा स्पष्टीकरण निरर्थक रहेगा, क्योकि अभाव या विनाश अस्तित्ववान् पदार्थ की तरह काल से मर्यादित है, इसलिए तुच्छ पदार्थ से भिन्न है (प्रतियोगिवदेव नियत-कालतया प्रमितस्य अत्यत चुच्छता योगात्)। यदि अभाव को तुच्छ के बराबर माना जाए तो अभाव उतना ही अनादि हो जाएगा जैसा तुच्छ पदार्थ है, और यदि ऐसा हो तो सभी अनादि होने के कारण कोई भाव पदार्थ न रहेगा। यदि अभाव तुच्छ है, तब भी अभाव के समय भाव पदार्थ रह सकता है, क्योकि अभाव तुच्छ होने से किसी को मर्यादित नही कर सकेगा और यह पदार्थो की नित्यता के बराबर होगा जो बौद्ध क्षणवादियो को अस्वीकार रहेगा। यदि अभाव केवल विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म-रहित ही है तब वे स्वलक्षण पदार्थ के समान हो जाएँगे जो विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म-रहित हैं। यदि वे सर्व-धर्म-रहित होते (सर्व-स्वभाव-विरह) तो ऐसी प्रतिज्ञा (विभावना) जिसमे विधेय रूप से उनका स्वीकार किया जाता है, उसमे उनका कोई स्थान नहीं रह सकेगा। यदि यह कहा जाता है कि अभाव वास्तव मे धर्मवान् है, तो उसमे यह धर्म होने से उसमे कोई धर्म नहीं है ऐसा नही होगा। यदि ऐसे अभाव पूर्वकाल में अस्तित्व नही रखते तो उनकी उत्पत्ति किसी कारण-व्यापार पर आश्रित रहेगी। यदि पूर्वकाल मे उनका अस्तित्व है, तो कोई भाव पदार्थ न रहेगा (प्राक् सत्वे तु भावापह्लवः)।

यदि आग्रह किया जाता है कि कार्य-क्षण, कारण-क्षण के युगपद् है, तो भाव-पदार्थ और उसका नाश एक ही क्षण मे होगा, और यदि ऐसा है तो फिर नाश, भाव पदार्थ के पहले क्यो न होवे। यदि विनाश, भाव पदार्थ की उत्पत्ति के उत्तर क्षण मे होना माना जाता है तो नाश निरुपाधिक न रहेगा। यदि भाव-पदार्थ और उसके

नाश का क्रम, भाव-पदार्थ से सम्बन्वित है और उसकी उत्पत्ति से नहीं है, तब अस्तित्ववान पदार्थ नाश का कारण होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि नाश अपने भाव से ही मर्यादित है, क्योंकि उसका अन्य सहकारी कारणों पर आश्रित होना, खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि क्षण की उत्पत्ति, उसका नाश भी है, क्योंकि यह स्ववाधित होगा। ऐसा कभी-कभी माना जाता है कि भेद का अर्थ नाश नहीं है, और इसलिए दूसरे धर्म वाले क्षणों के उदय होने का अर्थ पूर्व क्षणों का नाश होना नहीं है। इस प्रकार, क्षण का नाश एक पृथक् तथ्य मानना पड़ेगा, और इसलिए यह, क्षण की उत्पत्ति मे ही समाविष्ट है और स्वभावज है।' इसका उत्तर यह है कि भिन्न धर्मयुक्त पदार्थ को भी पूर्व भावी पदार्थ का नाश मानना चाहिए, नहीं तो ऐसे भिन्न धर्म वाले पदार्थ के उदय का कारण देना असम्भव हो जायगा। यदि, पुन. नाश, पदार्थ का स्वरूप है, तो यह स्वरूप, वर्तमान पदार्थ के उदय होने के समय प्रकट हो सकता है और वह उसे अभाव की स्थिति पर ला देगा तो सभी वस्तु का सर्वव्यापी अभाव हो जायगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि एक पदार्थ अपना नाश स्वत ही उत्पन्न करता है, तो नाश निरपेक्ष है यह मानना निरर्थक रहेगा कि वह अन्य किसी उपाधि पर आश्रित नहीं है, और यदि यह सोपाधिक है तो यह मानना निरर्थक है कि यह किसी अन्य अवस्था पर निर्भर नहीं करता क्योंकि इसे जानने का कोई साधन नहीं है। यदि यह मान लिया जाता है कि पदार्थ अपना स्वय नाश, सहकारी की सहायता से उत्पन्न करता है, तो क्षणिकवाद (खण्डित) स्वय हो जाता है। यह पहले भी बताया गया है कि क्षणिकवाद का स्वीकार, स्पष्ट रूप से, प्रत्यभिज्ञा के प्रसग में बाधित होता है, जैसाकि हम विस्तार-सहित कह चुके हैं। पुन जब क्षणिकवादी कहते हैं कि सभी वस्तु क्षणिक है, तो वे, कार्य-क्षण कारण-क्षण द्वारा उत्पन्न होता है, इसे किस प्रकार समझा सकते हैं? यदि कारणता का अर्थ अनन्तर अनुक्रम से है, तो एक विशिष्ट क्षण मे जगत्, पूर्व क्षण के जगत् से उत्पन्न होगा। समस्या यह है कि अनुक्रम का यह आनन्तर्य, स्वय कार्यक्षण को उत्पन्न करने में शक्तिमान् है या वह काल और देश रूप सहकारी की आवश्यकता रखता है। यदि ऐसे सहकारी अनावश्यक हैं, तो देशिक सह-अस्तित्व या व्याप्ति से (जैसा धूम और आग मे है) अनुमान ग्रहण नहीं होना चाहिए। यदि ऐसे सहकारी की अपेक्षा है तो इसका अर्थ यह होगा कि जो कोई भी जिस देश की इकाई मे उत्पन्न होता है उसका कारण भी उसी देश की इकाई और उसी काल की इकाई मे रहा है।

इस मत के अनुसार, कार्य-क्षण, कारण के देश काल मे होगा, और इस प्रकार, कारण-देश या कारण-काल, दो क्षणो मे सह-अस्तित्व करेंगे। यदि यह मान लिया जाता है, तो क्षणिकवादी यह भी मान सकते हैं कि कारण दो क्षणो में प्रवृत रहता है। इसलिए, क्षणिकवादी जो प्रवृत्त काल और देश को नही मानता, वह यह भी नही मान सकता कि परम्परा क्षण से मर्यादित है। यदि यह कहा जाता है कि कारणक्षण अपना कार्य उसी देश और काल में आरम्भ करता है जिसमे वह स्थित रहता है, तो कारण कार्य-श्रेणी मे ऐक्य नही रहेगा, और मान्यतानुसार दोनो की अपनी भिन्न क्षण-परम्पराएँ हैं। यहाँ एक दूसरे पर अध्यास हो सकता है किन्तु परम्परा की एकता नही हो सकती। यदि परम्परा की एकता नही मानी जाती है, तो यह अपेक्षा कि जिस प्रकार कपास के बीज को रगने पर वह लाल हो जाता है और उसी प्रकार, नैतिक स्तर मे जहाँ वासना है तहा-तहाँ उसका विपाक है, यह मान्यता निष्फल हो जाती है। कारण-क्षण और कार्यक्षण के सह-अस्तित्व मे साधारण कार्य-कारण के सम्बन्ध मे जो एकता की अपेक्षा की जाती है, वह एकता अनुमित नहीं होती और इसलिए यह कहना कठिन होगा कि इस कार्य का यह कारण है, क्योकि क्षणिकवाद, कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध को स्थापित नही कर सकता।

अब हम क्षणिकवाद के प्रत्यय का विश्लेषण करेंगे। इसके अर्थ ये हो सकते हैं–(१) एक पदार्थ, क्षण से सम्बन्धित है (क्षण-सम्बन्धत्व), या (२) काल-क्षण से सम्बन्ध (क्षण-काल-सम्बन्धत्वम्) या (३) क्षण मात्र तक ही अस्तित्व (क्षण-मात्र-वर्तित्व) या (४) दो क्षणो से सम्बन्ध का अभाव (क्षण-द्वय-सम्बन्ध-शून्यता) या (५) काल क्षण से अभिन्नता, क्षण-कालत्व) या (६) क्षण-धर्म से निश्चित होना (क्षणोपाधित्व)। पहला विकल्प अस्वीकार्य है, क्योकि जो स्थायी पदार्थों को मानते हैं, वे भी, क्योकि पदार्थ काल मे स्थायी रहता है, इसलिए वह किसी एक क्षण से सम्बन्धित है यह स्वीकार करते हैं। दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य है, क्योकि बौद्धवाद काल को क्षण से एक पृथक् पदार्थ नही मानते।[1] ऐसा मानने पर भी क्षण से पर काल को एक पदार्थ के रूप मे वास्तव मे मानना पडता है जो क्षणवाद को बाधित करता है। तीसरा विकल्प, प्रत्यभिज्ञा के अनुभव से बाधित होता है जो यह प्रमाणित करता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं। चौथा विकल्प भी उन्ही कारणो से अनुभव द्वारा बधित होता है, और यदि कोई तथाकथित पदार्थ जो स्वय क्षण नही है, वह दो काल क्षणो से सम्बन्धित नही है, तो वह केवल तुच्छ रूप से ही अस्तित्व कर सकता है, और अचम्भे की बात है कि बौद्ध मतवादी बहुधा सभी अस्तित्ववान् पदार्थों

[1] कालमेवानिच्छतस्ते कोऽसौ क्षण काल कश्च तस्य सम्बन्ध ।

–सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७४।

की तुच्छ से तुलना करते हैं ।[1] पाँचवाँ विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि जैसेकि एक पदार्थ एक देश मे रहता हुआ उससे एक (अभिन्न) नही हो सकता, उसी प्रकार, वह काल से भी एक नही हो सकता जिसमे वह अस्तित्व रखता है और यह साक्षात् अनुभव से भी बाधित है। छठा विकल्प भी अस्वीकार्य है, इस कारण कि, यदि पदार्थ अपने स्वरूप में, काल की उपाधि से मर्यादित है तो काल-क्रम को समझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नही है,[2] और हमारे सारे अनुभव जो ऐसे क्रम पर आधारित हैं वे बाधित हो जाएँगे। यदि पदार्थ काल मे नही रहते हैं और चिह्न छोडे बिना नष्ट हो जाते हैं (निरन्वय-विनाश), तो जगत् का साधारण अनुभव, जिनमे हम फल-प्राप्ति के लिए करते हैं, समझाया नही जा सकेगा। जिस मनुष्य ने कुछ कर्म किए हैं वह फल के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नही करेगा। रामानुज-मत मे आत्मा का स्थायित्व स्वचैतन्य से ठीक तरह समझाया गया है। यह मत कि ऐसा स्वचैतन्य आलय विज्ञान परम्परा मे उत्पन्न, केवल उत्तरोत्तर क्षणो को लक्ष्य करता है, यह तो केवल वाद ही है जिसकी सिद्धि नही है, और ऐसा मत, सुप्रमाणित उक्ति से अचिरात् बाधित होता है कि एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे के द्वारा स्मरण नही किया जा सकता (नान्यदृष्ट स्मरत्यन्य·)। आलय विज्ञान परम्परा के क्षणो का ऐन्द्रिक प्रत्ययो से सम्बन्ध जोडने का भी कोई रास्ता नही है।

यदि पदार्थों की क्षणिकता से अर्थ यह है कि वे क्षण मे मर्यादित या विकृत होते हैं तब भी प्रश्न उठता है कि यदि वे स्वय क्षणिक नहीं है तो वे क्षण उपाधि युक्त कैसे है? यदि क्षण उपाधि से यह अर्थ है कि कारण (सहति) समन्वय, केवल कार्य के पूर्व गामी क्षण का प्रतिनिधित्व करते हैं (कार्य प्रागभाव समन्वित) तो प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि कारणो का एकीकरण (समाहार) एकीभूत होने वाले पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न, यह आलोचना नही की जा सकती क्योंकि दोनो प्रसगो मे, जबकि पदार्थ, रामानुज-मत मे, स्थायी होगा, इसलिए वह क्षण को उपाधि युक्त नही करेगा। उत्तर यह है कि एकीकरण न तो सम्बन्ध है और न सम्बन्धित पदार्थ है, क्योंकि शब्द 'एकीकरण' निर्दिष्ट रूप से प्रत्येक पदार्थ के लिए नही प्रयुक्त हो सकता, और इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी उपाधि से संगृहीत कारण पदार्थ ही एकीकरण है। यदि ये पदार्थ उपाधिक्षण को निश्चित करने वाले माने जाते है, तो उन्हे अवश्य ही स्थायी होना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाता है कि एकीभूत करने वाली उपाधि,

क्षण उपाधि है तो उत्तर यह है कि उत्पत्ति सबंध करने वाली उपाधियां और निर्दिष्ट एकत्रित पदार्थ, दोनो के व्यापार से होनी चाहिए। इनमे से सबंध करने वाली उपाधियाँ क्षणिक नही है, और जबकि एकत्रित होने वाले पदार्थ सबंधित होने तक वर्तमान रहेगे, वे भी क्षणिक नही होगे। इसलिए, ऐसा दीखता है कि क्षण की उपाधि, अन्तिम सहकारी या व्यापार है जो पूर्व पदार्थों या व्यापार को अपने साथ जोडती है, जिससे वह कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण की उपाधि की तरह वर्तती है। इस प्रकार, कुछ भी क्षणिक नहीं है। काल, स्वरूप से अमर्याद होने से उसे क्षणो के टुकडो मे नही बाँटा जा सकता। तथाकथित क्षण किसी व्यापार या अस्तित्ववान् पदार्थ मे ही, किसी व्यावहारिक कार्य के लिए, विशेष दशा या उपाधि के निर्दिष्ट करने के लिए ही, आरोपित किया जा सकता है, किन्तु पदार्थ जो अस्तित्व रखता है, वह काल मे अस्तित्व रखता है इसलिए पूर्व और उत्तर क्षण की मर्यादा से ऊपर उठता है। इसलिए, यद्यपि काल की निर्दिष्ट इकाई, क्षण कही जा सकती है, अस्तित्ववान् पदार्थ, इसलिए, अपनी सत्ता के स्वरूप से क्षणिक नहीं है। क्योंकि बौद्ध, काल को नही मानते, इसलिए उनके क्षणिक समय को, जिसमे पदार्थ विद्यमान रहते हैं, क्षणिक कहना अनुचित है। प्रकृति स्वय प्रत्येक क्षण मे परिवर्तित होती है उनका यह मानना भी अनुचित है, क्योंकि वास्तव मे यह स्थायी पदार्थ के अस्तित्व को मानना होगा, जिसमे विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

अत. बौद्धो की यह मान्यता गलत है कि वस्तु का पूर्ण नाश होता है और वस्तु के किसी अश का अस्तित्व नही रहता, (निरन्वय विनाश) जैसे दीप शिखा के बुझने पर उसका कोई अस्तित्व नही रहता, क्योंकि अनेक उदाहरणो से जैसे घट और पट के दृष्टान्तो द्वारा यह अनुभव होता है कि नाश से तात्पर्य केवल वस्तु की स्थिति का परिवर्तन मात्र है। अत निरन्वय-विनाश अर्थात् पूर्ण नाश की मान्यता असिद्ध है। दीपशिखा के उदाहरण मे भी दीपशिखा का पूर्ण विनाश नहीं होता किन्तु उसका दृश्य स्वरूप अदृश्य रूप मे केवल बदल जाता है। जब दीपशिखा बुझ जाती है तब भी शिखा (बत्ती) के गरम होने का अनुभव विद्यमान रहता है और शिखा की यह गर्मी दीपशिखा द्वारा धारण किए गए ऊँचे तापमान का अवशिष्ट ताप मात्र है। यदि निरन्वय-विनाश का सिद्धान्त माना जा सकता है तो इस प्रकार अवशेष तापमान की स्थिति का कोई अर्थ ही नही है। यदि इस उत्तर स्थिति से इन्कार किया जा

[1] सर्व-क्षणिकत्व साधयितुमुपक्रम्य स्थिर-द्रव्य-वृत्ति-क्षणिक-विकारवदिति कथ दृष्टातयेम तेषु च न त्वदभिमत क्षणिकत्व प्रदीपादिवदाशुतर-विनाशित्व-मात्रेण क्षणिकतोक्त।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७७।

सकता है तो उसकी पूर्व स्थिति के अस्तित्व को भी अस्वीकारा जा सकता है, और इस प्रकार इस तर्क से सामान्य अनस्तित्व की स्थिति हो जायगी।

(च) कारणतावाद के विरुद्ध चार्वाकों की आलोचना का खण्डन

कारणत्व की समस्या, सहज ही, कार्य और कारण के बीच काल-सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित करती है, अर्थात्, कार्य, कारण के पूर्व है या कारण कार्य के पूर्व है या दोनों युगपद् हैं। यदि कार्य कारण के पूर्व है तो वह अपने अस्तित्व के लिए कारण-व्यापार पर आश्रित न रहेगा और वह आकाश की तरह नित्य पदार्थ हो जायगा। यदि वह असत् है, तो किसी भी प्रकार से सत् नहीं किया जा सकता क्योंकि असत् की उत्पत्ति अशक्य है। यदि कार्य कारण के पूर्व उत्पन्न होता है तो वह तथाकथित कारण उसका कारण न होगा। यदि कार्य-कारण युगपद् हैं तो यह निश्चित करना कठिन होगा कि कौन कार्य है और कौन कारण है। यदि कारण कार्य के पूर्व है तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि कार्य पहले विद्यमान था या उसके साथ था। यदि वह पहले विद्यमान है, तो कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं है और जो उत्तरकाल में होने वाला है तो जो पूर्व क्षण में उपस्थित था उससे सह अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि कार्य का कारण से सह-अस्तित्व नहीं है, तो एक विशेष कारण एक विशेष कार्य उत्पन्न करे और दूसरा नहीं, इसे निश्चित करने वाला कौनसा सबब होगा? जबकि उत्पादन और उत्पादक समानार्थ नहीं हैं तो वह उससे भिन्न होना चाहिए। वह भिन्न होने से यह कहा जा सकता है कि उत्पादन का फिर आगे उत्पादन होना चाहिए, और फिर उससे दूसरा, और इस तरह यह अनवस्था पर पहुँचाएगा।

इन आक्षेपों के प्रति वेंकटनाथ का उत्तर है कि निषेध का स्वीकार से विरोध, एक ही देशकाल की इकाई के ही सदर्भ में युक्त हो सकता है। इसलिए, पूर्व क्षण में कार्य के अभाव का, उसके उत्तर क्षण के साथ में विरोध नहीं हो सकता। पूर्व क्षण के कारण का सम्बन्ध उत्तर क्षण के कार्य के साथ है यह साक्षात् अनुभव-गम्य है। ऐसा सम्बन्ध संयोग नहीं है किन्तु एक का दूसरे पर पूर्वापर रूप से निर्भर है जैसा कि अनुभव में देखा जाता है। उत्पादन, एक पृथक् [illegible] होने से, दूसरे [illegible] उत्पादन की मांग करता है, इत्यादि, इस प्रकार की तार्किक [illegible] नहीं की जा सकती, क्योंकि कार्य तो, केवल कारण की परिणति [illegible] माना है। [illegible]

पुन' ऐसा आग्रह किया जाता है कि नियत-पूर्ववर्ती का प्रत्यय जो कारणत्व को निश्चित करता है, वह स्वय अनिश्चयात्मक है, क्योकि अवस्थिति के रूप मे काल मे कोई अपना गुण नही है। इसलिए, पूर्वापरता अन्य उपाधि द्वारा निश्चित की जानी चाहिए और कारण-घटना को ही ऐसी उपाधि माना जा सकता है। यदि ऐसा है तो पूर्वापरता, जो इसमें कारण उपाधि से उत्पन्न होती मानी जाती है वह निश्चित करती नहीं मानी जाएगी। पुन यदि उपाधि, अवस्थिति के रूप में काल को, परम्परा में विभक्त कर देती है, तो जबकि काल को विविक्त नही माना गया है, तो मानी हुई उपाधियो को पूर्वकाल को ही लक्ष्य करना होगा तो, इस प्रसग से परम्परा न रहेगी। इसके अतिरिक्त, उपाधियाँ विशेष अवयवो को लक्ष्य करती हैं, तो पहले विविक्त काल को मानना पडेगा।[1] उपरोक्त आक्षेप का यह उत्तर कि यदि उपरोक्त तर्क के बल पर काल, परम्परा के रूप मे स्वीकारा नही जाता, तो यदि वस्तुएँ काल मे हैं तो वे नित्य हैं और यदि नही हैं, तो वे तुच्छ हैं, अनर्थक है। आक्षेप करने वाला फिर कह सकता है कि सभी सामान्य, नित्य सत्तावान् होने से, पूर्वापरता कभी भी आपस मे भी व्यक्तिगत रूप मे उससे सबधित नही की जा सकती। जहाँ रोहिणी नक्षत्र, कृत्तिका नक्षत्र के उदय से अनुमित किया जाता है, वहाँ पूर्वापरता इन दोनो के बीच नहीं है। इनका उत्तर अनुभव के आधार पर दिया जा सकता है कि विशेष धर्म रखने वाले तत्व, ऐसे अन्य विशिष्ट धर्म तत्व से उत्पन्न होते हैं जहाँ सामान्य और विशिष्ट मिलकर एक सयुक्त पूर्णता बनाते हैं—जो विशिष्ट तत्व हैं।[2] निर्दिष्ट कार्य से निर्दिष्ट कारण सबध, उनमे नियत पूर्ववर्ती प्रसग के बहुत से अनुभवो मे जाना जाता है, और यह, निर्दिष्ट कारण का निर्दिष्ट कार्य की एक रूपता सबध के विचार के विरोध को खण्डित करता है। कारण-बहुलता का विचार भी इसलिए इसी कारण से खण्डित होता है। जहाँ एक कार्य भिन्न कारणो से उत्पन्न होता देखा जाता है, वहाँ अनिरीक्षण या मिथ्या-निरीक्षण से ऐसा होता है। आप्त पुरुषो का सूक्ष्म निरीक्षण यह प्रकट करता है कि यद्यपि कुछ कार्य एक से दीखते हैं तो भी उनके व्यक्तिगत स्वरूप मे विशिष्टता है। इस विशिष्टता के कारण, उन्हें प्रत्येक के निश्चित कारण से सबधित किया जा सकता है। प्रागभाव स्वय कार्य को निश्चित करता नही माना जा सकता, क्योकि यह अभाव अनादि होने से, कार्य उत्पत्ति के प्रसग को

विभाग होने से, सर्वव्यापी नही हो सकता। जो नित्य होता हुआ, किसी पदार्थ का उपादान नहीं है, वह सर्वव्यापी है, यह तर्क मिथ्या है, क्योकि यह शास्त्र-प्रमाण द्वारा बाधित होता है और रामानुज मतानुसार, परमाणु पदार्थ के चरम घटक नही हैं। पुन. यह भी तर्क कि जो विशिष्ट धर्म-रहित हैं, जैसे काल, वह सर्वव्यापी है यह भी अमान्य है, क्योकि रामानुज-मतानुसार, कुछ भी विशिष्ट गुण-रहित नहीं है। इस प्रकार तर्क करना कि मनम् अति दूरस्थ अनुभवो को स्मरण कर सकता है इसलिए सर्वव्यापी है, यह भी दोषयुक्त है। क्योकि ऐसा स्मरण, मन का निर्दिष्ट संस्कारो से सबद्ध होने के कारण है।

इन्द्रियो को सूक्ष्म या अणु मानना पडता है और तो भी अपने व्यापार से या दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होकर, वे व्यापक रूप से कार्य कर सकती हैं।[१] इसी कारण, भिन्न मान के प्राणियो के देह मे, वे ही इन्द्रियां इस व्यापार द्वारा, छोटे या बडे क्षेत्र पर फैल सकती है, नही तो हमें उन्हे वे जिस शरीर मे कार्य करती हैं, उनके मान के अनुसार, छोटी या बडी हो जाती हैं, ऐसा मानना पडेगा। यदि मनम् विभु है, या यदि वह शरीर के मान मे व्यापक है, तो पांचो इन्द्रियां एक ही क्षण मे उदय हो जाएगी, वकटनाथ इन्द्रियो का स्थान अन्त करण मानते हैं जहा से वे अपनी-अपनी नलिकाओं मे से विशिष्ट इन्द्रियो की ओर गमन करती हैं।

इन्द्रियां वृत्तियो द्वारा कार्य करती है जो लगभग प्रकाश की गति से चलती हैं और विषय को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, वृत्तियां एक जगह से दूसरी जगह क्रम से कार्य करती हैं और उनकी तीव्र गति के कारण निकट और दूरवर्ती पदार्थो के सम्बन्ध मे कार्य करती दीखती हैं, इससे ज्ञान युगपद् होता दीखता है। यही क्रम श्रवण ज्ञान के लिए भी युक्त है। जबकि रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्रियां अभौतिक हैं इसलिए उनके व्यापार भी अभौतिक वर्णन किए गए हैं।[२]

---

[१] सिद्धेऽपि ह्यणुत्वे विकास तथा वृत्ति विशेष द्वारा व्यापक प्रचयाद्वा पृथुत्वम् अंगी-कार्यम्।

–सर्वार्थ सिद्धि, पृ० ६८।

[२] शांकर मतानुसार जिनमे भी इन्द्रियां अभौतिक मानी गई है, वहां, वृत्ति, वस्तु से सम्पर्क नही लौटती किन्तु वस्तु का आकार ग्रहण करती है। योग मत के अनुसार जैसाकि भिक्षु ने समझाया है, चित्त इन्द्रियो मे से जाता है और विषय के संयोग से आता है और इन्द्रियों से सम्बन्धित हो विषय के आकार मे परिणत होता है। इसलिए परिणाम केवल चित्त का ही नही है किन्तु चित्त और इन्द्रियां दोनो का

(ज) वेंकटनाथ के अनुसार आकाश का स्वरूप

वेंकटनाथ, हमारे सुप्रमाणित अनुभवों के आधार पर, जैसाकि, सन्ध्या समय नील या लाल आकाश तथा उसमें पक्षियों की गति देखते हैं—इस तथाकथित तथ्य को सिद्ध करने का विशद रूप से प्रयत्न करते हैं कि आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वे इस मत को अस्वीकार करते हैं कि आकाश केवल हलचल द्वारा ही अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि आकाश का अस्तित्व मोटी दीवारों में भी रहता है जहाँ हलचल असम्भव है। आकाश निरी शून्यता नहीं है, पक्षियों की, उनकी अप्रतिहत गति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुछ बौद्ध और चार्वाक तर्क करते हैं कि केवल चार ही तत्व हैं, आकाश केवल आवरणाभाव है। हम दीवार में आकाश नहीं देखते, किन्तु जब वह तोड़ दी जाती है तब हम कहते हैं कि हम आकाश देखते हैं। ऐसा आकाश, अवरोध के अभाव के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह नहीं स्वीकारते तो कहीं भी अवरोध का अभाव न होगा, ऐसे सभी प्रसंग आकाश की मान्यता द्वारा ही समझाए जाएँगे। यह अवरोध का अभाव, निरी शून्यता ही, मृगतृष्णा जैसी भावरूप वस्तु का भ्रम उत्पन्न करता है। ये अनुभव, इन प्रसंगों में ठीक तरह से उद्धृत किए जा सकते हैं जहाँ दुःख का अभाव सुख के रूप में, और प्रकाश का अभाव नीले अंधकार के रूप में अनुभव होता है। हम इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि भाषा-प्रयोग, कभी-कभी, वस्तु-शून्य विचार उत्पन्न करता है जैसेकि जब कोई कहता है "शश के पैने सींग।"

इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व अनुभव द्वारा ही समर्थित किया जा सकता है, और हमें सबको आकाश का भाव रूप अनुभव है। जिसे हम अभाव कहते हैं वह भी भाव पदार्थ है। यह कहना व्यर्थ है कि निषेधात्मक प्रत्यय, भावसूचक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रत्येक निर्दिष्ट पदार्थ का निर्दिष्ट प्रत्यय रहता है, और ऐसा तर्क करना व्यर्थ है कि विशेष पदार्थ का अपना विलक्षण प्रत्यय क्यों होना चाहिए।[1] अभाव, जिसका अभाव स्वीकारा जाता है उसका प्रतियोगी है। आकाश की भावात्मकता, उसके भावात्मक अनुभव से सिद्ध है। किसी से व्याप्त जगह में आकाश नहीं है यह मत अयुक्त है, क्योंकि जब आवृत पदार्थ तोड़ दिया जाता है तब हम आकाश देखते हैं और हम उसके आवृत होने के अभाव को स्वीकारते हैं। इस प्रकार आवरणाकाश, भावात्मक आकाश में उसके उद्देश के रूप में स्वीकारा जाता है, क्योंकि हमारे आकाश के अनुभव से हम यह जानते हैं कि आकाश में आवरण नहीं

[1] नाभावयस्य नि स्वभावता अभाव-स्वभावतयैव तत्सिद्धे स्वान्यस्वभावतया सिद्धिस्तु न कस्यापि, न चस्वेन स्वभावेन सिद्धस्य परस्वभावविरहादसत्व-मतिप्रसगात्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ११३।

है (इहावरणा नास्ति)। यदि यह नही स्वीकारा जाता, तो यहाँ कोई वस्तु है यह ज्ञान समझाया नही जा सकेगा, क्योकि "यहाँ" शब्द का कोई अर्थ न रहेगा यदि वह केवल अभाव की अनुपस्थिति है। यदि, पुन, आकाश, आवृत करने वाली वस्तु मे अनुपस्थित है तो आकाश ऐसे पदार्थ की अनुपस्थिति है, ऐसी आकाश की व्याख्या करना अयुक्त होगा, जबकि कोई अपने आप मे अस्तित्व नही रखता, तो उपरोक्त उपमा से प्रत्येक वस्तु अपना अभाव हो जायगी।[1] किसी समय आकाश मे सतह का भ्रम उत्पन्न होता है यह भी इस कारण होता है कि वह एक वस्तु है जिस पर कुछ गुणो का अध्यास किया जाता है। यदि वह शून्य ही होता, तो उस पर मिथ्या गुणो का आरोपण नही हो सकता था। जब यह कहा जाता है कि दु ख का अभाव भ्रम से सुख माना जाता है, तब खरी बात यह है कि तथाकथित अभाव एक प्रकार की भावात्मकता ही है।[2] तुच्छ वस्तु के उदाहरण मे जैसेकि शश के पैने सींग, यहाँ शश मे सीग स्वीकारे जाते है, और जब सीग ज्ञात होते हैं तब हमारे मन मे विचार होता है कि तीखेपन का प्रत्यय सच है या झूठ। तीखेपन का स्वीकार इसलिए केवल निषेध नही है। जब किसी मे मिथ्या तुच्छ विशेषण का निक्षेप किया जाता है, तब भी उस विशेषण को किसी उद्देश्य के रूप मे स्वीकारा जाता है जो सचमुच उसमें नहीं होता और इस प्रकार, ऐसे विचार मे निरा शून्यत्व का मिथ्यात्व नहीं होता। जब कोई कहता है यहाँ कोई आवरण नही है, उसे, जहाँ आवरण नहीं है, या उसका निषेध किया जाता है उस निधान (केंद्र) को बताना होगा, क्योकि निषेध, प्रतियोगी को अनुमित करता है। आवरण के निषेध का विधान शुद्ध आकाश होगा। यदि आवरण के निषेध का अर्थ नितान्त अभाव है (अत्यन्ताभाव) तो हम शून्यवाद में पडते हैं। यदि आवरण कहीं अस्तित्व रखता हो या कहीं हो, तो दोनों प्रसगों मे आवरण की उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि सत् वस्तु न तो उत्पन्न ही की जाती है और न नष्ट की जाती है और असत् वस्तु भी कभी न उत्पन्न की जाती है और न नष्ट। इस प्रकार, इन तथा अन्य कारणों से, आकाश को, जो, न तो नित्य है और न विभु है, भाव पदार्थ मानना पड़ेगा, केवल आवरण का अभाव नहीं। दिक् या आकाश की दिशाएँ, उत्तर, दक्षिणादि को पृथक् तत्त्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु वे आकाश हैं, जो द्रष्टा और दृष्ट देश सम्बन्ध की भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध के कारण, भिन्न प्रकार के दिक् दिखाई देते हैं।

(झ) वेंकटनाथ के अनुसार काल का स्वरूप

काल नित्य और अनादि है, क्योंकि कोई भी प्रत्यय जिसमे काल की उत्पत्ति के बाबत विचार प्राप्त होता है यह अर्थ निकलता है कि काल, उत्पत्ति के पहले अविद्यमान था। इस दृष्टि से यह अनुभव सहज है कि इसमे पौर्वापर्य का विचार समाविष्ट है, और इस प्रकार यह माना जा सकता है कि काल की पूर्व-कल्पना के बिना, काल की उत्पत्ति का ज्ञान नही हो सकता। काल, सभी दृष्ट पदार्थों के गुण के रूप मे, साक्षात् अनुभव-गम्य है। यदि काल को अनुभव गम्य माना जायगा, तो जबकि वह, सभी दृष्ट वस्तुओ से निकट रूप से सम्बन्धित है, तो प्रत्यक्ष द्वारा काल की अनुपलब्धि का अर्थ यह होगा कि दृष्ट वस्तु भी साक्षात् ग्रहण नही होती है, किन्तु अनुमान-गम्य ही है। जो काल की पृथक् सत्ता नही मानते, वे भी इसे सूर्य की गति के सम्बन्ध से जनित असत् प्रत्यय के रूप मे समझाते है। इस प्रकार, काल-प्रत्यय, चाहे सत् या असत् माना जाय, वह दृष्ट वस्तु का प्रकार या गुण ही समझा जाता है और साथ ही अनुभव किया जाता है। हमारे अनुभव के प्रकार के रूप मे, जो कुछ भी पूर्वापर रूप से सोचा जाता है उससे अतिरिक्त कोई दूसरा काल है ही नही। यह तर्क किया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, हमारे समस्त अनुभव वर्तमान से सम्बन्धित हैं, और इसलिए, विषयो के प्रत्यक्ष अनुभव मे पूर्वापर का विचार उपस्थित नही होता, जो काल का स्वरूप है इसलिए काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। इस पर यह विवाद सूचित किया जा सकता है कि जब विषयो का ज्ञान होता है तब वे वर्तमान हैं या नहीं ऐसा ज्ञान होता है या नही या वर्तमान का ज्ञान किसी भी वस्तु के बिना सयोग के होता है। ऐसा मत, मैं यह देखता हूँ, इस अनुभव से खडित होते हैं, यहाँ वस्तु, वर्तमान काल मे देखी जाती है, यही बात सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष, इस प्रकार वस्तु एव उसके वर्तमान काल-धर्म, दोनो को लक्ष्य करता है। यह नही कहा जाता है, क्योंकि इस प्रसग मे कम से कम, यह बताना पडेगा कि काल-धर्म कहीं तो अनुभव किया गया था या स्वतन्त्र रूप से जाना गया था। ऐसा तर्क किया जाता है कि इन्द्रिय-लक्षण, वर्तमान रूप से जाने जाते हैं, और यह वर्तमान का विचार भ्रम से काल पर थोपा जाता है। इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि क्षणिक इन्द्रिय-लक्षणो की गतिमान् परम्परा मे, किसी को 'वर्तमान' कहकर इगित करना असम्भव है, क्योंकि वे पूर्व और पर रूप से ही जाने जाते हैं, किसी को 'वर्तमान' कहते तक वह भूत हो जाता है। इसलिए वर्तमान रूप से काललक्षण सिद्ध नही किया जा सकता। यदि वर्तमान के रूप मे, काल किसी इन्द्रिय-लक्षण मे स्वीकारा जाय, तो उसे काल मे ही स्वीकारने मे क्या हर्ज है ? यदि काल अविद्यमान है तो फिर उसके आरोपण की पूर्व कल्पना करने से, क्या अर्थ है ? यदि ऐसा माना जाता है कि काल का अध्यास केवल जिसमे उसे स्वीकारा जाता है उस वस्तु के बिना ही होता है, तब वह शून्यवादियो का अन्य दृश्याभासवाद ही होगा। रामानुज मतानुसार, किसी न किसी

लिए, और अवयवों की आवश्यकता होगी और यदि ऐसा है तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और यदि ऐसा नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि पूरे क्षण की, उपाधि-गुण के सम्बन्ध के लिए अवयवों की निश्चितता की आवश्यकता नही होगी। यदि पूरे क्षण को, ऐसे सम्बन्ध के लिए, अवयवों की निश्चितता आवश्यक नहीं रहती, तो फिर पूरे ही काल की आवश्यकता क्यों होगी? द्रव्य मे गुण के सम्बन्ध की उपमा के आधार पर उपाधि-गुण का यह स्पष्टीकरण (अविभक्त) भेद-रहित काल को भी उपयुक्त है। वेंकटनाथ बताते है कि विभिन्न उपाधि गुणों के कारण, यद्यपि, क्षणों की कल्पना आगन्तुक है तो काल स्वय नित्य है। नित्य का अर्थ कभी नष्ट न होना है। काल का इस प्रकार ईश्वर से सहअस्तित्व है। अपने विकारों से सम्बन्ध मे वह एक उपादान कारण है और अन्य सभी के सम्बन्ध में निमित्त कारण है। ईश्वर सर्वव्यापी है यह शास्त्र कथन की सगति, काल का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधी जा सकती है।

(ट) वेंकटनाथ के अनुसार जीव का स्वरूप

वेंकटनाथ, पहले जीव की शरीर से भिन्नता, प्रतिपादन करने की कोशिश करते हैं और इस सम्बन्ध मे सुविख्यात चार्वाक तर्कों का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नही माना है। वेंकटनाथ के तर्कों का मुख्य बल, हमारे उस अनुभव की साक्षी पर निर्भर है जिसमे हमे हमारा सारा शरीर और उसके अग 'मैं' के अधीन है ऐसा अनुभव होता है, जैसे, जब हम कहते हैं 'मेरा शरीर' 'मेरा सर' इत्यादि। वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे एक शरीर के अनेक अग हैं, और यद्यपि उनमें से कुछ नष्ट भी हो जाय, तो भी, इन परिवर्तनों के होते भी वे एक नित्य इकाई, आत्मा के अधीन माने जाते हैं जो सभी काल मे स्थायी रहता है। यदि अनुभव अगो का धर्म होता तो, किसी अग के नाश से, उस अग से सम्बन्धित अनुभव स्मरण नही किए जा सकते, क्योकि यह माना नही जा सकता कि एक अग के अनुभव का दूसरे मे सचारण होता है। माता के अनुभव का भ्रूण भी अश भागी नही हो सकता। यह भी नही सोचा जा सकता कि भिन्न अगो के अनुभव किसी भी प्रकार से, सस्कार के रूप मे, हृदय या मस्तिष्क मे सगृहीत होते हैं, क्योकि इसका साक्षात् ज्ञान भी नही हो सकता, और न कोई आधार है जिससे यह अनुमान भी लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क मे सस्कारो का अनवरत सग्रह होता है, ऐसा सघात प्रत्येक क्षण मे, घटक रूप सस्कारो के क्षय और सग्रह के कारण, भिन्न होगा और इसलिए, ऐसे परिवर्तनशील तत्व द्वारा स्मृति को समझाना असम्भव हो जाएगा।[1]

---

[1] सर्वबौधैश्चे हृत्कोशे सस्काराधान मित्यपि, न दृष्ट न च तत् क्लृप्तो लिंग किमपि दृश्यते। न च सस्कार कोशस्ते सघातात्मा प्रतिक्षण प्रचयापचयाभ्या स्याद् भिन्नः स्मर्तात्र को भवेत्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५३।

व्यक्ति का एकीकृत आचरण, चेतना के व्यक्तिगत इकाई की सख्या के सहयोग से है, ऐसा नही माना जा सकता, क्योकि ऐसे प्रसग मे प्रत्येक का विशिष्ट हेतु होना चाहिए जो सघर्ष उत्पन्न करेगा, यदि हेतु नहीं है तो वे आपस मे क्यो सहयोग दें। यदि ऐसा माना जाता है कि ये व्यक्तिगत चेतन घटक तत्व, स्वभाव से ही ऐसे हैं कि विना सघर्ष उत्पन्न किए, एक दूसरे का अर्थ साधन करते हैं, तो अधिक सामान्य सम्भवता यह होगी, कि उनमे स्वाभाविक राग और द्वेष न होने से वे कार्य न करेंगे और इसके परिणामस्वरूप पूर्ण व्यक्ति के सारे कार्य बन्द हो जाएँगे। पुन जब कभी पशु जन्मता है तो ऐसा देखा जाता है उसमें कर्म के प्रति कुछ सहज प्रवृत्ति होती है, जैसे, स्तनपान करना, जो उस दिशा मे राग सिद्ध करती है और पूर्व जन्म के ऐसे अनुभव की मान्यता स्थापित करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा, देह और उसके अगो से भिन्न और विविक्त है। पूर्व जन्म के अनुभव और सस्कार बौद्धिक शक्ति की विभिन्नता, अभिरुचि और प्रवृत्ति को समझाते हैं।[1]

यह भी नही माना जा सकता कि शरीर के भिन्न अगो की चेतना की इकाईया इतनी सूक्ष्म और अव्यक्त हैं कि वे अपने व्यक्तिगत सामर्थ्य से व्यक्त नहीं हो सकती, तो भी वे पूर्ण व्यक्ति की चेतना के अभिव्यक्त करने मे मिलकर सहयोग दे सकती हैं, क्योकि छोटे से छोटे अणुरूप जीव मे भी कर्म-प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यदि, शरीर के भिन्न अगो से उद्भूत चेतना-इकाईयाँ केवल अव्यक्त ही मानी जाती हैं तो यह मानना अनर्थक होगा कि वे केवल सगत रूप होने पर ही सचमुच चेतना उत्पन्न कर सकेंगी।

पुन. चेतना एक गुण है जिसे किसी आधार की आवश्यकता होती है जिसमे वह रह सके, किन्तु जिस मत मे चेतना को भौतिक माना जाता है, वहा द्रव्य और गुण का मूल भेद नही देखा जाता है।[2] यह भी नहीं माना जा सकता है कि चैतन्य कुछ शारीरिक तत्वो का विशिष्ट विकार मात्र है, क्योंकि यह तो केवल एक मत ही है, जो किसी भी अनुभव मे प्रमाणित नहीं हो सकता। पुन जो चार्वाक, अनुमान की प्रमाणता मानते हैं, उनसे आग्रह किया जा सकता है कि शरीर एक भौतिक सघात है और इन्द्रिय गुणो का केवल समाहार होने से, यह अन्य भौतिक पदार्थों जैसा भौतिक

---

[1] एवं मनुष्यादि शरीर-प्राप्ति-दशायामदृष्ट विशेषात्पूर्वजन्मानुभव संस्कार भेदैरेवम-भिरुचि-भेदाश्च युज्यन्ते ।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५३–१५४ ।

[2] ननु चैतन्यमिति न [illegible] गुण, गुणवदाधारो देहश्च किन्तु [illegible] चैतन्य सामर्थ्यं [illegible] पदार्थं स्यात् ।

—वही, पृ० १५४ ।

ही है, जबकि चेतना, स्वय चेतन होने के कारण, शरीर से सर्वथा भिन्न होने से इससे भी भिन्न है। आत्मा को देह मे सकीर्ण करता सामान्य भ्रम कई प्रकार से समझाया जा सकता है। आक्षेप करने वाला कह सकता है कि यदि 'मेरा शरीर' 'मेरा हाथ' इन विचारो से यह तर्क किया जाय कि आत्मा शरीर से भिन्न है, तो 'मैं स्वय' इस अभिव्यक्ति से यह तर्क भी किया जा सकता है कि आत्मा की कोई और आत्मा है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा सर' ये कथन उसी प्रकार के हैं जैसेकि 'मेरा घर' और 'मेरी लकडी' है जहाँ दो वस्तुओ मे भेद का स्पष्ट ग्रहण होता है। 'मै स्वय' ऐसे कथन एक भाषा-प्रयोग है जिसमें षष्ठी का प्रयोग कल्पना से ही समझाया जा सकता है, यह द्रष्टा के चित्त मे, उस समय कही दो वस्तुओ के बीच काल्पनिक भेद प्रकट करता है, जिस पर वह उपाधिग्रस्त दृष्टिकोण से बल देता है। वेंकटनाथ मानते हैं कि चार्वाक और भी तर्क कर सकते हैं जिसका उपयुक्त उत्तर दिया जा सकता है।[1] तर्क और प्रति तर्कों की परम्परा देने के बजाय,

---

[1] चार्वाको के और तर्क इस प्रकार हैं—

जब कोई कहता है, 'मैं एक मोटा आदमी जानता हूँ' तब यह कहना कठिन होता है कि मोटापन शरीर मे है और जानना किसी और मे है। यदि कथन 'मेरा शरीर' का अर्थ यह है कि शरीर भिन्न है, तो 'मैं मोटा हूं' यह कथन शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध करता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव मे है उसे खण्डित नही किया जा सकता, क्योकि ऐसे प्रसग मे, आग को भी ठडा अनुमित किया जाएगा। प्रत्यक्ष शास्त्र-प्रमाण से अधिक बलवान् हैं इसलिए अपने अनुभव पर सदेह करने का कोई कारण नही है इसलिए प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान को लाने का कोई प्रयोजन नही है। साख्य का तर्क, कि सघात का परिणाम, किसी अन्य पदार्थ को अनुमित करता है जिसके लिए यह सघात है (खाट सोने वाले को अनुमित करती है) निरुपयोगी है, क्योकि दूसरे स्तर का पदार्थ जिसके लिए पहले स्तर का सघात उपयोगी है, उसके लिए अन्य तीसरा पदार्थ भी हो सकता है, और उसके लिए फिर कोई और, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। इस अनवस्था को रोकने के लिए, साख्यकार सोचते हैं कि पुरुष को अन्य पदार्थ की अपेक्षा नही है। किन्तु पुरुष को चरम पदार्थ मान लेने के बजाए, शरीर पर ही रुक जाना अच्छा है, और शरीर को अपना हेतु मान लेना चाहिए। जीवित शरीर मे आत्मा होनी चाहिए क्योकि वह जीवित है यह तर्क अयुक्त है, क्योकि शरीर से भिन्न मानी हुई आत्मा का हमें अन्य साधनो से अनुभव नही है। कोई यह भी कह सकता है कि जीवित शरीर मे खपुष्प होना चाहिए क्योकि वह जीवित है। चार्वाक अन्त मे अपने तर्क को पूरा करते हैं और कहते हैं कि शरीर एक स्वचालित यन्त्र है जो किसी पृथक् तत्व के अधीक्षण की अपेक्षा

अति फलदायक मार्ग, शास्त्र-प्रमाण को स्वीकारना होगा, जो अपने स्वत प्रामाण्य मे, निश्चित रूप से एव अर्थापत्ति द्वारा, शरीर से भिन्न, नित्य आत्मा की सत्ता प्रतिपादन करता है। शास्त्र की प्रमाणता, केवल कल्पित तर्क द्वारा खण्डित नहीं हो सकती।

ऐसा भी एक मत है कि चेतना इन्द्रियो का धर्म है, और भिन्न इन्द्रियो द्वारा ज्ञान उसी शरीर मे एकीकृत होता है, और इसी कारण आँखो से देखा पदार्थ भी, वही है, जो स्पर्श द्वारा ग्रहण किया गया है ऐसा अनुभव शक्य है। दूसरा मत यह है कि ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है, इन्द्रिय ज्ञान से सबधित सुख-दुःख की सवेदनाएँ, एक व्यक्ति को, पृथक् पदार्थ के रूप में व्यवहार करने के लिए आकर्षित या प्रतिक्षिप्त कर सकती हैं जो दृश्य पदार्थ द्वारा आकर्षित या प्रतिक्षिप्त होता है। वेंकटनाथ ऐसे सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि यह हमारे इस मानसिक अनुभव को नहीं समझा सकते जिसमें हमें लगता है कि हम उसी पदार्थ को स्पर्श करते हैं जिसे हमने देखा है। इससे यह अनुमित होता है कि कोई एक पदार्थ है जो दो इन्द्रियो के ज्ञान से भी अतिरिक्त है, क्योंकि चक्षु और स्पर्शेन्द्रियो की मर्यादा, अपने निर्दिष्ट इन्द्रियगुणो को ग्रहण करने तक ही है, और दोनों में से एक भी, भिन्न इन्द्रिय-गुणो द्वारा, वस्तु की एकता प्रतिपादन करने मे असमर्थ हैं। वेंकटनाथ आगे कहते हैं, कि यह मत कि भिन्न इन्द्रियो के सस्कार हृदय में इकट्ठे होते हैं और हृदय मे अनुभवो के ऐसे एकीकरण द्वारा, वास्तविक व्यक्ति दीखता है, यह अयुक्त है, क्योकि शरीर के अन्दर सस्कारो के एकीकरण का ऐसा केन्द्र हमे जानने मे नहीं आता है, और यदि, शरीर मे ऐसा केन्द्र स्वीकारा जाता है तो पृथक् आत्मा को, जिसमे संस्कार समाविष्ट हैं, मानने मे कोई हानि नहीं है।[1]

चेतना को भी आत्मा नहीं माना जा सकता क्योकि चेतना अनुभव है और इसलिए वह किसी व्यक्ति मे उसके पृथक् और विविक्त रूप मे होनी चाहिए। गतिशील चेतनावस्थाओ में ऐसा कुछ भी नहीं है जो चिरस्थायी है, जो अपने मे भूत और वर्तमान अवस्थाओ को एकीकृत कर सके और द्रष्टा या व्यक्ति का विचार उत्पन्न कर सके। इसलिए, यह मानना चाहिए कि स्वचेतन अह है जिसमें समस्त ज्ञान और अनुभव

विना, अपने आप कार्य करता है, और वह एक विशिष्ट भौतिक परिणाम है (अनधिष्ठित-स्वय-वाहक-यन्त्रन्यायाद् विचित्र-भूत-परिणति-विशेष-सम्भवोऽय देह-यंत्र॰)।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १५७।

[1] स्वादिष्ठ सस्कार कोशे मानाभावात्, अनेकेषामहर्यर्थाना मे शरीर योगे च ततश्च वरन् यथोपपन्नमेकस्मिन्नहम् अर्थे सर्वसंस्काराधीनम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १६०।

समाविष्ट हैं। ऐसा अहं, इस अर्थ में, स्वप्रकाश है कि अपने द्वारा स्वयं प्रकट है, वह केवल ज्ञान का अधिष्ठान ही नही है। ऐसा स्वप्रकाश्य अहं गाढ निद्रा मे भी विद्यमान है और हमारे 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस उत्तरकाल के स्मरण से प्रमाणित होता है और वह किसी अनुभव से बाधित नही होता। जब कोई किसी को 'तुम' या 'यह' कहकर पुकारता है, तब भी, उत्तरकाल में अहं 'मैं' के रूप मे स्वप्रकट है। ऐसा अह आत्मा को लक्ष्य करता है, जो सच्चा कर्ता, सुख दुःख का अनुभविता और ज्ञाता है और सच्चा नैतिक कर्त्ता है, और इसलिए वह, अपनी जैसी दूसरी आत्मा से, निर्दिष्ट कर्म और उनके फल की ओर ले जाते विशिष्ट प्रयत्नो के कारण भिन्न है। व्यक्ति के प्रयास, पूर्व-जन्म के कर्म के फलों से पूर्व-निश्चित होते हैं, और ये उसके पूर्व जन्म के कर्मों से। जो यह कहते हैं कि प्रयास, अप्रयास की ओर ले जाता है, वे अपना ही विरोध करते है क्योंकि व्यवहार, कर्म, प्रयास की सफलता पर आश्रित हैं। वे ही प्रयत्न, जो असभव की प्राप्ति की ओर या उन पदार्थों की ओर किए जाते हैं जिसमे प्रयास की आवश्यकता नही है, वे ही केवल, निरुपयोगी हैं, जबकि और सब प्रयत्न फल देते ही है।

ब्रह्म एक ही है, वह भिन्न चित्तो के सबध से नाना रूप दीखता है, वेंकटनाथ की दृष्टि से कि ऐसा मत अयुक्त है, क्योंकि हम जानते हैं कि एक ही व्यक्ति, पुनर्जन्म मे अनेको देहो के ससर्ग मे आता है, और भिन्न शरीरो से ऐसा ससर्ग व्यक्ति मे भेद उत्पन्न नही कर सकता और यदि ऐसा है, अर्थात् भिन्न देह से सबध, व्यक्ति मे भेद नही उत्पन्न करता तो एक ही ब्रह्म भिन्न चित्तो के सबध से नाना रूप क्यो हो जायगा इसका कोई कारण नही दीखता। पुन, जिस मत मे जीव, यद्यपि एक दूसरे से सचमुच भिन्न है किन्तु शुद्ध सत्ता ब्रह्म के मात्र अग होने के कारण अभिन्न है यह मत भी अयुक्त है, क्योकि यदि ब्रह्म जीव से इस प्रकार अभिन्न है, वह भी सभी दु ख और अपूर्णताओ का भागी होगा, जो निरर्थक है।

ब्रह्मदत्त मानते थे कि ब्रह्म ही नित्य और अजात है, व्यक्तिगत आत्मा उसमे से उत्पन्न हुई है। वेंकटनाथ इसकी आलोचना करते है, और इस वाद का प्रतिपादन करते हैं कि सभी आत्मा अज और असृष्ट है। उन्हें चिर और नित्य मानना चाहिए, क्योकि यदि वे, शरीर मे रहते हुए परिवर्तनशील माने जाय, तो सहेतुक प्रवृत्ति की निरन्तरता नही समझाई जा सकेगी। यदि शरीर के साथ उनका नाश होता है तो कर्मवाद और नैतिक उत्तरदायित्व मे विश्वास त्यागना पडेगा।

आत्मा, विभु (सर्वव्यापी) नही है, क्योकि उपनिषदो मे ऐसा कहा है वह शरीर से बाहर जाता है। नैयायिक, आत्मा के विभुत्व के बारे मे इस प्रकार तर्क देते हैं—पाप और पुण्य प्रत्येक आत्मा से सम्बन्धित है और वे भौतिक जगत् मे और दूर स्थानो

मे भी ऐसे परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं जो उस आत्मा को सुख-दु ख दे सकते हैं, पुण्य और पाप तो विशिष्ट आत्मा से सम्बन्धित है, इसलिए वे दूरस्थ स्थान पर परिवर्तन नही कर सकते, जब तक कि आत्मा और उनके (पाप-पुण्यो के) स्थानो मे सह-अस्तित्व नही है। यह मत रामानुजवादियो पर नही लागू होता, क्योकि उनके अनुसार पाप और पुण्य का अर्थ, व्यक्ति के कर्मानुसार उस पर अनुग्रह या कोप है और ईश्वर के अनुग्रह और कोप का व्यापार अमर्याद है।[1]

प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से, आत्मा को विभु भी मान लिया जाय, तो भी वह भले-बुरे फलो का होना नही समझा सकेगा, क्योकि आत्मा का उन दूरस्थ स्थानो मे सह-अस्तित्व भी हो, तो भी उसके अदृष्ट उसकी समस्त व्यापक आत्मा मे कार्य नही करते, केवल अशभाग मे ही करते हैं, और इसलिए, जबकि वह, जिस स्थान मे कर्म-फल उत्पन्न होता है उससे सह-अस्तित्व मे नही है, वह इसे ठीक तरह नही समझा सकता।

(त) वेंकटनाथ के अनुसार मुक्ति का स्वरूप

वेंकटनाथ कहते हैं कि कुछ लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि यदि जीव अनादि काल से बन्धन मे था तो कोई कारण नही है कि उसे भविष्य मे क्यो मुक्त होना चाहिए ? इसके उत्तर मे सर्वमान्य आशा है कि किसी न किसी समय, अनुकूल सहकारियो का ऐसा पु ज आयगा और हमारे कर्म इस प्रकार फलित होगे कि वे, विवेक-दृष्टि और सभी सुखो से विरक्ति उत्पन्न कर, हमे बधन से मुक्त कर देंगे, जिससे ईश्वर को अपना अनुग्रह दिखाने का अवसर मिल सके। इस प्रकार, यद्यपि प्रत्येक जीव अनादि काल से बधन मे है तो भी उन सबो को, क्रम से, मुक्ति पाने का योग्य अवसर मिलता है। इस प्रकार ईश्वर, केवल उन्ही पर मुक्ति की कृपा करते हैं जो अपने कर्म द्वारा उसके योग्य होते हैं और इस विचार-दृष्टि से सम्भव हो सकता है कि कोई एक ऐसा समय होना चाहिए जब सभी मुक्त हो जायेंगे और ससार चक्र का अत हो जायगा। ऐसे ससार क्रम का अत, ईश्वर की स्वेच्छा से होगा, और इस प्रकार, ऐसी अवस्था मे, ईश्वर की स्वतत्र और सहज प्रवृत्ति मे बाहर से बाधा उत्पन्न हो जायगी, इस प्रकार भय के लिए लेश मात्र भी स्थान नही है। मनुष्य, दु ख के अनुभवो से मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, जो इस जगत् के सुखो को नही-सा कर देता है। वह समझता है कि सासारिक सुख अल्प व अस्थिर है और दु ख से सबद्ध हैं। ऐसी मुक्ति ईश्वर-भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, यहाँ भक्ति से, राग सहित

---

[1] इह हि धर्माधर्म-शब्द कर्म-निमित्तेश्वर-प्रीति-कोप-रूप-बुद्धि-द्योतक। अस्ति ही शुभे स्वमी तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते सौ परम शरीरी इति।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० १७९।

इन्द्र और प्रजापति ।[1] उपरोक्त क्रमानुसार अधिष्ठाता देवतागण मृतात्मा को एक स्तर से ऊपर उठाने हेतु परमात्मा द्वारा नियुक्त माने गए हैं ।

पूर्ण मुक्तावस्था में बुद्धि का पूर्ण विकास होता है । यद्यपि यह अवस्था भक्ति-साधना से प्राप्त है, तो भी इसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह, पाप और पुण्य जो चित्त को संकुचित कर सकते हैं सभी कारणों से सम्बन्ध-विच्छेद का फल है । इसलिए इस अवस्था से च्युति नही है ।

मुक्त पुरुष स्वेच्छा से शरीर धारण कर सकता है । उसका देह, बन्धन रूप नहीं हैं, क्योंकि वे ही बन्धन में गिरते हैं जिनका शरीर कर्म की उपाधि से युक्त है । मुक्तावस्था, ब्रह्म की नित्य प्राप्ति द्वारा पूर्ण सुखावस्था है, मुक्त ईश्वर का दास है । यह दास-भाव दु ख नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि दासता, पाप से सम्बन्धित होने पर ही दु ख ला सकती है । मुक्त पुरुष इस अर्थ में सर्व शक्तिमान् है कि भगवान् उसकी इच्छाएँ कभी नही टालता ।

मुक्त पुरुष, सभी वस्तुओ को, अंश रूप मे, भगवान् में समाविष्ट मानता है, इसलिए ससार के कार्य उसे दु.खी नहीं करते, यद्यपि उसे यह ज्ञान भी हो कि भूतकाल में ससार की अनेक वस्तुओ ने उसे दु ख दिया था ।

वेंकटनाथ जीवन्मुक्ति नही मानते क्योंकि मुक्ति की प्रत्येक परिभाषा मुक्ति का कर्म-जनित जीवन, इन्द्रिया और देह से पृथक्ता बताती हैं । इसलिए, हम, जब जीवन्मुक्ति के बारे में सुनते हैं तो अर्थ यह है कि उसकी अवस्था मुक्त जैसी है । अद्वैतवादियो का कहना कि ज्ञान के साथ मूल अविद्या नष्ट हो जाती है, तो भी उसकी आंशिक अवस्था, मुक्त पुरुष को शरीर के बन्धन मे रख सकती है, यह मिथ्या है । क्योंकि यदि मूल अविद्या नष्ट हो गई है तो फिर उसकी अवस्थाएँ कैसे रह सकती हैं । इसके अतिरिक्त, यदि वे ज्ञान होने के उपरान्त रहती हैं, तो यह कल्पना करना असभव हो जाता है कि वे किस प्रकार मुक्त पुरुष की मृत्यु के बाद नष्ट हो जायेंगी ।

रामानुज दर्शन में ईश्वर का स्थान

हमने देखा कि रामानुज के मतानुसार ईश्वर की सत्ता शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है, अनुमान द्वारा नही । वेंकटनाथ बताते है कि साख्य मतानुसार, जगत् की उत्पत्ति, पुरुष के सानिध्य द्वारा प्रकृति के व्यापार से होती है, यह मिथ्या है, क्योंकि उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार मकडी अपना जाला बनाती है उसी प्रकार

ईश्वर जगत् की रचना करता है। उपनिषद् और आगे कहते है कि ईश्वर ने प्रकृति और पुरुष दोनो मे प्रवेश किया और सर्जन के समय रचना-कर्म उत्पन्न किया।[1] ईश्वर के सम्बन्ध मे योग-दर्शन का यह भी मत कि यही एक मुक्त पुरुष है जो हिरण्यगर्भ के शरीर मे प्रवेश करता है या अन्य दूसरा शुद्ध शरीर धारण करता है, शास्त्र-विरुद्ध है। यह सोचना व्यर्थ है कि जगत्-रचना मुक्त पुरुषो के क्रिया-व्यापार से होती है, क्योकि यह जितना शास्त्र-विरुद्ध है उतना ही सामान्य सम्भावना के भी विपरीत है, क्योकि असख्य मुक्त पुरुषो मे इच्छा की ऐसी एकता नही हो सकती जो बिना अवरोधो के जगत्-रचना को समझा सके। इस प्रकार शास्त्र-प्रमाण के बल पर स्वय ईश्वर ने, प्राणियो के हित के लिए या अपनी लीला के लिए, इस जगत् की रचना की है। लीला के आनन्द को नकारात्मक स्थिति अर्थात् आलस्य की क्लाति दूर करना, नही समझना चाहिए, किन्तु स्वय को आनदित करने वाला व्यापार समझना चाहिए।[2] जब कहा जाता है कि भगवान् रुष्ट है इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे निराश हुए है, क्योकि वे स्वय परिपूर्ण है और उन्हें कुछ भी पाना या खोना बाकी नही है। इसलिए ईश्वर के कोप को, जो दडनीय है, उन्हे दड देना, समझना चाहिए।

रामानुज के मतानुसार जीव और जगत् ईश्वर की देह या 'शरीर' है। शेषार्य वश के, अनन्ताचार्य, अपने 'न्याय सिद्धाजन' मे, वेंकटनाथ के इस मत का अनुसरण करते हुए उसे और विशद करते है और ईश्वर के शरीर के प्रत्यय की सूक्ष्म विवेचना करते है, जो हमारे ध्यान देने योग्य है। इसे वे अस्वीकार करते है कि शरीर-प्रत्यय, जाति को अनुमित करता है क्योकि यद्यपि शरीर-प्रत्यय, शरीर के सभी व्यापारो या क्रियाओ के लिए प्रयुक्त होता है, तो भी, यह प्रत्यय किन्ही न किन्ही विशिष्ट दृष्टान्तो से ही सम्बन्धित होता है इसलिए सामान्य स्वयम् शरीरत्व के प्रत्यय की सत्ता मानने को बाध्य नहीं करता। जो कुछ भी इस विषय मे कहा जा सकता है वह यह कि शरीरत्व का सम्बन्ध व्यक्तिगत शरीरो से है।[3] समस्त जाति-प्रत्यय, इसीलिए,

---

[1] प्रकृति पुरुष चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरि ।
क्षोभयाभास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० २५२।

[2] क्रीडा-योगादरति-योग तदभावाद्वा तदभाव स्यात्, मैव क्रीडा हि प्रीति-विशेष-प्रभव स्वय-प्रियो व्यापार । —वही, पृ० २५५।

[3] न चे दम् शरीरमिद शरीरमिनित्यनुगत प्रतीतिरेव तत्साधिका, अनुगताप्रतीते बाधक-विरहे जाति साधकत्वा दिति वाच्यम्, सिद्धान्ते अनुगत-प्रतीते सस्थान विषयकत्वेन तदरिक्त-जाति-साधकत्वासम्भावात् ।

—अनन्तार्य, शरीरवाद (हस्त०)।

समाहार रूप से, विशेष प्रकार के वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और इस रूप में वे सेना इत्यादि समूहवाचक नामों के निर्देश समझे जा सकते हैं।[1] स्वामी श्रीनिवास, अपने 'रामानुज सिद्धान्त संग्रह' में जाति प्रत्यय को, सादृश्यरूप वर्ग के निर्देश जैसे प्रत्यय पर आधारित मानते हैं। वे कहते हैं कि जब दो सादृश्य वर्ग में, दोनों ही गाय कहलाते हैं, तब दो व्यक्तिगत सादृश्य वर्ग में अन्तर और कुछ नहीं दीखता। दोनों ही गाय कहलाते हैं इसका कारण दोनों वर्गों के बीच रहा यह सादृश्य है।[2] इस प्रकार, समान वर्ग के विशिष्ट सादृश्य से उत्पन्न जाति-प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है (तावद्विषयकज्ञानस्य जातिविषयकस्याभावात्)।

अनन्तार्य 'रामानुज भाष्य' में शरीर की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, जो चेतन के हेतु या स्वार्थ के लिए पूर्णतया नियमित या अधिकृत किया जा सके, और जो साध्य के साधन रूप है। (चेतनस्य यद्द्रव्य सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं शक्य तच्छेषैक स्वरूपच तत्तस्य स्वरूपम्)। 'श्रुत प्रकाशिका' के रचयिता, सुदर्शनाचार्य, इस परिभाषा का यह बोधार्थ करते हैं कि जब किसी की चेष्टा, किसी चेतना की इच्छा या कल्पना द्वारा पूर्णतया नियमित होती है और इस प्रकार नियन्त्रित रहती है तब वह उस दूसरे का शरीर कहलाता है (कृतिप्रयुक्तस्वीयचेष्टासामान्यसम्बन्धनियम्यत्व शरीरपदप्रवृत्ति-निमित्तम्)।[3] जब यह कहा जाता है कि यह शरीर इस जीव का है तब आधेयत्व का अर्थ

---

[1] एक जातीयमिति व्यवहारस्य तत्तदुपाधि-विशेषेणोपपत्ते राशि-सैन्य परिषदरण्या-दिष्वैक्यव्यवहारादिवत्, उपाधिदत्तायमनेकेषाम् एक स्मृति-समारोह'।

—न्याय सिद्धाञ्जन, पृ० १८०।

[2] अथ सास्नादिमानयमपि सास्नादिमानिति सास्नादिरेव अनुवृत्त-व्यवहार-विषयो दृश्यते, अनुवृत्त-धी-व्यवहार-विषयस्तदतिरिक्तो न कश्चित् अपि दृश्यते। तस्मादुभय-सम्प्रतिपन्न-सस्थानेनैव सुसदृशोपाधिवशादनुगत-धी-व्यवहारोपपत्ता वतिरिक्त कल्पने मानाभावात्,सुदृशत्वमेव गोत्वादीनामनुवृत्ति।

—रामानुज सिद्धान्त सग्रह, हस्त०।

वास्तव श्रीनिवास सुसादृश्य को एक विशेष धर्म मानते हैं, जो भेद के होते भी सामान्यता के ग्रहण का कारण है। (प्रतियोगि-निरुप्य-प्रतिव्यक्ति-विलक्षण-विषय-निष्ठ-सदृश व्यवहार-साधारण-कारण-धर्म विशेष सौसादृश्यम्। इस सादृश्य के कारण हम समान पदार्थ को सज्ञा दे सकते हैं। जब यह दो पदार्थों में रहती है तब धर्म-सादृश्य कहते हैं। जब वह अद्रव्य मे होती है तब हम स्वरूप-सादृश्य कहते हैं।

[3] शरीरवाद (हस्त०)।

यह होता है कि उस शरीर के साधारण व्यापार उस चेतन के कारण हैं,[1] इसी सादृश्य के आधार पर नौकर अपने स्वामी का शरीर नही कहा जा सकता। इस परिभाषा के अन्तर्गत पूर्व कल्पना यह है कि व्यक्तिगत जीव पशु और वृक्षादि की गति, और ईश्वर अधिष्ठित जड पदार्थो की गति यद्यपि हम उन्हे न देख पाते[2] तो भी उन विशिष्ट जीवो की इच्छा शक्ति से है।

शरीर की मनोजीव-विज्ञान-सम्बन्धी-क्रियाएँ अधिष्ठात्ट शक्ति की सूक्ष्म इच्छा द्वारा होती है, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, इस आक्षेप को उठाकर 'रामानुज भाष्य' में शरीर की दूसरी परिभाषा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार जो चेतन की इच्छा द्वारा सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित होकर गिरने से रोका जा सके, वही शरीर है।[3] तो भी इस परिभाषा पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योकि यह जीव ईश्वर का देह है, इस प्रयोग को नही समझा सकती (यस्यात्मा शरीरम्)। जीव मे भार परिमाण नही है। इसलिए यह सोचना निरर्थक है कि ईश्वर उन्हे पतन से रोकता है और ईश्वर का जीव से यही सम्बन्ध है। इसलिए परिभाषा मे यहाँ तक परिवर्तन किया जा सकता है कि विशिष्ट जीव की इच्छा द्वारा, स्पर्श सम्बन्ध से पूर्णतया जो नियमन मे है वही शरीर है।[4] इस परिवर्तन पर भी आगे और आक्षेप किया जा सकता है कि यह परिभाषा अब भी काल इत्यादि व्यापक पदार्थों का समावेश नही करती। अब, दो सर्वव्यापक पदार्थो के बीच सयोग, नित्य और सहज माना गया है। इसलिए, ईश्वर का काल इत्यादि से सयोग, ईश्वरेच्छा से होता है ऐसा नही माना जा सकता, और यदि इसे शरीर का व्यवच्छेदक धर्म माना जायगा तो काल इत्यादि ईश्वर का शरीर नही कहा जा सकेगा। इसलिए शरीर की दूसरी ही परिभाषा देनी पडेगी कि शरीर, चेतन के अधीन और आश्रित एक द्रव्य है। परतन्त्रता और अधीनता विशिष्ट उत्कृष्ट गुण के अर्थ मे समझना चाहिए। इस सबध

[1] एतज्जीवस्येद शरीरमित्यादौ आधेयत्व तस्य च शरीर पदार्थैकदेशे कृतोऽन्वयाद्वा तज्जीव-निष्ठ-कृति-प्रयुक्त-स्वीय चेष्ठा-सामान्यकमिदम् इति बोध·।

—वही।

[2] जीव शरीरे वृक्षादौ ईश्वर शरीरे पर्वतादौ च सूक्ष्मस्य तत्तत्कृति-प्रयुक्त-चेष्टा-विशेषस्य अगीकारान्न शरीर-व्यवहार-विषयत्वानुपपत्तिः। —वही।

[3] यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यम् सर्वात्मना धारयितु शक्य तत्तस्य शरीरमिति कृति-प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक-पतन-प्रतिबधक-सयोग-सामान्य व त्व शरीर-पद-प्रवृत्ति-निमित्तम्।

—वही।

[4] पतन प्रतिबधकत्व परित्यज्य कृति-प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक-सयोग-सामान्यस्य शरीर-पद-प्रवृत्ति-निमितत्व-स्वीकारेऽपि क्षति-विरहात्। —शरीरवाद।

यह परिभाषा न्याय से भिन्न है जिसमे शरीर को चेष्टा, इन्द्रिय और भोग का आश्रय माना है।[1] क्योकि ऐसी परिभाषा मे, जबकि शरीर का दूर सीमान्त मे भी व्यापार हो सकता है, जिससे जीव की मूल इच्छा का निकट आश्रय (आधार) न हो, इसलिए आश्रय (आधार) के विचार को इतना विस्तृत करना पडेगा कि जिससे सुदूरवर्ती अगो का उन अगो से सम्बन्ध समाविष्ट हो सके जो जीव से प्रेरित किए गए थे। परोक्ष सम्बन्ध के इस सिद्धान्त का विस्तार करते हुए, हाथ मे पकडी हुई वस्तु की क्रिया को भी इसमे समावेश किया जा सकता है और इस दशा मे बाह्य वस्तु भी शरीर कहा जा सकता है, जो असम्भव है। नैयायिक इसके बचाव में, समवाय सम्बन्ध को लाते हैं जिसके द्वारा शरीर के अग, दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा, भिन्न रूप से आपस में सम्बन्धित हैं। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि रामानुज-मत में समवाय नहीं माना गया है।

ब्रह्मन् प्रकृति और जीवरूप शरीर द्वारा, जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीव, अपने कर्मों द्वारा, सुख-दुःख का निमित्त कारण है, ठीक उसी प्रकार, ब्रह्म उपादान का कारण होते हुए भी, निमित्त कारण हैं, और कर्म, जीव में होने से जीव उपादान कारण है। दूसरी ओर ईश्वर स्वयं, शरीर से पृथक्, नित्य अपरिणामी माना जा सकता है। इस प्रकार, इन दो दृष्टि-कोणो से, ईश्वर उपादान एव निमित्त कारण माना जा सकता है और अपरिणामी कारण भी माना जा सकता है।

भास्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि ब्रह्म मे दो अश हैं चिदश और अचिदश वह अचिदश द्वारा, परिणत होकर अचिद् परिणामो की उपाधियों से कर्म चक्र मे प्रवृत्त होता है। भास्कर ऐसा मानता है कि उपाधियाँ, ब्रह्म के अश हैं, और प्रलयावस्था मे भी वे सूक्ष्म रूप से रहती हैं, और उपाधियाँ, जो ब्रह्म को मर्यादित करती हैं वे केवल-मुक्तावस्था मे ही ब्रह्म मे लय होती हैं। वेंकटनाथ सोचते हैं उपाधि के प्रत्यय द्वारा स्पष्टीकरण अनर्थ उत्पन्न करता है। यदि उपाधि सयोग से जीव को बनाती है तो फिर जबकि वे सब ईश्वर से सम्बन्धित हैं, तो ईश्वर को भी मर्यादित करेंगी। यदि उपाधि को घटाकाश और मठाकाश की उपमा से समझा जाय, जहाँ आकाश निरन्तर रहता है और घट इत्यादि उपाधियुक्त पदार्थों को हटाने से ही उसे

अतः ब्रह्म को कारण तथ कार्यावस्था निर्दिष्ट करती है। सूक्ष्म चिदचिद्वि-शिष्ट ब्रह्म कारणत्वात् स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य च तस्य कार्यत्वात् ब्रह्म-चिद्-चिदात्मक-कारणत्वाभावात्... [illegible]।

—वही।

[1] चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। —न्यायसूत्र १-१-२।

को हुए बिना क्यो उठाना पसद करेगा ? अवतार कार्य को तो रग-भूमि पर नाटक के रूप मे ही समझना चाहिए। आगे, यह मत शास्त्र-प्रमाण को बाधित करता है। वेंकटनाथ सोचते हैं उनके सम्प्रदाय का मत इन सब आक्षेपो से मुक्त है, क्योकि जीव और ब्रह्म न तो केवल अभिन्न ही है और न अभेद मे भेद है, किन्तु वह द्रव्य गुण का सम्बन्ध है। गौण तत्व के दोष, द्रव्य को प्रभावित नही करते और न उनका सबध द्रव्य रूपी ब्रह्म को दूषित कर सकता है, क्योकि सम्बन्ध कर्माश्रित है।[1]

धर्म पक्ष मे वेंकटनाथ, पचरात्र ग्रथो मे विस्तार से कहे गए सभी प्रमुख धार्मिक मतो को मानते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और पूर्ण है। वह आप्तकाम है इसका अर्थ यह है कि उसमे कोई इच्छाएँ नही हैं। अर्थ यह है कि उसकी इच्छाएँ निराशा उत्पन्न नही करती और उसके नियत्रण में है। हम जिन्हे पाप और पुण्य कहते हैं वे भी उसकी कृपा और रोष से होते हैं। उसका रोष दु ख या वेदना नही लाता। रोष का केवल अर्थ यह है कि ईश्वर की अभिवृत्ति हमे दण्ड देने की है या वह हम पर कृपा न करने की है।[2]

शास्त्रोक्त विधि उसकी आज्ञाएँ हैं। कर्म और उनके फल के बीच, अदृष्ट का अपूर्व जैसा कोई साधन नही है, जो कर्म समाप्त होने पर बना रहता है और कर्म के फल देता है। ईश्वर ही एक निरतर सत्ता है, वह हमारे कर्मों से खुश है या रुष्ट है और वह अपनी इच्छानुसार कर्म-फल देता है।[3] शास्त्र केवल इतना ही बताते हैं कि कौन से कर्म उसे रुचते है और कौन से उसकी आज्ञा के विरुद्ध हैं। यज्ञो का उद्देश्य ईश्वर की पूजा है, और इन यज्ञो मे जिन देवताओ की पूजा होती है वह ईश्वर स्वय के भिन्न नाम हैं। इस प्रकार इस मत मे, सारे धर्म और नीति को, ईश्वर की आज्ञा और उसकी पूजा का रूप दिया गया है। ईश्वर ही की कृपा से जब किसी की बुद्धि विशद हो जाती है तो उसे मुक्ति मिलती है, और ईश्वर के अनन्त स्वरूप के निरन्तर अनुभव से वह आनन्द के सागर मे डूबा रहता है, जिसकी तुलना मे सासारिक सुख

---

[1] अस्मन्मते तु विशेषणगता दोषा न विशेष्य स्पृशन्ति, ऐक्य-भेदाभेदागीकारात्, अकर्मवश्य-ससर्गज-दोषाणामसम्भवाच्च।

—तत्वमुक्ताकलाप, पृ० ३०२।

[2] आप्तकाम शब्दस्तावदीशितुरेष्टव्याभावमिच्छा-राहित्य वा न ब्रूते-इष्ट सर्वमस्य प्राप्त एव भवतीति तात्पर्य ग्राह्यम् · सर्व-कार्य-विषय-प्रतिहतानन्याधीने चायान् ईश्वर, जीवस्तु न तथा।

—वही, पृ० ३८६।

[3] तत्तत्कर्माचरण-परिणतेश्वर-बुद्धि-विशेष एव अदृष्टम्।

—वही, पृ० ६६५।

दुःसाध्य है।[1] मनुष्य अपने प्रयासों से पुण्यशील या धर्मात्मा नहीं बन सकता, किन्तु ईश्वर अपनी खुशी और रोष से मनुष्य को धर्मी और अधर्मी बनाता है, और तदनुसार प्रतिफल या दण्ड देता है और पाप और पुण्य जैसा कि कहा गया है, मनुष्य के आत्मीय गुण नहीं है किन्तु ईश्वर के ही भाव प्रदर्शित करते हैं कि वह खुश है या रुष्ट। जिन्हें वह ऊपर उठाना चाहता है उनसे उत्तम कर्म कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है उनसे पाप-कर्म कराता है। अन्तिम सुधार और निर्णय उसी के हाथ में है, मनुष्य उसके हाथों में साधन मात्र है। मनुष्य के कर्म, स्वयं फल नहीं दे सकते, किन्तु अच्छे और बुरे फल ईश्वर की खुशी और रोष के अनुसार होते हैं।[2]

शंकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन

जिन पाठकों ने अभी तक इस पुस्तक का अनुसरण किया है उन्हें पता चला होगा कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय के विरुद्ध मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी थे। दक्षिण भारत में, श्री वैष्णव, शैव और जैन मत के और भी विरोधी थे। श्री वैष्णव, शैव और जैन मत में परस्पर एक दूसरे का उत्पीड़न एक साधारण ऐतिहासिक वृत्तान्त है। किसी स्थानीय शासक या आचार्य के प्रभाव से एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन करना भी होता रहता था। नारायण विष्णु या कृष्ण की, शिव से श्रेष्ठता तथा शिव की नारायण इत्यादि से श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अनेक ग्रन्थ रचे गए। माधव और उनके अनुयायी भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय के विरोधी थे, किन्तु कुछ लोग माधव के दर्शन को श्री वैष्णव सम्प्रदाय के लगभग निकट मानते थे, किन्तु लोग माधव के मत का बलपूर्वक खण्डन करते थे और महाचार्य का 'पाराशर्य विजय' और परकाल यति का 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ माधव के विरुद्ध इस विवाद के दृष्टान्त के रूप में दिए जा सकते हैं। श्री वैष्णवों ने भास्कर और यादव प्रकाश के मतों का खण्डन किया। उदाहरण के तौर पर, रामानुज का 'वेदार्थ संग्रह' या वेंकटनाथ का 'वादित्रय खण्डन' के नाम दिए जा सकते हैं। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय के मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी रहे। 'शत दूषणी', एक प्रकार वितण्डावादी ग्रंथ है, जिसमें वेंकटनाथ शंकर-मत का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यह ग्रंथ सौ विवाद-ग्रस्त विषयों पर आधारित है जो अपने नाम से ग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट करता है। किन्तु मूल ग्रंथ, जो श्री सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम् से छपा है उसमें केवल

---

[1] तत्व मुक्ता कलाप, पृ० ६६३-४।

[2] स एवैनं भूतिं गमयति, स एनं प्रीतः प्रीणाति एष एव साधु कर्म कारयति तं क्षिपामि अजस्रम् अशुभानित्यादिभिः प्रमाणशतैः ईश्वर-प्रीति-कोपाभ्यां एव धर्माधर्म-फल-प्राप्तिरव गम्यते। —वही, पृ० ६७०।

६६ विवादग्रस्त विषय हैं, यह इस लेखक को हस्तलिखित ग्रन्थ से पता चलता है। छपी हुई प्रति मे, वाधूल श्री निवास के शिष्य, महाचार्य या रामानुज दास की टीका है। किन्तु ग्रन्थ ६६ विवाद विषय पर पूर्ण होता है और दूसरी दो टीकाएँ भी खो गई लगती हैं। छपी पुस्तक मे दो और विवाद के विषय हैं ६५ और ६६ जिनकी टीका उपलब्ध नही है और ग्रन्थ के सम्पादक पी० बी० अनन्ताचार्य कहते हैं कि ग्रन्थ ६६वें विवाद पर पूर्ण हुआ है (समाप्ता च शतदूषणी)। यदि सम्पादक का कथन प्रामाणिक माना जाय तो यह मानना पडता है कि 'शत दूषणी' मे प्रयुक्त शत शब्द बहुवाचक आशय रखता है सौ नही। यह अनुमान करना कठिन है कि शेष ३४ खण्डन वेंकटनाथ ने लिखे थे और अब खो गए हैं या उन्होने केवल ६६ विवाद विषय लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। इसमें से बहुतो मे कोई नया विचार नही मिलता और बहुत से विषय केवल सैद्धान्तिक एव साम्प्रदायिक हित की दृष्टि से लिखे गए हैं उनमे से दार्शनिक एव धार्मिक पक्ष कुछ भी नही है, इसलिए, उन्हे यहाँ त्याग दिया गया है, केवल ६१ विवाद विषय ही दिए हैं। ६२वें विषय मे, शकर वेदान्त द्वारा, शूद्रो को ब्रह्मज्ञान से वर्जित करने को अयुक्त बताया है। ६३ मे, अधिकार-विवेक की चर्चा की है, ६४ मे शकर-मत के सन्यासियो के पहनावे और सप्रदाय-चिह्न को अयुक्त बताया है। ६५ मे विशेष वर्ग के सन्यासियो से सम्बन्ध रखने का निषेध किया है। ६६ मे यह बताया है शकर मत की ब्रह्मसूत्र से एकवाक्यता नही हो सकती।

पहला आक्षेप

निर्गुण ब्रह्म, इस बात का सतोषजनक स्पष्टीकरण नही कर सकता कि ब्रह्म शब्द किस प्रकार, उचित रूप से निर्गुण पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकता है। क्योंकि यदि वह निर्गुण है तो वह ब्रह्म शब्द द्वारा प्रधान अर्थ में या लक्षणो द्वारा निर्दिष्ट नही किया जा सकेगा। यदि वह प्रधान अर्थ मे निर्दिष्ट नही कर सकता, तो दूसरे अर्थ में भी असम्भव है, मुख्य अर्थ का जब कुछ अश असम्भव होता है तभी लक्षणा उपयुक्त होती है। यह शास्त्र-प्रमाण से भी जानते हैं कि ब्रह्मन् शब्द, प्रधान अर्थ मे, अनन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त महान् सत्ता के लिए प्रयुक्त किया गया है। बहुत से मूल पाठो मे निर्गुण अश का उल्लेख है, इसे आक्षेप के रूप मे नही रखा जा सकता, क्योंकि इन्हे दूसरे अर्थ मे भी समझाया जा सकता है और यदि कोई शका उत्पन्न भी होती है तो प्रतिवादी इस तथ्य का दुरुपयोग नही कर सकता है कि ब्रह्म निर्गुण है। यह कहना भी कठिन है कि ब्रह्मन् शब्द केवल लक्षणा द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म को ही [illegible] [illegible] है, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म शब्द के अर्थ का अनुभव, साक्षात् अपरोक्ष होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय मे प्रतिवादी के मत से ब्रह्म शब्द निरर्थक हो जाएगा।

दूसरा आक्षेप

शंकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन

जिन पाठकों ने अभी तक इस पुस्तक का अनुसरण किया है उन्हें पता चला होगा कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय के विरुद्ध मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी थे। दक्षिण भारत मे, श्री वैष्णव, शैव और जैन मत मे और भी विरोधी थे। श्री वैष्णव, शैव और जैन मत मे परस्पर एक दूसरे का उत्पीड़न एक साधारण ऐतिहासिक वृत्तान्त है। किसी स्थानीय शासक या आचार्य के प्रभाव से एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन करना भी होता रहता था। नारायण विष्णु या कृष्ण की, शिव से श्रेष्ठता तथा शिव की नारायण इत्यादि से श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अनेक ग्रन्थ रचे गए। माधव और उनके अनुयायी भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय के विरोधी थे, किन्तु कुछ लोग माधव के दर्शन को श्री वैष्णव सम्प्रदाय के लगभग निकट मानते थे, किन्तु लोग माधव के मत का बलपूर्वक खण्डन करते थे और महाचार्य का 'पाराशर्य विजय' और परकाल यति का 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ माधव के विरुद्ध इस विवाद के दृष्टान्त के रूप मे दिए जा सकते हैं। श्री वैष्णवो ने भास्कर और यादव प्रकाश के मतो का खण्डन किया। उदाहरण के तौर पर, रामानुज का 'वेदार्थ संगह' या वेंकटनाथ का 'वादित्रय खण्डन' के नाम दिए जा सकते हैं। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय के मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी रहे। 'शत दूषणी', एक प्रकार वितण्डावादी ग्रंथ है, जिसमे वेंकटनाथ शंकर-मत का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न करते है। यह ग्रंथ सौ विवाद-ग्रस्त विषयो पर आधारित है जो अपने नाम से ग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट करता है। किन्तु मूल ग्रंथ, जो श्री सुदर्शन प्रेस, काजीवरम् से छपा है उसमे केवल

[1] तत्व मुक्ता कलाप, पृ० ६६३-४।

[2] स एवैनं भूतिं गमयति, स एनं प्रीतः प्रीणाति एष एव साधु कर्म कारयति तं क्षिपामि अजस्रं अशुभानित्यादिभिः प्रमाणशतैः ईश्वर-प्रीति-कोपाभ्यां एव धर्माधर्म-फल-प्राप्तिरेव गम्यते।　　　　　—वही, पृ० ६७०।

६६ विवादग्रस्त विषय हैं, यह इस लेखक को हस्तलिखित ग्रन्थ से पता चलता है। छपी हुई प्रति मे, वाधूल श्री निवास के शिष्य, महाचार्य या रामानुज दास की टीका है। किन्तु ग्रन्थ ६६ विवाद विषय पर पूर्ण होता है और दूसरी दो टीकाएँ भी खो गई लगती हैं। छपी पुस्तक मे दो और विवाद के विषय हैं ६५ और ६६ जिनकी टीका उपलब्ध नही है और ग्रन्थ के सम्पादक पी० बी० अनन्ताचार्य कहते हैं कि ग्रन्थ ६६वें विवाद पर पूर्ण हुआ है (समाप्ता च शतदूषणी)। यदि सम्पादक का कथन प्रामाणिक माना जाय तो यह मानना पडता है कि 'शत दूषणी' मे प्रयुक्त शत शब्द बहुवाचक आशय रखता है सौ नही। यह अनुमान करना कठिन है कि शेष ३४ खण्डन वेंकटनाथ ने लिखे थे और अब खो गए है या उन्होने केवल ६६ विवाद विषय लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। इसमें से बहुतो मे कोई नया विचार नही मिलता और बहुत से विषय केवल सैद्धान्तिक एव साम्प्रदायिक हित की दृष्टि से लिखे गए हैं उनमे से दार्शनिक एव धार्मिक पक्ष कुछ भी नही है, इसलिए, उन्हे यहाँ त्याग दिया गया है, केवल ६१ विवाद विषय ही दिए हैं। ६२वें विषय मे, शकर वेदान्त द्वारा, शूद्रो को ब्रह्मज्ञान से वर्जित करने को अयुक्त बताया है। ६३ मे, अधिकार-विवेक की चर्चा की हैं, ६४ मे शकर-मत के सन्यासियो के पहनावे और सप्रदाय-चिह्न को अयुक्त बताया है। ६५ मे विशेष वर्ग के सन्यासियो से सम्बन्ध रखने का निषेध किया है। ६६ मे यह बताया है शकर मत की ब्रह्मसूत्र से एकवाक्यता नही हो सकती।

पहला आक्षेप

निर्गुण ब्रह्म, इस बात का सतोषजनक स्पष्टीकरण नही कर सकता कि ब्रह्म शब्द किस प्रकार, उचित रूप से निर्गुण पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकता है। क्योकि यदि वह निर्गुण है तो वह ब्रह्म शब्द द्वारा प्रधान अर्थ मे या लक्षणो द्वारा निर्दिष्ट नही किया जा सकेगा। यदि वह प्रधान अर्थ मे निर्दिष्ट नही कर सकता, तो दूसरे अर्थ मे भी असम्भव है, मुख्य अर्थ का जब कुछ अश असम्भव होता है तभी लक्षणा उपयुक्त होती है। यह शास्त्र-प्रमाण से भी जानते हैं कि ब्रह्मन् शब्द, प्रधान अर्थ मे, अनन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त महान् सत्ता के लिए प्रयुक्त किया गया है। बहुत से मूल पाठो मे निर्गुण अश का उल्लेख है, इसे आक्षेप के रूप मे नही रखा जा सकता, क्योकि इन्हे दूसरे अर्थ मे भी समझाया जा सकता है और यदि कोई शका उत्पन्न भी होती है तो प्रतिवादी इस तथ्य का दुरुपयोग नही कर सकता है कि ब्रह्म निर्गुण है। यह कहना भी कठिन है कि ब्रह्मन् शब्द केवल लक्षणा द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म को ही लक्ष्य करता है, क्योकि शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म शब्द के अर्थ का अनुभव, साक्षात् अपरोक्ष होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय मे प्रतिवादी के मत से ब्रह्म शब्द निरर्थक हो जायगा।

दूसरा आक्षेप

शकर मतवादियो के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण पक्ष मे, ब्रह्म के विषय मे कोई

जिज्ञासा नही की जा सकती । शकर कहते हैं कि ब्रह्म, सामान्य रूप से हमारी ग्रात्मा के रूप मे जाना जाता है, ब्रह्म की जिज्ञासा उसके विशेप स्वरूप के लिए होती है, ग्रर्थात् वह चेतनायुक्त शरीर है, महेश्वर है, या शुद्धात्मा है या ग्रन्य कोई वस्तु है जिसके बारे मे मतभेद है । वेंकटनाथ ग्राग्रहपूर्वक यह कहते हैं कि यदि ब्रह्म की स्ववेद्यता ग्रनादि है तो वह हमारी जिज्ञासा पर ग्राश्रित है ग्रौर वह कार्य होगा ग्रौर इस ग्रर्थ मे ब्रह्म-साक्षात्कार एक कार्य होगा, जो निश्चित रूप से शकर के ग्राशय से विरुद्ध है । इस प्रकार, ब्रह्म के सामान्य एव विशिष्ट स्वरूप के विपय मे जिज्ञासा, ग्रपने सच्चे स्वरूप के लिए नही हो सकती । यदि, इसलिए, शकर मतवादी यो कहें कि यह जिज्ञासा ब्रह्म के सत्य स्वरूप के विपय मे नही है, किन्तु उपहित ब्रह्म के विपय मे है, तो फिर इस जिज्ञासा से प्राप्त ज्ञान भी भ्रमरूप होगा ग्रौर ऐसे मिथ्या ज्ञान से कोई लाभ न होगा । पुन जब ब्रह्म ग्रविकल ग्रौर स्वय वेद्य है, तो उसे सामान्य या विशिष्ट रूप से जानने मे कोई सार नही है, क्योकि इसमे ऐसा भेद माना नही जा सकता । वह या तो पूर्ण रूप से जाना जायगा या सर्वथा नही जाना जायगा, इसमे ग्रश का भेद नहीं किया जा सकता जिससे ज्ञान की भिन्न कक्षाग्रो (स्तर) को ग्रवसर मिले । जिज्ञासा से तात्पर्य ही यह है कि वस्तु सामान्य रूप से जानी गई है, किन्तु उसे ग्रौर विस्तृत रूप मे जानना है, क्योकि शकर का निर्गुण ग्रखड ब्रह्म ऐसी जिज्ञासा का विषय नही हो सकता, इसलिए ऐसे ब्रह्म की खोज भी नही हो सकती । जिज्ञासा सगुण विषय के बारे मे ही हो सकती है, जिसका सामान्य या विशिष्ट ज्ञान शक्य है । शकर-मतवादी न्याय-दृष्टि से यह ग्राग्रह नही कर सकते कि उनके मत मे सामान्य ग्रौर विशेप गुणो का भेद शक्य है, क्योकि यह समर्थन किया जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्म सामान्य रूप से जाना जा सकता है, तो भी उसे माया-प्रपच से भिन्न स्वरूप से जानने को ग्रवकाश रहता है, जबकि ब्रह्म मे कोई विशिष्ट स्वरूप नही है, इसलिए, उसे सामान्य रूप से नही जाना जा सकता (निर्विशेष सामान्य-निषेध.) । यदि यह ग्राग्रह किया जाता है कि जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान ही ब्रह्म का ज्ञान है, तो फिर वेदान्त ग्रौर नागार्जुन के शून्यवाद मे कोई ग्रन्तर न रहेगा ।

तीसरा ग्राक्षेप

इस ग्राक्षेप मे वेंकटनाथ, शकर के इस मत के विरुद्ध हैं कि ज्ञान कर्मातीत है, वह ज्ञान कर्म-समुच्चयवाद के सिद्धान्त के पक्ष मे बहुधा दोहराए गए तर्क देते हैं ।

चौथा ग्राक्षेप

वेंकटनाथ कहते हैं कि सारे भ्रम ग्रौर मूल, जगत् प्रपच मिथ्या है, इस ज्ञान से दूर नही हो सकते । शास्त्रोक्त कर्म, परम ज्ञान प्राप्त होने पर भी, ग्रनिवार्य रूप से ग्रावश्यक हैं । यह पीलिये से पीडित रोगी के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है । पीलापन भ्रम है इस ज्ञान मात्र से पीला देखना नष्ट नही होता, ग्रौषधि-सेवन से ही वह नष्ट

होगा। चरम मुक्ति, महान् देव–ईश्वर की आराधना और भक्ति से प्राप्त हो सकती है, केवल दार्शनिक ज्ञान के प्राकट्य से नही मिल सकती। यह भी असम्भव है कि अद्वैत ग्रथो के श्रवणमात्र से मुक्ति मिल सकती है, यदि ऐसा होता तो शकर स्वय मुक्त हो गए होते। यदि वे मुक्त थे तो वे ब्रह्म से एकरस हो गए होते, और वे अपने शिष्यो को अपने मत का उपदेश कर नही सकते थे। अद्वैत ग्रन्थो का अर्थ-ग्रहण साक्षात्कार है, यह मत भी अमान्य है, क्योकि हमारा साधारण अनुभव बताता है कि शास्त्र-ज्ञान, शब्द-ज्ञान है और इसलिए वह साक्षात् और अव्यवहित नही कहा जा सकता।

पाँचवां आक्षेप

शकराचार्य का उपरोक्त आक्षेप पर यह उत्तर है कि यद्यपि समस्त पदार्थों का आत्मा से तादात्म्य का चरम ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी जब तक यह शरीर नष्ट नही होता तब तक जगत्-प्रपच का भ्रम कायम रहता है। वेंकटनाथ पूछते हैं कि यदि सत्य ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर जगत् किस प्रकार वर्तता रहता है? यदि ऐसा कहा जाय कि अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी वासनाए रह सकती हैं, तो उसका उत्तर दिया जा सकता है कि यदि वासनाए अस्तित्व रख सकती हैं तो अद्वैतवाद का स्वत खण्डन हो जाता है। यदि वासना ब्रह्म का अग है तो वह उनके सम्बन्ध से दूषित हो जायगा। यदि वासना अविद्याजनित है तो उसे अविद्या के साथ नष्ट हो जाना चाहिए। अविद्या नष्ट होने के बाद भी यदि वासना पुन रहती है तो उसे किस प्रकार नष्ट किया जायगा? यदि वह अपने आप नष्ट हो जाती है तो फिर अविद्या भी अपने आप नष्ट हो सकती है। इस प्रकार, अविद्या के नाश और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के बाद, वासना तथा तज्जनित जगत्-प्रपच के रहने का कोई कारण नही है।

सातवां आक्षेप

शकर और उनके अनुयायी कहते हैं कि वेदान्त-उपदेश के श्रवण के योग्य अधिकारी के चित्त मे अद्वैत ग्रन्थ के कथन मात्र से साक्षात् और अचिर ही परमज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अद्वैत ग्रन्थो के श्रवण से, आत्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान साक्षात् और अचिर उत्पन्न होता है यह मानना ही पड़ेगा, क्योकि दूसरा और कोई रास्ता ही नही है जिससे इसे समझाया जा सके। इस पर वेंकटनाथ कहते है कि यदि शब्द-श्रवण की साधनता मात्र से ही साक्षात् ज्ञान होता है, इसे अद्वैत-ग्रन्थो के आशय को अनुभव करने का एक विशिष्ट दृष्टान्त माना जाता है, क्योकि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का और कोई मार्ग नही है, तो अनुमान और अन्य शब्दो का ज्ञान भी साक्षात् अनुभव प्राप्त करा सकता है, क्योकि उन्हे भी, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि शब्द, ज्ञान के कारण [illegible] है, तो उनसे [illegible] ज्ञान को किस प्रकार [illegible] जा सकता है, शास्त्रो के [illegible] से साक्षात् अनुभव किस प्रकार उत्पन्न किया जा

सकता है, जब वे उसे कभी उत्पन्न नही कर सकते। किसी विशेष समय मे प्राप्त हुआ ज्ञान जो एक व्यक्तिगत चैतन्य का प्रकटीकरण है, उसे सभी पुरुषो और सभी काल के ज्ञान से अभिन्न है, ऐसा नही माना जा सकता और इसलिए ऐसे ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने वाला भी नही माना जा सकता। यदि ऐसा माना जाता है कि, जो कुछ, चैतन्य का, विशिष्ट प्रकार से ज्ञान कराता है, उससे अतिरिक्त, शुद्ध चैतन्य का अनुभव कराने वाला अन्य कोई कारण नही है, तो यह सभी प्रमाणो के विषय मे भी उपयुक्त होगा, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थो के विषय को ऐसा एकीकृत अधिकार नही दिया जा सकता जो अनुमान और शब्द के विषय नही माने जाय, यह असम्भव है। 'तुम दसवें हो' इस वाक्य के दृष्टान्त मे, यदि जिस व्यक्ति को यह निर्देश किया गया वह जान जाय कि वह दसवा है तो ऐसे वाक्य के अर्थ की समझ केवल उसे पहले जो अनुभव हुआ उसी की पुनरावृत्ति होगी, यदि वह यह नही समझा कि वह दसवा है, तो उसे इस वाक्य द्वारा कहा गया सत्य जिसका सज्ञापन शाब्दिक अभिव्यक्ति से किया गया है, साक्षात् अपरोक्ष नही कहा जा सकता। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान का विषय वही रह सकता है, तो भी जिसके द्वारा ज्ञान दिया गया है, उसके कारण भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार, वही विषय कुछ अश मे प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अश मे अप्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। पुन ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होता है इसे माना जा सकता है, किन्तु इसका तत्वमसि आदेश से प्रथम बार ग्रहण होना शब्द-ज्ञान है और दूसरे क्षण मे साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव होता है। यदि प्रथम ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष न माना जाय, तो फिर दूसरा क्यो माना जाय ? पुन शकर का यह कहना कि जगत्-प्रपच के मिथ्या-ज्ञान का विनाश किसी अन्य प्रकार से नही समझाया जा सकता, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थो द्वारा प्राप्ति या ज्ञान अपरोक्ष मानना चाहिए, क्योकि मिथ्यात्व का सत्ता के साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव से निरास होता है। किन्तु जगत् मिथ्या नही है, यदि इसे मिथ्या इसलिए माना जाता है कि वह जाना जा सकता है फिर तो ब्रह्म भी ज्ञेय है, अत मिथ्या हो जाएगा। यदि पुन जगत्-प्रपच मिथ्या माना जाता है, तो उसे सच्चे ज्ञान से नष्ट होने के लिए कहने मे कोई अर्थ नही है, क्योकि जो कभी सत् न था उसे नष्ट भी नही किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि जगत्-प्रपच नष्ट नही होता, किन्तु उसके ज्ञान का अन्त होता है तो यह बताया जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान का, मानसिक स्थिति के परिवर्तन से भी अन्त हो सकता है, जैसेकि गाढ निद्रा मे मिथ्या रजत का भ्रम चला जाता है, या उसे अनुमान इत्यादि ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है। यह अनुमान आवश्यक नही है कि भ्रमयुक्त ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही हटाया जाना चाहिए। पुन यदि ऐसा माना जाता है कि जगत्-प्रपच के अन्त होने का अर्थ उसके कारण नष्ट होना है, तो उसका उत्तर यह है जबतक कि कारण स्वय का किसी अन्य साधन द्वारा नाश नही करता, सत्ता का साक्षात् अनुभव असम्भव है।

जहाँ तक आँखो की पुतली पर अगुली का दबाव है वही तक चद्रमा दो दीखेंगे। इसलिए, जगत्-प्रपच का मिथ्यापन साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान से ही नष्ट होने की बात सोचना निरर्थक है। यदि जगत्-प्रपच के मिथ्यापन का निरसन यही अर्थ रखता है कि उसे बोध करने वाले ज्ञान का उदय हुआ है तो यह परोक्ष ज्ञान द्वारा भी किया जा सकता है जैसाकि द्विचद्र दर्शन का मिथ्या ज्ञान, दूसरे पुरुष की साक्षी से 'चद्र एक ही है,' इससे निरास किया जा सकता है किन्तु जगत् मिथ्या नही है ऐसा ही नही है, और इसलिए नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु शब्द प्रमाण साक्षात् अनुभव दे सकता है यह नही माना जा सकता, यदि ऐसा वह कर भी सके, तो अन्य सहकारी उपाधियो का होना आवश्यक होगा, जैसेकि, चाक्षुष प्रत्यक्ष मे, अवधान, सतर्कता और अन्य भौतिक परिस्थितियाँ सहकारी उपाधियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार शाब्दिक ज्ञान ही केवल साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव नही प्राप्त करा सकता। यह भी सोचना उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष ज्ञान, अप्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा बाधित नही हो सकता, क्योकि यह प्रसिद्ध ही है कि दीये की शिखा की निरन्तरता के विचार का निषेध इस समझ से होता है कि शिखा निरन्तर नही हो सकती और ऐसा जो दीखता है वह वास्तव मे क्रमबद्ध, भिन्न शिखाओ की परम्परा है। इस प्रकार अद्वैत-ग्रन्थ के आशय का अनुभव, यदि, साक्षात् अनुभव का कारण भी समझा जाय, तो भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह अन्य ज्ञान द्वारा बाधित नही है।

दसवां आक्षेप

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य की सत्ता का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि यदि ऐसी वस्तु विद्यमान थी तो वह अपनी सत्ता अपने आप प्रकट नही कर सकती थी, क्योकि यदि वह प्रकट करती है तो वह अविकारी नही कही जा सकती, यदि वह सभी विशेषो का मिथ्यात्व स्थापित करती है तो ये विषय उसके अग होगे। यदि उसकी सत्ता अन्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित की जाती है, तो वह स्वप्रकाश नही थी, तब पुन, यह पूछा जा सकता है कि यह शुद्ध चैतन्य किसे प्रकट करता है? शकर मतवादियो का उत्तर है कि वह किसी व्यक्ति के सामने स्वय नही प्रकट करती, अनुभव उसकी सत्ता का ही होता है। किन्तु यह उत्तर सामान्यत॰ अभिव्यक्ति शब्द मे जो समझ मे आता है, उसकी अपेक्षा कही दूर है, क्योकि अभिव्यक्त होना किसी व्यक्ति के लिए ही होना चाहिए। विशेष चैतन्य के विरोध मे जो यह मुख्य आक्षेप है कि ऐसे चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता इसलिए उसकी श्रेष्ठता एव पूर्व अस्तित्व या विषयों को प्रकट करने का सामर्थ्य, जो उस पर थोपा जाता है वह भी मान्य नहीं हो सकता। गाढ निद्रा में आनन्द के अनुभव का दृष्टान्त निरर्थक है, क्योंकि इस अवस्था में शुद्ध निर्विषय चैतन्य का अनुभव आनन्द के रूप में होता है तो किसी को आनन्द का स्वानुभव नहीं होगा, क्योंकि वह निर्विषय नहीं कहलायगा। निद्रा से उठने के उत्तर काल

का अनुभव, द्रष्टा को यह नहीं बता सकता कि वह लम्बे समय तक निर्विषय चैतन्य का अनुभव करता रहा था, क्योकि उसकी प्रत्यभिज्ञा नही है और प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का तथाकथित निर्विषयता से समीकरण नही किया जा सकेगा।

ग्यारहवा आक्षेप

निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि तथाकथित निर्विकल्प ज्ञान सविशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है (निर्विकल्पक मपि सविशेष-विषयकमेव)। इन्द्रिय सन्निकर्ष के पहले ही क्षण मे, इन्द्रियो द्वारा, पदार्थ ही सारा, अपने विभिन्न गुणो सहित, ग्रहण होता है और यही उत्तरकाल मे बुद्धि-प्रत्यय के रूप में विशद किया जाता है। निर्विकल्प अवस्था का मुख्य रूप यह है कि ज्ञान की उस अवस्था मे, पदार्थ के किसी पार्श्व या गुण पर बल नही दिया जाता। यदि ज्ञान के विषय सचमुच सविकल्प गुण नही जाने गए होते तो ज्ञान की उत्तर अवस्था मे वे कभी भी नही जाने जा सकेंगे, और निर्विकल्प सविकल्प कोटि तक विकास नही कर सकेगा। लक्षण पहली अवस्था मे गृहीत होते हैं किन्तु ये लक्षण उत्तर काल मे ऐसे समान लक्षणो की स्मृति होने के कारण सविकल्प रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शुद्ध निर्विकल्प पदार्थ, प्रत्यक्ष का विषय कभी भी नही हो सकता है।

बारहवां आक्षेप

शकर मतवादियो का विवाद यह है कि प्रत्यक्ष, साक्षात् शुद्ध सत्ता से सम्बन्धित है, और पश्चात् वह अज्ञान से नाना रूप से सम्बन्धित हो जाता है, और इसी सम्बन्ध के द्वारा ही वे प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं ऐसा भासता है। वेंकटनाथ कहते हैं कि सत्ता और उसके गुण दोनो ही एक साथ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होते हैं क्योकि वे हमारे ज्ञान को निश्चित करने वाले पदार्थ के अग हैं। सामान्य भी हमारे साक्षात् ज्ञान के विषय हो सकते हैं, जब ये सामान्य उत्तरकाल मे आपस मे एक दूसरे से विवक्त किए जाते हैं तभी भिन्न क्रिया वाले पृथक् मानसिक व्यापारो की आवश्यकता रहती है। पुन, यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्प सत्ता को ही लक्ष्य करता है, तो फिर विभिन्न पदार्थ और उनके आपस के भेद के अनुभव को कैसे समझाया जा सकेगा ?

तेरहवां आक्षेप

भेद को पदार्थ या धर्म के रूप मे ग्रहण करना मिथ्या है, शकर मतवादियो के इस मत को खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि भेद का अनुभव समान्य है, इसलिए उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। अति विवादग्रस्त, भेद का अभाव भी 'भेद' से भिन्न है, यह भेद के अस्तित्व को सिद्ध करता है। भेद को खण्डन करने का कोई भी प्रयत्न, अभेद का भी खण्डन किए बिना नही रहेगा, क्योकि ये दोनो

सापेक्ष हैं, और यदि भेद न हो, तो अभेद या तादात्म्य भी नहीं है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वस्तु अपने स्वयं से अभिन्न है, और अन्य से भिन्न है, और इस प्रकार भेद और अभेद दोनों को मानना पड़ता है।

चौदहवां आक्षेप

शंकर के अनुयायी कहते हैं कि जगत्-प्रपंच ज्ञेय होने से रजत-भास शुक्तिका की तरह मिथ्या है। किन्तु, जगत् मिथ्या है, इस प्रतिज्ञा का क्या अर्थ है? वह शश-विषाण की तरह तुच्छ नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनुभव-विरुद्ध है और शंकर के अनुयायी भी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। इसका अर्थ यह भी नहीं हो सकता कि जगत् सत् और असत् दोनों से भिन्न है, क्योंकि ऐसा पदार्थ हमें मान्य नहीं है। यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि जगत् सत्य दीखता है तो भी उसका निरास हो सकता है, (प्रति-पन्नोपाधौ निषेध-प्रतियोगित्वम्), क्योंकि उस निषेध का यदि आगे निषेध नहीं है तो वह या तो, स्वरूप से ब्रह्मरूप होगा और इसलिए जगत्-प्रपंच की तरह मिथ्या होगा, या उससे भिन्न होगा। पहला विकल्प हमें इस अर्थ से स्वीकृत है कि जगत् ब्रह्म का अंश है। यदि जगत्-प्रपंच का निरास हो सकता है और यदि वह साथ ही साथ ब्रह्म से अभिन्न भी है, तो निरसन स्वयं ब्रह्म पर भी लागू होगा। यदि दूसरा विकल्प देखा जाय, तो उसकी सत्ता, जबकि, निषेध (अभाव) की व्याख्या से अनुमित है तो उसे स्वयं अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व का अर्थ, जगत् का, एक वस्तु मे, जहाँ वह अस्तित्व नहीं रखती, न दीखना भास होना है–(स्वात्यन्ता-भावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वम्), क्योंकि, जगत् का इस प्रकार से मिथ्यापन कि जहाँ वह प्रतीत होता है वहाँ वह नहीं है, प्रत्यक्ष से समझा नहीं जा सकता, और यदि आधार का ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर अनुमान असम्भव है। यदि सारे प्रत्यक्ष मिथ्या माने जाते हैं तो सारे अनुमान भी असम्भव हो जाएँगे। ऐसा कहा जाता है कि जगत्-प्रपंच मिथ्या है क्योंकि वह परम सत्ता ब्रह्म से भिन्न है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते हैं कि वे जगत् को ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हैं, यद्यपि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकता, और न वह स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। इतने पर भी यह आग्रह किया जाता है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्ता से भिन्न है, तो उत्तर यह है सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म ही केवल सत्य है और उसका निषेध आवश्यक रूप से मिथ्या होगा, तो उत्तर यह है कि यदि ब्रह्म सत्य है और उसका निषेध भी सत्य है। वेंकटनाथ मानते हैं जगत् की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है (प्रामाणिका)। सत्य रामानुज की व्याख्या के अनुसार व्यवहारोपयोगी है(व्यवहार-योग्यता-सत्वम्), और जगत् मिथ्या है, इस कथन का मिथ्यात्व जगत् की सत्यता के वास्तविक अनुभव से समझा जाता है। पुन., जगत् का मिथ्यात्व, *न्याय-प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न* नहीं किया जा

सकता, क्योंकि वे जगत् के अन्तर्गत हैं और इसलिए वे स्वयं मिथ्या होंगे। पुनः यह कहा जाय कि ब्रह्म शुद्ध अर्थ में ज्ञेय है और उसी प्रकार जगत् भी, तर्क करने के लिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय है, इसलिए जगत् उस दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा है तो, शंकर-मायावादी उसे मिथ्या नहीं कह सकते। यदि ऐसा है तो, शंकर मायावादी कैसे तर्क कर सकते हैं कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह ज्ञेय है, उस प्रसंग में ब्रह्म भी मिथ्या होगा ?

सोलहवा आक्षेप

पुनः ऐसा तर्क किया जाय कि, जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि यद्यपि सत्ता वही रहती है किन्तु उसके विषय सतत बदलते रहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि घडा है, कपडा है, किन्तु ये विद्यमान पदार्थ परिवर्तित होते रहते हैं, सत्ता केवल अपरिवर्तित रहती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है, इस परिवर्तन का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ तादात्म्य का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में, ब्रह्म सभी पदार्थों से भिन्न होने से मिथ्या माना जा सकता है। यदि ब्रह्म, मिथ्या जगत् से अभिन्न माना जाय, तो ब्रह्म स्वयं मिथ्या होगा, या फिर जगत् प्रपंच, ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य हो जायगा। दैशिक व कालिक परिवर्तन, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकते, रजत-शख-शुक्ति मिथ्या नहीं है क्योंकि वह और कहीं विद्यमान नहीं है। ब्रह्म स्वयं, इस अर्थ में परिणामी है कि वह असत् रूप में विद्यमान नहीं है या एक पदार्थ के रूप मे, जो न सत् और न असत् है। परिणाम यहाँ विनाश के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि, जब रजत-सीप का भ्रम जान लिया जाता है, कोई ऐसा नही कहता कि रजत-सीप का नाश हो गया। (बाध-विनाशयोर्विविक्तन-यैव व्युत्पत्ते)। विनाश मे वस्तु का लय हो जाता है, जबकि बाधा या व्याघात, जो देखा था उसका अभाव है। घडा विद्यमान है, कपडा विद्यमान है ऐसे वाक्यो मे, सत्ता, घडे और कपडे को विशेषित करती है किन्तु घडा या कपडा सत्ता को विशेषित नही करता। पुन यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र सत्ता रखता है, फिर भी वह हममे 'घडा है' या 'कपडा है' जैसे ज्ञान को उत्पन्न नही करता। पुन सत्ता मे काल-परिवर्तन, ऐसी ही सत्ता पर आधारित है, किन्तु वह किसी भी सत्ता को मिथ्या नही कर सकता। यदि किसी अप्रकट काल मे होना, मिथ्यात्व की कसोटी समझी जाती है तो ब्रह्म भी मिथ्या है क्योकि वह भी मुक्ति के पहले अपने को प्रकट नही करता। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म सदा स्वप्रकाश है, किन्तु उसका प्रकट होना मुक्ति-प्राप्ति तक किसी प्रकार छिपा रहता है, तो यह भी बलपूर्वक कहा जा सकता है कि कपडा और घडा भी उसी प्रकार अव्यक्त रूप से प्रकट रहते है। यदि, प्रकाशन की नित्यता, या उसका अबाध स्वरूप, उसकी सत्ता का माप नही माना जा सकता, क्योकि उसकी निर्दोषता ही उसके प्रकाशन की नित्यता का कारण है और इसकी सत्ता के स्वरूप को निश्चित

करने से कोई सम्बन्ध नही है। जबकि साधारण पदार्थ घडा-कपडा इत्यादि किसी काल मे अस्तित्व रखते दीखते हैं, वे स्वप्रकाशता की अभिव्यक्ति हैं, इसलिए सत् है।

विरोधी तर्क भी यहाँ दिए जा सकते है। ऐसा कहा जा सकता है कि जो मिथ्या नहीं है उसकी निरन्तरता अटूट होती है या वह परिवर्तनशील नही है। ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि वह किसी के साथ रहकर निरन्तर नही है और सबसे भिन्न है।

सत्रहवा आक्षेप

शकर मतवादी मानते है कि जबकि द्रष्टा और (दृश्य) दृष्ट के बीच सम्बन्ध की सत्ता (चाहे किसी प्रकार का हो) समझाना असम्भव है, तो दृष्ट वस्तु या ज्ञान का अर्थ मिथ्या ही मानना पडता है। वेंकटनाथ इसके उत्तर मे कहते है कि जगत् का मिथ्यापन आवश्यक रूप से अर्थापत्ति के रूप मे नही दिया जा सकता, क्योंकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध स्थापित करना दृष्ट को अस्वीकार करने से नहीं किन्तु स्वीकार करने से सम्भव है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जबकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध, तर्क द्वारा तुच्छ सिद्ध किया जा सकता है, तो आवश्यक अनुमान यह निकलता है कि दृष्ट वस्तु मिथ्या है। इस पर उत्तर यह है कि सम्बन्ध का मिथ्यापन, सम्बन्धित वस्तु का मिथ्यापन नही सिद्ध करता, शश और विषाण के बीच सम्बन्ध अविद्यमान हो सकता है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शश और विषाण दोनो अविद्यमान हैं। इसी तर्क का आश्रय लेकर स्वय द्रष्टा को भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है तो भी ऐसा विवाद किया जाता है कि द्रष्टा, स्वप्रकाश होने से स्वय वेद्य है और इसलिए उसे मिथ्या नही कहा जा सकता, तो उसका उत्तर यह है कि देखने की क्रिया का अभाव होने पर भी यदि द्रष्टा स्वप्रकाश माना जा सकता है, तो फिर द्रष्टा ही जब नहीं स्वीकारा जाता है, तो दृश्य को भी वैसा ही मानने मे क्या हानि है ? फिर भी यदि, यह कहा जाता है कि वस्तु का ज्ञान, वस्तु स्वय की तरह, स्वत सिद्ध नही माना जा सकता है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि चैतन्य को कभी स्वप्रकाश रूप देखा जाता है, यदि कहा जाता है कि चैतन्य का स्वप्रकाशत्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो प्रतिवाद मे यह माना जायगा कि जगत् का स्वप्रकाशत्व भी योग्य अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पुन यह प्रश्न किया जा सकता है कि, यदि शकर-मतवादी, ब्रह्म का स्वप्रकाश स्वरूप अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं और उसकी विषयता (दृश्यत्व) अस्वीकृत होती है, तो इस प्रकार उनकी मूल प्रतिज्ञा कि ब्रह्म किसी ज्ञान-व्यापार का विषय नही हो सकता, विफल होती है।

शकर-मतवादी अवश्य ही यह विवाद कर सकते हैं कि रामानुज मतानुयायी भी, मानते है कि पदार्थ, आत्मा के ज्ञान द्वारा प्रकट होते हैं और इसलिए वे द्रष्टा पर आश्रित है। इस विवाद का उत्तर यह है कि रामानुज मतवादी स्वचैतन्य के अस्तित्व को

मानते हैं, जिसके द्वारा ज्ञाता स्वय ज्ञात होता है। यदि इस स्वचैतन्य को मिथ्या माना जाता है, तो स्वय प्रकाश आत्मा भी मिथ्या हो जायगी, और स्वचैतन्य सत्य माना जाता है, तो उसके बीच सम्बन्ध भी सत्य है। यदि स्वप्रकाश चैतन्य का प्रत्यक्ष-ज्ञान असम्भव माना जाता है फिर भी वह सत्य है, तो उसी उपमान के आधार पर जगत् के न दीखने पर भी उसको सत्य माना जा सकता है।

जो ज्ञेय है वह मिथ्या है यह आक्षेप अमान्य है, क्योकि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच तर्क सगत रूप से सम्बन्ध सोचना कठिन है, क्योकि सम्बन्ध का तार्किक स्वरूप सोचना कठिन होने के कारण ही केवल, सम्बन्धित पदार्थ की सत्ता को अमान्य नही किया जा सकता, जबकि वह अविरोध रूप से अनुभव-गम्य है। इसलिए, सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार मानना ही पडता है। यदि सम्बन्ध, अनुभवगम्य होने से सत्य माना जाता है तो जगत् भी सत्य है, क्योकि वह भी अनुभव-गम्य है। यदि जगत् मिथ्या है इसलिए वह समझ के बाहर है तो मिथ्यात्व भी समझ मे न आने से मिथ्या ठहरेगा।

भूत और भविष्य के बीच कोई सम्बन्ध नही हो सकता, यह आक्षेप आधाररहित है, क्योकि दो वस्तु वर्तमान समय मे विद्यमान हैं इस तथ्य का यह अर्थ नही होता कि वे अवश्य ही सम्बन्धित हैं, जैसे कि शश और विषाण। यदि यह कहा जाता है कि वर्तमान काल मे विद्यमान वस्तु आवश्यक रूप से सम्बन्धित नही है, यह सत्य हो सकता है तो भी कुछ ऐसे पदार्थ वर्तमान काल में है जो सम्बन्धित हैं, और ऐसी भी वस्तु वर्तमान में है जो अन्य वस्तु से भूत और भविष्य मे सम्बन्धित है। यह निस्सदेह सत्य है कि वर्तमान और भविष्य मे विद्यमान वस्तुओ के बीच सयोग सबध असम्भव है, किन्तु इससे हमारा मतव्य दूषित नही होता, क्योकि कुछ पदार्थ आपस मे वर्तमान काल से सबधित हैं और कुछ पदार्थ आपस मे अन्य प्रकार से भूत और भविष्य काल से सबधित हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच कैसा सबध रहता है यह अनुभव द्वारा ही सीखा जा सकता है। यदि देशिक सन्निकर्ष वर्तमान पदार्थ का विशिष्ट लक्षण है, तो कालिक सन्निकर्ष वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच रहेगा ही। फिर भी, सम्बन्ध का अर्थ सन्निकर्षता नही होना आवश्यक है, निकटता और दूरी दोनो ही सम्बन्ध की उपाधियाँ हो सकती हैं। सबध को अनुभव के आधार पर मानना चाहिए, और वे अपने विशिष्ट स्वरूप मे विलक्षण और अनिर्वचनीय हैं। किसी माध्यम द्वारा उन्हें समझाने का प्रयत्न अनुभव के प्रतिकूल पडेगा। यदि इस आधार पर सभी सम्बन्धो को खण्डन करने का प्रयत्न किया जायगा कि सबध अन्य सबधो से अनुमित करेगा और अनवस्था दोष हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि सबध को खण्डन करने का प्रयत्न, स्वय सबध को समाविष्ट करेगा, और इसलिए स्वय प्रतिवादी की धारणा के आधार पर वह खडित होगा। सबध स्वय-सिद्ध है और अपनी सत्ता के लिए दूसरे सम्बन्धो पर आश्रित नही है।

क्योंकि, उपरोक्त तर्क का अनुसरण करते हुए, यद्यपि ब्रह्म को अपरोक्ष माना जाय, तो भी, वह अनुभूति का विषय हो सकता है ऐसा बताया गया है। यदि दूसरे विकल्प मे, यह अनुभूति किसी अन्य वस्तु को प्रकाशित करती है, तो यह प्रतिवादी को उस निष्कर्ष पर ले जायगा, जो वह नही चाहता और स्वबाधित भी होगा।

जैसे कोई कहे कि वह घडे को जानता है या नारगी को जानता है, उसी प्रकार कोई यह भी कहा जा सकता है कि वह विषय की तरह दूसरे की या अपनी भी अभिज्ञा जानता है। इस प्रकार, एक अभिज्ञा, दूसरे विषय की तरह, दूसरे की अभिज्ञा का विषय बन सकती है। पुन, यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अभिज्ञा नही जान सकता, तो फिर दूसरे के मानस को समझने के लिए भाषा-व्यवहार का अन्त हो जाना चाहिए।

यदि अपरोक्षानुभूति, स्वय, अभिज्ञा का विषय नही हो सकती तो यह अर्थ होगा कि वह सर्वथा अज्ञात रहती है और परिणामत. उसकी सत्ता तुच्छ होती है। आग्रहपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि तुच्छ वस्तु अनुभव नहीं की जा सकती क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु कोई सत्ता ज्ञात नही होती इसलिए वह तुच्छ नही हो जाती, क्योंकि पूर्व प्रतिज्ञा (वाक्य) सोपाधिक नहीं है। शकर मतवादी यह नहीं मानते कि अपरोक्ष अनुभूति के अतिरिक्त सभी पदार्थ तुच्छ हैं। यह भी माना जा सकता है कि तुच्छ वस्तु अपरोक्ष अनुभूति नहीं है, क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु इस प्रसग मे यह भी माना जा सकता है कि ये पदार्थ (घडा इत्यादि) भी अपरोक्ष अनुभूति नही है क्योंकि उनमें घटत्व इत्यादि निर्दिष्ट धर्म हैं। दृढतापूर्वक यही स्पष्ट करना है कि साधारण पदार्थ अपरोक्ष अनुभूति से इसलिए भिन्न नहीं है कि वे ज्ञेय हैं किन्तु उनमे निर्दिष्ट धर्म है। एक वस्तु, ज्ञेय होने के कारण, अपरोक्ष अनुभूति नही कही जा सकती, वह सर्वथा दोषपूर्ण है।[1] यदि पुन ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है, तो दर्शन एव शास्त्र, कोई भी ब्रह्म के स्वभाव के सम्बन्ध में उसका परिचय नही करा सकेंगे।

इक्कीसवां आक्षेप

शकर मतवादी व्यक्तिगत ज्ञान की उत्पत्ति को अस्वीकार करते है। उनके मतानुसार सभी प्रकार के तथाकथित ज्ञान (अनुभव) अविद्या के भिन्न प्रकारों का, स्वप्रकाश शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होने पर, उदय माना गया है। इस मत का खण्डन करते हुए, वेङ्कटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि विभिन्न अनुभव किसी काल मे उत्पन्न होते हैं यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित है। यदि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है और व्यक्तिगत ज्ञान को अस्वीकार किया जाता है तो सभी विषयों को एक साथ व्यक्त होना

---

[1] मत दूषणी। ७-७८।

तथा अनुमान, दोनो से उत्पन्न होती है, उसका अनुभव शक्य है, तो शकर मतवादियो का व्यक्तिगत ज्ञान की आपत्ति का न मानना अप्रमाण है। रामानुज के मत मे, ज्ञान, निसदेह ही नित्य माना गया है, तो भी इस ज्ञान के निर्दिष्ट काल धर्म और निर्दिष्ट अवस्थाएं मानी है। इसलिए, जहाँ तक इन धर्मो तथा अवस्थाओ का सम्बन्ध है, उनकी उत्पत्ति और अन्त, निर्दिष्ट अपेक्षित परिस्थितियो के प्रभाव मे शक्य है। पुन॰ यह आक्षेप की शुद्ध चैतन्य अनादि है इसलिए यह अपरिणामी है, अप्रमाण है, क्योकि शकर-मतवादी अविद्या को भी अनादि किन्तु परिणामी मानते हे। इस सम्बन्ध मे यह सूचित किया जा सकता है कि तथाकथित निर्विषय चतन्य अनुभवगम्य नही है। गाढ निद्रा या मूर्च्छा मे भी चेतना, द्रष्टा से सम्बन्धित है इसलिए वह निर्विषय नही है।

बाईसवां आक्षेप

शकर मतवादी यह आग्रह करते है कि शुद्ध चैतन्य, अजात होने से, अपरिणामी है, यदि अपरिणामी शब्द का अर्थ, अस्तित्व का अन्त न होना है, तो यह बताया जा सकता है कि शकर-मतवादी अज्ञान को अजात किन्तु नाशवान् मानते है। इसलिए, ऐसा कोई कारण नही है कि एक पदार्थ के अजात होने से वह नाशवान् नही होना चाहिए। यदि आग्रहपूर्वक ऐसा कहा जाता है कि अविद्या का नाश भी मिथ्या है, तो उसी दृढता से यह भी बताया जा सकता है कि सभी पदार्थों का विनाश भी मिथ्या है। तदुपरान्त, जबकि शकर-मतवादी, किसी परिणाम को सत्य नही मानते, तो उनके द्वारा दिया तर्क वाक्य 'जो अजात है वह अपरिणामी है' निरर्थक हो जाता है। शकर और रामानुज के ब्रह्म के स्वरूप-सम्बन्धी विचारो मे यह भेद है, कि शकर के अनुसार ब्रह्म नितान्त अपरिणामी और निर्गुण है और रामानुज के अनुसार, ब्रह्म अपने मे जगत् और जीव तथा उनमे होने वाले परिणामो को धारण करता हुआ निरपेक्ष है। वह अपरिणामी केवल इसी अर्थ मे है कि सभी गत्यात्मक परिणाम भीतर से उत्पन्न होते हैं और उसके बाहर कुछ भी नही है जो उसे प्रभावित कर सके। अर्थात् ब्रह्म निरपेक्ष है यद्यपि अतर मे परिणामी है, फिर भी वह नितान्त स्वाश्रित और स्वस्थित है और अपने से बाहर किसी से सर्वथा अप्रभावित है।

तेईसवां आक्षेप

शकर मतवादी आग्रहपूर्वक कहते है कि शुद्ध चैतन्य नाना रूप नही हो सकता क्योकि वह अजात है, क्योकि जो नाना रूप है वह उत्पन्न हुआ है जैसे घडा। यदि शुद्ध चैतन्य ही अविद्या की उपाधि से नाना रूप दीखता है, तो इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शुद्ध चैतन्य अन्य किसी से विविक्त नही किया जा सकता, तो वह देह से भी एक रूप हो सकता है, यह मान्यता शकर-मत के विरुद्ध है। फिर भी यदि यह उत्तर दिया जाता है कि शुद्ध चैतन्य और देह के बीच तथाकथित

भेद केवल मिथ्या भेद है, फिर तो उसे मानना ही पडेगा जो कि शकर के अनुयायियों द्वारा मान्य, ब्रह्म के अपरिणामी स्वरूप का विरोध करेगा। यदि, देह और शुद्ध चैतन्य के बीच वास्तविक भेद को अस्वीकार किया जाता है, तो (यह आग्रह किया जा सकता है कि) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु, जो सचमुच भिन्न है वह उत्पन्न होती है (जैसे घडा), किन्तु शकर मतवादियो के अनुसार, घट इत्यादि ब्रह्म से भिन्न नही है, इसलिए उपरोक्त निष्कर्ष समर्थन मे नही दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि अविद्या अजात है, तो शकर-मतवादियो की उक्ति के अनुसार, यह निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि वह ब्रह्म से भिन्न नही होगी, जिसे वे निस्सदेह ही सरलता से नही मानेंगे। यह भी नही माना जा सकता कि एक अभिज्ञा दूसरे से इस मान्यता के आधार पर भिन्न नही है कि भिन्न अभिज्ञाएँ, एक ही चैतन्य पर आरोपित भासमान आकार हैं, क्योकि, जहाँ हम भेद को मानते हैं, हम उन्हे भासमान भेद और भासमान आकार ही कहते हैं और यदि भासमान भिन्न आकार मान लिए जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे भिन्न नही हैं। पुन, ऐसा आग्रह किया जाता है कि एक ही चद्र तरगमय पानी के कारण अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार वही अभिज्ञा अनेक रूप मे दीखती है, यद्यपि वह एक ही है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह सादृश्य मिथ्या है। चद्र का प्रतिविम्ब चद्र से एक नही है, उसी प्रकार, भासमान विषय, अनुभव से एक नही है। यदि ऐसा कहा जाता है कि समस्त चद्र-प्रतिविम्ब मिथ्या हैं, तो उसी सादृश्यता के अनुसार, सभी अनुभव मिथ्या हो सकते हैं और तब यदि एक ही चैतन्य, सभी अनुभवो के अधिष्ठान रूप सत्य है, तो सभी अनुभव समान रूप से सत्य एव मिथ्या कहे जा सकते हैं। पुन, सिद्धान्त-दृष्टि से चैतन्य, व्यक्तिगत ज्ञान से भिन्न नही है, यह मत प्रतिपादनीय नही है, क्योकि रामानुजवादी, चैतन्य का ऐसा अमूर्त सिद्धान्त नही मानते हैं, उनकी दृष्टि मे सभी ज्ञान निर्दिष्ट एव व्यक्तिगत हैं। इस सम्बन्ध मे यह सूचित किया जा सकता है कि रामानुज-मतवादियो के अनुसार, चैतन्य जीवो मे नित्य गुण के रूप मे विद्यमान है, अर्थात् वह उपाधि एव परिस्थितियो के अनुसार परिणत हो सकता है।

चौबीसवां आक्षेप

शुद्ध चैतन्य के निर्गुण स्वरूप पर आक्षेप करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि निर्गुण होना भी विशिष्ट धर्म है। यह विषेधात्मक होने से अन्य गुणो से भिन्न है। निषेधात्मक गुणो को भावात्मक गुणो जैसे ही आक्षेप-योग्य समझना चाहिए। पुन शकर-मतवादी ब्रह्म को निरपेक्ष और अपरिणामी मानते हैं, और ये भी गुण हैं। यदि उत्तर दिया जाता है कि गुण भी मिथ्या हैं, जो उनसे विपरीत गुण सत्य ठहरेंगे, अर्थात् ब्रह्म परिणामी माना जायगा। पुन, यह प्रश्न किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की गई है। यदि इसे बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं

किया गया है तो पूर्व मान्यता असगत है, यदि वह बुद्धि द्वारा सिद्ध किया गया है तो, बुद्धि ब्रह्म मे विद्यमान होनी चाहिए, और इससे वह बुद्धि-विशिष्ट हो जायगा।

पच्चीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, शकर-मतवादियो की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि जो अपने आपको प्रकाशित करता है या जो स्वय प्रकाश्य है 'उसे आत्मा कहना चाहिए। इस आधार पर, चैतन्य आत्मा है, क्योकि वह अपने आपको प्रकाशित करता है। वेंकटनाथ आगे आग्रह करते हैं कि ज्ञान का प्रकट होना सर्वथा निरुपाधिक नही है क्योकि प्रकाशन ज्ञाता की आत्मा को होता है, वह न अन्य किसी को या सभी को होता है यह तथ्य स्पष्ट बताता है कि वह आत्मा द्वारा मर्यादित है। यह भी इगित किया जा सकता है ज्ञान का प्रकाशन उसे स्वय ही नही होता, किन्तु एक ओर आत्मा को होता है और दूसरी ओर विषय को, इस अर्थ मे, कि वे ज्ञान के घटक हैं। पुन यह सामान्य अनुभव द्वारा सिद्ध है कि चेतना आत्मा से भिन्न है। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वह चैतन्य आत्मा से अभिन्न है तो वह अपरिणामी है या परिणामी ? क्या उसे अपरिणामी मानना असम्भव होगा ? पहले विकल्प मे, यह आगे प्रश्न किया जा सकता है कि इस अपरिणामी चैतन्य का कोई आधार है या नही, यदि नही है तो वह बिना किसी आधार कैसे टिक सकता है ? यदि उसका कोई आधार है तो उस आधार को ज्ञाता, उचित रूप से माना जा सकता है, जैसाकि रामानुज-मतवादी मानते हैं। यहाँ यह भी सूचित किया जाय कि ज्ञान, गुण] या धर्म होने के कारण, उसका आत्मा से, जो गुण का अधिष्ठान है तादात्म्य नही किया जा सकता।

छब्बीसवां आक्षेप

शकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है। इसलिए आत्मा का 'मैं' के रूप मे अनुभव मिथ्या है और इसी कारण मुक्ति तथा गाढ निद्रा मे वह अनुपस्थित है। इस पर वेंकटनाथ का प्रत्युत्तर यह है कि यदि 'मैं' का विचार गाढ निद्रा मे नहीं होता है तो आत्म-चेतना की निरन्तरता असम्भव है। यह निस्सदेह ही सत्य है कि गाढ निद्रा मे आत्मा का 'मैं' प्रत्यय के रूप मे प्रकट रूप से अनुभव नही होता, किन्तु इस कारण वह उस समय अविद्यमान नही है, क्योकि 'मैं' के रूप मे आत्मा की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि गाढ निद्रा के पहले एव पश्चात् भी वह अनुभव होता है, इसलिए वह निद्रा के समय मे भी विद्यमान होगा। और आत्म-चेतना स्वय भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप मे लक्ष्य करती है। यदि इस 'मैं' प्रत्यय का निद्रा मे नाश होता है तो अनुभव की निरन्तरता समझायी नही जा सकती। (सुप्ते नाहमर्थाभावे [illegible], प्रतिसधानाभाव-प्रसगात्)।

से मेल न बैठेगा। ज्ञानत्मा में परिवर्तन से आत्मा के अपरिवर्त्य स्वभाव पर जरा भी असर नही पडता, क्योकि ज्ञान के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित नही होती।

अट्ठाइसवां आक्षेप

यह सुविदित है कि शकर मतवादी, शुद्ध चैतन्य को समस्त आकार और आभास का द्रष्टा साक्षी मानते है, और इस साक्षित्व व्यापार द्वारा ही ये सब प्रकाशित होते हैं। उसी साक्षी चैतन्य द्वारा चेतना की निरन्तरता स्थिर रहती है और गाढ निद्रा मे भी जो आनन्द का अनुभव होता है वह इसी साक्षी चैतन्य द्वारा भासित होता है। रामानुज मतानुवादी इस साक्षि-चैतन्य को अस्वीकार करते हैं, साक्षी का प्रयोजन ज्ञाता के व्यापार द्वारा सिद्ध होता है जिसकी चेतना, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति मे भी निरन्तर रहती है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि आनन्द की अभिव्यक्ति अशुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, वह शुद्ध चैतन्य के स्व-प्रकाशत्व से ही अनुमित है। यह भी बताना उचित होगा कि गाढ निद्रा मे इन्द्रिय-सुख अभिव्यक्त नही किए जा सकते. यदि ऐसा है तो फिर, गाढ निद्रा मे आनन्द के अनुभव को समझाने के लिए साक्षि चैतन्य को क्यो माना जाय ? जबकि ब्रह्म को सच्चा ज्ञाता नही माना गया है, इसलिए साक्षी का प्रत्यय और ज्ञाता एक नहीं हैं। उसका केवल प्रकाशन भी नही हो सकता, क्योकि यदि वह अपने को ब्रह्म रूप से प्रकाशित करता है, तो साक्षि-चैतन्य के माध्यम की आवश्यकता नही रहती। यदि वह अविद्या के रूप में प्रकाशन करता है, तो इसके सम्बन्ध से ब्रह्म मिथ्या हो जायगा। यह नही हो सकता कि साक्षि-चैतन्य का व्यापार ब्रह्म के समान हो, और तब भी वह अविद्या का स्वरूप ग्रहण करता रहे, क्योंकि वह ब्रह्म और अविद्या दोनो से अभिन्न नही हो सकता। यदि साक्षि-चैतन्य का व्यापार मिथ्या है, तो असख्य साक्षी मानने के कारण अनावस्था दोप आता है। इस तरह जिस किसी प्रकार से साक्षि-चैतन्य को समझा जाय, हम उस तर्क से या अनुभव से उसे सगत ठहराने मे निष्फल रहते हैं।

उन्नतीसवां और तीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ आग्रह करते है कि शकर मतवादी शास्त्र-प्रमाण को प्रत्यक्ष अनुभव से श्रेष्ठ मानते हैं, यह गलत है। वास्तव मे शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के बिना असम्भव है, इसलिए, शास्त्रो को इस प्रकार समझना चाहिए कि वे प्रत्यक्ष से विरोध में न आवें। इसलिए, जबकि प्रत्यक्ष नानात्व को सिद्ध करता है, तो नानात्व को मिथ्या सिद्ध करने वाले शास्त्र का अर्थ निस्सन्देह अप्रमाण होगा। उसके बाद शकर-मतवादी, मिथ्या साधनो द्वारा सच्चे ज्ञान प्राप्त करने के अनेक गलत दृष्टान्त देते हैं तथा आग्रह करते है (जैसे कि, मिथ्या सर्प से जो डर उत्पन्न होता है, अक्षर द्वारा पदार्थ सूचित करना, जबकि अक्षरो का नाद तो रेखाओं का समाहार है)। किन्तु वेंकटनाथ

आवश्यक रूप से बाध करता है। इसलिए, 'मैं कुछ नही जानता' यह अनुभव, किसी भी ज्ञान से बाधित होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि ज्ञान का निषेध और उसका अनुभव दो भिन्न क्षणो मे हो, और उसका अनुभव विरोधात्मक न हो, तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सर्वदा वर्तमान काल मे अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। यद्यपि, गाढ निद्रा मे अज्ञान के तथाकथित प्रत्यक्ष के प्रसग मे, अज्ञान का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ हो ऐसा माना जाय और 'मैं अज्ञ हूँ' मैं अपने को या दूसरो को नही जानता, 'ऐसे प्रसगो मे, स्पष्ट रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए, यह असम्भव है कि 'मैं' का अनुभव भी हो और वह अज्ञ भी रहे। इस प्रकार अज्ञान अनुभव निरर्थक रहेगा। पुन अभाव (निषेध) के अनुभव को आवश्यक प्रतियोगी लक्ष्य करना चाहिए, इससे यह अर्थ होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान है, और वह सर्वव्यापी अभाव के अनुभव को बाध करेगा जो सर्वथा ज्ञानरहित है। तो भी यह आग्रह किया जाय कि अज्ञान का ज्ञान उसके अभाव का अनुभव नही है, किन्तु एक भावात्मक पदार्थ का अनुभव है और इसलिए उपरोक्त विवाद मे दिए गए आक्षेप यहाँ निरुपयोगी रहेगे।

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अज्ञान नामक भाव पदार्थ की मान्यता जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, ज्ञान-विरोधी पदार्थ को अनुमित कर सकती है, क्योकि अज्ञान का 'अ' नञ् अनुपस्थिति या निषेध के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यदि ऐसा है तो, यह आग्रह किया जा सकता है कि विरोध का अनुभव दो पद लक्षित करता है, वे हैं जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है। इस प्रकार, अज्ञान अनुभव ज्ञान को भी समाविष्ट करेगा, इसलिए जब अज्ञान का विरोधी प्रकाशित होता है तब अज्ञान कैसे दीखेगा ? इसलिए, यह स्पष्ट है कि अज्ञान को केवल अभाव मानने के बजाय भाव पदार्थ मानने से कोई लाभ नही होता। भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय ऐसे किसी नए उद्देश्य की पूर्ति नही करता है जो कि अज्ञान का ज्ञानाभाव प्रत्यय उसी प्रकार न कर सकता हो। यदि भाव पदार्थ, ब्रह्म के प्राकट्य को मर्यादित करता हुआ माना जाता है तो अभाव भी वही कर सकता है। शकर-मतवादी स्वय मानते हैं कि ज्ञान, अज्ञान को, जो ज्ञान के उदय का प्रागभाव है, निरास करके प्रकट होता है और इस प्रकार एक रूप से वे इसे अज्ञान का अभावात्मक रूप मानते हैं। मैं मुग्ध हूँ (मुग्धोऽस्मि) इस माने हुए अनुभव मे विरोध के प्रत्यय का समावेश होता है। मुग्ध शब्द मे निषेधात्मक प्रत्यय न होने से यह अर्थ नही निकलता है कि वह निषेधात्मक नहीं है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाणित नही है।

यह सूचित किया गया है कि अज्ञान की सत्ता इस मान्यता पर सिद्ध की जा सकती है कि यदि प्रकाश, अधकार को दूर करके प्रकट होता है, उसी प्रकार, ज्ञान को भी भाव रूप अज्ञान को दूर करके प्रकट होना चाहिए। अनुमान ज्ञान का एक प्रकार

का उत्तर यह है कि उन सभी दृष्टान्तो मे जहाँ मिथ्यात्व से सत्य की प्राप्ति मानी गई है वहाँ हम मिथ्यात्व से सत्य की ओर नही पहुँचते किन्तु एक सच्चे ज्ञान से दूसरे सच्चे ज्ञान की ओर पहुँचते हैं। रेखाएँ, किसी वस्तु की सच्ची प्रतीक है इसी कारण, वे उसका प्रतिनिधित्व करती हैं, और मिथ्यात्व के सत्य की प्राप्ति के कोई भी उदाहरण नही दिए जा सकते। इसलिए यदि शास्त्र भी मिथ्या है, (अन्तिम अर्थ मे) जैसाकि शकर मतवादी कहेगे, तो उनके लिए हमे ब्रह्म ज्ञान-प्राप्ति कराना असम्भव हो जायगा।

इकतीसवा आक्षेप

शकर के अनुयायियो का यह मत है कि सच्चे ज्ञान से इसी जीवन मे मुक्ति प्राप्त हो सकती है, जिसे कि वे जीवन्मुक्ति कहते है, रामानुज मनवादी इसे अस्वीकार करते हैं। वे ऐसा मानते है कि सच्चे ज्ञान द्वारा मुक्ति नही मिल सकती किन्तु सच्चे ज्ञान के सयोग से, उचित कर्म और उचित भाव द्वारा मुक्ति मिल सकती है। जगत् के पदार्थों से सच्चा वियोग शरीर के न रहने पर ही होता है। वेंकटनाथ यह बताते हैं, कि जहाँ तक देह है, एकाकार रूप से परम ज्ञान का अनुभव सम्भव है, क्योकि ऐसे पुरुष को अपने शरीर और उसके नाना सम्बन्ध का भान अवश्य ही होगा, यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि शरीर रहता है किन्तु उसे मिथ्या या असत् माना जा सकता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह शरीर-रहित है और तब जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति मे भेद असम्भव हो जायगा।

बत्तीसवा आक्षेप

शकर-मतवादी आग्रहपूर्वक कहते है कि अज्ञान या अविद्या, यद्यपि ज्ञान-विरोधी है, तो भी वह भावात्मक पदार्थ है जैसाकि प्रत्यक्ष अनुमान एव शास्त्र प्रकट करते हैं। वेंकटनाथ इसे अस्वीकार करते हुए, यह कहते हैं कि यदि अज्ञान को ज्ञान-विरोधी माना जाता है तभी ऐसा हो सकता है जबकि वह ज्ञान का निषेध करता है अर्थात् उसे अभावात्मक होना चाहिए। ऐसा अभाव किसी ज्ञान के विषय को स्पष्ट ही लक्ष्य करे, और यदि यह मान लिया जाता है तो ज्ञान का विषय जान लिया होना चाहिए, क्योकि नही तो निषेध उसे लक्ष्य नही कर सकता। इस पर शकर-मतवादी, शायद यह कहेंगे कि ज्ञान का निषेध और विषय जिसे वह लक्ष्य करता है, ये दोनो इस तरह से स्वतत्र वस्तु हैं कि ज्ञान का निषेध, आवश्यक रूप से बाध्य नही करता कि ज्ञान का विषय ज्ञात होना चाहिए। इसलिए, यह कहना गलत है कि ज्ञान का अभाव वदतो व्याघात-दोष है। इस पर स्पष्ट उत्तर यह है कि जैसाकि निषेध के प्रसग मे, जहाँ, निषेध किए गए पदार्थ की उपस्थिति निषेध का बाध करती है, उसी प्रकार जहाँ सभी ज्ञान के अर्थ (पदार्थ) का निषेध है, किसी भी (पदार्थ) का अस्तित्व उसे

आवश्यक रूप से बाध करता है। इसलिए, 'मैं कुछ नही जानता' यह अनुभव, किसी भी ज्ञान से बाधित होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि ज्ञान का निषेध और उसका अनुभव दो भिन्न क्षणो मे हो, और उसका अनुभव विरोधात्मक न हो, तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सर्वदा वर्तमान काल मे अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। यद्यपि, गाढ निद्रा मे अज्ञान के तथाकथित प्रत्यक्ष के प्रसग मे, अज्ञान का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ हो ऐसा माना जाय और 'मै अज्ञ हूँ' मैं अपने को या दूसरो को नही जानता, 'ऐसे प्रसगो मे, स्पष्ट रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए, यह असम्भव है कि 'मै' का अनुभव भी हो और वह अज्ञ भी रहे। इस प्रकार अज्ञान अनुभव निरर्थक रहेगा। पुन अभाव (निषेध) के अनुभव को आवश्यक प्रतियोगी लक्ष्य करना चाहिए, इससे यह अर्थ होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान है, और वह सर्वव्यापी अभाव के अनुभव को बाध करेगा जो सर्वथा ज्ञानरहित है। तो भी यह आग्रह किया जाय कि अज्ञान का ज्ञान उसके अभाव का अनुभव नही है, किन्तु एक भावात्मक पदार्थ का अनुभव है और इसलिए उपरोक्त विवाद मे दिए गए आक्षेप यहाँ निरुपयोगी रहेंगे।

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अज्ञान नामक भाव पदार्थ की मान्यता जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, ज्ञान-विरोधी पदार्थ को अनुमित कर सकती है, क्योकि अज्ञान का 'अ' नञ् अनुपस्थिति या निषेध के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यदि ऐसा है तो, यह आग्रह किया जा सकता है कि विरोध का अनुभव दो पद लक्षित करता है, वे हैं जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है। इस प्रकार, अज्ञान अनुभव ज्ञान को भी समाविष्ट करेगा, इसलिए जब अज्ञान का विरोधी प्रकाशित होता है तब अज्ञान कैसे दीखेगा ? इसलिए, यह स्पष्ट है कि अज्ञान को केवल अभाव मानने के बजाय भाव पदार्थ मानने से कोई लाभ नही होता। भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय ऐसे किसी नए उद्देश्य की पूर्ति नही करता है जो कि अज्ञान का ज्ञानाभाव प्रत्यय उसी प्रकार न कर सकता हो। यदि भाव पदार्थ, ब्रह्म के प्राकट्य को मर्यादित करता हुआ माना जाता है तो अभाव भी वही कर सकता है। शकर-मतवादी स्वय मानते हैं कि ज्ञान, अज्ञान को, जो ज्ञान के उदय का प्रागभाव है, निरास करके प्रकट होता है और इस प्रकार एक रूप से वे इसे अज्ञान का अभावात्मक रूप मानते हैं। मैं मुग्ध हूँ (मुग्धोऽस्मि) इस माने हुए अनुभव मे विरोध के प्रत्यय का समावेश होता है। मुग्ध शब्द मे निषेधात्मक प्रत्यय न होने से यह अर्थ नही निकलता है कि वह निषेधात्मक नही है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाणित नही है।

यह सूचित किया गया है कि अज्ञान की सत्ता इस मान्यता पर सिद्ध की जा सकती है कि यदि प्रकाश, अधकार को दूर करके प्रकट होता है, उसी प्रकार, ज्ञान को भी भाव रूप अज्ञान को दूर करके प्रकट होना चाहिए। अनुमान ज्ञान का एक प्रकार

है, और इसलिए उसे अपने व्यापार को आवृत करने वाले किसी भी अज्ञान को दूर करना चाहिए। जबकि यह अज्ञान अपने को प्रकट नही कर सका तो यह सहज अनुमान किया जायगा कि कोई दूसरा अज्ञान आवृत कर रहा है और जिसे दूर किए विना वह अपने को प्रकट नही कर सका, तो इस प्रकार अनवस्था स्थिति आ जाएगी। यदि अज्ञान प्रच्छन्न मानते हैं तो अनुमान अज्ञान को साक्षात् नष्ट करता है यह भी माना जा सकता है, जब कभी ज्ञान किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है, तब वह उससे सम्बन्धित अज्ञान को दूर करता है। शास्त्र भाव रूप अज्ञान का समर्थन नही करते है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय न्यायविरुद्ध है।

चालीसवा आक्षेप

अज्ञान ब्रह्म मे नही किन्तु जीव मे रहता है, यह मान्यता गलत है। यदि अज्ञान जीव के अपने सच्चे स्वरूप मे (अर्थात् ब्रह्म रूप से) रहता है तो अज्ञान वस्तुत ब्रह्म मे ही रहता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अज्ञान प्रत्येक जीव के अपने वास्तविक स्वरूप मे नही किन्तु सामान्यतः समझे जाने वाले जन्म-मरणादि धर्मयुक्त रूप मे रहता है, तो कहने का अर्थ यह होता है कि अज्ञान भौतिक द्रव्य से सम्बन्धित है और वह दूर नही किया जा सकता, क्योकि भौतिक बन्धनो मे बद्ध जीव मे अज्ञान को दूर करने की इच्छा कभी नही हो सकती, न उसमे उसे नाश करने की शक्ति ही है। पुन यह प्रश्न किया जाय कि अज्ञान व्यक्तिगत जीवो मे भेद करता है तो वह भिन्नता जीवो मे एक है या अनेक। पहले प्रसग के अनुसार एक जीव की मुक्ति से अज्ञान हट जाने पर सभी मुक्त हो जाएंगे। दूसरे प्रसग मे, यह कहना कठिन है कि अविद्या पहले है या जीवो का आपस मे भेद, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा, क्योकि शकर-मतवादी जीवो मे भेद की सत्ता नहीं मानते। 'अज्ञान ब्रह्म से सम्बन्धित है' इस मतानुसार, जीवो के बीच भेद मिथ्या होने से, भिन्न जीवो के अनुसार भिन्न अज्ञान मानने की आवश्यकता नही रहती। कुछ भी हो, अविद्या, चाहे सत्य हो या भ्रम रूप हो, वह जीवो की भिन्नता नही समझा सकती। पुन यदि अज्ञान, जो जीवो मे भेद उत्पन्न करने वाले माने गए है, वे ब्रह्म मे रहते है ऐसा माना जाता है तो ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। अज्ञान जीवो में रहते हैं इस वाद के अनुसार, पुन. पुरानी कठिनाई सम्मुख आती है कि अविद्या का भेद प्राथमिक है या जीवो का भेद। यदि उस समस्या का इस प्रस्ताव से हल करने का मतव्य है कि यहाँ अनवस्था स्थिति बीज और अकुर जैसे दोषपूर्ण नही है, तो यह बताया जा सकता है कि अज्ञान, जो जीवो मे भेद उत्पन्न करता है उनका जीव ही आधार है इस मान्यता को स्वीकारने पर अनवस्था को कोई स्थान नही रहता। बीज जो अकुर पैदा करता है वह अपने आपको उत्पन्न नही करता। यदि यह सूचन किया जाता है कि पूर्वगामी जीवो की अविद्या उत्तरकालीन जीवो को उत्तरकालीन जीवो को उत्पन्न करती है तो जीव नाशवान् हो जाएंगे। इस

प्रकार, किसी भी प्रकार हम इस मत का समर्थन करना चाहे कि अविद्या प्रत्येक जीवो मे रहती है तो हमे भारी असफलता का सामना करना पडता है।

इकतालीसवा आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि अविद्या-दोष ब्रह्म मे है। यदि यह अविद्या-दोष ब्रह्म से भिन्न है तो वह वास्तव मे द्वैतवाद स्वीकार करने जैसा होता है, यदि ऐसा नही है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न नही है, तो ब्रह्म स्वय सभी भ्रमो और भूलो का उत्तरदायी है जो अविद्या जनित है, और ब्रह्म के नित्य होने से, सभी भ्रम और भूल भी अवश्य नित्य होगे। यदि ऐसा कहा जाय कि भ्रम और भूल, ब्रह्म के किसी अन्य सहकारी से सम्बन्धित होने पर उत्पन्न होते है, तो इस पर पुराना प्रश्न खडा किया जा सकता है कि वह सहकारी कारण, ब्रह्म से भिन्न है या नहीं, और वह सत् है या असत्। फिर ऐसा सहकारी कारण आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के सच्चे ज्ञान से उत्पन्न होने का प्रागभाव रूप नही हो सकता, क्योकि तब फिर शकर-मतवादियो द्वारा प्रतिपादित भाव रूप अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा अनावश्यक और अयोग्य हो जायगा। ऐसा अभाव ब्रह्म से अभिन्न नही हो सकता, क्योकि तब सत्य के उदय एव अज्ञान के नाश के साथ स्वय ब्रह्म का अन्त हो जायगा। जबकि ब्रह्म से बाहर सब कुछ मिथ्या है, यदि ऐसी कोई वस्तु है जो ब्रह्म के प्रकाश का अवरोध या उसमे विकृति उत्पन्न करती है, (यदि विकृति किसी भी अर्थ मे सत् हो) तब वह वस्तु भी ब्रह्म होगी, और ब्रह्म के नित्य होने से वह विकृति भी नित्य होगी। यदि जो दोष अवरोधक के रूप मे कार्य करता है उसे असत् और अनादि मान लिया जाता है, तो भी उसे किसी का आधार होना चाहिए, और वह अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यदि वह किसी भी कारण पर आश्रित नही है, तो वह ब्रह्म जैसा होगा, जो निरर्थक दोष पर आश्रित हुए बिना प्रकाशित होता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह दोष अपनी एव दूसरो की भी रचना करता है, तो जगत् की रचना किसी अन्य दोष पर अवलम्बित हुए बिना प्रकट होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि दोष की अपनी रचना करने मे कोई असगति नही है जैसे कि भ्रम एक प्रकार से अपनी ही रचना है, अर्थात् वह अपने से बना है, तो शकर-मतवादी अपने ही मत का खण्डन करेंगे क्योकि वे अवश्य ही मानते है कि अनादि जगत्, सर्जन-दोष के व्यापार से है। यदि अविद्या स्वय मिथ्या आरोपण नही है, तो वह या तो सत्य होगी या तुच्छ। यदि वह भ्रम और कार्य दोनो ही मानी जाती है, तो वह अनादि नही होगी। यदि उसका आरम्भ है तो उसे जगत्-प्रपच से परिच्छिन्न नही किया जा सकता। यदि भ्रम और उसकी रचना अभिन्न मानी जाय, तब भी अविद्या अपने से अपनी रचना करती है यह पुरानी कठिनाई वैसी ही बनी रहती है। पुन, अविद्या, ब्रह्म को किसी सहकारी दोष की सहायता के बिना दीखती है, तो वह ऐसा निरन्तर करती रहेगी। यदि यह आग्रह किया जाता

है कि जब अविद्या का अन्त होता है उसकी अभिव्यक्तियो का भी अन्त हो जायगा, तब भी कठिनाई उपस्थित होती है जिसका शकर-मतवादियो ने स्वय सूचन किया है : क्योकि हम जानते हैं कि उनके मतानुसार प्रकाशन और प्रकाश्य मे भेद नही हैं और दोनो के बीच कोई कारण-व्यापार भी नही है। जो प्रकाशित होता है उसे प्रकाश तत्व से पृथक् नही किया जा सकता।

यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब तक सच्चे ज्ञान का उदय नही होता तब तक ही अविद्या प्रकट रहती है, तो ऐसा नही कहा जा सकता कि सच्चे ज्ञान के उदय होने का प्रागभाव जगत्-प्रपच का कारण है और अविद्या मानना अनावश्यक है ? यदि यह कहा जाता है कि नानारूप जगत्-प्रपच का अभाव, कारण नही माना जा सकता, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह किया जा सकता है कि यह स्थिति नाना रूप जगत्-प्रपच को उत्पन्न करने मे शक्य भी मानी जा सकती है। यदि ऐसा माना जाता है कि आँख मे भावात्मक दोष कई भ्रम उत्पन्न कर सकता है तो दूसरी ओर यह भी आग्रह किया जा सकता है कि परिच्छेद एव भेद को न देखना भी बहुधा अनेक भ्रम उत्पन्न करता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि अभाव काल से मर्यादित नहीं है, और इसलिए, वह काल की भिन्न परिस्थितियो मे, नाना प्रकार के जगत्-प्रपच उत्पन्न करने मे शक्तिमान् नही है और इसी कारण से, भाव रूप अज्ञान मानना अधिक ठीक है, तब भी उसी आग्रह से यह प्रश्न किया जा सकता है कि काल धर्म से अमर्यादित अनादि अज्ञान, काल से मर्यादित होकर, सच्चे ज्ञान के उदय तक, नाना रूप जगत्-प्रपच को किस प्रकार उत्पन्न करता रहता है। उत्तर मे यदि यह कहा जाता है कि अविद्या का गुण यही है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि अभाव के ऐसे स्वभाव या धर्म को मानने मे हानि भी क्या है ? यह कम से कम, हमे भाव रूप अज्ञान के विचित्र एव पूर्व कल्पना को मानने से बचाता है। यह आग्रह किया जाय कि अभाव एकरस एव निराकार है और इसलिए उसमें धर्म-परिणाम नही हो सकता जबकि अविद्या, भावरूप पदार्थ होने से, विवर्त्त-परम्परा मे परिणत हो सकती है। इस सम्बन्ध मे यह आग्रह किया जा सकता है कि अविद्या का धर्म इस विवर्त्त-परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नही है, यदि, ऐसा है जबकि अविद्या का धर्म ही नानारूप परिणाम की परम्परा होना है, तो हर समय हर प्रकार के भ्रम बने रह सकते हैं। भ्रम को विवर्त्त का परिणाम भी नही माना जा सकता, क्योकि अविद्या ऐसे कार्य उत्पन्न करती मानी है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि अविद्या स्वय, अनुभव मे आने वाले विवर्त्त-परिणामो से भिन्न एक विशिष्ट पदार्थ है तब भी वही पुराना प्रश्न खडा हो जायगा कि वह सत् है या असत्। पहला विकल्प मानने पर द्वैतवाद का स्वीकार होगा, और दूसरा विकल्प अर्थात् यदि वह मिथ्या है तो भिन्न देश और काल से मर्यादित, विविध विवर्त्त की परम्परा, ऐसे पूर्वगामी असख्य कल्पनाओ को मानने के लिए बाध्य करेगा। यदि यह कहा जाता है कि पूर्वगामी परिणाम की परम्परा उत्तरकाल

के परिणामो की अनन्त परम्परा को निश्चित करती है, यह मान्यता तार्किक दोषयुक्त नही है, तो भी इस परिस्थिति को समझाने के लिए अविद्या को स्वीकार करना आवश्यक नही है। क्योकि ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म मे किसी बाह्य कारण पर आश्रित हुए बिना भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म मे अनवरत भिन्न-भिन्न धर्म परिणाम (सत् या असत्) रूप से परिणत होते रहते है, ऐसी मान्यता इस निष्कर्ष पर ले जायगी कि इन परिणामो से परे कोई ब्रह्म है ही नही, यह आक्षेप निष्प्रमाण है, क्योकि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बताता है कि मिट्टी के पिंड मे होने वाले परिणाम उसकी सत्ता को अप्रमाण सिद्ध नही करते हैं। ऐसे मत मे ब्रह्म को भ्रम का अधिष्ठान माना जा सकता है। दूसरी ओर, मिथ्या अविद्या की मान्यता स्वीकार करने पर ही अधिष्ठान की सत्ता को न्यायपूर्ण नही प्रतिपादित किया जा सकता, क्योकि मिथ्या का अधिष्ठान स्वय मिथ्या होगा। इसलिए यदि ब्रह्म को उसका आधार माना जाय, तो वह स्वय मिथ्या होगा और हम शून्यवाद मे पडेंगे।

पुन यह पूछा जाय, कि अविद्या स्वय प्रकाश्य है या नही। यदि वह नही है, तो वह तुच्छ हो जाती है, यदि वह स्वप्रकाशित है तो फिर पूछा जा सकता है कि प्रकाशत्व उसका स्वरूप है या नही। यदि है तो वह ब्रह्म जैसी स्वय प्रकाश होगी, और दोनो मे भेद न रहेगा। यदि अविद्या का प्रकाशत्व ब्रह्म मे है, तो ब्रह्म नित्य होने से, कोई ऐसा समय न होगा, जब अविद्या प्रकाशित न हो। प्रकाशत्व, ब्रह्म या अविद्या का धर्म भी नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा नही माना गया है कि दोनो मे से कोई उसका ज्ञाता है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ज्ञातृ-धर्म मिथ्या आरोपण के कारण है, तो यह आक्षेप किया जा सकता है कि जहाँ तक अविद्या के प्रत्यय को स्पष्ट न किया जाय वहाँ तक ऐसे मिथ्या आरोपण का अर्थ समझ के बाहर है। मिथ्या-आरोपण की मान्यता के आधार पर ही ज्ञातृ-भाव सम्भावित है और उपरोक्त मान्यता के आधार पर मिथ्या आरोपण, ज्ञाता की मान्यता पर शक्य है। यदि यह ब्रह्म के कारण है, तो ब्रह्म के नित्य होने से, मिथ्या-आरोपण भी नित्य होगे। यदि वह अकारण है तो सारा जगत्-प्रपच अकारण हो जायगा।

अविद्या के अधिष्ठान का कोई भी विचार समझ के बाहर है। उसका कोई आधार नही है, वह या तो ब्रह्म जैसा स्वतन्त्र होना चाहिए या तुच्छ। यदि उसका कोई आधार है और वह आधार ब्रह्म का स्वरूप है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि नित्य शुद्ध ब्रह्म, स्वभाव से विरोधी अविद्या का किस प्रकार अधिष्ठान हो सकता है। यदि इस समस्या का निराकरण इस मान्यता मे पाया जाता है कि अविद्या मिथ्या है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि यदि वह मिथ्या है तो [illegible] उसे अन्त करने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि उत्तर में यह कहा जाता है कि [illegible] होने पर भी वह दीखती है और इस आभास के अन्त के लिए प्रयत्न [illegible] है, तो उसका भी यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, नाम नी अविद्या [illegible] है [illegible]

उदाहरणो से तुलना की जा सके। यदि ऐसा कहा जाता है कि अविद्या, द्रव्य न होने के कारण, जो भी आलोचना सद्रूप, विद्यमान द्रव्यो के बारे मे की जा सकती है, वह अविद्या पर उपयुक्त नही हो सकती, तो ऐसा सिद्धान्त लगभग शून्यवाद जैसा होगा, क्योकि शून्यवादी यह मानते हैं कि उनके विरुद्ध की हुई आलोचनाएँ शून्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन नही करती।

बयांलीसवां आक्षेप

शकर मतवादी अविद्या और माया को दो भिन्न प्रत्यय मानते हैं। माया दूसरो को भ्रम मे डालती है और अविद्या स्वय को। माया शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है किन्तु शकर-मतवादियो की धारणा को कोई भी अर्थ सतुष्ट नहीं करता। यदि ऐसा माना जाता है कि माया शब्द मे, जिसका ब्रह्म अधिष्ठान है, यह विलक्षणता है कि वह अपने भिन्न रूप, दूसरो को प्रकट करती है और उन्हे मोहित करती है तो इसे अविद्या-प्रत्यय मे पृथक् करना कठिन हो जाता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का प्रयोग, भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्त्ता के सकुचित अर्थ मे किया जाता है जैसाकि रजत-शुक्ति के दृष्टान्त में है, तो माया भी अविद्या कही जा सकती है, क्योकि वह भी जगत्-प्रपच प्रत्यक्ष कराती है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि रजत-शुक्ति-भ्रम के कारण को अविद्या क्यो कहा जाय और ऐसे भ्रम को सापेक्ष रूप से बाधित करने वाले सच्चे ज्ञान को क्यो न कहा जाय। ईश्वर भी अविद्या-ग्रस्त माना जा सकता है, क्योकि उसके सर्वज्ञ होने से, उसे सभी जीवो का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान का भी समावेश है। यदि ईश्वर को भ्रम का ज्ञान नहीं है, तो वह सर्वज्ञ न होगा। यह भी मानना गलत है कि माया के सिवाय ब्रह्म के सम्पूर्ण जगत् प्रकट है, और यदि यह ब्रह्म को मिथ्या प्रकट करने के अतिरिक्त सभी को प्रकट करती ह और यदि ब्रह्म स्वय भ्रम मे न रहे, जो कि जगत्-प्रपच का मिथ्या रूप जानता है, तब तो ब्रह्म की अज्ञानावस्था का निराकरण करना ही कठिन होगा। यदि ब्रह्म, सभी पदार्थो को दूसरो का भ्रम है ऐसा जानता है तो उसे दूसरो को जानना चाहिए और साथ-ही-साथ उनमे रहे भ्रमो को भी, फिर इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या से प्रभावित है। मिथ्यात्व का ज्ञान, भ्रम हुए बिना किस प्रकार हो सकता है यह समझना कठिन है, क्योकि मिथ्यात्व निरा अभाव नहीं है किन्तु, एक वस्तु का, जहाँ वह नहीं है, उस स्थान पर दीखना है। यदि ब्रह्म दूसरो को केवल भ्रम मे देखता है, तो इससे यह अर्थ सिद्ध नही होता कि वह अपनी माया से दूसरो को मोहित करता है। कोई बाजीगर हो सकता है जो अपनी झूठी चाल से अपना जादू दिखाने का प्रयत्न करे। ऐसा माना जाय कि माया और अविद्या मे यह भेद है कि अविद्या, भ्रममय अनुभवो को उत्पन्न कर, अनुभव करने वालो के हित को नुकसान पहुँचाती है, जबकि ब्रह्म जो इन जीवो को और उनके अनुभवो को, अपनी माया दृष्टि को देखता है जो उसके हित

को क्षति नही पहुँचाती है। इसका यह उत्तर है कि यदि माया किसी के हित को क्षति नहीं पहुँचाती तो उसे दोष नही कहा जा सकता। यही आक्षेप किया जा सकता है कि दोष का हानिकारक एव लाभप्रद फलो मे कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु उनका सम्बन्ध केवल सत्य और मिथ्या से ही है। ऐसा मत स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या और सत्य का उपयोग दृष्टि से मूल्य है और जो भी मिथ्या है वह किसी के हित को नुकसान पहुँचाता है, यदि ऐसा नही है तो, कोई भी उसे निवारण करने का प्रयत्न न करेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि माया ब्रह्म मे दोष रूप नही है किन्तु उसका गुण है तो यह कहा जायगा कि यदि ऐसा है तो कोई भी उसे हटाने की चिन्ता न करेगा। पुन यदि माया, ब्रह्म का गुण है, और ऐसे महान् व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करता है फिर एक छोटा जीव तो हिम्मत ही नही कर सकता। यदि जीव ऐसा कर भी सके, तो वह सर्वशक्तिमान् सत्ता के व्यावहारिक अर्थ को हानि पहुँचायगा, क्योंकि माया एक गुण होने के कारण ब्रह्म के लिए अवश्य ही उपयोगी हो सकती है। माया, बिना कारण, अपने आपसे नष्ट नही की जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने से हमे क्षणिकवाद मानना पडेगा। यदि माया नित्य और सत् है तो यह हमे द्वैतवाद मानने को बाध्य करेगी। यदि माया ब्रह्म के अन्तर्गत मानी जाय तो ब्रह्म केवल प्रकाश होने मे और माया का उसमे समावेश होने से, उसमे जगत्-प्रपच उत्पन्न करने की शक्ति न रहेगी, जो उसमे मानी गई है। पुन, माया नित्य होने से मिथ्या नही हो सकती। पुन यदि, ब्रह्म मे से माया का प्रकट होना सत्य माना जाता है, तो ब्रह्म का अज्ञान भी सत्य है, यदि ब्रह्म मे से मिथ्या प्राकट्य है, तो ब्रह्म, माया को अपनी लीला के साधन हेतु उपयोग करता है, ऐसा मानना निरर्थक होगा। ब्रह्म, एक छोटे बालक की तरह, झूठे प्रतिबिम्ब चित्रो से खेलता है यह मानना नितान्त अर्थ-शून्य है। यदि जीव और ब्रह्म एक ही है, तो जीवगत अज्ञान, ब्रह्म मे अज्ञान अनुमित नही करेगा यह मानना तर्क-विरुद्ध होगा। पुन यदि, जीव और ब्रह्म सचमुच भिन्न हैं, तो फिर उनके तादात्म्य का ज्ञान कैसे मुक्ति प्रदान कर सकता है? इस प्रकार माया और अविद्या एक दूसरे से भिन्न हैं यह समझ के बाहर है।

तेतालीसवा आक्षेप

शकर के अनुयायी यह मानते हैं कि अद्वैत के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। अब यह ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से भिन्न नही हो सकता, क्योकि यदि ज्ञान विषयरहित है तो वह ज्ञान नही है, क्योकि शकर मतवादी यह मानते हैं कि ज्ञान, विषय की वृत्ति रूप चित्त की स्थिति ही हो सकती है (वृत्ति रूप हि ज्ञान सविषयमेव इति भवतामपि सिद्धान्तम्)। यह ब्रह्म ज्ञान से एक (अभिन्न) भी नही हो सकता क्योकि यदि ऐसा ज्ञान मुक्ति प्रदान कर सकता है तो शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान भी वही करा सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि रजत-सीप के दृष्टान्त मे जब चमकता 'इद' तत्व मे प्रकट है

तो वह रजत के भ्रम के अनुभव के बाधा के समान है और ब्रह्म के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाले तादात्म्य ज्ञान का प्रकट होना, जगत्-प्रपच का बाधित होना माना जा सकता है। इस पर यह उत्तर है कि 'इद' की सीप के रूप मे सत्ता और उसके रजत रूप भास मे तादात्म्य नही है। इस प्रकार, एक ज्ञान दूसरे की बाधा कर सकता है, किन्तु आलोचना के इस दृष्टान्त मे, तादात्म्य-ज्ञान के विचार मे कोई नया तत्व नही है, जो ब्रह्म ज्ञान मे पहले से विद्यमान न था। यदि तादात्म्य-विचार सविषय ज्ञान माना जाता है तो वह ब्रह्म ज्ञान से भिन्न होगा, और वह स्वय मिथ्या होने से, भ्रम को दूर नही करेगा। ज्ञात वस्तु फिर प्रत्यभिज्ञात होती है यह उदाहरण भी शकर मत का उपयुक्त समर्थन नही है, क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान, मूल परिचयात्मक ज्ञान जैसा एक रूप नही है, जबकि तादात्म्य ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है। पुन , यदि ऐसा माना जाता है कि वृत्तिरूप सविषय ज्ञान भ्रम को दूर करता है और ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न करता है, तो भ्रम सत्य ठहरेंगे क्योकि वे अन्य वस्तु की तरह नष्ट किए जा सकते है।

यदि ऐसा कहा जाता है कि तादात्म्य का प्रत्यय, अविद्या उपहित ब्रह्म को लक्ष्य करता है, तो अर्थ यह होगा कि साक्षी चैतन्य द्वारा जगत्-प्रपच उत्पन्न होता है और ऐसा प्रकट होना भ्रम को दूर नहीं करेगा।

पुन यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो ज्ञान, यह विचार उत्पन्न करता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है, इसे भी मिथ्या माना जा सकता है या नही, क्योकि यह स्वबाधित होगा। यदि जगत्-प्रपच के मिथ्यात्व का विचार स्वय मिथ्या माना जाय, तो जगत् को सत्य मानना पडेगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जैसे वन्ध्या स्त्री के पुत्र की मृत्यु की कल्पना मे वध्या एव पुत्र दोनो ही मिथ्या हैं, उसी प्रकार यहां भी जगत् एव मिथ्यात्व दोनो ही मिथ्या हैं। किन्तु यह उत्तर दिया जा सकता है कि उपरोक्त दृष्टान्त मे वध्या स्त्री और पुत्र की मृत्यु का मिथ्यात्व, दोनो मिथ्या नही हैं। पुन यदि, जगत्-प्रपच का मिथ्यात्व सत्य है तो इससे द्वैतवाद प्रतिपादित होता है।

पुन यदि अनुमान जगत्-प्रपच को बाधित करना है तो यह मानने का कोई कारण नही है कि वेद के अद्वैतवादी पाठ के श्रवण मात्र से जगत्-प्रपच का बाध हो जायगा। यदि जगत्-प्रपच का विरोध (बाध) ब्रह्म स्वय के द्वारा उत्पन्न होता है तो ब्रह्म नित्य होने से जगत्-भ्रम कभी न होगा। पुन ब्रह्म को अपने शुद्ध स्वरूप मे जगत्-भ्रम के व्यापार मे सहायक माना है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो भ्रम कभी भी नही उत्पन्न हो सकता। यह एक विचित्र सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से जगत्-प्रपच का सहायक है, तो भी श्रुति पाठ एव उनके ज्ञान रूपी अपने अशुद्ध स्वरूप मे ब्रह्म, भ्रम को दूर कर सकता है। इसलिए, चाहे जिस प्रकार, हम अज्ञान

को दूर करने की सम्भावना भी नहीं, इसे अनवस्था का सामना करना ही पडता है ।

चवालीसवा आक्षेप

अविद्या के अन्त का विचार भी अयुक्त है । क्योंकि इस सम्बन्ध मे प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह अविद्या का अंत स्वय सत् है या असत् । यदि यह असत् है, तो ऐसे अंत से अविद्या उन्मूलित की जा सकेगी यह आशा खंडित हो जाती है, अन्त होना स्वय अविद्या की अभिव्यक्ति है । यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या के अन्त का आधार आत्मा है, क्योंकि तब आत्मा को परिणामी मानना होगा और यदि किसी प्रकार, अविद्या के अन्त के लिए किसी अन्य कारण को आधार के रूप मे माना जाता है, तो अन्त (निवृत्ति) सत्य होने से द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है । यदि इसे भ्रम माना जाता है, और उसके पीछे कोई दोष नही है तो फिर जगत्-प्रपच को समझाने के लिए अविद्या रूपी दोष की मान्यता अनावश्यक है । यदि वह अविद्या स्वय ब्रह्म की तरह आधार-रहित है, तो अविद्या का उससे सम्बन्ध जोडना कोई अर्थ नही रखता । अविद्या के अन्त होने के बाद भी, वह फिर क्यो न दिखाई देती, इसका भी कोई योग्य कारण नहीं दीखता है । यदि यह सूचित किया जाता है कि, अविद्या के अन्त का कार्य, ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है यह बताना है और ज्योंही यह कार्य पूर्ण हो जाता है, अविद्या का अंत भी पूर्ण हो जाता है, तो फिर एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पडता है । क्योंकि यदि अविद्या के अन्त का अन्त उसका अर्थ है अर्थात् अविद्या पुन स्थापित हो जाती है । यह आग्रह किया जाय कि जब घडा उत्पन्न किया जाता है तो यह अर्थ होता है कि उसके प्रागभाव का नाश हो गया, और जब वह घडा फिर जब नष्ट किया जाता है तो इससे यह अर्थ नही निकलता कि प्रागभाव फिर उत्पन्न हो जाता है, वैसा यहां भी हो सकता है । इसका यह उत्तर है कि ये दोनो दृष्टान्त भिन्न है, उपरोक्त दृष्टान्त मे एक अभाव का अभाव भावात्मक पदार्थ से है,जबकि अविद्या के अन्त मे निषेध के लिए कोई पदार्थ नही है, इसलिए इस दृष्टान्त मे, अभाव, तार्किक अभाव होगा, जो निषेध किए पदार्थ को स्वीकार कराएगा, जो अविद्या है । यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, अविद्या के निषेध के लिए विद्यमान है, तो कठिनाई यह होगी कि ब्रह्म, जो अविद्या और उसके अन्त का निषेध है नित्य होने से, जगत्-प्रपच की किसी भी काल मे उत्पत्ति नही होनी चाहिए ।

यदि अविद्या का अन्त भ्रम रूप नहीं है, और यदि उसका समावेश ब्रह्म के स्वरूप मे किया जाता है तो ब्रह्म अनादि होने से अविद्या सर्वदा उसमे अन्तंनिहित माननी चाहिए । यह नही कहा जा सकता कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वय अज्ञान का अन्त है, तो फिर अविद्या के अन्त को ब्रह्म के स्वरूप की पहिचान के साथ कार्य कारण सम्बन्ध से जोडना असम्भव होगा ।

यदि ऐसा सूचन किया जाता है कि ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिबिम्बन करती वृत्ति, ब्रह्म के अज्ञान के अन्त को बताती है और यह वृत्ति अन्य कारण द्वारा दूर की जा सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी वृत्ति भ्रम रूप है और इसका अर्थ यह होता है कि अविद्या का अन्त भी भ्रम रूप है। ऐसे मत की आलोचना ऊपर दी गई है। अविद्या का अन्त होना सत्य नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म के बाहर है, न वह सत्य है और सत्य से भिन्न कुछ और असत्य है, क्योंकि यह सचमुच अन्त नहीं प्राप्त करायगा। इसलिए अन्ततोगत्वा, यह न तो असत् होगी और न उपरोक्त वस्तुओं से भिन्न होगी, क्योंकि भाव और अभावात्मक तत्व का ही सत् और असत् स्वरूप होता है। अज्ञान, असत् और सत् से भिन्न है उसका अन्त सत्य है, क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए अन्त को सत् और असत् पदार्थों से भिन्न और विलक्षण मानना पडता है। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि यदि अज्ञान असत् जैसा (असतीव) माना जाता है, तो दोनों अभाव के दोनों अर्थों मे, अर्थात्, अभाव भाव का दूसरा नाम मात्र ही है, और अभाव स्वय एक स्वतत्र पदार्थ है, तो अविद्या का मानना द्वैतवाद को उपस्थित करेगा। यदि इसे तुच्छ माना जाता है, तो वह भासमान न होगी, और ऐसी तुच्छ वस्तु का ससार से विरोध नहीं होगा। इस प्रकार अविद्या का अन्त मुक्ति प्राप्त नहीं कराएगा। पुन यदि अविद्या का अन्त असत् है, तो इससे अविद्या सत् है यह अनुमित होगा। अविद्या का अन्त घडे के नाश के समान नहीं है जो सचमुच सत्ता रखता है, जिससे कि वह यद्यपि असत् रूप दीखे, फिर भी घडे को भावात्मक पदार्थ माना जा सकता है। अविद्या का नाश इसके समान नहीं है, क्योंकि इसका कोई रूप नहीं है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का अन्त पाचवें प्रकार का है, अर्थात् सत्, असत्, सदसत् से भिन्न है तो यह वास्तव में माध्यमिकों का अनिर्वचनीय सिद्धान्त मानने जैसा है, क्योंकि यह भी जगत् को पाचवें प्रकार का वर्णन करता है। ऐसे नितान्त विलक्षण और अनिर्वचनीय पदार्थ का किसी से सम्बन्ध जोडने का कोई भी मार्ग नहीं है।

पैंतालीसवा आक्षेप

शकर मतवादी ऐसा विवाद करते हैं कि वेद ब्रह्म को लक्ष्य नहीं कर सकते, जो सभी प्रत्येक विशिष्ट गुण से रहित है। इसका वेंकटनाथ यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म विशिष्ट-गुणयुक्त है, और इसलिए यह न्यायपूर्ण है कि वेद उसे लक्ष्य करें। यह भी सोचना गलत है कि ब्रह्म स्वय प्रकाश होने से शब्द द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि रामानुज-सम्प्रदाय के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है। प्रकाश रूप तत्व फिर आगे अभिज्ञा का विषय हो सकता है। शकर मतवादी कभी-कभी ब्रह्म को गुण-रहित अवस्था भी कहते हैं, किन्तु यह स्वय एक गुण है इसका वे ब्रह्म के विशेषण रूप में उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् वेदों के द्वारा लक्ष्य नहीं किया जा

सकता, तो ये वेद स्वयं निरर्थक होंगे। यह भी सोचना गलत है कि वेद ब्रह्म को केवल गौण रूप से लक्ष्य करते हैं जैसे कोई चन्द्र दीखता है ऐसा बताने के लिए पेड़ के शिखर की ओर लक्ष्य करता है (शाखा चन्द्रदर्शन) : क्योंकि चाहे कोई भी पद्धति हो ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य होता है। असम्प्रज्ञात् समाधि की अवस्था भी नितान्त अननुमेय नही है। इस अवस्था के बारे मे कोई कुछ भी शब्द या प्रत्यय का प्रयोग नहीं कर सकता। यदि ब्रह्म सर्वथा गुण-रहित है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह वेद द्वारा असन्निहित रूप से भी लक्ष्य किया जा सकता है। वेद जो ऐसा कहते हैं कि ब्रह्म वाचा और मन से परे हैं (यतो वाचो निवर्तन्ते) उनका अर्थ यह है कि ब्रह्म मे अनन्त गुण हैं। इस प्रकार, शकरवादियो का यह कहना पूर्ण रूप से न्याय-विरुद्ध है कि ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य नही हो सकता।

सैंतालीसवाँ आक्षेप

शकरवादी ऐसा मानते हैं कि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, वह रजत-सीप की तरह सविकल्प है। यदि सभी कुछ सविकल्प रूप मिथ्या है, तो सभी भेद जो विशिष्टता का समावेश करते हैं वे सब मिथ्या होंगे और इस प्रकार अन्त में अद्वैत ही रहेगा। ऐसे मत की निरुपयोगिता वेंकटनाथ यह कहकर बताते हैं कि ऐसा अनुमान, अपने सभी अवयवो मे सविकल्प प्रत्यय ग्रहण करता है, और इसलिए मूल प्रतिज्ञा की दृष्टि मे नितान्त अप्रमाण होगा। इसके अतिरिक्त, यदि सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, तो समर्थन के अभाव मे निर्विकल्प ज्ञान भी मिथ्या होगा। यह भी सोचना मिथ्या है कि अन्य अभिज्ञा द्वारा प्रमाण की कमी के कारण सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि एक भ्रम दूसरे भ्रम द्वारा प्रमाणित हो सकता है और तब भी मिथ्या हो सकता है, और अत का ज्ञान भी प्रमाण की कमी के कारण मिथ्या होगा, इस प्रकार उस पर आधार रखने वाली सभी प्रमाण-शृ खला मिथ्या होगी। यह भी सोचना मिथ्या है कि सविकल्प प्रत्यय अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी पर कसे नही जा सकते हैं क्योंकि हमारे सभी व्यवहार सविकल्प विचारो पर आधारित हैं। यह भी स्वीकार नही किया जा सकता कि सप्रत्ययात्मक ज्ञान जिनमे सामान्य का निवेश है वे मिथ्या हैं, क्योंकि वे किसी भी प्रकार न तो बाधित होते हैं या शकास्पद ही हैं। इस प्रकार यदि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या माने जाते हैं, तो ऐसी मान्यता हमे अद्वैतवाद की ओर तो नही किन्तु शून्यवाद पर ले जायगी। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्म का निर्विकल्प स्वरूप हमारे बाह्य वस्तु के निर्विकल्प ज्ञान से अनुमित किया जाता है, तो निर्विकल्प ज्ञान के मिथ्यात्व के सादृश्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान भी मिथ्या होगा।

पचपनवाँ आक्षेप

शकर मतवादी मानते हैं कि सभी कार्य मिथ्या हैं, क्योंकि वे, तार्किक परिस्थिति

से विचार करने पर स्वबाधित होते हैं। कारण से सम्बन्धित होकर उत्पन्न कार्य उससे सम्बद्ध होता है या असम्बद्ध ? पहले विकल्प मे, कार्य और कारण सम्बन्ध से जुड़ने वाले दो तत्व होने से, कार्य को कारण से ही क्यो उत्पन्न होना चाहिए और कार्य से नही, इसका कोई नियम नही होगा। यदि कारण कार्य को, बिना सम्बन्ध के उत्पन्न करता है, तो कोई भी किसी को उत्पन्न कर सकता है। पुन यदि कार्य कारण से भिन्न है तो आपस मे भिन्न पदार्थ एक दूसरे को उत्पन्न करेंगे। यदि वे अभिन्न है, तो एक दूसरे को उत्पन्न नही कर सकते। यदि ऐसा कहा जाता है कि कारण वह है जो नियत पूर्ववर्ती है और कार्य नियत उत्तरवर्ती है तो पदार्थ प्रागभाव से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। पुन यदि कार्य उपादान कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसका परिणाम हुआ है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि वे परिणाम किसी अन्य परिणाम से उत्पन्न हुए होगे और यह हमे दोषपूर्ण अनवस्था को ले जायगा। यदि कार्य अपरिणत हुए कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है तो वह उपादान कारण मे नित्य काल तक रहेगा। इसके अतिरिक्त, कार्य मिथ्या रजत जैसा है, जो आदि और अन्त मे असत् है। किसी तत्व की उत्पत्ति, भाव रूप या अभाव रूप तत्व से नही हो सकती, क्योकि कार्य, जैसेकि घडा, अपने कारण मिट्टी से, मिट्टी मे परिवर्तन किए बिना अर्थात् उसे किसी भी रूप मे निषेध किए बिना उत्पन्न नही किया जा सकता, दूसरी ओर, यदि उत्पत्ति अभाव से मानी जाती है तो वह स्वय अभाव होगी। इसलिए कारण सम्बन्ध को किसी भी प्रकार सोचा जाय, वह व्याघात से पूर्ण ठहरता है।

वेंकटनाथ का उत्तर यहां इस प्रकार है, कि कार्य, उत्पत्ति के लिए कारण में सम्बन्धित है या नही, यह आक्षेप, इस मत से निरस्त होता है कि कार्य, कारण से असम्बन्धित है किन्तु इससे यह अर्थ नही होता कि जो भी कारण से असम्बन्धित है वह कार्य होना चाहिए, क्योकि सम्बन्धित न होना मात्र, कार्य को इस प्रकार उत्पन्न करने को प्रेरित नही करता कि असम्बन्धित होना ही किसी को किसी से कार्य रूप मे जोड़ देगा। कारण मे रही विशिष्ट शक्ति विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने मे दायित्व रखती है, और ये अन्वय-व्यतिरेक की सामान्य पद्धति से जानी जा सकती है। कारण अवयवों का आपस का सम्बन्ध ही कार्य मे स्थानान्तरित होता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण, नयवा भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करते हैं, जैसेकि एक घड़ा, लकड़ी और घास से उत्पन्न होता है। उपादान कारण भी कार्य रूप उपादान कारण से बहुत भिन्न होता है। यह अवश्य ही स्वीकृत है कि कार्य-विकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण मे कैसा भी परिवर्तन, फिर वह सहकारी कारण की पास्नता ही क्यों न हो, विकार ही होगा। किन्तु यदि, जिस अर्थ में कार्य विकार माना जाता है उस अर्थ में वह कारण में नहीं स्वीकारा जाता तो उस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कार्य अविकृत कारण से उत्पन्न होता है। यह कहना मिथ्या होगा कि कोई भी

कार्य किसी भी अविकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कार्य अविकृत कारण से योग्य काल-परिस्थिति तथा अपेक्षित कारणों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह भी सूचन करना मिथ्या होगा कि कार्य का परिणाम के क्रम मे पृथक्करण किया जा सकता है इस मान्यता से, अनन्तर पूर्ववर्ती के रूप मे कारण को ढूँढना असम्भव हो जायगा, और कार्य इस प्रकार न ढूँढा जा सकने से कार्य भी नहीं समझा जा सकेगा क्योंकि कार्य ही प्रत्यक्ष देखने मे आता है और यह कारण को अनुमित करता है जिसके बिना वह उत्पन्न नही हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कार्य नहीं देखा जाता, या वह बाधित होता है, तो स्पष्ट उत्तर यह है कि न देखना और बाध होना कार्य है, और उनके द्वारा कार्य को अस्वीकार करना यह मान्यता ही स्वबाधित होती है।

जब उपादान कारण कार्य रूप से परिणत हो जाता है, उसके कुछ अंश, कार्य के अन्य पदार्थों के रूप मे परिणत होने पर भी, अपरिणामी रहते हैं, और उसके कुछ गुण कुछ ही कार्यों मे उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार, जब सोना चूडी के रूप मे, और चूडी हार के रूप मे परिणत होती है, सोने के स्थायी धर्म, चूडी एव हार मे वैसे ही रहते हैं, किन्तु चूडी का विशिष्ट रूप हार मे नही जाता। पुन यह आक्षेप कि कार्य कारण मे पहले से विद्यमान है, तो फिर कारण-व्यापार की आवश्यकता नही रहती जैसाकि पहले उसका खण्डन किया जा चुका है, और यह भी बताया जा चुका है कि सभी कार्य रजत-सीप की तरह मिथ्या हैं यह प्रतिपादन भी मिथ्या है, क्योंकि ये कार्य अन्य भ्रमो की तरह बाधित नही होते। यह भी सूचन करना गलत है, कार्य आदि एव अन्त मे, अस्तित्व नही रखता इसलिए, मध्य मे भी अस्तित्व नही रखता क्योंकि कार्य का मध्य मे अस्तित्व साक्षात् अनुभवगम्य है। दूसरी ओर यह सूचित किया जा सकता है कि कार्य क्योंकि मध्य मे है इसलिए आदि और अन्त मे भी है।

शकर-मतवादी यह कहते हैं कि कार्य रूप से भेद के सभी विचार, एक नित्य तत्व के ऊपर आरोपित किए गए हैं, जो सभी तथाकथित भिन्न तत्वो मे व्याप्त है और यह व्याप्त तत्व ही सत्य है। इस मान्यता के विरोध मे शकर-मतवादियो से यह पूछा जा सकता है कि वे ब्रह्म और अविद्या दोनो मे व्याप्त ऐसे तत्व को ढूढ निकालें। यह कहना मिथ्या होगा कि ब्रह्म, अपने मे और अविद्या मे भी है क्योंकि ब्रह्म मे द्वैत नही हो सकता, और अपने मे भ्रम का आरोप भी नही कर सकता।

यह सुझाव कि दीप की लौ एक रूप से दीखती वह मिथ्या है इसलिए सभी प्रत्यक्ष मिथ्या हैं। यह स्पष्ट ही मिथ्या है, क्योंकि पहले दृष्टान्त मे भ्रम का कारण, समान ज्वाला का अतिशीघ्र एकीकरण है, किन्तु यह प्रत्येक प्रत्यक्ष के लिए अनुपयुक्त है।

द्रव्य के रूप मे कार्य कारण मे अस्तित्व रखता है, किन्तु कार्यावस्था के रूप मे वह कारण मे अस्तित्व नहीं रखता। सत्कार्यवादियो का यह आक्षेप कि यदि कार्यावस्था कारण मे विद्यमान न होती तो वह उत्पन्न नही की जा सकती थी, और यह भी कि किसी से कुछ भी उत्पन्न हो सकता है यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य विशिष्ट शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है जो कार्य रूप से, विशिष्ट देशकाल की परिस्थितियो मे व्यक्त होता है।

एक प्रश्न पूछा जाता है कि कार्य, भाव या अभाव पदार्थ से उत्पन्न किया जाता है, या नही, अर्थात् जब कार्य उत्पन्न किया जाता है तब वह द्रव्य अवस्था के रूप मे उत्पन्न किया जाता है या नही। वेंकटनाथ का उत्तर है कि द्रव्य नित्य स्थायी रहता है। केवल अवस्था और उपाधियाँ, जब कार्य उत्पन्न होता है, तब परिणत होती हैं। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति मे कारण की अवस्था ही मे परिणाम होता है न कि कारण के द्रव्य मे। इस प्रकार, द्रव्य की दृष्टि से ही कार्य और कारण मे एकता है, उनकी अवस्था की दृष्टि से नही है, क्योंकि कारण अवस्था के अभाव से ही कार्यावस्था उत्पन्न होती है। यह सुझाव कभी दिया जाता है कि कार्य, क्योंकि, न तो वह नित्य विद्यमान रहता है और न अविद्यमान रहता है इसलिए मिथ्या होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट रूप से गलत है, क्योंकि एक पदार्थ उत्तर क्षण मे नष्ट किया जा सकता है इसलिए इससे यह अर्थ नही होता कि वह जब प्रत्यक्ष था तब अविद्यमान था। विनाश का अर्थ यह है कि पदार्थ जो विशिष्ट क्षण मे विद्यमान था वह दूसरे क्षण मे नही है। व्याघात का अर्थ यह है कि पदार्थ का जब अनुभव हुआ था तब भी वह अविद्यमान था। अभाव मात्र विनाश नही है, क्योंकि प्रागभाव भी विनाश कहा जा सकता है क्योंकि वह भी अविद्यमान है। उत्तर क्षण मे अविद्यमान (अभाव) होना भी विनाश नहीं है, क्योंकि तब तुच्छ वस्तु भी विनाश (अभाव) कही जाएगी। रजत-सीप का दृष्टान्त विनाश का दृष्टान्त नही है, क्योंकि वह स्पष्ट ही अनुभव के व्याघात का दृष्टान्त है। इस प्रकार उत्पत्ति, विनाश और अभाव के प्रत्ययो का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम यह पाएँगे कि कार्य का प्रत्यय कभी भी भ्रम नही माना जा सकता।

सतावनवा आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है किन्तु यह ठीक ही कहा जा सकता है कि किसी भी अर्थ मे आनन्द को समझा जाय तो भी यह स्वीकार करना असम्भव होगा कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। यदि आनन्द का अर्थ उस तत्व से है जो सुखदायक अनुभव उत्पन्न करता है तो ब्रह्म-ज्ञान गम्य होगा। यदि उसका अर्थ केवल सुखकारक (अनुकूल) अनुभव मात्र ही है, तो ब्रह्म निर्विकल शुद्ध चैतन्य नही होगा। यदि इसका अर्थ केवल अनुकूल वृत्ति से है तो द्वैत भाव अनुमित होता है। यदि इसका अर्थ दुःख के अभाव से है तो ब्रह्म भाव रूप न होगा और यह सभी ने अच्छी तरह माना है कि ब्रह्म उभय सामान्य या तटस्थ है। इसके अतिरिक्त, स्वय शंकर मतवादी

के अनुसार ब्रह्मानुभव की स्थिति, निद्रा जैसी, मात्र एक स्थिति है। इस प्रकार इस समस्या को किसी भी प्रकार देखा जाय, निर्विकल्प ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है यह प्रतिपादन अप्रमाण रहता है।

अठावनवा आक्षेप

यदि ब्रह्म निर्विकल्प है तो उसे नित्य नहीं माना जा सकता। यदि नित्यता का अर्थ सदा विद्यमान रहना है तो अविद्या भी नित्य होगी, क्योंकि उसका भी अस्तित्व सदा काल से है और ज्ञान स्वयं उसमें ही उत्पन्न माना गया है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि समस्त काल में सत्यता का अर्थ सभी काल में अस्तित्व होना नहीं है, तो नित्यता की यह परिभाषा मानना कि वह समस्त काल में विद्यमान रहता है, मिथ्या है केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्ता स्वयं नित्य है। 'समस्त काल का समावेश' को केवल (अस्तित्व) सत्ता मात्र से भिन्न करना यह बताता है कि अस्तित्व और नित्यता में भेद है। नित्यता, इस प्रकार सभी काल में अस्तित्व का अर्थ रखेगी, जो अविद्या के बारे में स्वीकार किया जा सकता है। नित्यता की ऐसी भी व्याख्या नहीं की जा सकती कि जिसका समय में अन्त नहीं होता क्योंकि ऐसी परिभाषा काल की दी जा सकती है जिसका काल में अन्त नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आदि और अन्त से बाधित नहीं होती वह नित्यता है, क्योंकि तब जगत्-प्रपच भी नित्य होगा। पुन यह समझना कठिन है कि शकर-मतवादी चैतन्य को किस प्रकार नित्य मानते है, क्योंकि यदि इसे सामान्य चैतन्य के बारे मे स्वीकार किया जाता है, तो यह साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, और यदि यह परम चैतन्य के बारे मे स्वीकारा जाता है तो यह साक्षात् अनुभव के विरुद्ध है। पुन. नित्यता को सार रूप या स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह स्वयप्रकाशता से अभिन्न हो जायगी, और ब्रह्म नित्य है यह कहना अनावश्यक होगा। यदि इसे ज्ञान गम्य गुण माना जाता है, तो यदि यह गुण चैतन्य मे अस्तित्व रखता है, तो चैतन्य ज्ञेय हो जायगा। यदि वह चैतन्य मे नही है तो उसका ज्ञान, चैतन्य की नित्यता अनुमित नही करेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि जो कुछ उत्पन्न नही होता है वह नित्य है, क्योंकि तब प्रागभाव नित्य हो जायगा। यदि ऐसा कहा जाता है कोई भी भाव रूप पदार्थ जो उत्पन्न नही किया जाता वह नित्य है तो अविद्या भी नित्य होगी। इस प्रकार, निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य की नित्यता को सिद्ध करने का कोई भी प्रयास निष्फल रहता है।

इकसठवां आक्षेप

शकर-मतवादी बहुधा ऐसा कहते है कि आत्मा एकत्व रूप है। यदि आत्मा से यहाँ अहकार का अर्थ है, तो सभी अहकार एक से ही या एक ही हैं ऐसा नही माना

जा सकता, क्योकि यह प्रसिद्ध है कि दूसरे के अनुभव हम अपने मे कभी अनुभव नही करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम सबो के चैतन्य की एकता है, क्योकि तब हम एक दूसरे के चित्त को जान लेंगे। यह मानने योग्य नही दीखता कि हम मे अन्तः स्थित सत्ता एक ही है, क्योकि इसका अर्थ यह होगा कि सभी जीव एक हैं। हम सर्वव्यापी सत्ता को सोच सकते हैं मान सकते हैं किन्तु इसका अर्थ सत् पदार्थों की एकता नही होगी। पुन, जीवो की एकता सत्य नही मानी जा सकती, क्योकि जीवो को असत्य माना है। यदि जीवो की एकता मिथ्या है तो यह समझ मे नही आता कि ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यो करना चाहिए। जो कुछ भी हो, जब हमे हमारे व्यावहारिक जीवन से काम है तो हमे जीवो की भिन्नता माननी पडती है, और उनकी एकता को सिद्ध करने का कोई प्रमाण नही मिलता। इस प्रकार, जैसाकि शकर-मतवादी सोचते हैं, जीव एक ही है, यह गलत है।

मेघनादारि

आत्रेयनाथ सूरि के पुत्र मेघनादारि, रामानुज-सम्प्रदाय के अति प्राचीन अनुयायी दीखते हैं। उन्होने कम से कम दो पुस्तकें लिखी, 'नयप्रकाशिका' और 'नय द्यु मणि' ये दोनो ही अभी तक हस्तलिखित रूप मे ही है, लेखक को केवल दूसरी (पिछली) पुस्तक ही प्राप्त हुई है। रामानुज के प्रमाणवाद पर, मेघनादारि के अति महत्वपूर्ण योगदान को, विस्तृत रूप से हमने वेंकटनाथ के इसी विषय पर प्रतिपादन के प्रसग मे विवेचन किया है। इसलिए, रामानुज दर्शन के कुछ अन्य विषयो पर ही, उनके मत की चर्चा यहां प्रस्तुत की जायगी।

स्वतः प्रामाण्यवाद

वेंकटनाथ, अपने 'तत्वमुक्ताकलाप' एव 'सर्वार्थ-सिद्धि' मे कहते है कि ज्ञान, विषय को यथार्थ रूप मे प्रकट करता है। मिथ्या भी कम से कम यहाँ तक सत्य है कि वह मिथ्या के विषय को इगित करता है। मिथ्यात्व या मिथ्या, विशेष दोषपूर्ण उपाधियो के कारण हैं।[1] 'घडा है' जब यह ज्ञान होता है तो घडे का अस्तित्व उसका प्रमाण है (प्रामाण्य) और यह, घडा अस्तित्ववान् है इस ज्ञान से ही जाना जाता

---

[1] ज्ञानाना यथावस्थितार्थप्रकाशकत्व सामान्यमेव भ्रातस्यापि ज्ञानस्य धर्मिण्यभ्रान्तत्वाद तो वह्न्यादे र्दाहकत्ववज्ज्ञानाना प्रामाण्य स्वाभाविकमेव उपाधेर्मणि-मन्त्रवद्दोपोपाधिवशादप्रमाणत्व भ्रमादे।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ५५४।

उत्पन्न होती है, तो ऐसे ज्ञान को स्वत प्रामाण्य मानना पडेगा, फिर इसे किसी अन्य ज्ञान पर अवलम्बित होना पडेगा और उसे किसी अन्य पर, इस तरह अनवस्था दोष होगा। इसलिए ज्ञान को स्वरूप से ही स्वत प्रामाण्य मानना चाहिए, और उसकी अप्रमाणता, तभी अवगत होती है जबकि ज्ञान के कारण दोप और दोष रूप सहकारियो का योगदान, अन्य साधनो द्वारा जाना जाता है। किन्तु कुमारिल के अनुयायियो के अनुसार स्वत प्रमाणता सिद्ध करने की पद्धति की आलोचना की जा सकती है, क्योकि उनकी प्रणाली के अनुसार, ज्ञान का अस्तित्व, विषय के प्राकट्य से केवल अनुमित ही किया जाता है, यह अनुमान आगे, ज्ञान की स्वत प्रमाणता को भी नही प्राप्त करा सकता। जो घटक ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे ही स्वत· प्रामाण्य उत्पन्न करते हैं, यह अस्वीकार्य है, क्योकि इन्द्रियो को भी ज्ञान का कारण मानना पडता है, जोकि सदोष हो सकती है। पुन ऐसा माना गया है कि तथाभूत, ज्ञान ही प्रमाण है, और अतथाभूत अप्रामाण्य है, ऐसा अप्रामाण्य और प्रामाण्य स्वय ज्ञान द्वारा ही प्रकट होता है। मेघनादारि उत्तर देते है कि यदि ऐसी तथाभूतता विषय का गुण है, तो वह ज्ञान का प्रामाण्य स्थापित नही करती, यदि वह ज्ञान का गुण है तो स्मृति को भी स्वत प्रमाणित मानना पडेगा, क्योकि उसमे भी तथाभूतता है। पुन· प्रश्न खडा होता है कि स्वत प्रामाण्य उत्पन्न होता है या जाना भी जाता है। पहले प्रसग मे, स्वत प्रामाण्य की स्वय प्रकाशता त्याग देनी पडेगी और पिछले प्रसग मे, कुमारिल का मत अप्रतिपादनीय हो जाता है क्योकि इसके अनुसार ज्ञान स्वय, विषय के प्राकट्य से अनुमित होने के कारण, उसकी स्वत. प्रमाणता, स्पष्टत स्वय प्रकाशित नही हो सकती।

मेघनादारि, इसलिए, विवाद करते हैं कि अनुभूति स्वय उसकी प्रमाणता है, ज्ञान को प्रकाशित करने मे ही वह, उसकी प्रमाणता का विश्वास भी साथ लाती है। अप्रमाणता दूसरी ओर, दूसरे स्रोतो द्वारा सूचित होती है। अनुभूति स्वरूपतः स्मृति से भिन्न होती है।[1] इस विवाद का सारा भार (बल) उनके मत मे, इसी मे है कि प्रत्येक ज्ञान, अपनी ज्ञातता के साथ उसकी सचाई वहन करता है, और क्योकि यह प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रकट होता है इसीलिए उसी अर्थ मे सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य हैं। ऐसी स्वत प्रमाणता इसलिए, उत्पन्न नही की जाती, क्योकि वह व्यवहारतः ज्ञान से अभिन्न है। मेघनादारि बताते है कि यह मत रामानुज स्वय के स्वत प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त से स्पष्टत विरुद्ध है, जिसके अनुसार स्वत प्रमाणता ज्ञान के कारण से उत्पन्न होती है। किन्तु इस सम्बन्ध मे रामानुज के कथन का भिन्न प्रकार

---

[1] अनुभूतित्व वा प्रामाण्यमस्तु, तच्च ज्ञानावान्तर-जात्ति, साच स्मृतिज्ञान-जातितः पृथक्तया लोकत एव सिद्धा, अनुभूते स्वसत्तया एव स्फूर्ते।

—नय द्युमणि, पृ० ३१।

से अर्थ लगाना होगा, क्योकि ईश्वर और मुक्त जीवो मे ज्ञान नित्य और अनादि होने के कारण, कोई भी मत जो स्वत प्रमाणता की परिभाषा इस प्रकार करता है कि, जिस स्रोत से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से वह भी उत्पन्न है,[1] अनुपयुक्त ठहरेगा।

काल

मेघनादारि के अनुसार काल एक पृथक् तत्व नही है। वे यह बताने का कठिन प्रयास करते है कि स्वय रामानुज ने ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका मे, 'वेदान्त दीप' और 'वेदान्त सार' मे, काल को, एक पृथक् तत्व के रूप मे निराकृत किया है। काल का विचार सूर्य के पृथ्वी के सम्बन्ध मे राशी चक्र के आपेक्षिक स्थान से उत्पन्न होता है। सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से मर्यादित पृथ्वी के देश की परिवर्तित अवस्था काल है।[2] यह मत वेंकटनाथ के मत से नितान्त भिन्न है, जिसे हम आगे वर्णन करेंगे।

कर्म और उनके फल

मेघनादारि के अनुसार, कर्म, ईश्वर की प्रीति अप्रीति द्वारा अपने फल देते हैं। यद्यपि सामान्य कर्म को पाप और पुण्य की सज्ञा दी जाती है, तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पाप और पुण्य को कर्म के फल मानना चाहिए और ये फल ईश्वर की प्रीति और अप्रीति से अन्यथा कुछ नही हैं। भूतकाल मे किए अच्छे कर्म, भविष्य मे, सहायक प्रवृत्ति, सामर्थ्य और उनके अनुरूप परिस्थिति द्वारा, अच्छे कर्मो को निश्चित करते हैं और बुरे कर्म मनुष्य को बलात् बुरे कर्मों मे प्रवृत्त करते हैं। प्रलय के समय भी पृथक् रूप से धर्म और अधर्म नही होते, किन्तु जीव के कर्मों से उत्पन्न, ईश्वर की प्रीति और रोष, उसके सुख-दु ख का स्वरूप और विस्तार इसके सृष्टि-क्रम के समय धर्म या अधर्म के प्रति उसकी प्रवृत्ति को निश्चित करते है। कर्म के फल स्वर्ग या नरक मे और इस पृथ्वी पर अनुभव किए जाते हैं, जब जीव स्वर्ग या नरक से पृथ्वी पर जा रहा होता है तब यह नही होता, क्योकि उस समय सुख-दु.ख का अनुभव नही होता, वह तो एक सक्रमण की अवस्था है। पुन. उन यज्ञो के अतिरिक्त, जो दूसरे मनुष्यो को पीडा या दु ख पहुँचाने के लिए किए जाते हैं, स्वर्ग प्राप्ति या अन्य सुख-हेतु से किए गए यज्ञो मे पशुओ की हिंसा पाप नहीं है।[3]

[1] वही, पृ० २८।

[2] सूर्यादि सम्बन्ध विशेषोपाधित पृथिव्यादि देशनामेव काल सज्ञा।
—नय द्यु मणि पृ० १६८।

[3] वही, पृ० २४३-४६।

वात्स्यवरद

वेदो का अध्ययन करना चाहिए, शास्त्राज्ञा के इस सिद्धान्त के विषय मे, वरद अपनी 'प्रमेय माला' मे, शावर भाष्य से विरुद्ध, यह मत प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र आज्ञा, वेद के अध्ययन मात्र से परिपूर्ण होती है उनके पाठो के अर्थ की जिसामा की अपेक्षा नही करती। ऐसी जिज्ञासा, यज्ञो के सचमुच अनुष्ठान में उनके अर्थ की सामान्य जिज्ञासा और ज्ञानेच्छा से उद्भूत होती है। ये वैदिक विधि के अग नही हैं।

वात्स्यवरद यह मानते है कि वेदाज्ञा का अध्ययन एव ब्रह्म-जिज्ञासा, एक ही शास्त्र के अग हैं, अर्थात् पिछला पहले का परिशेष ही है, और वे बोधायन का उल्लेख कर उसे प्रमाणित करते हैं।

शकर ने सोचा था कि केवल विशिष्ट वर्ग के लिए मीमासा का अध्ययन करने के लिए कहा गया है, जो ब्रह्म-जिज्ञासा रखते थे उनके लिए आवश्यक नही है। पूर्व और उत्तर मीमामा भिन्न प्रयोजन के लिए हैं और भिन्न लेखको द्वारा लिखी गयी हैं। इमलिए इन्हें एक ही ग्रन्थ के दो खड या भाग नही मानना चाहिए। इसका वात्स्यवरद, बोधायन का अनुसरण करते हुए अपवाद लेते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यद्यपि पूर्व और उत्तर मीमासा, दो भिन्न लेखको द्वारा लिखी गई हैं तो भी ये दोनो मिलकर एक ही मत का प्रतिपादन करते हैं और ये दोनो एक ही पुस्तक के दो प्रकरण या भाग माने जा सकते हैं।

पूर्व मीमासा जगत् की सत्ता मे विश्वास करती है, जबकि ब्रह्म सूत्र इसे अस्वीकार करता है इसलिए, इन दोनो का एक ही हेतु नही हो सकता, शकर के इस मत का उल्लेख करते हुए भी, वात्स्यवरद जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। सभी ज्ञेय पदार्थ मिथ्या हैं, शकर का यह तर्क आत्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि अनेक उपनिषद् आत्मा को दृश्य कहते हैं। जगत् मिथ्या है उनकी इस उक्ति से यह अर्थ निकलेगा कि मिथ्यात्व भी मिथ्या है, क्योंकि वह जगत् का अश है। ऐसा तर्क शकर को स्वीकार्य होना चाहिए क्योंकि वे स्वय शून्यवाद के निरास मे इसका प्रयोग करते हैं।

शकर मतवादियों द्वारा भेद पदार्थ अस्वीकार करने के विषय मे, वात्स्यवरद कहते हैं कि प्रतिवादी यह किसी प्रकार भी स्वीकार नही कर सकते कि भेद देखा जाता है, क्योंकि उनके सभी तर्क, भेद की सत्ता की मान्यता पर आधारित है। यदि भेद न हो, तो पक्ष न होंगे और न किसी मत का खण्डन ही होगा। यदि यह मान लिया जाता है कि भेद अनुभवगम्य है तो प्रतिपक्षी को यह मानना पडेगा कि भेद का अनोखा एव योग्य कारण होना चाहिए। भेद के विचार मे मुख्य विषय यह है कि वह अपने स्वरूप मे ही द्विविध धर्म रखता है, अपनी जाति के पदार्थों से सामान्य समानता का धर्म और वह धर्म जिससे वह अन्य से भिन्न है। दूसरे धर्म से वह, अन्य को अपने

मे समाविष्ट करता है। जब यह कहा जाता है एक पदार्थ भिन्न है, तो उसका अर्थ यह नही होता कि भेद उस वस्तु मे अभिन्न है या यह वस्तु का केवल दूसरा नाम ही है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भिन्न जानी हुई वस्तु, दूसरी वस्तुओं से बाहर लक्ष्य करती है। अन्य पदार्थों की ओर बाहर लक्ष्य, जब पदार्थ के साथ सोचा जाता है, तब यह भेद का अनुभव उत्पन्न करता है।

भेद का विचार, अभाव के विचार को सन्निविष्ट करता है, जैसाकि अन्यत्व या भिन्नत्व के विचार मे है। क्या यह अभाव, जिसे भिन्न माना जाता है, उन विषयों से स्वरूप से भिन्न है या अन्य विषयों के 'इतर' मे भिन्न है? क्योंकि अभाव, साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तो 'भेद' भी प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् गम्य नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत इसे स्वीकार करता है कि भेद साक्षात् अनुभव गम्य है। इसे सिद्ध करने के लिए, वात्स्यवरद अभाव का विशिष्ट अर्थ करते हैं। वे मानते हैं कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ मे अभाव, दूसरे पदार्थ मे विशिष्ट गुणों के होने से होता है, जो पहले पदार्थ के साथ सबध का सन्निवेश करता है। इस प्रकार अभाव का विचार पदार्थ के विशिष्ट परिणत गुण से उत्पन्न होता है, जिसमे अभाव स्वीकार किया जाता है। बहुत से शंकर-मतवादी, अभाव को भाव रूप मानते हैं, किन्तु वे उसे एक विशिष्ट पदार्थ मानते हैं, जो अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव के प्रतियोगी रूप मे जाना जाता है। यद्यपि वह भाव रूप है, तो भी उनके मतानुसार, अभाव का विचार जिसमे अभाव स्वीकार किया गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म मे नहीं जाना जाता है। किन्तु वात्स्यवरद मानते हैं कि अभाव का विचार जिसमे अभाव स्वीकारा गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है।[1] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की भिन्नता के रूप मे जो अभाव प्रकट होता है उसमे यह अर्थ निकलता है कि पिछला पदार्थ, पहले पदार्थ के विशिष्ट गुणों मे सन्निविष्ट है जिससे दूसरे को लक्ष्य करना शक्य हो जाता है।

वात्स्यवरद इस मत पर जोर देते है कि सत्य, ज्ञान अनन्त इत्यादि लक्षण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं इससे यह प्रकट है कि ईश्वर के ये गुण है और ये सब एक ही ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसी अद्वैतवादी व्याख्या मिथ्या है। वे ब्रह्म के अनन्त और अमर्याद स्वरूप का भी वर्णन करते है और किसी उचित अर्थ मे जगत् और जीव, ब्रह्म के शरीर माने जा सकते हैं इसे स्पष्ट करते हैं, जीव ईश्वर के लिए अस्तित्व रखते हैं, जो उनका अन्तिम साध्य है। वे इस ग्रन्थ मे वाह्य कर्मकाण्ड के ही कुछ विषयो का भी उल्लेख करते हैं जैसेकि मुण्डन, सन्यासी द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करना इत्यादि।

---

[1] प्रतियोगि-बुद्धौ वस्तु-विशेष-धीरे वोपेता नास्तीति व्यवहार-हेतु ।

—वरद प्रमेय माला, पृ० ३५ (हस्त०)।

वरद अपने 'तत्व सार' मे, रामानुज भाष्य के कुछ रोचक विषय सगृहीत करते हैं और उनका गद्य और पद्य मे अर्थ करते है। उनमें से कुछ विषय निम्नांकित हैं· (१) ईश्वर की सत्ता तर्क द्वारा सिद्ध नही की जा सकती, किन्तु शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही स्वीकृत की जा सकती है, (२) उपनिषद् के महत्वपूर्ण पाठो का विशिष्ट अर्थ बोधन, जैसेकि कप्यास स्थल इत्यादि, (३) रामानुज के अनुसार वेदान्त के महत्वपूर्ण अधिकरणो की निष्पत्ति, (४) अभाव एक प्रकार का केवल स्वीकार है यह सिद्धान्त (५) भासमान द्वैत एव अद्वैतवादी ग्रन्थो का अर्थ-बोधन, (६) जगत् की सत्ता के विषय मे चर्चा इत्यादि।

'तत्व सार' ने इसके बाद वाधुल नरसिंह के गुरु, वाधुल वरद गुरु के शिष्य, वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र, वीर राघवदास द्वारा, रत्नसारिणी नामक दूसरी टीका को प्रोत्साहित किया। वात्स्यवरद के कुछ ये ग्रन्थ हैं, 'सारार्थ चतुष्टय', 'आराधना सग्रह', 'तत्व निर्णय', 'प्रयत्न पारिजात', यति-लिंग-समर्थन' और 'पुरुष निर्णय'।[1]

रामानुजाचार्य द्वितीय या वादिहंस नवाम्बुद

पद्मनाभाचार्य के पुत्र रामानुजाचार्य द्वितीय, अत्रि कुल के थे। वे रामानुज-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध लेखक वेंकटनाथ के मामा थे। उन्होने 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसका उल्लेख बहुधा, वेंकटनाथ की 'सर्वार्थ सिद्धि' मे आता है। उन्होने एक और ग्रन्थ रचा जो 'मोक्ष सिद्धि' है। रामानुज के विचारो का उनके द्वारा किया गया अर्थ-बोधन, वेंकटनाथ द्वारा स्पष्ट किए, रामानुज के 'प्रामाण्यवाद' के सदर्भ मे पहले ही दिया जा चुका है। उनके दूसरे योगदान सक्षेप मे निम्न प्रकार है।

अभाव. रामानुजाचार्य द्वितीय, अभाव को पृथक् पदार्थ नही मानते। वे सोचते हैं कि एक पदार्थ के अभाव का अर्थ उससे भिन्न किसी दूसरे पदार्थ से ही होता है। इस प्रकार घडे के अभाव का अर्थ, उससे भिन्न किसी दूसरे की सत्ता से है। अभाव का सच्चा विचार, केवल भेद ही है। अभाव का भाव-पदार्थ के विरोधी रूप से वर्णन है, इस प्रकार, अभाव को किसी भाव-पदार्थ से सम्बन्धित किए बिना सोचने का कोई मार्ग नही है। किन्तु एक भाव पदार्थ, अभाव के सम्बन्ध द्वारा अपनी विशिष्टता की आवश्यकता नही रखता।[2] यह भी प्रसिद्ध है कि अभाव का अभाव, भाव के

[1] अपने 'तत्व निर्णय' मे वे ये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि महत्वपूर्ण श्रुतिपाठ के अनुसार नारायण ही महान् देव हैं। इस पुस्तक मे वे पुरुष निर्णय का उल्लेख करते हैं जिसमे वे कहते है कि उन्होने इस विषय की विस्तार से चर्चा की है।

[2] अथाभावस्य तद्रूप यद्भाव-प्रतिपक्षता
नैवम् शाप्यसौ यस्माद् भावोत्तीर्णेन साधित·। —न्याय कुलिश हस्त०,।

अस्तित्व से अन्यथा कुछ भी नही है। 'अभाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नही हो सकता। वेंकटनाथ इस विचार को आगे स्पष्ट करते हुए कहते है कि अभाव मे अनुपस्थिति का विचार, अभावात्मक पदार्थ का भिन्न प्रकार के देश काल धर्मो के सहचार से उत्पन्न किया जाता है।'[1] इस प्रकार जब ऐसा कहा जाता है कि यहाँ घडा नही है तो उसका अर्थ यह होता है कि घडा अन्य जगह पर विद्यमान है। ऐसा तर्क किया जाता है कि अभाव को भाव-पदार्थ का अस्तित्व नही माना जा सकता, और यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि अभाव को अभाव नही माना जा सकता तो फिर अभाव के अभाव को भाव पदार्थ की सत्ता कैसे मानी जा सकती है। जिस प्रकार जो अभाव को स्वीकार करते है वे अभाव एव भाव-पदार्थ की सत्ता को आपस मे विरोधी मानते है उसी प्रकार, रामानुजवादी भी भाव-पदार्थ की सत्ता मानते हैं और अभाव को भिन्न देश-काल-धर्मो से विरोध करने वाला पदार्थ मानते है। इस प्रकार अभाव को पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक नही है। जब एक विद्यमान पदार्थ के नष्ट होने की बात कही जाती है, तब केवल उसकी अवस्था का परिणाम होता है। प्राग-भाव एव प्रध्वसाभाव दो पदार्थो का आगे पीछे क्रम से आने के सिवाय और कुछ अर्थ नही रखते और ऐसी अवस्थाओ की अनन्त परम्पराए हो सकती हैं। यदि इस मत को अगीकार नही किया जाकर और प्रध्वसाभाव और प्रागभाव अभाव के पृथक् भेद रूप से माने जाय तो प्रागभाव का विनाश और प्रध्वसाभाव का प्रागभाव, अभाव की अनन्त परम्परा पर आश्रित हो जाएगे और हमे अनवस्था दोष पर ले जाएगे। नई अवस्था का अनुक्रम ही पुरानी अवस्था का विनाश माना जाता है, क्योकि पहली, दूसरी से भिन्न अवस्था ही है। कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि अभाव शून्यता मात्र है और वह भाव-पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही रखता। यदि ऐसा हो, तो, एक ओर, अभाव अकारण हो जायगा, और दूसरी ओर वह किसी का कारण न रहेगा, और इस प्रकार अभाव अनादि और अनन्त हो जायगा। ऐसी परिस्थिति मे सारा जगत् अभाव की पकड मे आ जायगा और जगत् के समस्त पदार्थ नष्ट हो जाएगे। इस प्रकार अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप मे मानना आवश्यक है। एक भाव-पदार्थ का दूसरे से भेद ही अभाव है।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध मे जो उपस्थित होती है वह यह है कि यदि अभाव को एक पृथक् पदार्थ नही माना जाता तो अभाव रूप कारणो को कैसे माना जा सकता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण अन्योन्याश्रय द्वारा तभी कार्य उत्पन्न कर सकते हैं जबकि

---

[1] तत्तत्प्र प्रतियोगि-भाव-स्फुरण-सहकृतो देशकालादि भेद एव स्वभावात् नञ् प्रयोग-मपि सहते।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७१४।

उनकी उत्पादक शक्ति का विरोध करने वाले निषेधात्मक कारण न हो। इस शक्ति को रामानुज-सम्प्रदाय मे सहकारी तत्वो की अन्योन्य आश्रयता के रूप मे स्वीकार किया गया है जो कारण कार्य उत्पत्ति मे सहायक है (कारणस्य कार्योपयोगी सहकारि-कलाप शक्तिरिति उच्यते)।[1] इस पर रामानुजाचार्य का उत्तर यह है कि निष्फल करने वाले कारणो को पृथक् कारण नही माना जाता, किन्तु, अन्य सहकारी तत्वो के साथ निष्फल करने वाले कारको की उपस्थिति जो सहकारी कारण तत्वो को कार्य उत्पन्न करने मे निरुपयोगी बना देती है वह कार्य को निष्फल कर देती है। इस प्रकार दो प्रकार के सहकारी तत्वो का समाहार होता है जहाँ कार्य उत्पन्न होना है या नही होता है, और इन समाहारो का भेद एक प्रसग मे कार्य को उत्पन्न करने मे और अन्य मे उत्पन्न न करने मे दायित्व रखता है, किन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि अव-रोधक तत्वो की अनुपस्थिति या अभाव, कारण उत्पन्न करने मे योगदान करती है। एक प्रसग मे उत्पन्न करने की शक्ति थी, और दूसरे मे ऐसी शक्ति नही थी।[2] रामा-नुजाचार्य शक्ति को एक पृथक् अतीद्रिय तत्व नही मानते हैं, किन्तु वह कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति को निगूढ विशिष्टता है ऐसा मानते हैं। (शक्तिगत जात्यनभ्युपगमे तदभावात् शक्तस्यैव जाति कार्य-नियामिका न तु शक्ति जातिरिति)।[3]

जाति

रामानुजाचार्य जाति को व्यक्ति के अमूर्त सामान्य के रूप मे स्वीकार नही करते। उनके अनुसार दूसरो के सदृश किसी भी अश का एक रूप सघात (सुसदृश सस्थान) जाति है।[4]

---

[1] सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ६८५।

[2] सिद्ध-वस्तु-विरोधी घातक साध्य-वस्तु-विरोधी प्रतिबन्धक, कथ यदि कार्य तद्-विरुद्धत्वमिति चेन्न, इत्थ कार्य-कारण-पौष्कल्ये भवति, तदपौष्कल्ये न भवति, अपौष्कल्य च कदाचित् कारणानामन्यतम-वैकल्यात् क्वचित् शक्ति-वैकल्यादिति, सिध्यते यद्यपि शक्ति न कारण तथापि शक्तस्यैव कारणत्वात् विशेषणाभावेऽपि विशिष्टाभाव-न्यायेन कारणाभाव। तदुभयाभावो न प्रागभावस्थिति करणात् कार्य-विरोधीति प्रतिबन्धको भवति, तत्र यथा कारण-वैकल्य-दृष्ट-रूपेण कुर्वतोऽभाव कारण न स्यात्, तथा शक्ति विघ्नित यो हि नाम प्रतिबन्धक कारण किंचिद् विनाश्य कार्य प्रतिबध्नाति न तस्याभाव कारणमिति सिद्धम्।

—न्याय कुलिश, पृ० ८०।

[3] वही।

[4] न्याय कुलिश, पृ० ८०।

रामानुजाचार्य के अनुयायी वेंकटनाथ, जाति को सौसादृश्य कहकर व्याख्या करते हैं। न्यायगत जाति के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं, कि जो जाति को प्रकट करता है वह स्वय जाति से प्रकट होता है, तो इन जातियो को दूसरो के द्वारा प्रकट होना चाहिए और इन्हे फिर दूसरो से जो अन्त मे अनवस्था दोप उत्पन्न करता है। यदि इस दोप से वचने के लिए ऐसा माना जाता है कि जाति को व्यक्त करने वाले इसकी श्रेणी के अश के व्यक्त होने के लिए जाति की अपेक्षा नहीं होती, तो फिर यह कहना उचित होगा कि सदृश व्यक्ति जाति को व्यक्त करते हैं और जाति को एक पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार उन गुण धर्मो से उत्पन्न होता है जिस सम्वन्ध मे कुछ व्यक्तियो की सहमति है, यदि ऐसा है तो यही जाति के विचार को समझाने के लिए पर्याप्त होगा। ये गुण-धर्म ही, जिनका सादृश्य दूसरे पदार्थों के सदृश धर्मों को याद कराता है, जाति के विचार को उत्पन्न करते है।[१] जव किसी मे कोई अश या गुण जाने जाते हैं वे स्वाभाविक रीति से दूसरे मे ऐसे ही सदृश अग या गुणो का स्मरण कराते है और यह तथ्य ही कि ये दो एक दूसरे के साथ-साथ चित्त मे वने रहते हैं सादृश्य कहलाते है।[२] कुछ गुण या धर्म दूसरो को क्यो याद कराते है यह समझ के वाहर है, केवल यही कहा जा सकता है कि वे स्वभावत. ऐसा करते हैं, और वे चित्त मे एक दूसरे के साथ-साथ रहते हैं इसी तथ्य के कारण सादृश्य और सामान्यता सम्भावित है। कोई और दूसरा पृथक् तत्व नहीं है जिसे सादृश्य या सामान्य कहा जा सके। रामानुजाचार्य और वेंकटनाथ की सामान्य की परिभाषा मे कुछ भी भेद नहीं है यद्यपि रामानुजाचार्य उसे सदृशो का समाहार और वेकटनाथ उसे सादृश्य कहते हैं, तो भी वेकटनाथ का सादृश्य का विचार उसके अन्तर्गत समाहार को घटको के अश के रूप मे, सन्निवेश करता है, क्योकि वेंकटनाथ के अनुसार सादृश्य कोई अमूर्त पदार्थ नहीं है किन्तु वह अशो का मूर्त समाहार है, जो स्मृति मे एक दूसरे से निकट रहता है। वेंकटनाथ, यह अवश्य बताते है कि सामान्य केवल अवयवो के समाहार को ही लक्ष्य करता है ऐसा नहीं है, क्योकि उन

[१] केचिद्धी सस्थान भेदा क्कचन् स्वलु मिथ स्सादृश्य रूपा मान्ति यै भवंदीय सामान्य मभि व्यज्यते त एव सौसादृश्य व्यवहार विषय भूताः सामान्य व्यवहार निर्वहन्तु, तस्मात्तेषा सर्वे षा मन्योन्य सापेक्षैक स्मृति विषय तया तत्तद् ऐकावमर्शं स्तत ज्जातीयत्वावमर्शं ।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० ७०४ ।

[२] यद्यपि एकेकस्थ सास्नादि-धर्म-स्वरूप तथापि तन्निरूपाधि-नियतै स्वभाव तो नियतै तै तै सास्नादिभिरन्यनिष्ठै स्सप्रतिद्वद्विक स्यात्, इद मेव अन्योन्य-सप्रतिद्वद्विक-रूप सादृश्य-शब्द-वाच्यम् अभिधीयते ।

निरवयव पदार्थों के सम्बन्ध मे, जैसेकि गुण मे अवयवो का समाहार नही सोचा जा सकने पर भी सामान्य का प्रत्यय प्रयुक्त हो सकता है। इसी कारण, वेंकटनाथ, सादृश्य को सामान्य की केवल उपाधि मानते है और सस्थान को समावेश नही करते, जैसाकि रामानुजाचार्य ने किया है।

स्वतः प्रामाण्य

अक्सर ऐसा तर्क किया जाता है कि प्रमाणता और अप्रमाणता के निश्चय के लिए भी, अन्य वस्तु, की तरह, अन्वय-व्यतिरेक विधि का प्रयोग निर्णयात्मक कसौटी है। गुणो की उपस्थिति जो प्रमाणता की समर्थक है और दोषो की अनुपस्थिति जो प्रत्यक्ष की प्रमाणता मे बाधक है, उन्हे किसी ज्ञान की प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णायक मानना चाहिए। इस पर रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाणता का समर्थन करने वाले गुणो का निश्चय करना, दोषाभाव के विश्वास के बिना निश्चित नही हो सकता और दोषाभाव भी प्रमाण के पोषक गुणो की उपस्थिति के ज्ञान के बिना नही जाना जा सकता, इसलिए, जबकि वे अन्योन्याश्रित हैं उनका स्वतन्त्र रूप से रूप निश्चित करना भी असम्भव है। इस प्रकार सूचन किया जाता है कि प्रमाणता एव अप्रमाणता को निश्चित नही किया जाता है किन्तु उनके विषय मे शका ही होती है। इस पर उत्तर यह है कि जहाँ तक कुछ ज्ञान नही है वहाँ शका कैसे उपस्थित हो सकती है। इसलिए प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित होने के पहले एक मध्यस्थ स्थिति है। ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ है यह ज्ञान होने के पहले अर्थ-प्रकाश होना चाहिए, जो अर्थ की दृष्टि से स्वतः प्रमाण है, और अपनी प्रमाणता के लिए वह दूसरी किसी विधि के प्रयोग पर अवलम्बित नही है, क्योकि वह भविष्य के अर्थ के, सत्य और मिथ्यापन की भी समस्त निश्चितता का आधार है। इसलिए ज्ञान का यह अग, जो मूल अग है—अर्थात् अर्थ प्रकाश-स्वत प्रमाण है। यह कहना मिथ्या है कि यह ज्ञान स्वय नि स्वभाव है, क्योकि यह, वृक्ष ढाक या शिशपा का वृक्ष है यह जानने के पहले उसे वृक्षत्व रूप से निश्चित करने के समान, अर्थ प्रकाश धर्मवाला है।[1] सहायक गुणो का ज्ञान प्रमाणता का कारण नही है, किन्तु जब प्रमाणता निश्चित हो जाती है तब उन्हे प्रमाणता का सहायक माना जा सकता है। स्वत प्रामाण्य, ज्ञान का होता है तथात्व का नही। यदि तथात्व भी साक्षात् प्रकट होता तो फिर ऐसे

---

[1] यथार्थ-परिच्छेद प्रामाण्यमयथार्थ-परिच्छेद अप्रामाण्य कथ तदुभय-परित्यागे अर्थ परिच्छेद सिद्धि इति चेन्न, अपरित्याज्यत्वाभ्युपगमात्। तयो साधारणमेव हि अर्थ परिच्छेद ब्रूम शिशपापलाशादिषु इव वृक्षत्वम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

है। इसलिए ज्ञान, अपने से प्रकाशित न होकर, अनुव्यवसाय से प्रकाशित होता है। इस पर रामानुजाचार्य आक्षेप खडा करते हैं, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह पुनर्ज्ञान, ज्ञाता से, फिर से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा के बावजूद होता है या अनिच्छा से। पहले प्रसग मे जबकि पुनर्ज्ञान स्वत ही उपस्थित होता है, अर्थात्, पुनर्ज्ञान ज्ञाता की इच्छा से उद्भूत है, तो ऐसी इच्छा पूर्व ज्ञान से उत्पन्न होनी चाहिए, और वह अपने से पूर्व इच्छा को मानने को बाध्य करेगा, और वह उससे पूर्व को, इस प्रकार अनवस्था दोष खडा होगा। इस पर नैयायिक उत्तर देते है कि सामान्य पुनर्ज्ञान किसी इच्छा के बिना ही होता है, किन्तु विशिष्ट पुनर्ज्ञान इच्छा का कार्य है। सामान्य पुनर्ज्ञान स्वभावत होता है, क्योकि सभी सासारिक मनुष्यो को अपने जीवन भर मे कुछ-न-कुछ ज्ञान होता ही रहता है। जब किसी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है तब ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस पर रामानुजाचार्य का यह उत्तर है कि सामान्य अस्तित्ववान् पदार्थ के विषय मे, उसकी सत्ता और उसके ज्ञान के प्रकाश मे भेद है, क्योकि वह सर्वथा सत्ता एव ज्ञान के विशिष्ट सम्बन्ध पर आश्रित है, किन्तु स्वप्रकाश पदार्थ के सम्बन्ध मे, जहाँ ऐसे सम्बन्ध की आवश्यकता नही रहती वहाँ उसकी सत्ता और प्रकाशता मे भेद नही होता। अग्नि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करती है, किन्तु स्वय को प्रकाशित होने के लिए उसे, दूसरो की सहायता की आवश्यकता नही होती। स्वप्रकाशता से यही अर्थ है। जैसेकि कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ पर स्वय प्रकाशित होने के लिए, अपनी जाति पर आश्रित नही रहता, इसी प्रकार ज्ञान, अपने प्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की सहायता की आवश्यकता नही रखता। दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जिन सम्बन्धो की आवश्यकता होती है वे ज्ञान स्वय को प्रकाशित करने के लिए आवश्यक नही होते।[1] ज्ञान स्वय प्रकाश है अत हमारे व्यवहार को साक्षात् प्रभावित करता है, लेकिन वह इस सहायता के लिए किसी और पर निर्भर नही है। यह बिल्कुल अनुभव-विरुद्ध है कि ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है, और यदि इसे हमारा अनुभव समर्थन नही देता तो इस असाधारण सिद्धान्त की स्वीकृति मे क्या औचित्य है कि किसी ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरी ज्ञान-प्रक्रिया की अपेक्षा होती है। मात्र उसी को ज्ञान का विषय कहा जा सकता है जो अस्तित्ववान् होते हुए भी अनभिव्यक्त रहता है। लेकिन यह नही कहा जा सकता कि एक अज्ञात ज्ञान था क्योकि ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य पदार्थों की तरह समय की प्रतीक्षा मे नही रहता। अतीत ज्ञान के विषय का जो

---

[1] ज्ञानमनन्याधीनप्रकाश मर्थ-प्रकाशकत्वात् दीपवत्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

मात्र अनुमित होता है, कोई प्रत्यय नही होता अत ज्ञात और अज्ञात के सम्बन्ध मे हमेशा एक रेखा खीची जा सकती है। अगर केवल पदार्थ प्रकाशित होता, उसका ज्ञान नही तो कोई क्षण भर के लिए भी उसके प्रत्यक्ष से न चूकना। यदि ज्ञान मात्र अपने कार्य से अनुमित होता, हर एक उसका अनुभव कर लेता लेकिन किसी को भी ज्ञात और अज्ञात के भेद बोध मे क्षण भर के लिए भी हिचक न होती। यह भी कहना गलत है कि ज्ञान जांच-पड़ताल के बाद ही उदित होता है, क्योकि वर्तमान ज्ञान मे जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, साक्षात् ही होता है और अतीत ज्ञान मे भी ऐसी अनुमिति नही होती कि स्मृत होने के कारण ज्ञान हो पाया बल्कि अतीत ज्ञान की स्मृति के रूप मे साक्षात् प्रतीति होती है क्योकि यदि उसे अनुमान कहा जाय, तो पुनः प्रत्यक्षण को भी स्मृत्यनुमान माना जा सकता है।

पुन कोई वस्तु जो ज्ञान का विषय हुए बिना अस्तित्व रखती है उसकी अभिव्यक्ति सोपाधिक ज्ञान की सस्थिति मे त्रुटि की उपस्थिति के कारण सदोष हो सकती है, परन्तु ज्ञान के स्वत त्रुटिपूर्ण होने की कोई सम्भावना नही होती और परिणामत ज्ञेय होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नही होता। सुख या दुःख की अनुभूति में जैसे कोई सन्देह नही होता, उसी प्रकार ज्ञान के विषय मे भी कोई सन्देह नहीं होता, इससे यह प्रतीत होता है कि जब-जब ज्ञान होता है, वह स्वत सुव्यक्त होता है। यह सोचना गलत है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो उसमे और विषयार्थ मे भेद न रहेगा, क्योकि भेद स्पष्ट ही है, ज्ञान स्वत ही निराकार है, जबकि विषय अर्थ रूप है। दो पदार्थ जो एक ही प्रकाश मे दीखते हैं, जैसेकि द्रव्य और गुण, पदार्थ और उनकी सख्या, वे इसी कारण अभिन्न नही हैं। यह नही कहा जा सकता कि ज्ञान और उसके विषय अभिन्न हैं क्योकि वे एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, क्योंकि उन दोनों का एक ही साथ प्रकाशित होना, यह बताता है कि ये दो भिन्न ही हैं। ज्ञान और उसके अर्थ एक ही प्रकाश मे प्रकाशित हो जाते हैं, और यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन पहले और कौन पीछे प्रकट होता है।

श्रुति के प्रमाणानुसार, आत्मा भी ज्ञान के स्वरूप जैसा है। आत्मा, ज्ञान के स्वरूप जैसा है इसलिए स्वप्रकाश है और इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि वह मानस प्रत्यक्ष है।

रामानुजदास या महाचार्य

पदार्थों को (जो शुद्ध चैतन्य पर स्वतन्त्र ही आरोपित है) किस प्रकार लक्ष्य करेगा ? यदि ऐसा कहा जाता है कि जबकि एक ही शुद्ध चैतन्य पर, बाह्य पदार्थ, अज्ञान और अहंकार, सभी आरोपित हैं और अज्ञान हमेशा बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित है, तो यह कह सकते हैं कि जब कभी घडा जाना जाता है अज्ञान अन्य पदार्थों से (जैसेकि कपडा) सम्बन्धित होने से वह शुद्ध चैतन्य से भी सम्बन्धित है जिस पर घडा एक आरोपण है। वास्तव मे वह घडे से भी सम्बन्धित होगा, जिसका परिणाम यह होगा कि 'हम घडा नहीं जानते' हैं ऐसा अनुभव। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि घडे का भावरूप से ज्ञान ही अज्ञान के सम्बन्ध मे बाधक हो सकता है। इस पर यह उत्तर है कि जब कोई यह कहता है 'मैं इस पेड को नहीं जानता' तब 'इस' के बारे मे ज्ञान है और पेड के स्वरूप के बारे मे अज्ञान है, इसलिए यहां पर भी घडे के एक ही पहलू के बारे मे अंशत ज्ञान और अंशत अज्ञान हो सकता है। शंका के प्रसग मे हमे ज्ञान और अज्ञान की एक ही पदार्थ मे स्थिति माननी पडती है और यह जिज्ञासा के सभी प्रसगों मे सत्य है, जहां एक पदार्थ सामान्य दृष्टि से ज्ञात हो किन्तु विशिष्ट विस्तार मे अज्ञात हो।

पुन, शंकर-मतवादियों द्वारा यह मिथ्या विवाद किया गया है कि गम्भीर स्वप्नरहित निद्रा की स्थिति मे अज्ञान का साक्षात् अनुभव होता है, क्योंकि यदि अज्ञान अपने स्वरूप मे वास्तव मे ज्ञात होता है, तो मनुष्य कभी जगकर यह नहीं कह सकता कि उसने कुछ नहीं जाना। उसे यह स्मरण होना चाहिए कि उसे अज्ञान का साक्षात् ज्ञान हुआ था। यदि गाढ निद्रा मे शुद्ध चैतन्य ने अज्ञान को प्रकाशित किया तो उसने जगत् के सभी ज्ञात एव अज्ञात पदार्थों को प्रकाशित किया होगा, जो निरर्थक हैं क्योंकि जागने पर उनकी स्मृति रहनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि गाढ निद्रा मे अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि जाग्रत् अवस्था के प्रमाण के अनुसार, उस समय काल का ज्ञान भी होता है, क्योंकि स्मृति यह होती है 'उस समय, मैंने कुछ नहीं जाना।' उपरान्त, यदि यह माना जाता है कि सब कुछ साक्षी चैतन्य से (वृत्ति की अवस्था पर आए बिना) प्रकाशित होता है, तो अज्ञान का भी स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि यह कहा जाता है कि साक्षी चैतन्य द्वारा अज्ञान के विषय प्रकाशित नहीं होते, केवल अज्ञान ही प्रकाशित होता है तो इससे जाग्रत अवस्था मे 'मैंने कुछ नहीं जाना' इसमे 'कुछ' निश्चित रूप से अज्ञान के अर्थ को ही लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त, यदि उपरोक्त पूर्व मान्यता सही है, तो गाढ निद्रा मे आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता और न जाग्रत्‌अवस्था मे याद भी आ सकता है। यदि इसके उत्तर मे यह विवाद किया जाता है कि जाग्रत्‌अवस्था मे अज्ञान के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुण याद रहे थे, क्योंकि वे अविद्या की वृत्ति से प्रकट हुए थे, तो उत्तर यह है कि उन्हे अविद्या के विशिष्ट प्रकार मानने के बजाय चित्त की वृत्ति

शङ्कर-अनुयायी कहते हैं कि अपरिणामी आत्मा, जगत्-प्रपंच का उपादान कारण नहीं हो सकता, और न कोई भी हो सकता है, वह अर्थापत्ति से अनुमित होता है कि जगत् का उपादान कारण अज्ञान हो सकता है, क्योंकि ऐसा ही उपादान कारण जगत्-प्रपंच का अज्ञान स्वरूप स्पष्ट कर सकता है। ब्रह्म को बहुधा जगत् का उपादान कारण कहा जाता है और वह प्रपंच में अंतःस्थित शुद्ध सत्ता के रूप में अधिष्ठान कारण है यहाँ तक ही सत्य है। अज्ञान परिणामी कारण है और इसलिए जगत् के गुण धर्म भी अज्ञान जैसे हैं।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है, यद्यपि जगत् की रचना मिथ्या मान ली जाय, तो भी उसमें आवश्यक रूप से भाव रूप अज्ञान को मानने का परिणाम नहीं निकलता। इस प्रकार, भ्रम रूप रजत बिना कारण के उत्पन्न होता है, या आत्मा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है, जो यद्यपि अखंड है किन्तु भ्रम से जगत् रूप दीख सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ्या कार्य का मिथ्या पदार्थ ही कारण होगा। क्योंकि ऐसा सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। मिथ्यात्व के लिए सामान्य गुण की उपस्थिति यह निश्चित नहीं कर सकती कि मिथ्या पदार्थ आवश्यक रूप से मिथ्या कार्य का कारण होना चाहिए, क्योंकि दूसरी दृष्टि से उसमें और अन्य सामान्य गुण भी होंगे, और कार्य-कारण में गुणों की निरपेक्ष सदृशता निस्सन्देह ही नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त, कार्य में, आवश्यक रूप से सत्ता की एकता नहीं होती जो परिणामी उपादान कारण में होती है, इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानना असम्भव है जबकि जगत् में ब्रह्म जैसी निर्मलता न हो। यदि ब्रह्म जगत् का परिणामी कारण माना जाता है, तो निस्सन्देह ही उसकी सत्ता जगत् की जैसी नहीं हो सकती, किन्तु यदि कोई पदार्थ इसके रूप में प्रकट हो सकता है तो उसे परिणामी कारण कहा जा सकता है और उसके लिए उस कार्य जैसी सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार, अविद्या का नाश और अन्त दोनों ही कार्य माने गए हैं और तो भी उनकी सत्ता उनके कारण जैसी नहीं है।[2] इसलिए यह तर्क नहीं किया जा सकता

---

[1] ननु उपादानोपादेययोः सालक्षण्य-नियम-दर्शनादेव तत्सिद्धिरिति चेत्सर्वथा सालक्षण्यस्य मृद्घटयोः अप्यदर्शनात् किंचित् सालक्षण्यस्य शुक्ति रजतादावपि पदार्थत्वादिनासत्वात्।
—वही, पृ० ५७७।

[2] यदुक्त ब्रह्मणः परिणामितया उपादानत्वे परिणामस्य परिणामि-समान-सत्ताकत्व-नियमेन कार्यस्यापि सत्यत्व-प्रसंग इति, तत्र किं परिणाम-शब्देन कार्य मात्र विवक्षितं, उत रूपान्तरापत्तिः, ध्वसस्य अविद्या-निवृत्तेश्च परिणामि-समान-सत्ताकत्वाभावात् न हि तद्रूपेण परिणामि किंचिदस्ति, न द्वितीयः रूपान्तरापत्तेः परिणामि-मात्र-सापेक्षत्वात् गौरवेण स्वसमान-सत्ताक-परिणामापेक्षाभावात्।
—सद्विद्या विजय, पृ० ७०।

कि यदि ब्रह्म को जगत् का परिणामी कारण मान लिया जाय, तो जगत् ब्रह्म जैसा सत्य हो जायगा। पुन, जगत् मे ब्रह्म के गुणधर्मों का न दीखना कर्म के प्रभाव के कारण अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जगत् का अब्रह्म स्वरूप भी समझाने के लिए अज्ञान की पूर्व मान्यता आवश्यक नही है। मुक्ति का अज्ञान के अन्त के रूप मे वर्णन करना भी आवश्यक नही है, क्योकि वह अवस्था, स्वय आनदावस्था होने के कारण, हमारे प्रयत्नो का उद्देश्य मानी जा सकती है और अविद्या की मान्यता और उसकी निवृत्ति निर्मूल है।

महाचार्य ने पाठो के प्रमाण द्वारा यह बताने का प्रबल प्रयास भी किया कि शास्त्रो ने भी अविद्या को भाव रूप नही स्वीकारा है।

दूसरे अध्याय मे महाचार्य यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि अज्ञान को एक आवृत करने वाले स्वतत्र पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नही है। शकर-मतवादी तर्क करते हैं कि यद्यपि आत्मा का अह-प्रत्यय मे अनुभव होता है फिर भी उस अह अनुभव मे पूर्णानन्द ब्रह्म का तादात्म्य रूप से अनुभव नही होता, और इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्म के विशुद्ध रूप को ढक देने वाला कोई अज्ञान पदार्थ है। इस पर महाचार्य उत्तर देते हैं कि अज्ञान, क्योकि अनादि माना गया है, उसकी आवरण-शक्ति भी अनादि होगी और फिर मुक्ति असम्भव होगी, तथा यदि ब्रह्म आवृत हो सकता है तो उसके स्वप्रकाश-स्वरूप का भी अन्त हो जायगा और वह अज्ञ हो जायगा। इसके अतिरिक्त, अनुभव, इस प्रकार होता है 'मैं अज्ञ हूँ' और वास्तव मे अज्ञान अह को लक्ष्य करता दीखता है। यदि यह माना जाता है कि आवरण का अस्तित्व अत करण द्वारा, ब्रह्म की अपूर्णता समझाने के लिए ही केवल स्वीकारा गया है, तो यह भली प्रकार बताया जा सकता है कि ब्रह्म अह रूप से मर्यादित दीखना अत करण की उपाधि से भी समझाया जा सकता है, जिसके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है और इसके लिए माया का पृथक् आवरण स्वीकार करना आवश्यक नही है।

पुन यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न। पिछले प्रसग मे, वह सदा ही अप्रकट रहेगा, और जगत् का भास असम्भव हो जायगा। यदि आवरण अज्ञान से भिन्न कुछ वस्तु है, और जबकि वह शुद्ध चैतन्य से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नही है, तो उसका व्यापार जगत्-प्रपच को समझा नही सकेगा। यदि यह आवरण अज्ञान को अनिर्वचनीय कर देता है, तो यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? पिछले विकल्प मे, वह उस पर आश्रित न रहेगा, और पहले विकल्प मे, अज्ञान को ब्रह्म का विरोधी मानना निरर्थक होगा। इस प्रकार, जिन उपाधियो द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है वही ब्रह्म के जगत् के पदार्थों के रूप मे मर्यादित स्वरूप को समझाने में पर्याप्त है तो अज्ञान को पृथक् तत्व मानना अनावश्यक है।

पुन , यदि अज्ञान शुद्ध साक्षी चैतन्य को आवृत कर सकता है तो सारा जगत् अंधा हो जायगा, और कही कुछ भी ज्ञान न होगा। यदि साक्षी चैतन्य आवृत नही हो सकता, तो फिर ब्रह्म भी आवृत नही हो सकता। उसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म सर्वदा स्वप्रकाश है, तो वह अज्ञान द्वारा कभी भी आवृत नही किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व का अर्थ यह है कि वह अवेद्य और अपरोक्ष है, तो आवरण का विचार लाना ही अनावश्यक है क्योकि जो जाना नही जा सकता (अज्ञेय) वह इन दोनो मे से एक भी नही है। पुन , शकर के अनुयायी मानते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के आनन्द अश को ढकता है चिदश को नही। यह स्पष्ट रूप से असम्भव है, क्योकि उनके अनुसार चित् और आनन्द एक हैं, और यदि ऐसा है तो, फिर आनद अश ढक जाने पर चिदश बाकी कैसे बच सकता है और एक ही अखड तत्व ब्रह्म, दो भागो मे कैसे विभक्त किया जा सकता है जिसका एक भाग आवृत होता है और दूसरा नही ? पुन यदि आत्मा आनन्द स्वरूप माना जाता है और हमारी सुख के प्रति आसक्ति, ब्रह्म पर अहकार के मिथ्या आरोपण द्वारा समझायी जाती है, जबकि ससार की सभी वस्तुएँ आत्मा पर मिथ्या आरोपण मात्र ही हैं तो वे सभी आत्मा की तरह नित्य होगी और दु ख भी हमारे लिए सुखकारक होगा।

तीसरे अध्याय मे महाचार्य शकर-अनुयायियो के अज्ञान के अधिष्ठान के मत का खण्डन करते है। शकर सम्प्रदाय के कुछ प्रवर्तक यह मानते हैं कि विषयो के अज्ञान अश, उन विषयो मे निहित शुद्ध चैतन्य द्वारा धारण किए जाते हैं। यद्यपि इन अज्ञान तत्वो के विकार विद्यमान हैं तो भी उनका हमारे 'अह' से सम्बन्ध हो सकता है, क्योकि दोनो, पदार्थ और अह, अज्ञान भूमिका की अवस्थाएँ हैं। इस पर महाचार्य कहते है कि यदि जगत् के सभी पदार्थो के पृथक् और भिन्न अज्ञान कारण हैं तो यह सोचना गलत है कि सीप के अज्ञान द्वारा भ्रम रूप रजत उत्पन्न किया जाता है। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि प्रमाता के अज्ञान ने 'अन्त करण से बाहर निकलने पर रजत-भ्रम उत्पन्न किया। यदि सीप के अज्ञान को अनादि माना जाता है तो उसे मूल अज्ञान का विकार मानना निरर्थक है और यदि इसे विकार नही माना जाता तो उसका ज्ञान नही समझाया जा सकता।

पुन कुछ अन्य लोग भी हैं जो यह मानते है कि पदार्थवर्ती अज्ञान किसी दृष्टि से ज्ञाता मे भी रहता है और इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय मे सम्बन्ध हो सकता है। इस पर महाचार्य कहते है कि ऐसा मत असम्भव है, क्योकि पदार्थान्तर्गत चैतन्य ज्ञाता मे निहित चैतन्य से भिन्न है, और यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य अन्त मे एक ही है तो सभी पदार्थ उसी प्रकार प्रकाशित होने चाहिए, जिस प्रकार कोई भी पदार्थ एक समय मे एक ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। पुन यदि विषयगत एव ज्ञातृगत चैतन्य भेद-रहित है, तो फिर मनुष्य को 'मैं अज्ञ हू ऐसा कहते हुए अज्ञान का क्यो

अनुभव होना चाहिए ? यह अज्ञान का भाव ज्ञाता मे क्यों अनुभव होना चाहिए और विषय मे नही, जबकि दोनो के अन्तर्गत चैतन्य एक ही है, इसका कोई भी कारण नहीं दीखता । इसके अतिरिक्त, प्रसग मे, जब एक व्यक्ति को किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उस पदार्थ का सभी को ज्ञान हो जायगा ।

अन्य और भी हैं जो यह कहते है कि शुक्तिगत अज्ञान भी यह अनुभव का आधार है और शुक्तिगत चैतन्य उसका विषय है । इस पर महाचार्य यह कहते है कि यह अनुभव के अन्तर्गत चैतन्य द्वारा आधारित अज्ञान का परिणाम नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो यह भिन्न पदार्थों को नही समझा सकता ।

पुन अन्य और हैं जो यह सोचते है कि जब कोई यह कहता है कि वह सीप को नही पहचानता तो वहाँ अज्ञान मूल अज्ञान को प्रकट करता है, क्योंकि यद्यपि अज्ञान का सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से है, वह सीप के अन्तर्गत चैतन्य से अभिन्न होने से सीप से भी सम्बन्ध रखता है और उसका इसी प्रकार ग्रहण भी हो सकता है । हमें यह भी मानना पडेगा कि मिथ्या रजत भी अज्ञान से बना है, क्योंकि मिथ्या रजत का जबकि प्रत्यक्ष होता है, तो उसका द्रव्य के रूप मे कोई उपादान कारण भी होना चाहिए ।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है कि स्वगत अज्ञान के समाकल्पन का सम्बन्ध मूल अज्ञान से है, विषया के द्रव्य के रूप मे पृथक्, अज्ञान को स्वीकार करने मे कोई युक्ति नही है । यह सूचन नही किया जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान के साथ उससे सम्बन्धित अज्ञान का अन्त होता है, इससे अज्ञान एक पृथक् पदार्थ के रूप मे सिद्ध होता है, क्योकि ऐसे अज्ञान का हट जाना केवल एक अनुमान ही है, और यह भी माना जा सकता है कि विशिष्ट ज्ञान का अभाव, विशिष्ट अनुभव से होता है । प्रागभाव किसी पदार्थ की उत्पत्ति से नष्ट होता है । जब कोई कहता है कि 'मैंने अभी तक घडे को नही जाना, उसे अब जानता हू' ज्ञान के अभाव का या अज्ञान का अन्त यहाँ विषय से साक्षात् और अपरोक्ष सम्बन्ध है जो ज्ञाता है । किन्तु पदार्थ को आवृत करते अज्ञान का निरसन ज्ञान के अनुभव से केवल उपलब्ध अनुमान ही है, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान नही हो सकता । पुन यदि मूल अज्ञान विषयगत शुद्ध चैतन्य को आवृत करता माना जाता है, तो विषय को ढकने के लिए पृथक् अज्ञान मानना अनावश्यक है । यदि यह माना जाता है कि विषयातर्गत शुद्ध चैतन्य, ब्रह्म से अभिन्न होने से जिसे मूल अज्ञान कहा जाता हैं, वह विषयाभास मे मर्यादित रूप से चेतना मे दीख सकता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मूल अज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण, पदार्थ ज्ञात होते हुए भी, क्यो अज्ञात दीखता है । पुन, 'मैं नहीं जानता' ऐसे अनुभव के सन्दर्भ मे मूल अज्ञान अन्त करण से सम्बन्धित नही हो सकता, क्योकि वह भौतिक पदार्थ है और वह स्वप्रकाश्य शुद्ध चैतन्य मे नही हो सकता । जैसा भी वह है, वह अपने बारे मे अज्ञ नही हो सकता ।

उपरान्त यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि आत्मा चेतना मे प्रकट होती है तो भी बहुधा वह शरीर से सम्बन्धित रहता है और यद्यपि विषय सामान्य रूप से ज्ञेय होते हैं तो भी उनके विशेष रूप अज्ञेय बने रह सकते हैं, यह परिस्थिति बहुधा अनिश्चितता उपस्थित करती है कि यह सब अज्ञान की मान्यता के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नही समझाया जा सकता। यह सब स्वीकार किया जाय कहने पर भी अज्ञान को एक आवरण करने वाला तत्व मानना अयुक्त है। अनवधारण और आवरण दोनो एक नही है। मृगतृष्णा मे जल का दीखना अनवधारण से शकास्पद हो सकता है और यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि अज्ञान ने यदि आवृत किया होता तो जल का दीखना भी नही हो सकता था। यह भी नही कहा जा सकता कि आवरण के कारण अनवधारण है, क्योकि यह सहज ही आग्रह किया जा सकता है कि जबकि आवरण, सत्ता या स्वप्रकाशता के रूप मे प्रकट नही हो सकती तो वह स्वय अनवधारण का परिणाम है। यदि यह आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि अनवधारण *स्वय आवरण का स्वरूप-निर्माण करता है (अनवधारणत्वम् एव आवरणम्), तो यह* कहा जा सकता है कि आवरण का कारण व्यक्तिगत अह अभिन्न नही दीखता, किन्तु इससे यह अर्थ नही होता कि हमारे मर्यादित जीव के अनुभव मे अनिश्चितता है। यदि ऐसी अनिश्चितता होती तो अह का अनुभव सदेहरहित रूप से न होता। पुन. यदि अज्ञान ही अनवधारण स्वरूप है तो, उसमे आवरण का पृथक् धर्म आरोपित करना निरर्थक है। यदि यह माना जाता है कि अज्ञान केवल शुद्ध चैतन्य द्वारा ही आधारित है, तो जीव को आवागमन के चक्र मे क्यो पडना चाहिए, इसका कोई कारण नही दीखता, क्योकि ऐसे अज्ञान का जीवो से कोई सम्बन्ध न होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वह चैतन्य जीव द्वारा अभिव्यक्त होता है, तो यह भी आग्रह मे कहा जा सकता है कि चैतन्य जीव और ईश्वर दोनो के अन्तर्गत है, तो ईश्वर भी आवागमन के चक्र मे फस जायगा।[1]

ऐसा कभी कहा जाता है कि अत करण को ही सुख-दु ख का अनुभव होता है और यही बन्धन है। अत करण स्वय शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या आरोपण होने से अत करण के धर्म चैतन्य मे हैं, ऐसा दीखता है। इस पर महाचार्य का उत्तर है कि यदि बन्धन अत करण मे है तो फिर शुद्ध चैतन्य बद्ध नही माना जायगा। क्योकि यदि बन्धन के दु ख शुद्ध चैतन्य के अत करण से मिथ्या तादात्म्य के कारण हैं तो बन्धन अत करण के कारण नही है किन्तु मिथ्या विचार से है। इसी प्रकार, महाचार्य,

[1] अज्ञानस्य चैतन्यमात्राश्रयत्वे जीवे ससार हेतुता नस्यात् वैयधीकरण्याच्चैतन्यस्यै व जीवे न्वविभागात् सामान्यधिकरण्ये ईश्वरस्या पि ससार प्रसग।

—सद् विद्य विजय, पृ० १०७ (हस्त०)।

शकर के अनुयायियों द्वारा, अज्ञान की सत्ता एवं उसके सम्बन्धी जगत् रचना को समझाने के लिए दिए गए अनेक वैकल्पिक बोधार्थों की आलोचना करते है और अन्त मे अपना यह मत प्रतिपादन करते या प्रमाण करते हैं कि किसी भी प्रकार न अज्ञान का सम्बन्ध सोचना व्याघात से परिपूर्ण है, जिसे सुलझाना असाध्य है।

पुन चतुर्थ खड मे महाचार्य, यह तर्क उपस्थित करते है कि अज्ञान पारमार्थिक सत्य नही माना जा सकता, क्योंकि तब अद्वैतवाद न रहेगा। इसे व्यवहार (व्यवहारिक) मत ज्ञात विषयों का द्रव्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह भ्रम के अनुभवों का द्रव्य नही हो सकेगा। यह कभी-कभी आग्रह किया जाता है कि मिथ्या वस्तु से भी, जैसेकि मिथ्या भय-सन्मुख रोग होता है और मृत्यु भी, और इसलिए अज्ञान से भी सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। महाचार्य इस मान्यता को मिथ्या बताते है, क्योंकि उपरोक्त उदाहरणों मे भी ज्ञान ही उक्त परिणामों को उत्पन्न करता है। यदि अविद्या मिथ्या है, तो सभी भौतिक परिणाम भी मिथ्या होंगे, क्योंकि कार्य सर्वदा कारण से अभिन्न होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जबकि जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, तो ब्रह्म, जो श्रेष्ठ ज्ञान है और स्वय अविद्या का कार्य है, वह भी मिथ्या होगा।

आगे, यदि अज्ञान एक माना जाता है तो फिर सीप के ज्ञान मे कभी अज्ञान का का अंत हो जाना चाहिए, क्योंकि अज्ञान के अन्त के बिना सीप नही जानी जाती। यह नही कहा जा सकता कि सीप के ज्ञान से ही उसे छिपाने वाला आवरण हटाया गया है और अज्ञान का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि अनुभव यह प्रमाणित करता है कि अज्ञान हटता है कि आवरण। इस प्रकार अनेक अज्ञान की सत्ता मानने मे बाध्य होना पडता है। क्योंकि यदि यह माना जाता है कि ज्ञान केवल आवरण को ही हटाता है, तो अन्तिम मुक्ति-ज्ञान भी किसी विशिष्ट आवरण को ही हटाएगा, और इससे मूल अज्ञान का नाश न होगा। पुन अज्ञान की जो ज्ञान द्वारा नष्ट किया जाता है ऐसी व्याख्या की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट ही मिथ्या है कि ज्ञान को अज्ञान का कार्य माना जाय। कार्य कारण-पदार्थ को नष्ट नही कर सकता। पुन यदि ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की मुक्ति के समय, अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ऐसा अज्ञान यदि वह एक ही है, तो वह सम्पूर्ण नष्ट हो जायगा और फिर कोई अज्ञान न बचेगा जो अन्य अमुक्त जीवो को बन्धन मे डालेगा। ऐसा माना गया है कि अज्ञान मिथ्या है, क्योंकि इसका ज्ञान से नाश होता है इसी के साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि अज्ञान श्रुति द्वारा नष्ट होता है और जब एक वस्तु, दूसरे सच्चे पदार्थ द्वारा नष्ट होती है तो पहली वस्तु मिथ्या नही कही जा सकती।

पुन अविद्या को जिसका अन्त ज्ञान-जन्य है ऐसा कहा है। अब ब्रह्म स्वय अविद्या का अन्त है, किन्तु वह ज्ञानजन्य नही है। यदि ज्ञान, ज्ञान के अन्त का

साधन (ज्ञान-साध्यत्वात्) माना जाता है, तो इससे यह अर्थ आवश्यक रूप से नही निकलता कि उसने अन्त कर दिया है (न च स्व जन्यत्वमेव स्वसाध्यत्वम्)। यदि ये दो प्रत्यय एक ही माने जाते है तो अविद्या-सम्बन्ध जिसको अविद्या का साधन माना जा सकता है उसे भी अविद्याजन्य मानना पडेगा, जो आत्माश्रय दोप उत्पन्न करता है।[1] इसी सादृश्यत से तर्क करते हुए, कोई यह भी कह सकता है कि अविद्या सम्बन्ध का अन्त अविद्या के अन्त पर आश्रित है, किन्तु इस प्रसग मे स्वय अविद्या के अन्त का अर्थ अविद्या से सम्बन्ध जोडना होता है, इस प्रकार यह केवल पुनरुक्ति होती है।

पुनः साधारण मिथ्या दृष्टिकोण को, जो सच्चे ज्ञान से हट जाते हैं, उन्हें अविद्या से विविक्त करने हेतु अनादि किन्तु ज्ञान द्वारा सान्त कहा गया है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या का नाश करने वाले इस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? क्या वह शुद्ध चैतन्य है या केवल अन्त करण की अवस्था या वृत्ति है। यदि वह शुद्ध चैतन्य है, तो वह सस्कारो को नष्ट नही कर सकता क्योकि वृत्ति ही चित्त के सस्कारो को नष्ट कर सकती है, और अविद्या अनादि सस्कार है तो वह शुद्ध चैतन्य रूप ज्ञान से नही हटायी जा सकती, इस प्रकार उसे अनादि मानना निरुपयोगी होता है। दूसरा, ज्ञान जो अविद्या को नष्ट करता है वह केवल अन्त करण की वृत्ति ही है, यह भी ठीक नही हो सकता, क्योकि ऐसा माना गया है कि वृत्ति ज्ञान केवल अज्ञान के आवरण को ही हटा सकता है किन्तु अज्ञान को नही। यदि यह कहा जाता है कि वृत्ति अज्ञान एव आवरण दोनो को हटाती है, तो अज्ञान की यह परिभाषा वह ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है अतिव्याप्त हो जाती है, क्योकि वह आवरण को भी इगित करेगी जिसका अज्ञान की परिभाषा मे समावेश नही है। पुन॰ यदि अज्ञान अनेक माने जाते हैं तो ऐसी ज्ञानावस्था केवल साधारण पदार्थों को आवृत करने वाले अज्ञान को ही हटा सकेगी, इसलिए वह पूर्ण अविभक्त अज्ञान के लिए उपयुक्त न हो सकेगी जो केवल अखड सत्ता के अपरोक्ष ज्ञान से ही हट सकता है, क्योकि यह ज्ञान अत करण-वृत्ति नही होगी, जो सर्वदा परिमित होती है।[2] यहाँ भी अज्ञान को ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करता हुआ मानना चाहिए, और अज्ञान के अन्त का साक्षात् कारण ज्ञान नही है किन्तु आवरण का हटाना है, दूसरा, आवरण का हटाना ज्ञान से होता है, और इसलिए परिभाषा के अनुसार इसे ही अज्ञान कहना चाहिए, क्योकि आवरण अनादि है और ज्ञान द्वारा नष्ट होता है। महाचार्य आगे अविद्या की परिभाषा की अनेक आलोचनाएँ करते हैं तो अधिकतर पाडित्यपूर्ण हैं और इसलिए वे यहाँ उल्लेखनीय नही हैं।

[1] सद् विद्या विजय, पृ० ११६।

[2] वही।

पाँचवे खड मे महाचार्य अविद्या प्रकाशित होती है या अप्रकट होती है इस पर विचार करते हैं। यदि अविद्या स्वप्रकाश है, तो यह ब्रह्म जैसी सत् और चिद्रूप होगी। यदि ब्रह्म का प्रकाश अविद्या की अभिव्यक्ति है, तो ब्रह्म नित्य होने से अविद्या की अभिव्यक्ति भी नित्य होगी, फिर भी अविद्या भासमान होती है तब तक ही अपनी सत्ता रखती है ऐसा माना गया है इसलिए यह विरुद्ध है (मिथ्यार्थस्य प्रतिभास-समान कालीनत्व-नियमात्)। यदि अविद्या के प्रकाश का ब्रह्म के प्रकाश से अभेद माना जाता है, तो जहाँ तक ब्रह्म का प्रकाश रहता है वहाँ तक अविद्या भी रहेगी, इस तरह, अविद्या भी नित्य होगी। पुन यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब अविद्या का अन्त होता है तो उसके ब्रह्म के प्रकाश से अभेद का भी अन्त होगा और इसलिए ब्रह्म नित्य होगा और अविद्या नाशवान् होगी। इस वाद मे एक और कठिनाई बताई जा सकती है। यदि अविद्या ब्रह्म के प्रकाश से अभेद रूप है तो या *तो दूसरा मिथ्या होगा या पहला सत्य होगा। यह सुझाव देना अर्थहीन होगा कि वे* भिन्न होते हुए भी अभिन्न सत्ता रूप है (भिन्नत्वे सति अभिन्न-सत्ताकत्वम्)। यहाँ पर जो आलोचना दी गई है वह सिद्धान्त तक ही प्रयुक्त हो सकती है। जबकि अविद्या प्रकाश को, ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाला प्रकाश है ऐसा समझाया जाय (अविद्या-वच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप अविद्या प्रकाश) या उससे मर्यादित या उसके प्रतिबिम्बित होता है ऐसा समझाया जाय।

दूसरे खड मे महाचार्य अविद्या का अन्त किया जा सकता है इस विचार की असगति बताने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट कर सकता है यह नही माना जा सकता। फिर अविद्या की सत्ता कभी हो ही नहीं सकती, क्योकि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है, वह स्वय अविद्या का नाश करता है और इसलिए उसके नाश के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नही रहती। यदि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट नही कर सकता, तो वह वृत्ति के प्रतिबिम्ब द्वारा (वृत्ति प्रतिबिम्बत्वम्) भी ऐसा नही कर सकता, क्योकि वह अपरिमित चैतन्य से अधिक और कुछ नही है। (चैतन्यादधिक विषयत्वाभावे तद्वदेव निवर्त्तकत्वासम्भवात्)। यदि वृत्ति-प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य अविद्या का नाश नही कर सकता, तो वृत्ति-उपहित या मर्यादित होकर भी ऐसा नही कर सकता। वृत्ति अपने से उसे हटा नही सकती क्योकि वह जड है। यदि ऐसा माना जाता है कि ज्ञान अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम-

द्वैत भाव का नाम तक नहीं है, और इस कारण, भक्त को लक्ष्मी पर पृथक् रूप से निष्ठा रखने की आवश्यकता नहीं रहती। लक्ष्मी का स्वरूप भगवान् की दया का शुद्ध सार है।[1]

जब भक्त अपनी स्वतन्त्रता का पृथक् अहंकार के मिथ्या विचारों के कारण, भगवान् से वियुक्त अवस्था में होता है, तब उसे दण्ड, स्वतन्त्रता की भावना को त्याग देने पर भगवान् को अपना परम शेष मानने की निराशा दशा से प्रदान करना पड़ता है। किन्तु, एक बार उसने अपने मिथ्या अहंकार का त्याग किया और अपने को भगवान् के पूर्ण रूपेण शरणागत कर दिया तो फिर उसके लिए और कोई प्रयत्न करना बाकी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में लक्ष्मी के प्रभाव से भक्त के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रभाव द्वारा भगवान् उस पर दया करते हैं।[2] लक्ष्मी ही मनुष्य के हृदय में नैतिक अन्तः प्रकाशन द्वारा भगवान् की मैत्री मानने की आवश्यकता की भावना उत्पन्न करती हैं। वे द्विविध कार्य करती हैं, पहले वह मनुष्य के मन को मोड़ती है जो अनादि अविद्या के प्रभाव से ईश्वर के उपहार सांसारिक [illegible] में फँसा हुआ है, और दूसरा वे भगवान् का हृदय द्रवित करती है, जो मनुष्यों को उनके कर्मानुसार फल देने पर तुले हैं और उन्हें इसे बन्धन या [illegible] कर भक्तों पर आनन्द वर्षा करती है।

भगवान् की रक्षा पाने के रूप में प्रपत्ति, पवित्र और अपवित्र स्थानों की मर्यादित उपाधियों से नियमित नहीं है और न किसी विशेष काल, या कोई विशेष प्रकार या जाति, नियम, अथवा किसी भी प्रकार के फल के बन्धन में ही बाधित है। जब भगवान् प्रपत्ति द्वारा किसी को स्वीकारते हैं तो उसके सभी विहित और अविहित दोषों को क्षमा कर देते हैं। कुटिलता (असरलता) और क्रूरता ही वे दोष हैं, जिन्हें वे क्षमा नहीं करते। लोग, अपने को निःसहाय पाकर, बचने का और कोई चारा नहीं होने के कारण प्रपत्ति अपनाते हैं या इसलिए वे ऐसा करते हैं वे ज्ञानी हैं और निश्चित रूप से यह जानते हैं कि यही श्रेष्ठ उपाय है, या उन्हें भगवान् में आदेशों की

[1] देव्या कारुण्य रूप येऽति तद्गुण-सारत्वेन कारुण्य स्वयमेवेति।

—श्रीवचन भूषण (हस्त०)।

[2] प्रपत्तेर्देश-नियम काल-नियम प्रकार-नियम अधिकारि-नियम फल-नियमश्च नास्ति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

टीका में उपरोक्त विचार, भारद्वाज संहिता के उद्धरण से पुष्ट होता है—

ब्रह्म क्षत्र विशः शूद्रा स्त्रियश्चान्तर-जातय।
सर्वं एव पपद्येरन् सर्वं धातारमच्युतम्।

—वही।

तरह, सहज ही प्रीति है।[1] पहले दृष्टान्त मे, सच्चा ज्ञान और भक्ति कम से कम हैं, दूसरे दृष्टान्त मे, अज्ञान इतना अधिक नहीं है किन्तु भक्ति साधारण कोटि की है, तीसरे मे, अज्ञान कम से कम है, और प्रीति उत्कृष्ट है और वास्तव मे, प्रीति की उत्कटता मे, भगवान् के स्वरूप का सच्चा ज्ञान भी डूब गया है। पहले मे अपने अज्ञान का भान प्रबलतम है, दूसरे में, अपनी दैन्य एव अज्ञान का भाव, भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान और उनके साथ अपने सम्बन्ध के ज्ञान से सतुलित है।

जिस भक्त ने अति प्रेम से, भगवान की शरण ले ली है उसका कभी उनसे सयोग और कभी वियोग रहता है। पहली अवस्था मे, वह उदार गुण-पूर्ण भगवान् के साक्षात् सम्बन्ध से हर्षोन्माद से भर जाता है। किन्तु वियोग के क्षण मे उस संयोग और हर्षोन्माद की स्मृति से उसे असीम दु.ख होता है। ऊपर कहा गया है कि भगवान् की दया निरन्तर और सतत होती है, किन्तु यह होते हुए भी, हमारी स्वतत्रता की भावना हम मे मिथ्या अहता लाकर, भगवान् की दया का अवरोध करती है। प्रपत्ति धारण करने से अवरोधक भाव हट जाते है और वह भगवान् को हम पर अपनी दया करने मे सहायक होता है। ऐसे विचार मे, प्रपत्ति एक निषेधात्मक साधन ही समझना चाहिए। भावात्मक उपाय भगवान् है जो दया करते हैं। इसलिए प्रपत्ति को हमारी मुक्ति का कारण नहीं समझना चाहिए। वह केवल अवरोधक भावो को ही हटाती है और इसलिए उसे हमारी प्राप्ति कराने मे कारण रूप नही समझना चाहिए—क्योंकि वह कारण, मात्र भगवान् ही है। भगवान् इस प्रकार प्राप्ति का साधन और हेतु दोनो है और भक्त के लिए उनकी प्राप्ति ही एक परम साधन है। यहाँ पर प्रतिपादित प्रपत्ति का मत स्पष्ट रूप से अन्य साधनो की आवश्यकता को अस्वीकार करता है। प्रपत्ति का सार भगवान् की शरणागति मे निहित निष्क्रिय भाव तथा भगवान् को उसके प्रति अनुराग दिखाने का अवसर देने मे है। जब भक्त इस चिता का अन्त कर देता है कि वह किस प्रकार मुक्त होगा तब भगवान् उसे बचाने की इच्छा मे प्रवृत्त होते हैं।[2] भक्त के भगवान् से इस प्रकार के सम्बन्ध के मत मे, इस दार्शनिक सिद्धान्त का सन्निवेश है कि जीवो का अस्तित्व भगवान् के लिए है, उन्हे अपने स्वय का कोई उद्देश्य पूर्ण करना नहीं है। अज्ञान के कारण ही जीव अपना

[1] अन्तिम प्रकार के मनुष्यो के दृष्टान्त के रूप मे 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' की कुछ पक्तिया उद्धृत की जा सकती हैं, भक्ति पार वश्येन प्रपन्ना भगवत्प्रेम-पौष्कल्येन पादौ स्तब्धौ मन शिथिल भवति चक्षु भ्रमति पादौ हस्तौ च निश्चेष्टौ इति उक्त प्रकारेण शिथिल करणत्वेन साधनानुष्ठान-योग्यता-भावादनन्य गतिकास्सन्तस्त्वयि भार-समर्पण कुर्वन्। —हस्त०।

[2] अस्य इच्छा निवृत्ता चेत् तस्येच्छा अस्य कार्यकरी भवति।
—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

कोई स्वतंत्र हेतु मानता है। भगवान् मे उत्कट प्रेम द्वारा इस स्थिति का अस्वीकार, उनके आपस के सम्बन्ध को दार्शनिक तथ्य से आध्यात्मिक तथ्य के रूप मे अनुभव कराता है।

जीव, चित् और आनन्द रूप है और अणु है ये उसके तटस्थ लक्षण है। भगवान् और जीव के अन्तरग सम्बन्ध को उनकी दासता से ही श्रेष्ठ रूप से वर्णित किया जा सकता है।

प्रपत्ति के साथ सवेगात्मक राग इस प्रकार का है कि भक्त, भगवान् के प्रति अपने मृदु प्रेम से उनमे भी वही राग उत्पन्न करता है जिससे प्रेम भाव एक ओर आनन्दानुभव माना जाय और दूसरी ओर प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध माना जाय। निम्न कोटि की पहली प्रपत्ति सर्वदा स्वाभाविक अनुराग से प्रेरित नही होती, किन्तु अपनी निस्सहायता एव अकिंचनता के भान से होती है।[1] उपेय की दूसरी अवस्था मे, भक्त भगवान् के प्रति गहन प्रेम मे इतना प्रेरित होता है कि वह अपने बारे मे कुछ भी नही सोचता, और प्रेम का उन्माद इतना गहरा हो जाता है कि वह उसे शरीर के विनाश की ओर ले जा सकता है। इसे पारिभाषिक शब्दो मे राग-प्राप्त-प्रपत्ति कहा है।

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को प्रेमिका की प्रेमी से लगन तथा गोपी और कृष्ण की उपमा से समझाया गया है, और ऐसा माना गया है, कि यह गहरा भाव कामुक प्रेम जैसा है जो प्रेमी और प्रेमिका के विवाह की ओर ले जाता है। भक्ति, अज्ञान से असम्बद्ध एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है जो गहन राग के रूप मे प्रकट होता है। भक्त, विरह पीडित स्त्री की सभी अवस्थाओ को अनुभव करता है। भक्त प्रेमी के समस्त भाव, भगवान् की प्रीति जगाने के लिए है। जिस प्रकार प्रेम से अभिभूत स्त्री का व्यवहार, प्रेमी मे स्मित उत्पन्न करने या आँखो मे प्रकाश लाने के हेतु होता है ठीक उसी प्रकार भक्त का राग, भगवान् को रिझाने के हेतु होता है।[2] इसे सिद्ध प्रेम माना गया है। ऐसे प्रेम से उन्मत्त भक्तो को धर्म का कोई बन्धन नही

[1] इसे उपाय अवस्था कहा है, जहाँ भक्त भगवान् को अपनी परम प्राप्ति के साधन के रूप मे खोजता है।

[2] अज्ञान निवृत्तिपूर्वकभक्ति रूपापन्न ज्ञान प्रसाधितम्। महद् विवाह-जनक-काम समुद्रतुल्यतया वर्धयन् मेच-सदृश-विग्रहोऽस्मत् कृष्ण इत्येव भूत-प्रवृतिहेतो भक्ते रुत्पादको वर्धकश्च। सा एव हि तस्य भक्ति-पारवश्य-निबधना प्रवृत्तिरुपाय फलमित्युच्यते प्राप्यत्वरया स्त्री व्रतया नेत्र भ्रमणेन एतस्य सभ्रमा सर्वे मद् विपर्यासाँ कृत्वा एवमवस्था लब्धा इति तन्मुख-विकासार्थं क्रियमाण कैकर्यवदु-पेयान्तरभूता।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त।

होता। जिन भक्तो की प्रेमी की उन्मत्तावस्था इतनी है कि वे प्रपत्ति की वैधी या उपाय अवस्था के नियमो की राह नही देख सकते और उन्हे पालन भी नही कर सकते, वे ही मानो भगवान् से अपने द्रवित हृदय से भेटने को बाध्य हो जाते है। प्रपत्ति के साधारण नियम उन्हे बाधते नही है। उपरोक्त कथनानुसार प्रपत्ति की तीनो अवस्थाओ का पालन करने मे स्वगत परिश्रम (पुरस्कार) आवश्यक यही तक है कि जीव शरणागत रहे जिससे भगवान् उनके दोप और त्रुटियो को स्वीकार करने के लिए राजी हो जाय और उन्हे अपनी भगवत् कृपा से हटा दे। जो प्रपत्ति की अवस्था मे आगे बढे हुए है, अर्थात् जो परमार्त है, भगवान् उनमे प्रारब्ध कर्मो को भी हटा देते हैं और सत्वर मुक्ति प्रदान करते है।

जो प्रपत्ति धारण करता है वह मुक्ति पाने की चिन्ता भी नही करता, उसे किसी विशेप प्रकार की मुक्ति मिल जाय इस पर भी, वह रुचि नही दिखाता। मुक्ति चाहना और साथ ही साथ जीवन की किसी विशेप स्थिति को पसद करना अहकार है। किन्तु जिस पुरुप ने हृदय से प्रपत्ति-मार्ग अपनाया है उसे अहकार के अन्तिम सूक्ष्म सस्कारो को भी नष्ट करना चाहिए। अहकार, एक ओर अज्ञान बढाता है, क्योकि मिथ्या अज्ञान द्वारा ही मनुष्य अपना स्वतत्र अस्तित्व मानता है, दूसरी ओर अहकार क्रोध का सूचक है। ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् कपट के अतिरिक्त सभी पापो को माफ कर देते है। इसलिए प्रपत्ति के लिए मूलत अहकार का नाश अवश्य होना चाहिए। अहकार के नाश द्वारा ही प्रपत्ति के योग्य पूर्ण शरणागति सम्भवित है।[1]

प्रपत्ति द्वारा परम श्रेय की चार पूर्वावस्थाएँ निम्न है (१) ज्ञान दशा, अर्थात् वह अवस्था जिसमे गुरु के उपदेश से भक्त भगवान् के सम्बन्ध मे आत्म ज्ञान प्राप्त करता है (२) वरण दशा, इस अवस्था मे भक्त, निस्सहाय शरणागति भाव मे, भगवान् को ही एक ही मात्र रक्षक के रूप मे अपनाता है। (३) प्राप्ति-दशा, भगवान् की प्राप्ति की दशा, (४) प्राप्यानुभव दशा, अर्थात् भगवान् को पाकर वह परम श्रेय को पहुँचता है।[2]

प्रपत्ति का सिद्धान्त, अवश्य ही अत्यत पुरातन है। यह अहिर्बुध्न्य सहिता, लक्ष्मी तत्र, भारद्वाज सहिता और पचरात्र ग्रथ मे पाया जाता है। श्री वैष्णव के लेखक इसे तैत्तरीयोपनिषद्, कठोपनिपद् और श्वेताश्वतरोपनिपद्, महाभारत और रामायण

---

[1] एव भूतस्य शरीर-स्थिति-हेतु प्रारब्ध कर्मेति नवक्तु शक्यते सर्व-पापेभ्य मोक्ष-यिष्यामीत्य नेन विरोधात्।

—वही, हस्त०।

[2] श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

जैसे और पुराने ग्रन्थो मे खोजते है। अहिर्बुध्न्य सहिता मे प्रतिपादित प्रपत्ति का उल्लेख हो चुका है। भारद्वाज सहिता मे, प्रपत्ति को, भगवान् मे आत्मसमर्पण कहा गया है, और उसका वर्णन बहुत कुछ अहिर्बुध्न्य सहिता जैसा ही है। जो भक्त प्रपत्ति का मार्ग धारण करता है वह वैष्णवो के साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म से मुक्त नही होता। भारद्वाज सहिता मे इस मार्ग के प्रतिकूल एव अनुकूल कर्मों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है। रामानुज, अपने शरणागति गद्य मे, उस प्रपत्ति मार्ग का समर्थन करते है जिसमे भक्त केवल नारायण की ही शरण नही लेता किन्तु लक्ष्मी की भी लेता है। किन्तु शरणागति-गद्य या गीता की टीका मे भी यह उल्लेख नही है कि जिसने प्रपत्ति को अपनाया वह वर्णाश्रम तथा अन्य धर्मों से मुक्त है और न उनके समझाए अनुसार लक्ष्मी का कार्य प्रपत्ति के फल को देता है। भगवत् गीता के श्लोक द्वारा (सर्व धर्मान् परित्यज्य (१८-६६) समझाते हुए वे कहते हैं कि भक्त को अपने सभी साधारण धर्म बिना फलाशा के पालन करना चाहिए।[1] प्रारब्ध कर्मों के नाश के बारे मे भी रामानुज और वेंकटनाथ मानते हैं कि यद्यपि बहुत से भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाते है तो भी कुछ अश रह ही जाता है।[2] वात्स्यवरद, प्रपन्न

---

[1] वेंकटनाथ अपनी तात्पर्य दीपिका मे गीता पर रामानुज भाष्य (श्लोक १८-६६) पर कहते है ऐतच्छ्लोकापात-प्रतीत्या कूट युक्तिभिश्च यथा वर्णाश्रम-धर्म स्वरूप-त्यागादिपक्षो नोदेति तथा उपपादितम्।

[2] साध्य भक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसि। (शरणागति पद्य पर, वेकटनाथ की रहस्य रक्षा नामक टीका, पृ० ५०, वाणी विलास प्रेस, १९१०)।

न्यास विंशति और न्यास तिलक मे, जिसकी वेकटनाथ के पुत्र वरदनाथ की न्यायतिलक व्याख्या मे इस पर टीका की है प्रपत्ति का वर्णन लोकाचार्य के वर्णन जैसा ही है। प्रपत्ति दक्षिण वैष्णव-पथ का प्राचीन सिद्धान्त है और उसके मूल भूत गुण बहुत कुछ आत्यन्तिक हैं। न्यास तिलक व्याख्या मे इस पर बडा बल दिया गया है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए, प्रपत्ति, भक्ति से भिन्न मार्ग है और उससे श्रेष्ठ है। श्री वचन भूषण मे भक्ति को प्रपत्ति के मार्ग का मध्यस्थ मानने की प्रवृत्ति है। न्यास तिलक व्याख्या मे यह कहा है कि प्रपत्ति और भक्ति मे मुख्य भेद पहला यह है कि पहला निरन्तर ध्यान रूप है, जबकि दूसरा यह एक बारगी करना पडता है, दूसरा भेद यह है कि प्रारब्ध कर्म पहले से नष्ट नही होते जबकि दूसरे मे भगवान् की कृपा से वे नष्ट किए जा सकते है, तीसरा यह कि पहले मे अनेक सहायक पूजा पद्धति की माग रहती है—निरन्तर कर्म और निरन्तर प्रयत्न—जबकि दूसरे मे, अमाप श्रद्धा है चौथा भक्ति चिरकाल मे फल देती है, जबकि प्रपत्ति उन्ही के लिए है जो अचिरात् फल चाहते हैं, पाचवा, भक्ति के भिन्न उद्देश्य

पारिजात मे इसी विचार का अनुसरण करते है। वकटनाश भी, न्यास विशति मे, और न्याय तिलक मे, इसी मत की पुनरावृत्ति करते हैं, और अण्णाचार्य, वेदान्ती रामानुज के शिष्य इस मत का, अपने प्रपत्ति प्रयोग मे अनुसरण करते है। वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ भी न्यास तिलक व्याख्या और न्यासकारिका मे इस मत को दोहराते हैं। तेंगलाई पथ के नेता, लोकाचार्य और सौम्य जामातृ के मत इनसे इस बात मे भिन्न हैं कि उपरोक्त प्रपत्तिसिद्धान्त जबकि निम्न कोटि के लोगो के लिए ठीक हो सकता है, उच्च कोटि के भक्त जो भगवान् के प्रेम मे बिल्कुल उन्मत हो गए हैं, वे इसी मानसिक अवस्था के कारण कोई साधारण धर्म का पालन नही कर सकते और इसलिए उन्हे इनसे सर्वथा मुक्त कर दिया गया है। उनके प्रारब्ध कर्म भी, भगवान् की कृपा से सर्वथा नष्ट हो सकते है। वरगलै और तेगलै पथ मे अधिकतर भेद, तैंगले मत द्वारा उच्च प्रकार की प्रपत्ति पर बल देना ही है।

कस्तूरी रगाचार्य

कस्तूरी रगाचार्य, जो श्री रग सूरि भी कहलाते थे, सम्भवत सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे, और सम्भवत १५वी शताब्दी के अन्तिम भाग मे या सोलहवी के आरम्भ मे रहे होगे। रामानुज के मत मे अधिक परिवर्तन नही हुआ दीखता है जैसाकि शकर के मत मे पाया जाता है। रामानुज के अनुयायियो ने आगामी शताब्दी के अन्तर्गत, रामानुज के सिद्धान्तो का सरलार्थ करने मे और उनके सिद्धान्त की पुष्टि मे नए तर्क देने मे या उनके प्रतिवादियो के तर्को के खडन मे और दूसरी प्रणालियो के सिद्धान्तो मे दोष-दर्शन करने मे, लगभग सारा प्रयत्न लगा दिया। वेंकटनाथ द्वारा भक्ति का स्वरूप और मुक्ति का अन्तिम स्वरूप, और उनसे सम्बन्धित अन्य विषयो को

हो सकते हैं और तदनुसार भिन्न फल भी दे सकते है, जबकि प्रपत्ति, निस्सहाय शरणागति रूप होने से सभी फल तुरन्त ही लाती है। उत्कट श्रद्धा प्रपत्ति की नीव है। अनेक अवरोधो मे से, यह श्रद्धा और भगवान् के प्रति राग, भक्त को अपनी सिद्धि प्राप्त कराता है। इन कारणो से भक्ति मार्ग, प्रपत्ति से निम्न कोटि का है। गुरु के प्रति प्रपत्ति भगवान् मे प्रपत्ति का एक भाग माना गया है। श्री वचन भूषण और न्यास तिलक मे प्रपत्ति के विचार मे भेद यह है कि न्यास तिलक में, जिन्होने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उनके लिए भी शास्त्रोक्त विधि का त्याग और निषिद्ध कर्मो का वर्णन अनिवार्य माना है, क्योकि शास्त्र भगवान् के आदेश हैं। श्री वचन भूषण के अनुसार जिस मनुष्य ने प्रपत्ति का मार्ग अपनाया है, वह प्रपत्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति के कारण, शास्त्रोक्त धर्म पालन करने के लिए असमर्थ हो जाता है। वह इसलिए उनमे अतीत हो जाता है।

समझाने के प्रयत्न से अवश्य ही, साम्प्रदायिक मत भेद खड़ा हो गया। कुछ बाह्य कर्म-काण्ड मे भी, इसी समय से, भेद देखा जा सकता है। एक पथ[1] (वड कलै या उत्तर कलार्य) के अग्रणी वेंकटनाथ थे और दूसरा पथ (तेंगलै या दक्षिण कलार्य लोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि के नेतृत्व मे था।

कस्तूली रगाचार्य ने 'कार्याधिकरणवाद' और 'कार्याधिकरण तत्व' नामक दो ग्रन्थ रचे, जिनमे उन्होने इन दो पथो के महत्वपूर्ण भेदो का विवरण किया है और तेंगले या दक्षिणकलार्य पथ का समर्थन किया है। ब्रह्म सूत्र (४-३, ६-१५) के कार्याधिकरणवाद नामक विषय पर रामानुज के स्पष्टीकरण के अवसर पर एक विवाद खडा हो गया था। इस टीका मे, ज्ञान या उपासना द्वारा, निरपेक्ष अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है इस विषय पर उपनिषद् के पाठो से कुछ कठिनाइयाँ खडी हो गई। बादरी कहते है कि सर्जित किए जीवो मे महान् हिरण्यगर्भ की उपासना से नित्य अमरत्व प्राप्त होता है जैमिनि कहते हैं कि केवल परम ब्रह्म की उपासना से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है। बादरायण, तो उनके मतो का तिरस्कार करते हैं और इसमे मानते है कि जो लोग अपनी आत्मा को प्रकृति से स्वभावत पृथक् मानते हैं और ब्रह्म का अश मानते है, वे ही नित्य अमरत्व पाते है।

जो भौतिक गुणो से अपनी मूल भिन्नता अनुभव नही कर सकते, जिससे कि वे सयुक्त हुए दीखते हैं वे परम अमरता को प्राप्त नही कर सकते और उन्हे जन्म मरण के चक्र मे जाना पडता है। जो ब्रह्म से अपना सम्बन्ध योग्य प्रकार से समझकर उपासना करते हैं वे ही परम अमरता प्राप्त करते है। रगाचार्य ने उपासना का स्वरूप गीता मे कहे अनुसार ब्रह्म की श्रद्धापूर्वक उपासना के रूप मे वर्णित किया है। (श्रद्धापूर्वकम् ब्रह्मोपासनम्)। श्रद्धा साधारण अर्थ मे विश्वास कहा जाता है। रगाचार्य और तैंगले पथ के विचारको द्वारा श्रद्धा विशेष अर्थ मे प्रयुक्त की गई है। इस प्रकार, पहली अवस्था भगवान् के उदार और श्रेष्ठ गुणो का पूर्ण अनुभव है, दूसरी अवस्था, इस अनुभव से राग की उत्पत्ति है, तीसरी अवस्था, भगवान् को अतिम उद्देश्य के रूप में मानना और उन्हे हमारे स्वरूप की पूर्णता समझाना है, चतुर्थ अवस्था उन्हे हमारे जीवन का एक मात्र प्रिय जन मानना है, पाचवी अवस्था, उनसे तीव्र प्रीति के कारण उनके वियोग को अशक्य अनुभव करना है, छठी अवस्था भगवान् हमारी परिपूर्णता का एक मात्र साधन है ऐसा अखड विश्वास है, और सातवी और अन्तिम

---

[1] सर्वासु विप्रतिपत्तिषु पूर्वा कक्ष्या वेदान्ताचार्य-तदनु-
सन्धिनाम् उत्तराकक्ष्या-सेज्ञानाम् उत्तरा त
लोकाचार्य-तदनुसन्धिना दक्षिण कलार्य सज्ञानामिति विवेको बोध्य ।
—कार्यकारणाधिकरण वाद, ८२ ।

अवस्था, उन्हे दृढता से ग्रहण करने के लिए उद्यत होना है। श्रद्धा सातवी अवस्था है जो पिछली सभी अवस्थाओ के साथ उन्हे एकाकार करने वाली अवस्था है। इस श्रद्धा के साथ भगवान् की उपासना को भक्ति भी कहा जाता है। भगवान की उपासना उनके प्रति अथाह प्रीति है (प्रीतिरूपोपगान्तत्व-लक्षणम्)। भौतिक तत्वो से हमारे स्वरूप की भिन्नता का अनुभव ही केवल पर्याप्त नही है। जो पचाग्निविद्या-पद्धति का अनुसरण करते है उन्हे विवेक ज्ञान ही मिलता है, वे भगवान् को अपनी परिपूर्णता का अन्तिम ध्येय नही समझते।

उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य के बीच विवाद का पहला विषय कैवल्य के स्वरूप के बारे मे है, जिसके अनुसार आत्मानुभव ही पुरुपार्थ है (आत्मानुभव-लक्षण-कैवल्याख्या-पुरुपार्थ)। उत्तरकालार्य के अग्रणी, वेंकटनाथ, यह सोचते हैं कि जो लोग ऐसी मुक्ति पाते है उन्हे पुन वापस आना पडता है, अर्थात्, ऐसी मुक्ति नष्ट होती है। दक्षिण कलार्य, पथ तो इसे नित्य मुक्ति मानता है। इस प्रकार, वेंकटनाथ, अपने 'न्याय सिद्धाजन' मे, कहते हैं कि भौतिक तत्वो से भिन्न ऐसा आत्मानुभव पर्याप्त नही है, किन्तु यह, आत्मा भगवान् का अश है और उनके सर्वथा अधीन है, और यह मत श्रीभाष्य मे माना गया है।[1] वे अपना स्वरूप आनन्द रूप अनुभव करना और भगवान् के आनन्दमय स्वरूप को अनुभव करने मे भेद करती हैं। पहला दूसरे के बिना हो सकता है। यह मानना पडता है कि कैवल्य मे अचित् ससर्ग रहता है, क्योकि यहाँ कम का सर्वथा नाश नही होता, क्योकि अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना, अपने को भगवान् का अश समझना है, और जहाँ तक इसकी प्राप्ति नही होती वहाँ तक हम माया से प्रभावित है। ऐसे पुरुषो को भगवान् के दर्शन मे माया अवरोध करती है। जिन्होने कैवल्य प्राप्त किया है उनकी गति क्या होती है–इस विषय मे वेंकटनाथ तो कुछ भी निश्चित रूप से नही कह सकते। वे केवल यह प्रतिपादन करते

---

[1] परम पुरुप-विभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मन स्वरूप-याथात्म्य वेदनमपवर्ग-साधनाभूत-परम पुरुष वेदनोपयोगितया आवश्यकम्। न स्वत एव उपायस्वे नेत्युक्तम्।

—न्याय सिद्धाजन, पृ० ८२।

वेंकट अपने मत की पुष्टि के लिए वरद विष्णु मिश्र का उल्लेख करते है 'नि शेष कर्म क्षयाभावात् कैवल्य-प्राप्तौ न मुक्ति।'

वे 'भगति माला' का उल्लेख करते है जहाँ विष्णुचित्त कहते है कि मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी ऐसी गलतियाँ कर सकता है कि सच्ची ब्रह्मा-वस्था प्राप्त करने के बजाय वह कैवल्य की निम्नावस्था प्राप्त कर ले जैसेकि कोई स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ करता हुआ ऐसी गलती कर दे कि वह स्वर्ग प्राप्त करने के बजाय ब्रह्म राक्षस बन जाय। —वही, पृ० ८४।

हैं कि वे नित्य बाह्य स्थिति प्राप्त नही कर सकते। वे इस बारे में भी अनिश्चित हैं कि कैवल्य-प्राप्त पुरुषो का देह से ससर्ग रहता है या नही। उन्हें इसका भी ज्ञान है कि कैवल्य के बारे में उनका स्पष्टीकरण सभी शास्त्र पाठो से युक्ति सगत नही है, किन्तु वे सोचते हैं कि जबकि कुछ शास्त्र पाठ उनके मत का समर्थन करते हैं तो अन्य पाठो को भी उसी दृष्टि से देखना चाहिए।

कस्तूरी रगाचार्य तो प्राचीन द्रविड ग्रन्थो के प्रमाणानुसार और गीता तथा अन्य ग्रन्थो के आधार पर यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म-ज्ञान से मुक्ति पाने वाले, निरपेक्ष अमरता को प्राप्त होते है। आत्म-ज्ञान द्वारा मुक्ति तथा भगवान् से सम्बन्ध रखते हुए आत्म-ज्ञान के बीच केवल भेद, अनुभव की महानता तथा प्रचुरता मे ही है, पिछला पहले से इसी दृष्टि से उच्च है।[1] उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य मे अन्य भेद उपरोक्त कहे गए विषयो से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इनका विवरण कार्याधिकरणवाद के दूसरे प्रकरण मे, निम्न प्रकार से दिया गया है। उत्तरकालार्यवादी सोचते हैं कि जो आत्म ज्ञान की मुक्ति कैवल्य के रूप मे प्राप्त करते हैं वे अन्तिम मुक्ति पाने वाले पुरुषो से, अन्य प्रणाली मे होकर उच्च लोक को प्राप्त करते हैं। दक्षिण कलार्यवादी इसे अस्वीकार करते हैं। दूसरा, पहले मतवादी यह मानते है कि प्रकृति के तत्वो से नितान्त पृथक् हो जाना मुक्ति के समान है, पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते है, तीसरा, उत्तरकलार्य, मानते हैं कि जो कैवल्य प्राप्त कर लेते है वे सूक्ष्म अचित् अशुद्धताओ से सम्बन्धित रहते है, उन्हे दूरस्थ अर्थ मे ही मुक्ति प्राप्त है ऐसा माना जा सकता है। दक्षिण मतवादी इसे चाहते हैं। चौथा, पहले मत के अनुसार, जो कैवल्य प्राप्त करते हैं उनका स्थान प्रकृति के अचित् जगत् के क्षेत्र मे ही रहता है इसलिए उनकी अवस्था परिवर्तनशील रहती है, किन्तु पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते है। पाचवा, पचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वे कैवल्य प्राप्त पुरुषो से भिन्न होते हैं ऐसा उत्तरकलार्य मानते हैं, किन्तु दक्षिण कलार्य कहते हैं ऐसा और नही भी हो सकता है। छठा, उत्तरकलार्य यह मानते हैं कि जब कोई पचाग्नि-विद्या द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे भौतिक जगत् (प्रकृति) के क्षेत्र मे ही रहते हैं जब वे केवल आत्म-ज्ञान ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जब वे ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब वे प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं, दक्षिण कलार्य ऐसा नही मानते। सातवा, उत्तरकलार्य का यह कहना है कि पचाग्नि-विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो भगवान् से अपना क्या सम्बन्ध है इसे जानते हैं उनमे समान गुण-धर्म होते हैं, दक्षिण कलार्य इसे नही मानते है। आठवा, पहले यह मानते है कि

---

[1] कार्याधिकरणवाद, ३ ७६। कस्तूरी रगाचार्य द्रविड और सस्कृत ग्रन्थो के इस मत के समर्थन में, बहुत से उद्धरण देते हैं।

प्रकृति के अतीत होने पर, स्वानुभव मे कोई भेद नही हो सकता, किन्तु दक्षिण कलार्य इसे भी नहीं मानते।[1]

अपने कार्याधिकरण तत्व मे, रगाचार्य उन्ही तर्कों को और उन्ही विषयो पर विवेचन करते हैं जो कार्याविकरणवाद मे हैं।

शैल श्री निवास

शैल श्रीनिवास, श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र कौण्डिन्य श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता अन्वयार्य दीक्षित के ग्रन्थो से बहुत प्रभावित थे, उनके कुछ ग्रन्थ, अपने बडे भाई द्वारा लिखे ग्रन्थो के विस्तार ही है। उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे उनमे से 'विरोध भजनी' एक है। शैल श्रीनिवास ने कम से कम छ ग्रन्थ रचे, 'विरोध निरोध,' 'भेद दर्पण,' 'अद्वैत वन कुठार,' 'सार दर्पण,' 'मुक्ति दर्पण,' 'ज्ञान रत्न दर्पण,' 'गुण दर्पण' और 'भेद मणि'।

'विरोध निरोध' मे, जो सम्भवत उनका अन्तिम ग्रन्थ है, वे मुख्यत. शकर-अनुयायियो द्वारा रामानुज के सिद्धान्तो पर की हुई आलोचनाओ को, तथा अन्य वेदान्त के लेखको की आलोचनाओ को, जैसेकि रामानुज के सिद्धान्त शास्त्र प्रमाणित नही है—यह बताकर, समझाने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र रामानुज के पक्ष में है, अन्य वेदान्त मतो के पक्ष मे नही है।

'विरोध निरोध' के पहले अध्याय मे, शैल श्री निवास, सबसे पहले, इस मत को लेते है कि ब्रह्म जगत् का उपादान एव निमित्त कारण है–जो उनके अनुसार तभी सम्भव है जबकि ब्रह्म चित्-अचित्-विशिष्ट हो (ब्रह्मणि चिदचिद् विशिष्टरूपतामन्तरेण न घटते)। ब्रह्म स्वरूप से अपरिणामी है किन्तु चित् और अचित् अशो मे परिणामी है। ब्रह्म कारण रूप से, चित् और अचित् की सूक्ष्म अवस्था से सम्बन्धित है, जब वह परिणत होता है, जीव, कर्म-परिपाक के कारण ज्ञान की भिन्न अवस्था मे विकास और विस्तार करते हैं और अचित् गोचर जगत् के रूप मे स्थूल अवस्था मे परिणत होता है, इन दोनो मे अतर्यामी रूप मे भगवान् का अश, इतना ही परिणाम को पाता है जितना इन दो परिणामी तत्वों के सयोग द्वारा सम्भव है।[2]

[1] कार्याधिकरणवाद, २-७।

[2] अचिदशस्य कारणावस्थाया शब्दादि विहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्त्वया स्वरूपान्यथाभावरूप-विकारो भवति उभय प्रकार-विशिष्टे नियन्तरि तदवस्था तदुभय-विशिष्टता-रूप विकारो भवति।

–विरोध निरोध, हस्त०।

शास्त्र जब ब्रह्म को अपरिणामी कहते हैं तब उनके कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीव और जड कर्म द्वारा परिणाम पाते है उस प्रकार वह परिणाम नही पाता। किन्तु इससे ब्रह्म उपादान कारण है यह असिद्ध नहीं होता।[1] ब्रह्म के दो अश है एक द्रव्यगत दूसरा विशेषणात्मक। द्रव्यात्मक भाग, उसके सूक्ष्म अचिदश द्वारा, स्थूल अचित् अश, उससे अपृथक् होने के कारण, उसमे समाविष्ट रहता हुआ माना गया है। ब्रह्म का चिदश भी है जो विचार अनुभव द्वारा वृहत् होता है और जीव रूप व्यवहार करता है। इस प्रकार ब्रह्म चित् अचित् अश द्वारा विकार पाता है और इस दृष्टि से भगवान् अपने दो अश द्वारा तथा अन्तर्यामी रूप से स्वतन्त्र सम्बन्धित होकर, विकासात्मक है। वेंकटनाथ से विपरीत, शैल श्रीनिवास मानते हैं कि यह कारण विकार, साख्य-परिणाम जैसा है,[2] विकार का अर्थ यहाँ अवस्था-परिवर्तन से है। वह इस प्रकार साक्षात् चित् और विचारात्मक (आध्यात्मिक) अश में परिणत होता है और नियता रूप से परोक्ष रूप से परिणत होता है, यद्यपि वह स्वय नित्य रहता है। इस पर कि यदि चित् और अचित् विकारी होते हुए माने गए है तो ब्रह्म को उनसे विशेषित होकर कारण मानने का कोई अर्थ नही है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को शास्त्र-प्रमाण के आधार पर कारण माना गया है। जहाँ तक ब्रह्म नियता और अपने मे अपरिणामी रहता है, उसे निमित्त कारण माना है।[3]

दूसरे अध्याय मे, शैल श्रीनिवास रामानुज के जीव-सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचनाओ का उत्तर देते हैं और कहते हैं कि जीव का अज्ञान और ज्ञान की वृद्धि से सकुचन तथा विकास यह अनुमित नही करता कि वह अनित्य है, क्योकि अनित्यता या विनाश उसी मे कहा जा सकता है जिसमे अवयवो का घटना-बढना होता है (अवयवोपचयापचयोरेव अनित्यत्व-व्याप्यतया)। ज्ञान अखड है इसलिए उसमे वास्तव मे विकास या सकुचन नही हो सकता। सकुचन या व्यापन, वास्तव मे, कर्म के प्रभाव के कारण, ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है या दीप के प्रकाश की तरह

[1] चिदचिद्गतकर्माद्यधीनविकारत्व निर्विकारत्व-श्रुतिर्निषेधति इत्येतादृश जगदुपादानत्व नसा श्रुतिर्बाधते। —वही।

[2] विशिष्ट ब्रह्मकारणम् इत्युक्त तेन कार्यमपि विशिष्टमेव तत्र च ब्रह्मण उपादानत्व विशेषणाश विशेष्याश प्रति तत्र चाचिदश प्रति यदुपादानत्व तत् सूक्ष्मावस्था चिदश-द्वारक तत्र तत्र द्वारभूता चिदश-गत-स्वरूपान्यथाभाव रूप एव विकार स च अपृथक् सिद्ध वस्तु गतत्वात् ब्रह्मज्ञानोऽपि एव च साख्याभिमतो पादान ताया सिद्धान्तेऽप्यनपायात् न कोऽपि विरोध।

—विरोध निरोध।

[3] तेन तदेव अद्वारक निमित्त सद्वारकम् उपादानम्। —वही।

विषय के साथ सम्बन्ध का विस्तार है; कर्म इसलिए उपाधि माना गया है जो ज्ञान की विषय के प्रति गति को मर्यादित करता है, यही कारण है कि उसे आलंकारिक भाषा में सकुचन कहा है। ज्ञान के इस स्वरूप के कारण कि वह, कर्म द्वारा अवरुद्ध न होते हुए भी सारे शरीर में व्याप्त है और सभी दुःख और सुख को ग्रहण कर सकता है, यद्यपि ज्ञान आत्मा में है जो अणु है। इस प्रकार, ज्ञान विभु है।[1] ज्ञान भी स्वरूप से नित्य है यद्यपि वृत्ति दृष्टि से परिवर्तनशील है।

तीसरे प्रकरण मे, श्रीनिवास इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि जीव उत्पन्न होते है या नित्य हैं, वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे स्वरूप से अजन्मा हैं। किन्तु अपने ज्ञान की विशिष्ट दशा की दृष्टि से वे उत्पन्न भी कहे जा सकते हैं।[2] नित्य ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान की व्याप्ति या सकुचन की दृष्टि से ही सम्भव है जो शरीर तथा अन्य सहकारियो की क्रिया से है। इसी अर्थ में ज्ञान यद्यपि नित्य होते हुए भी, अपनी अनेक अभिव्यक्तियो द्वारा उत्पन्न होता है।

चौथे प्रकरण मे, श्रीनिवास उसी प्रश्न की विवेचना करते हैं जिस पर उपनिषद् भी आग्रह करते हैं कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। वे सत्य और शकर के मतो की आलोचना करते हैं और यह मानते हैं कि एक के ज्ञान का अर्थ ब्रह्म के ज्ञान से है, जो चित् और अचित् से सम्बन्धित होने से, इन दोनो के ज्ञान का भी समावेश करता है। इस विषय पर उनकी विवेचना आखिर तक शास्त्र पाठों के अर्थ के आधार पर की गई है।

पाचवें प्रकरण मे, श्रीनिवास जीव किस प्रकार कर्ता कहा जा सकता है इसे समझाते हैं। कर्तृत्व वह प्रयास है जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है (कार्यानुकूल-कृतिमत्त्वम्)। रामानुज-मत में प्रयत्न एक विशेष बौद्धिक अवस्था है और इसलिए जीव में हो सकती है और इसलिए प्रयत्न जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है वह भी जीवगत है जो स्वरूप से नित्य होते हुए भी, अवस्था-दृष्टि से परिणामी है।[3] जीव का कर्तृत्व तो अवश्य, भगवान् द्वारा नियमित रहता है, यद्यपि कर्म का भोग जीव ही

[1] वही।

[2] तत्र निषेध विधवादिवत् जीवस्वरूपोत्पत्तिं प्रतिषेधन्ति उत्पत्ति-विधयास्तु स्वासाधारण-धर्मभूत-ज्ञान-विशिष्ट-वेषेण उत्पत्तिं वदन्ति।
—विरोध निरोध, ३८०।

[3] प्रयत्नादेर्बुद्धि-विशेषरूपतया कार्यानुकूलकृतिमत्त्वरूपादि कर्तृत्वस्य ज्ञानविशेषरूपतया तस्य स्वाभाविकतया स्वात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्य अनित्यत्वात्।
—वही।

आक्षेप निरर्थक है, क्योंकि जो निमित्त कारण है वह उपादान कारण नही हो सकता यह निश्चित करना कठिन है। क्योंकि कुम्हार का चाक, यद्यपि अपने से निमित्त कारण है तो भी वह अपने आकार और रूप इत्यादि का उपादान कारण है। इसलिए वे दोनो एक ही पदार्थ मे साथ नही रह सकते, ऐसा विचारने का कोई आधार नही है। आगे यह विवाद किया जा सकता है कि एक ही वस्तु, दूसरी को उत्पन्न करने मे उपादान और निमित्त कारण नही हो सकती। उत्तर यह दिया जा सकता है कि दड की आन्तरिक रचना, अपने आकार का उपादान कारण है और साथ ही साथ दूसरी वस्तुओ के सम्बन्ध मे विनाश का निमित्त कारण है। अथवा ऐसा विवाद किया जाय कि काल वस्तुओ की उत्पत्ति एव विनाश दोनो का कारण है (काल-घट-सयोगादिक प्रति कालस्य निमित्तत्वात् उपादानत्वाच्च)। इस पर व्यक्त उत्तर यह होगा कि एक ही वस्तु का उपादान या निमित्त कारण रूपी व्यवहार विशिष्ट परिस्थिति एव प्रसग से मर्यादित होता है। पृथक् विशिष्ट परिस्थिति का सम्बन्ध कारण के स्वरूप मे परिवर्तन कर देता है और इसलिए एक ही वस्तु उपादान एव निमित्त कारण दोनो ही है यह कहना अयथार्थ होगा। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के कारणत्व के विचार मे, यह आक्षेप अधिक कठिनाई उत्पन्न कर देता है क्योकि हमारे मतानुसार, ब्रह्म स्वस्वरूप से निमित्त कारण और स्वभाव (वेप) से वह अचित् और चिद्रूप माना जा सकता है। उसे उपादान कारण भी माना जा सकता है।[1] कभी-कभी यह आक्षेप किया जाता है कि यदि ब्रह्म जैसाकि श्रुति मे कहा गया है अपरिणामी है तो ब्रह्म का, निमित्त और उपादान कारण होने से, परिणाम से किस प्रकार सम्बन्ध सोचा जा सकता है और परिणाम देह के सम्बन्ध से ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, भगवान् का शरीर से सम्बन्ध न तो सादृश्य है और न मन कल्पना-सृष्टि है। शरीर का सामान्य अर्थ यह होता है वह कोई चेतन वस्तु द्वारा नियन्त्रित है।[2] इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण स्वय अपरिणामी रह सकता है और अपने द्विविध शरीर-द्रव्यो मे परिणामो का कारण हो सकता है। आक्षेप यह है कि जड जगत् प्राणियो के शरीर से इतना भिन्न है कि उसे शरीर कहना अनुचित होगा। उत्तर यह दिया जाता है कि प्राणियो के शरीरो मे बहुत प्रकार की

[1] एव हि ब्रह्मण्यपि नोपादानत्व निमित्तयो विरोध, तस्य चिदचिद विशिष्ठ वेषेण उपादानत्वात् स्वरूपेण निमित्वाच्च। तत्तदवच्छेदक भेद प्रयुक्त तद्भेदस्य तस्य तत्रापि निष्प्र त्यूहत्वात्।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य तत्तस्य शरीरम्।

—वही।

यह विषय श्री शैल निवास द्वारा सार दर्पण मे विस्तार से कहा गया है।

भिन्नताएँ है जैसेकि मनुष्य का शरीर और अणु कीट का शरीर। इस परिस्थिति मे हमे शरीर की एक सामान्य परिभाषा स्वीकार करनी पडती है जो व्यक्तिगत भेद को छोडकर सभी शरीरो के लिए प्रयुक्त हो सकती है। उपरोक्त दी हुई परिभाषा सभी प्राणियो के शरीर के तथा ब्रह्म के शरीर रूप मे जगत् के सप्रत्यय के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यह 'अतर्यामी ब्राह्मण' के श्रुतिपाठ से भी समर्थन पाता है जहाँ जगत् को ब्रह्म का शरीर कहा है। यदि श्रुति-समर्थित देह की परिभाषा, हमारे जगत् के साधारण से ज्ञान से भिन्न दीखती हो जिससे हमे, जगत् शरीर है ऐसा प्रकट नहीं होता तो ऐसी अवस्था मे श्रुति प्रमाण मान्य समझना चाहिए, क्योकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या कहकर समझाया जा सकता है किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा एव श्रुति-प्रमाण की अवज्ञा नही की जा सकती। हमारा सामान्य प्रत्यक्ष सर्वदा प्रमाण नही होता। हम चद्र को छोटी थाली के परिमाण मे देखते हैं जबकि श्रुति-प्रमाण उसे बहुत बडा बताती है। जब दो प्रमाणो मे विरोध होता है तब अनन्यथा सिद्धत्व के आधार पर एक या दूसरे पक्ष मे निर्णय करना पडता है। जो प्रमाण अनन्यथा सिद्ध है उसे स्वीकारना पडता है और जो ऐसा नही होता उसे पहले प्रमाण के अधीन होना पडता है। कभी-कभी श्रुति का, इसलिए इस प्रकार बोधार्थ करना पडता है कि वे प्रत्यक्ष को बाधित न करे, जबकि अन्य प्रसगो मे प्रत्यक्ष प्रमाण को, श्रुति के बल पर त्याग देना पडता है। यह भी नही कहा जा सकता कि पिछले प्रमाण का साक्षित्व बलवत्तर होगा, क्योकि अनेक गलतिया हो सकती है जिन प्रसगो मे उक्त प्रमाणो मे कोई भी असदिग्धता नही हो सकती। पुन, केवल प्रमाणो को इकट्ठा करने मे कोई शक्ति नहीं है क्योकि एक अधा दूसरे को निदर्शन करे वहाँ प्रमाणो की बहुलता असदिग्धता नही लाती।[1] प्रमाणो के विरोध होने पर सशय का निवारण और असदिग्धता की प्राप्ति अनन्यथा सिद्धत्व सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त की जाती है। जो अनन्यथा सिद्ध है उसे अन्यथा सिद्ध से बलवत् मानना चाहिए।[2] हमारा ज्ञान अपनी ही उपाधियो से मर्यादित है और इसलिए वह यह विवेक नही कर सकता कि जगत् वास्तव मे पर ब्रह्म की देह है, और इसलिए वह श्रुति प्रमाण का बाध नही कर सकते जो जगत् को भगवान का शरीर कहते है। शुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन करती श्रुतियाँ केवल ब्रह्म के द्वैत का निरसन करने के लिए ही कही गई है किन्तु उनका जगत् ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार बोधार्थ किया जा सकता है। द्वैतवाद के अस्वीकार का यही

---

[1] नव परत्वादुत्तरेण पूर्वबाध इति युक्तम्, धारावाहिक-भ्रम-स्थले व्यभिचारात् अत एव न भूयस्त्वमपि निर्णायक शतान्धन्यायेन अप्रयोजकत्वाच्च।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] अनन्यथासिद्धत्वमेव विरोध्यप्रामाण्य-व्यवस्थापकतावच्छेदकमिष्यते।

—वही।

अर्थ है कि ब्रह्म जैसा अन्य कोई नही है। इस प्रकार चित् अचित् रूप ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और इच्छा और विचार के रूप मे ब्रह्म, जगत् का निमित्त कारण है। ब्रह्म मे यह द्विविध कारणत्व उपरोक्त कही ब्रह्म की दो अवस्थाओ को लक्ष्य करता है जो ब्रह्म से एक साथ सत्ता रखती है।[1]

वेदान्त ग्रन्थो मे पचमी विभक्ति द्वारा एक कथन है जिसके अनुसार जगत् उपादान कारण रूप से ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। पचमी विभक्ति सर्वदा कारणत्व को लक्ष्य न कर उपादान को ही करती है।[2] किन्तु यह भी निर्देश किया जाता है कि कार्य कारण से उत्पन्न है और यह आक्षेप किया जा सकता है कि जगत् ब्रह्म के अन्दर और बाहर न होने से, वेदान्त-ग्रन्थ मे पचमी का प्रयोग न्याय-सगत नही हो सकता। इसका उत्तर यह है कि उपादान कारण का विचार या पचमी के प्रयोग से यह आवश्यक नही है कि कार्य उत्पन्न होना चाहिए और कारण से देश-काल-दृष्टि से भिन्न होना चाहिए। इसका यद्यपि यह अर्थ माना जाता है तो भी यह सोचा जा सकता है कि ब्रह्म मे चित् और अचित् के रूप मे सूक्ष्म अश व्यक्त है और इन्ही मे से जगत् व्यक्त रूप से उत्पन्न हुआ है। ऐसे परिणाम का अर्थ यह नही होता कि कार्य कारण से बाहर व्यक्त होना चाहिए क्योकि जब समस्त कारण द्रव्य का परिणाम हो जाता है तो कार्य कारण से, देश दृष्टि से बाह्य नहीं हो सकता।[3] यह सच है कि सभी उपादान कारणो का रूपान्तर होता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मे इस बारे मे कोई कठिनाई नही है क्योकि विशिष्टाद्वैत मे यह माना गया है कि ब्रह्म का रूपान्तर होता है और ब्रह्म अचिद् एव चिद् रूप शरीर के सम्बन्ध मे ही नियमित होता है। भगवान् अपने सकल्प से ही निमित्त कारण है और सकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान है।

---

[1] सर्व शरीर-भूताविभक्त-नाम रूपावस्थापन्न-चिदचिद्-विशिष्ट वेषेण ब्रह्मणः उपादानत्व तदुपयुक्त-सकल्पादिविशिष्ट स्वरूपेण निमित्तत्व च निष्प्रत्यूह मिति निमित्तत्वोपादानत्वयोरिहा पच्य वच्छेदकभेद-प्रयुक्त-भेदस्य दुरपह्नवत्वात्तयोरेकाश्रय-वृत्तित्वस्य प्रागुपपादित्वात् न ब्रह्मणो अभिन्न-निमित्तोपादानत्वे कश्चिद् विरोध।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

[2] यथा-यतो इमानि भूतानि जायन्ते।

[3] उपादानत्व स्थलेऽपि न सर्वत्र लोकेऽपि विश्लेष कृत्स्न-परिणामे तदसम्भवात् किंत्वेकदेश-परिणाम एवेति तदभिप्रायक प्रत्याख्यान वाच्यम्। तच्चेहापि सम्भवति विशिष्टैक-देश-परिणामागीकारत्। अतो न तद् विरोधे, किंच सूक्ष्म-चिदचिद्-विशिष्टभुपादानत्वम् इति वक्ष्यते तस्माच्च स्थूलावस्थस्य विश्लेषो युज्यते विश्लेषो हि न सर्वात्मना कारण-देश-परित्याग।

—वही, हस्त।

श्री शैल निवास 'भेद दर्पण' मे विशिष्टाद्वैत मत के सभी मुख्य वादो का उपनिषद् तथा अन्य श्रुति ग्रन्थो द्वारा अनुमोदन करते हैं। उपरोक्त कहे गए अन्य ग्रन्थो में वे उन्ही विषयो पर विवाद करते हैं जो विरोध निरोध मे किए गए हैं, किन्तु उनके विवाद का ढग यहाँ कुछ भिन्न है। जिस विषय को एक ग्रन्थ मे सक्षिप्त रूप से कहा है उसे दूसरे मे विस्तार मे कहा गया है, जैसेकि कारणत्व की समस्या 'सिद्धान्त चिंतामणि' का मुख्य विषय है यद्यपि वह 'विरोध निरोध' मे अश मात्र ही कहा गया उनका 'नय द्युमणि सग्रह,' गद्य पद्य मे, उनके 'नयद्युमणि' नामक वृहत् गद्य का सक्षिप्तीकरण है जिसका वे 'नयद्युमणि सग्रह' मे बहुधा उल्लेख करते हैं। श्री शैल निवास ने 'नयद्युमणि दीपिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है जो 'नयद्युमणि सग्रह' से बडा है। सम्भवत वह 'नयद्युमणि' से छोटा है जिसे वे, बडा ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख करते है।[1] 'नयद्युमणि दीपिका' तथा 'नयद्युमणि सग्रह' मे दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण विषय नही है वे सामान्यत सुदर्शन सूरि कृत 'श्रुत प्रकाशिका' मे दिए गए विषयो को ही स्पष्ट करते है। उन्होने 'आंकार वादार्थ,' 'आनन्दतारतम्य खण्डन,' 'अरुणाधिकरण-सारणी-विवरणी' और 'जिज्ञासा दर्पण' भी लिखे। वे सभवत १५वी शताब्दी मे विद्यमान थे।

श्रीनिवास ने पहले 'सारदर्पण' लिखा और फिर 'सिद्धान्त चिन्तामणि' और 'विरोध निरोध' लिखे। वास्तव मे उनका 'विरोध निरोध' यदि वह अन्तिम ग्रन्थ न हो तो अन्तिम ग्रन्थो मे से एक है। पहले अध्याय मे वे उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं जिसका 'सिद्धान्त चिन्तामणि' मे है, और वे ब्रह्म, जगत् का उपादान और निमित्त कारण है इसे समझाने का प्रयास करते हैं। दूसरे अध्याय मे, वे इस मत का विरोध करते हैं जिसके मतानुसार ज्ञान से सम्बन्धित जीव या ज्ञान स्वरूप जीव, भगवान् को जगत् के रूप मे अभिव्यक्ति के साधन हैं। आक्षेपकार यह कहता है कि विचार गतिशील है जो सकोच या विस्तार करता रहता है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नही हो सकता जो नित्य है। जैन दर्शन मे आत्मा जिस शरीर को वह धारण करता है उसके अनुसार घटता-बढता है ऐसा माना गया है, यहाँ उचित रूप से आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा के ऐसे मत के अनुसार आत्मा अनित्य ही मानना पडेगा। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत मे केवल विचार को घटता-बढता माना गया है। विचार का घटना-बढना यही अर्थ रखता है कि वह कम या ज्यादा वस्तुओ को ग्रहण करता है और यह विचार इस विचार से भिन्न है जिसके अनुसार एक वस्तु अगो के योग या ह्रास से छोटी-बडी होती है। विचार का सकोच या विस्तार कर्मानुसार है और इसलिए उसे अनित्य नही माना जा सकता। ज्ञान अपने स्वरूप से ही अवयव-रहित

---

[1] दुर्भाग्यवश यह 'नयद्युमणि' लेखक को हस्तगत न हो सका।

और सर्वव्यापी है, उसका सकोच पाप-कर्मों द्वारा है जो बहुधा माया या अविद्या रही है।[1] विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान को, न्याय-मतानुसार उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु वे उसे नित्य होते भी आगन्तुक धर्मवत् मानते हैं। पृथ्वी अपने स्वरूप से नित्य है और नित्य रहते हुए भी उसका घडे इत्यादि के रूप मे रूपान्तर होता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता का विचार, ज्ञान की नित्यता के विचार मे भिन्न है, क्योंकि ज्ञान का सर्वव्यापी होते हुए भी अवरोध के कारण जो विषय से सम्बन्ध होने मे बाधा डालते है, रूपान्तर होता रहता है।[2] सर्वव्यापी सम्बन्ध ज्ञान का आवश्यक लक्षण है, किन्तु उपरोक्त लक्षण अवरोध के कारण बाधित होता है जिसके फलस्वरूप सबध मे भी रुकावट उत्पन्न होती है। इसी ज्ञान की रुकावट और बढोतरी की क्रिया को ज्ञान का विस्तार अथवा सकोच माना जाता है। मूलत ज्ञान का लक्षण अनादि आत्मा है, किन्तु व्यवहार मे ज्ञान स्मृति, दृष्टि और विचार आदि परिवर्तनशील लक्षणो से जाना जा सकता है। अत ज्ञान के भावपक्ष और व्यवहार पक्ष का भेद समझना आवश्यक है। जैन मत का इस प्रश्न पर यह आक्षेप है कि विचार के विस्तार अथवा सकोच के लिए अज्ञान की विशेष स्थिति की मान्यता अनावश्यक है क्योंकि आत्मा कर्म के प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तनशील प्रतीत होता है। इसके प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि वेदादि शास्त्रो मे आत्मा को अपरिवर्तनशील माना है, अत अज्ञान की अतिरिक्त स्थिति के आधार पर ही परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञान को शुद्ध भाव अथवा आत्म तत्व ही कहा जायगा और ज्ञान को आत्मा का धर्म अथवा लक्षण या प्रकार कहना असगत है। क्योंकि ज्ञान सर्वव्यापी है और अवरोध के फलस्वरूप इसका परिवर्तन होता है। अत आत्मा अनादि है किन्तु जब ज्ञान के सम्बन्ध के प्रकाश मे इसका विस्तार अथवा सकोच होना जाना जाता है तब यह प्रतिभासित ज्ञान अशाश्वत प्रतीत होता है।[3] ज्ञान स्वय मे कोई उत्पन्न नही है, अत ज्ञान अखण्ड है और शाश्वत है। अत अनित्य केवल सम्बन्ध के फलस्वरूप सापेक्ष स्थिति है, और यह आत्मा का कोई धर्म अथवा लक्षण नहीं है।

[1] ज्ञानस्य स्वाभाविक प्रसरणशीलाधिपस्तु सकोच, उपाधिस्तु प्राचीन कर्म एव।
—विरोध निरोध, पृ० ३९, ४० हस्त ।

[2] न हि यादृशम् आत्मनो नित्यत्व तादृग् ज्ञानस्यापि नित्यत्वम् अभ्युपगम्यते [illegible] व्यापार वैयर्थ्य प्रसगात्। किन्तु तार्किकाभिमतात् ज्ञानस्य आगन्तुक धर्मत्वात् नि[illegible] [illegible] आत्मनो नित्यत्वमागन्तुकावस्थाश्रयत्व च, तेन रूपेण नित्यत्व तु घटाद्यवस्थाविशिष्टरूपेण मृदादेरिव द्रष्टव्य।
—विरोध निरोध, पृ० ४८ ।

[3] नित्यानित्य विभाग-[illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] दोष ।
—विरोध निरोध (हस्त०) ।

इसका उत्तर यह है कि चिदचिद् जिस प्रकार परिणाम पाते हैं वह सर्व-नियन्तृ ब्रह्म जिस प्रकार उनमे परिणाम उत्पन्न करता है, इससे भिन्न है इसलिए ब्रह्म का कारणत्व, चिदचिद् के परिणाम से प्रभावित नही होता। ब्रह्म के कारणत्व को इस प्रकार से अप्रभावित रहने को ही ब्रह्म का अपरिणामित्व कहा गया है। शकर के मत मे, व्यक्त जगत् माया का परिणाम होने के कारण किसी भी प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान नही माना जा सकता। शकर का ब्रह्म शुद्ध चिद्रूप होने के कारण, उसमे निमित्त-कारणता निवेश नही की जा सकती। यदि ब्रह्म मे किसी प्रकार का परिणाम, किसी भी प्रकार से नही सोचा जा सकता और वह नितान्त अपरिणामी रहता है तो वह कारण कभी भी नही माना जा सकता। कारणत्व का अर्थ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति या परिणत होने की शक्ति से है। यदि ये दोनो ही ब्रह्म मे अशक्य है तो ब्रह्म को अविरोध रूप से कारण नहीं माना जा सकता। रामानुज-मतानुसार तो, ब्रह्म नितान्त अपरिणामी नहीं है, क्योंकि परिणाम उत्पन्न करने वाला स्वय ही परिणाम के अनुरूप बदलता है (ब्रह्म-समसत्ताक-विकारागी-कारात्)। परिणाम समसत्ताक होने मे उसे अपरिणामी भी माना जा सकता, यद्यपि ब्रह्म जगत् का अन्तिम आधार है, तथा जगत् की वस्तुओ के अन्तर्वर्ती कारण होते हैं जिनमे वे रहते माने जा सकते हैं, फिर भी जब ब्रह्म सत्ता का अन्तिम और चरम आधार है इसलिए सभी पदार्थ उसी के द्वारा धारण किए गए है।

कारण की अनन्यथा सिद्ध, नियत पूर्ववर्ती रूप से व्याख्या की जा सकती है। (अनन्यथासिद्ध-नियत-पूर्व वर्तिता) ब्रह्म निस्सदेह ही सभी पदार्थों का अन्तिम पूर्ववर्ती तत्व है और उसका अनन्यथा सिद्धत्व श्रुति द्वारा प्रमाणित है। वह चिदचिद् मे विकार उत्पन्न करता है और इसलिए उसे निमित्त कारण मानना चाहिए, इससे वह उपादान कारण नही कहा जा सकता। ऐसा नही है, क्योंकि वही एक अन्तिम पूर्ववर्ती वस्तु है। ब्रह्म प्रथमत चित् और अचित् को, सूक्ष्म रूप मे अपने मे अविभक्त रूप से धारण करता है और उत्तरकाल मे वह अपने सकल्प द्वारा ऐसे परिणाम अपने मे उत्पन्न करता है कि चित् और अचित् स्थूल रूप से परिणत होते हैं। वह अपना मूल एकरस स्वभाव त्याग देता है और अपने चित्-अचित् रूप सच्चे अशो के सम्बन्ध मे कम से कम, परिणत अवस्था ग्रहण करता है जो सूक्ष्मावस्था मे उससे अविभक्त थे। ब्रह्म के स्वरूप का यह परिवर्तन परिणाम कहा जाता है। ब्रह्म मे जबकि इस प्रकार परिणाम होता पाया जाता है इसलिए उसे न्याय-सगति से जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। सागर और तरग का दृष्टान्त इस समझ के साथ सगतिपूर्ण लगता है। जिस प्रकार मृत्तिका घडे इत्यादि के रूप मे परिवर्तित होती है तब भी इन परिवर्तनो मे मृत्तिका ही रहती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी व्यक्त जगत् के रूप मे

परिणत होता हुआ भी सर्वदा एक माना जा सकता है।[1] जिस प्रकार घड़ा और वर्तन मिथ्या नहीं है उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या नहीं है। किन्तु जगत् का सच्चा अर्थ उसे ब्रह्म से एक मानना पड़ेगा। घड़े का ऊपरी और नीचे का भाग घड़े के अंग रूप मे न देखने पर भिन्न दीखता है और उस परिस्थिति मे उन्हें पृथक् रूप मे ही मानना मिथ्या होगा, क्योंकि वे अपना अर्थ तभी सफल करते हैं जबकि उन्हें सम्पूर्ण घड़े के अंग माना जाय। जब उपनिषद् नानात्व को मिथ्या बताते हैं तब दर्शन का अर्थ यह है कि नानात्व अपना सम्पूर्ण अर्थ तभी फलीभूत कर पाते हैं जबकि उन्हें ईश्वर, ब्रह्म के एकत्व अंग के रूप मे समझा जाय।

शंकर-मतवादी अन्यथाख्याति मे विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार भ्रम का अर्थ अनिर्वचनीय मिथ्या वस्तु उत्पन्न करना है। एक व्यक्ति को जब वह देखने में गलत करता है तब विशेष काल मे ऐसी वस्तु दीखती है। भ्रम की वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव के समय विद्यमान नहीं थी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था मे, उस वस्तु की अन्य काल मे अनुपस्थिति, उसके मिथ्यापन को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि एक वस्तु एक काल मे उपस्थित हो और दूसरे मे नहीं हो इससे वह मिथ्या है, यह सिद्ध नहीं होता। मिथ्यापन को इस प्रकार, द्रष्टा के दृष्टिकाल के आपेक्षिक सम्बन्ध से व्याख्यायित करना चाहिए। जब एक द्रष्टा को सच्चे पदार्थ का ज्ञान होता है और वह यह भी जानता है कि एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है, तब वह अनुभव के मिथ्यापन को जानता है। किन्तु दृष्टिकाल मे उसे एक ही प्रकार का ज्ञान होता है और उसे बाध (प्रमगति) का ज्ञान नहीं है तब उसका उस समय का अनुभव मिथ्या नहीं कहा जा सकता। किन्तु जबकि स्वप्न के अनुभव उसी काल मे विरोध करते नहीं जाने जाते, रजत-शुक्ति का भ्रम भी भ्रम-काल मे मिथ्या नहीं जाना जाता, और जबकि जगत् का अनुभव जाग्रदावस्था मे बाधित नहीं होता इसलिए वह अपनी अवस्था के सम्बन्ध से मिथ्या नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था के अनुभव का मिथ्यापन केवल दूसरी अवस्था एवं काल मे अपेक्षित है। शंकर-मतवादियों के ऐसे मतानुसार सभी ज्ञान आपेक्षिक हो जाते हैं और किसी भी अवस्था के

[1] बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुति सृष्टेः प्राक् नाम-रूप-विभागाभावेन एकत्वावस्थापन्नस्य सूक्ष्म-चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्मणः पश्चान्नामरूप-विभागेन एकत्वावस्था-प्रहाण-पूर्वकं स्थूल-चिदचिद् वैशिष्ट्य लक्षण बहुत्वापत्तिर्हि प्रस्फुट प्रतिपाद्यते सैव हि ब्रह्मणः परिणामो नाम, प्रागवस्थाप्रहाणेनावस्थान्तर-प्राप्ते रेव परिणाम-शब्दार्थं त्वात् .. यथा सर्वं मृद्द्रव्य-विनिर्मित घटादि कार्यजात कारणभूत मृद्द्रव्याभिन्नमेव न तु द्रव्यान्तर तथा ब्रह्मापि जगत् अभिन्नमेव।

—श्रुतदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड, पृ० ६६।

अनुभव की प्रमाणता निश्चित नहीं हो पाती। बौद्ध और उनके शास्त्रों के अनुसार, ब्रह्म का विचार मिथ्या है, और इस प्रकार यदि हम उनके अनुभव को मान्य करें तो, ब्रह्म का विचार आपेक्षिक रूप से सत्य है। ऐसे मत को ग्रहण करने से हम ऐसी अनिश्चित अवस्था पर आ जाते हैं जिससे से निकलना ही नहीं हो सकता।[1]

—∞—

[1] रंगाचार्य ने कम से कम एक और पुस्तक लिखी जो 'सन्मार्ग दीपिका' थी। यह कर्मकाण्ड प्रधान होने से इस पुस्तक में वर्णन के लिए अयोग्य है।

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

निम्बार्क-सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा

निम्बार्क, निम्बादित्य या नियमानन्द एक तेलुगु ब्राह्मण थे जो सम्भवत बेलारी जिले मे निम्ब या निम्बपुर शहर मे रहते थे। हरिव्यास देव की 'दश श्लोकी' पर टीका मे ऐसा कहा है कि उनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का नाम सरस्वती। किन्तु उनके जीवन-काल का निश्चित करना कठिन है। सर आर० जी० भाण्डारकर अपने 'वैष्णविस्म, शैविस्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्' नामक ग्रन्थ मे कहते हैं कि वे रामानुज के थोडे ही समय बाद हुए। वे इस प्रकार तर्क करते हैं, निम्बार्क से उत्तरोत्तर रूप से गुरु-परम्परा मे, हरिव्यास देव ३२वें गुरु गिने जाते हैं और भाण्डारकर ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ पाया उसमे यह सूची है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८०६ या ई० स० १७५० में दामोदर गोस्वामी के जीवन-काल में लिखा गया था। दामोदर गोस्वामी के जीवनकाल के १५ वर्ष गिनने पर हम सन् १७६५ पर आते है। मध्व से ३३वा उत्तराधिकारी सन् १८७६ मे मरा और मध्व सन् १२७६ मे मरे। इस प्रकार मध्व की ३३ गुरु-परम्परा का कार्यकाल ६०० वर्ष का है। इस कसौटी से सन् १७६५ मे ६०० वर्ष निकालने पर हम निम्बार्क के काल को ११६५ मान सकते हैं। इसलिए, इसको निम्बार्क के मृत्यु का समय मानना चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि वे रामानुज के कुछ समय बाद मरे और वे उनके कनिष्ठ समकालीन हो सकते हैं। भाण्डारकर, इस प्रकार, सरसरी तौर पर, प्रत्येक गुरु के धर्म के शासन-काल को १८ वर्ष का मानते है। किन्तु प० किशोरदास कहते हैं कि प० अनतराम देवाचार्य द्वारा लिखी हुई जीवनी मे, निम्बार्क से १७वा गुरु सम्वत् १११२ या सन् १०५६ मे हुआ माना है और प्रत्येक गुरु के १८ साल के शासनकाल का परीक्षण लगाते हुए हम सन् ८६८ मे निम्बार्क के काल पर आते हैं, इसके अनुसार वे रामानुज के बहुत समय पहले रहे होंगे। किन्तु निम्बार्क और श्रीनिवास की रचनाओं के आन्तरिक परीक्षण से यह प्रमाणित नहीं होता। पुन कैटलाग ऑव सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट्स इन दी प्राइवेट लाइब्रेरीज़ ऑव दी नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज़, पार्ट I बनारस १८७४ (या एन० डब्ल्यू० पी० कैटलाग इन्न स ०७३४) मे, 'मध्व मुख मर्दन,' जो मदनमोहन पुस्तकालय बनारस मे सुरक्षित है, निम्बार्क

इनमे से प्रस्तुत लेखक केवल 'स्वधर्माध्व वोध' को ही प्राप्त कर सका, जो वगाल एशियाटिक सोसायटी मे रखा हुआ है। यह कहना कठिन है कि यह ग्रन्थ निम्बार्क द्वारा ही लिखा गया है, कुछ भी हो, इसमे निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियो ने अधिकाश रूप से हेर फेर किया है। क्योकि इसमे कई पद्य जहा तहा डाल दिए हैं जिसमे निम्वार्क को अवतार माना है और उनकी स्तुति की गई है। उन्हे उत्तम पुरुष से भी सवोधित किया गया है और उनके मत को 'निम्वार्क मत' कहा गया है जिसे निम्वार्क ने स्वय न लिखा होगा। पुस्तक मे केवल भेदवादी का उल्लेख है जो मध्व-सप्रदाय को ही सकेत करने वाला होना चाहिए। यह विचित्र प्रकार का ग्रन्थ है जिसमे भिन्न विषय, सम्वन्धित एव असम्बधित हैं और शैली भी अव्यवस्थित है। इस ग्रन्थ में अनेक धर्मो तथा 'सन्यासी-सम्प्रदायो' का भी उल्लेख है।

'हरिगुरुस्तव माला' मे प्राप्त गुरु-परम्परा की सूची जो रा० गो० भाण्डारकर के रिपोर्ट ऑव दी सर्च ऑर सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट १८८२–८३ मे सूचित है, उसके अनुसार, हस, जो राधा और कृष्ण की सम्मिलित रूप है, निम्वार्क सम्प्रदाय के प्रथम गुरु माने गए है। उनके शिष्य कुमार थे जो चतुर्व्यूह रूप थे। कुमार के शिष्य नारद, जो त्रेतायुग मे प्रेम भक्ति के आचार्य थे। निम्वार्क नारद के शिष्य थे और वे नारायण की सुदर्शन शक्ति के अवतार थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होने द्वापर मे कृष्ण भक्ति का प्रचार किया था। उनके शिष्य श्रीनिवास थे, जो नारायण के शख के अवतार माने जाते हैं। श्रीनिवास के शिष्य विश्वाचार्य थे, जिनके शिष्य पुरुषोत्तम थे, जिनके स्वरूपाचार्य नामक शिष्य थे। इन सवो को भक्त कहा गया है। स्वरूपाचार्य के शिष्य माधवाचार्य थे, जिनके शिष्य वलभद्राचार्य थे, और उनके शिष्य पद्माचार्य थे, जो वडे वितडावादी कहे जाते थे। उन्होने भारत के भिन्न प्रान्तो मे जाकर लोगो को शास्त्रार्थ मे हराया था। पद्माचार्य के शिष्य श्यामाचार्य थे, और उनके शिष्य गोपालाचार्य थे, जो वेद और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे। कृपाचार्य उनके शिष्य थे, जिन्होने देवाचार्य को शिक्षा दी जो वडे वितडावादी माने गए थे। देवाचार्य के शिष्य सुन्दर भट्ट थे और उनके शिष्य पद्म-नामाचार्य थे। इनके शिष्य उपेन्द्र भट्ट थे शिष्यो की परम्परा इस प्रकार है रामचद्र भट्ट, कृष्ण भट्ट, पद्माकर भट्ट, श्रावण भट्ट, भूरि भट्ट, मध्व भट्ट, श्याम भट्ट, गोपाल भट्ट वलभद्र भट्ट, गोपीनाथ भट्ट (ये शास्त्रार्थ मे वडे निपुण थे) केशव गगल भट्ट, केशव काश्मीरी, श्री भट्ट, और हरिव्यास देव। हरिव्यास देव तक की परम्परा सभी प्राप्त गुरु-सूचियां परस्पर मिलती है किन्तु इनके वाद, ऐसा लगता है कि सप्रदाय मे दो विभाग हो गए और गुरु-परम्परा की दो सूचियां प्राप्त होती है। भाण्डारकर ने हरिव्यासदेव को निम्वार्क के पश्चात् ३२वां गुरु माना है। हरिव्यास-देव और उनकी परम्परा के उत्तराधिकारी दामोदर गोस्वामी का जीवनकाल

डा भाण्डारकर ने १७५०-१७५५ निश्चित माना है। कुछ सूचियो के अनुसार, हरिव्यासदेव के पश्चात्, परशुरामदेव, हरिवशदेव, नारायणदेव, वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव हुए। इनकी सूची के अनुसार, स्वयभूरामदेव, हरिव्यासदेव के वाद हैं और उनके बाद कर्म हरदेव, मथुरादेव, श्यामदेव, सेवादेव, नरहरिदेव, दयारामदेव, पुराणदेव, मनीषी देव, राधाकृष्ण शरण देव, हरिदेव और वृजभूपणशरण देव है जो १९२४ मे जीवित थे और सन्तदास बाबाजी जो हरिव्यासदेव से तेरहवें गुरु थे, १९३५ मे मरे। सूचियो के परीक्षण से यह प्रमाणित रूप से सिद्ध होता है कि प्रत्येक गुरु का शासन काल लगभग १४ वर्ष का रहा। यदि हरिव्यासदेव १७५० मे मरे, और सन्तदास बावाजी जो उनसे तेरहवें गुरु थे, उनकी मृत्यु १९३५ मे हुई, तो १३ गुरुओ का काल १८५ वर्ष का हुआ। इस प्रकार प्रत्येक गुरु की धर्माध्यक्षता का काल लगभग १४ वर्ष का होता है। हरिव्यासदेव से पीछे की ओर गणना करते, प्रत्येक गुरु का १४ वर्ष का काल मानते, हम निम्बार्क के काल को १४वी शताब्दी के मध्य का मान सकते है।

जैसाकि हम कह चुके है निम्बार्क की ब्रह्मसूत्र पर टीका 'वेदान्त पारिजात सौरभ' कही गई है। 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ पर टीका उनके ही शिष्य श्री निवास ने लिखी थी। मुकुन्द के शिष्य, केशव काश्मीरी भट्ट ने 'वेदान्त कौस्तुभ' पर 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' नामक टीका लिखी। उन्होने भगवत् गीता पर 'तत्व प्रकाशिका' नामक टीका और भागवत पुराण के दशम स्कद पर 'तत्व प्रकाशिका-वेद-स्तुति-टीका' नामक टीका, तथा तैत्तरीय उपनिषद् पर 'तैत्तरीय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी थी ऐसा कहा जाता है। उन्होने एक और पुस्तक 'क्रम दीपिका' नामक लिखी थी, जिस पर गोविन्द भट्टाचार्य ने टीका लिखी थी।[1] 'क्रम दीपिका' अष्टाध्यायी ग्रन्थ है जिसमे निम्बार्क-सप्रदाय के धार्मिक कर्मकाण्ड का मूलत वर्णन है। इस ग्रन्थ मे अनेक प्रकार के मत्र तथा उन पर ध्यान का अधिकाश वर्णन है। श्रीनिवास ने एक और भी ग्रन्थ लिखा जो 'लघु स्तव राज स्तोत्र' है, जिसमे वे अपने गुरु निम्बार्क की प्रशसा करते है। पुरुषोत्तम प्रसाद ने इस पर टीका लिखी है जिसका नाम 'गुरु भक्ति मन्दाकिनी' है। 'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप,' जो निम्बार्क द्वारा रचा गया है ऐसा कहा जाता है, इस ग्रन्थ के उपसहार का अध्ययन करने से तथा रा० ला० मित्रा द्वारा नोटिसेज ऑव सस्कृत मेनुस्क्रिप्ट (एन० एस० न० २८२६) मे दिए गए सार से यह पता चलता है यह कूट ग्रन्थ है। ऐसा लगता है कि यह शाकर वेदान्त के अद्वैतवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है, निम्बार्क की 'दश श्लोकी,' जो सिद्धान्त रत्न कहलाती है, उसकी कम से कम तीन

---

[1] ये केशव काश्मीरी भट्ट उन केशव काश्मीरी भट्ट से भिन्न है जिन्होने चैतन्य से शास्त्रार्थ किया था जैसाकि चैतन्य चरितामृत मे वर्णन है।

टीकाएँ है, 'वेदान्त रत्न मजूपा,' पुरुपोत्तम प्रसाद कृत अज्ञात लेखक की 'लघु मजूषा' और हरिवश मुनि की टीका। पुरुपोत्तम प्रसाद ने निम्वार्क की दश श्लोकी पर 'वेदान्त रत्न मजूपा' नामक एक टीका लिखी और जिसे हम अभी 'गुरु भक्त मदाकिनी' कह चुके है। उन्होने वीस, प्रकरण के 'श्रुत्यन्तर सुर द्रुम' नामक निम्वार्क के श्रीकृष्ण स्तव पर टीका लिखी तथा 'स्तोत्र त्रयी' भी लिखी।[1] इस टीका मे लगभग वही विवेचन पाया जाता है जो 'परपक्ष गिरि विजय' मे है जिसका वर्णन पृथक् खण्ड मे किया गया है। यहाँ विवाद खास तौर पर शाकर वेदान्त पर ही किया गया है। पुरुपोत्तम रामानुज-मत की भी कडी आलोचना करते है जिसमे अशुद्ध चित् और अचित् को श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ब्रह्म का अश माना गया है और वे यह सूचित करते हैं कि वह सर्वथा असम्भव है। निम्वार्क-सप्रदाय के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न है। उनकी ब्रह्म से अभिन्नता पर इस अर्थ मे है कि ब्रह्म से पृथक् उनकी सत्ता नही है। पुरुषोत्तम भेदवादी मध्व की भी आलोचना करते है। तादात्म्य-प्रतिपादन करने वाले श्रुतिपाठ इतने ही सबल हैं जितने द्वैतवाद को प्रतिपादन करने वाले हैं और इसलिए हम तादात्म्य-प्रतिपादन करते श्रुति पाठो के वल पर यह स्वीकार करना पडता है कि जगत् ब्रह्म मे अस्तित्व रखता है और द्वैत को प्रतिपादन करने वाले श्रुति पाठो के वल पर हमे यह स्वीकार करना पडता है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न है। भगवान् जगत् का उपादान कारण है इसका सच्चा अर्थ यह है कि यद्यपि सब कुछ ब्रह्म मे ही उत्पन्न होता है तो भी भगवान् का स्वरूप इन सब उत्पत्ति के होते हुए भी एक ही रहता है। भगवान् की शक्ति भगवान् मे ही निहित है और यद्यपि वह अपनी शक्ति की भिन्न अभिव्यक्तियो द्वारा सभी कुछ उत्पन्न करते हैं तो भी वह अपने मे अपरिणामी रहते हैं।[2]

---

[1] 'श्रुति सिद्धान्त मजरी' नामक 'श्रीकृष्ण स्तव' पर एक और टीका है जिसका लेखक अज्ञात है।

[2] यथा च भूमेस्तथाभूत-शक्तिमत्या ओषधीना जन्म मात्र तथा सर्व-कार्योत्पादनार्ह लक्षणा चिन्त्यान्नत-सर्वशक्ते रक्षर पदार्थाद्ब्रह्मणो विश्व सम्भवति इति, यदा स्वस्वाभाविकाल्पाधिक-मातिशय-शक्तिमद्भ्योऽचेतनेभ्य स्तद् तच्छ क्तयानुसारेण स्व-स्व कार्यभावापत्तावपि अप्रच्युत-स्वरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्ध, तर्हि अचिन्त्य-सर्वाचिन्त्य-विश्वाख्या-कार्योत्पादनार्ह-शक्तिमतो भगवत उक्तरीत्या जगद्-भावा-पत्तावप्य-प्रच्युतस्वरूपत्व कि अशक्यमति "शक्ति-विक्षेप-सहरणस्य परिणाम शब्द वाच्यत्वा-भिप्रायेण क्वचित् परिणामोक्ति। स्वरूप-परिणामाभावश्च पर्वमेव निरुपित:, शक्ते शक्तिमतो पृथक्-सिद्धत्वात्।

—श्रुत्यत्तर सुर-द्रुम, पृ० ७६३-४।

पुरुषोत्तम, देवाचार्य कृत 'सिद्धान्त जाह्नवी' का उल्लेख करते हैं इसलिए वे उनके बाद हुए होंगे। प० किशोरदास की 'श्रुत्यन्तसुर द्रुम' की प्रस्तावना के अनुसार वे १६२३ मे जन्मे थे और वे नारायण शर्मा के पुत्र थे। प्रस्तुत लेखक को यह मत मान्य नही है। प० किशोरदास के अनुसार, वे धर्म देवाचार्य के शिष्य थे।[1] देवाचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक टीका लिखी, जिस पर सुन्दर भट्ट ने 'सिद्धान्त सेतुका' नामक टीका लिखी।

निम्बार्क के दर्शन का सामान्य विवेचन

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म-जिज्ञासा तभी हो सकती है जबकि किसी ने शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड की पुस्तको का अध्ययन किया हो जिनसे अनेक प्रकार के पुण्य-फलो की उपलब्धि होती है और यह अनुभव किया हो कि वे सब फलभोग से दूषित है और नित्य आनन्द की प्राप्ति नही करा सकते। ऐसा ज्ञान होने के बाद ही जब जिज्ञासु ने भिन्न शास्त्रो के अध्ययन से यह जान लिया है कि ब्रह्म-ज्ञान अपरिणामी नित्य और निरन्तर आनन्दावस्था प्राप्त कराता है, तब ही वह इसे भगवान् की कृपा द्वारा प्राप्त करने को उत्सुक होता है और वह श्रद्धा और प्रेम से गुरु के पास ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान सीखने के लिए जाता है। ब्रह्म श्रीकृष्ण है, जो सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान् और परमशरण है और सर्वव्यापी सत्ता है। इस सत्ता को, केवल निरन्तर प्रयत्न द्वारा, मनन और भक्ति के साधन से अपने को उसके स्वरूप से ओतप्रोत रखने से ही, अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म सूत्र के पहले सूत्र का सार भक्त के इस कर्त्तव्य मे रहा है कि वह ब्रह्म को पाने के लिए सतत प्रयत्न करे।[2] शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वचन श्रवण करता है जिसे ब्रह्म के स्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है और जिसके शब्द ठोस अनुभूति से ओतप्रोत होते है। वह गुरु की शिक्षा के सार और अर्थ को समझने का प्रयास करता है जो गुरु के अनुभव से ओतप्रोत रहते है, शिष्य द्वारा इसका अर्थ समझने का प्रयास 'श्रवण' है। यह शकर-मत मे श्रवण के सामान्य अर्थ से भिन्न है जहाँ इसे उपनिषद् के पाठो का श्रवण माना गया है। दूसरा पद मनन है, यहाँ अपने विचारो का इस प्रकार सगठन करना कहा गया है जिससे गुरु द्वारा कहे सत्य के

---

[1] प० किशोरदास 'वेदान्त मजूषा' की प्रस्तावना मे अपना ही विरोध करते है और ऐसा लगता है कि वे जो काल-गणना देते है वह अधिकतर कल्पित है। प० किशोरदास आगे कहते हैं कि देवाचार्य सन् १०५५ मे हुए। इससे तो निम्बार्क का समय रामानुज के पहले हो जायगा जो असम्भव दीखता है।

[2] कर्त्तव्य का यह स्वरूप, क्योकि ब्रह्म सूत्र के पाठ से ही प्रकट है कि ब्रह्मत्व निदिध्यासन जैसे क्रम द्वारा ही प्राप्त होता है इसलिए इसे अपूर्व विधि कहा है।

प्रति चित्त की रुचि इस प्रकार ढले कि उसमे विश्वास का विकास हो । तीसरा पद, निदिध्यासन है, जो चित्त वृत्तियो को निरन्तर ध्यान द्वारा एकत्रित करता है जिससे गुरु द्वारा प्रेरित और उनके द्वारा कहे गए सत्य पर श्रद्धा जगे और अन्त मे, उनका अनुभव प्राप्त हो । अन्तिम प्रक्रिया का सफल अन्त ही ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कराता है । वैदिक धर्म का अध्ययन और उनकी कार्य-क्षमता, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करता है जिससे नित्यानद की प्राप्ति होती है । इस हेतु की प्राप्ति के लिए शिष्य उसके पास जाता है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो । शिष्य मे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति इस आध्यात्मिक क्रम द्वारा सम्भव है जिसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन अग हैं ।

निम्बार्क दर्शन के अनुसार, जो एक प्रकार का भेदाभेद वाद के अर्थात् जिस मत मे ब्रह्म, भेद होते हुए भी अभेद स्वरूप है, स्वय ब्रह्म ने चित् और अचित् मे परिणाम किया है । जिस प्रकार प्राण, भिन्न क्रियात्मक और ज्ञानात्मक इन्द्रिय व्यापारो द्वारा अभिव्यक्त होता है फिर भी उनमे अपनी स्वतत्रता, अजडता एव भेद बनाए रखता है इसी प्रकार, ब्रह्म भी अनन्त जीव और जड मे, अपने को खोए बिना अभिव्यक्त करता है । जिस प्रकार मकडी अपने मे से जाला बनाने पर भी उससे स्वतत्र रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी असख्य जीव और जड मे विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एव शुद्धता बनाए रहता है । जीव के सभी व्यापार और उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ मे अवलम्बित है (तादात्म्य स्थिति-पूर्विका) कि ब्रह्म सभी का उपादान एव निमित्त कारण है ।[1]

शास्त्रो मे द्वैतवाद और अद्वैतवाद के प्रतिपादक अनेक पाठ हैं, उन दोनो मतो

हो जायगी। पुन यदि अज्ञान सत् वस्तु माना जाता है तो द्वैतवाद स्वीकारना पडता है, और यदि वह असत् माना जाता है तो वह ब्रह्म का आवरण नही कर सकता। आगे, यदि ब्रह्म स्वप्रकाश्य है तो वह छिपाया कैसे जा सकता है और उसके विषय मे भ्रम भी कैसे हो सकता है ? यदि सीप अपने स्वरूप से प्रकट होती है तो उसका रजत रूप मे भ्रमपूर्ण अनुभव नही हो सकना। यदि पुन ब्रह्म का स्वरूप अज्ञान द्वारा छिपा है तो प्रश्न यह खडा होता है कि अज्ञान ब्रह्म का अश रूप से या पूर्ण रूप से आवरण करता है। पहली मान्यता अशक्य है, क्योकि तब जगत् पूर्ण रूप से अधा हो जायगा (जगदाध्य-प्रसगात्) और पिछला विकल्प असम्भव है, क्योकि ब्रह्म एक रस है जिसके न गुण-धर्म है न अवयव। अद्वैतवादी इसे निर्गुण और अखड मानते है। यदि यह माना जाता है कि सामान्य रूप से अज्ञान द्वारा केवल आनदाश ही ढका जाता है और सत् अश अनावृत रहता है तो यह अर्थ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो सकते हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुमनो द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा, 'ब्रह्म मिथ्या है' क्योकि उसमे घडे की तरह अश है (ब्रह्म मिथ्या साशत्वात् घटादिवत्)।

उपरोक्त आक्षेप के उत्तर मे यह तर्क किया जा सकता है कि अज्ञान के विरोध मे आक्षेप माने नही जा सकते, क्योकि अज्ञान सर्वथा मिथ्या ज्ञान है। जिस प्रकार कि एक उल्लू सूर्य के ज्वलन्त प्रकाश मे भी निरा अधकार देखता है उसी प्रकार मैं अज्ञ हूँ यह अपरोक्ष अनुभव सभी को प्रकट है। निम्बार्क-सप्रदाय के अनुयायी, अनन्तराम, अपने 'वेदान्त बोध' मे ऐसी मान्यता के विरोध मे और आक्षेप खडे करते है। वे कहते है कि मै अज्ञ हूँ इस अपरोक्ष अनुभव मे 'मैं' जो अपरोक्ष-अनुभव-गम्य है वह शुद्ध ज्ञान नही है। क्योकि शुद्ध ज्ञान अज्ञ के रूप मे अनुभव नही हो सकता। यह अहकार मात्र नही हो सकता, क्योकि तब अनुभव 'अहकार अज्ञ है' इस प्रकार होता है। यदि अहकार से शुद्ध आत्मा का अर्थ है, तब ऐसी आत्मा का मुक्ति से पहले अनुभव नही हो सकता। अहकार, शुद्ध चैतन्य और अज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नही हो सकती, क्योकि यह वस्तु निस्सदेह ही अज्ञान का कार्य होना चाहिए जो ब्रह्म के अज्ञान के साथ सयोग के पहले विद्यमान नही हो सकती। शकर-मतवादियो का उत्तर है कि अज्ञान, केवल मिथ्या कल्पना होने से, ब्रह्म के स्वरूप को दूषित नही कर सकता, जो शाश्वत अधिष्ठान है यह भी अमान्य है, क्योकि यदि अज्ञान को मिथ्या कल्पना माना जाय, तब भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु ऐसी कल्पना करने वाला ब्रह्म या अज्ञान इन दोनो वस्तुओ मे से कोई भी नही हो सकता, क्योकि पहला शुद्ध निर्गुण है, इसलिए वह कल्पना नही कर सकता, और दूसरा जड और अचेतन है, इसलिए कल्पना रहित है। यह भी सोचना मिथ्या है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य रूप से अज्ञान का मूल विरोधी नही है, क्योकि, ऐसा कोई ज्ञान नही है जो अज्ञान विरोधी न हो। इसलिए, शकर मतवादी 'मै अज्ञ हूँ' इसमे 'मैं' तत्व सिद्ध करने मे सफल नही हो सकते।

हो जायगी। पुन यदि अज्ञान सत् वस्तु माना जाता है तो द्वैतवाद स्वीकारना पडता है, और यदि वह असत् माना जाता है तो वह ब्रह्म का आवरण नही कर सकता। आगे, यदि ब्रह्म स्वप्रकाश्य है तो वह छिपाया कैसे जा सकता है और उसके विषय मे भ्रम भी कैसे हो सकता है ? यदि सीप अपने स्वरूप से प्रकट होती है तो उसका रजत रूप से भ्रमपूर्ण अनुभव नही हो सकता। यदि पुन ब्रह्म का स्वरूप अज्ञान द्वारा छिपा है तो प्रश्न यह खडा होता है कि अज्ञान ब्रह्म का अश रूप से या पूर्ण रूप से आवरण करता है। पहली मान्यता अशक्य है, क्योकि तब जगत् पूर्ण रूप से अधा हो जायगा (जगदाध्य-प्रसगात्) और पिछला विकल्प असम्भव है, क्योकि ब्रह्म एक रस है जिसके न गुण-धर्म है न अवयव। अद्वैतवादी इसे निर्गुण और अखड मानते हैं। यदि यह माना जाता है कि सामान्य रूप से अज्ञान द्वारा केवल आनदाश ही ढका जाता है और सत् अश अनावृत रहता है तो यह अर्थ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो सकते हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुमनो द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा, 'ब्रह्म मिथ्या है' क्योकि उसमे घडे की तरह अश है (ब्रह्म मिथ्या साशत्वात् घटादिवत्)।

उपरोक्त आक्षेप के उत्तर मे यह तर्क किया जा सकता है कि अज्ञान के विरोध मे आक्षेप माने नही जा सकते, क्योकि अज्ञान सर्वथा मिथ्या ज्ञान है। जिस प्रकार कि एक उल्लू सूर्य के ज्वलन्त प्रकाश मे भी निरा अधकार देखता है उसी प्रकार मैं अज्ञ हूँ यह अपरोक्ष अनुभव सभी को प्रकट है। निम्बार्क-सप्रदाय के अनुयायी, अनन्तराम, अपने 'वेदान्त बोध' मे ऐसी मान्यता के विरोध मे और आक्षेप खडे करते हैं। वे कहते हैं कि मैं अज्ञ हूँ इस अपरोक्ष अनुभव मे 'मैं' जो अपरोक्ष-अनुभव-गम्य है वह शुद्ध ज्ञान नही है। क्योकि शुद्ध ज्ञान अज्ञ के रूप मे अनुभव नही हो सकता। यह अहकार मात्र नही हो सकता, क्योकि तब अनुभव 'अहकार अज्ञ है' इस प्रकार होता है। यदि अहकार से शुद्ध आत्मा का अर्थ है, तब ऐसी आत्मा का मुक्ति से पहले अनुभव नही हो सकता। अहकार, शुद्ध चैतन्य और अज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नही हो सकती, क्योकि यह वस्तु निस्सदेह ही अज्ञान का कार्य होना चाहिए जो ब्रह्म के अज्ञान के साथ सयोग के पहले विद्यमान नही हो सकती। शकर-मतवादियो का उत्तर है कि अज्ञान, केवल मिथ्या कल्पना होने से, ब्रह्म के स्वरूप को दूषित नही कर सकता, जो शाश्वत अधिष्ठान है यह भी अमान्य है, क्योकि यदि अज्ञान को मिथ्या कल्पना माना जाय, तब भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु ऐसी कल्पना करने वाला ब्रह्म या अज्ञान इन दोनो वस्तुओ मे से कोई भी नही हो सकता, क्योकि पहला शुद्ध निर्गुण है, इसलिए वह कल्पना नही कर सकता, और दूसरा जड और अचेतन है, इसलिए कल्पना रहित है। यह भी सोचना मिथ्या है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य रूप से अज्ञान का मूल विरोधी नही है, क्योकि, ऐसा कोई ज्ञान नही है जो अज्ञान-विरोधी न हो। इसलिए, शकर मतवादी 'मैं अज्ञ हूँ' इसमे 'मैं' तत्त्व सिद्ध करने मे सफल नही हो सकते।

कारण उत्पन्न होता है जैसेकि सन्निकर्ष, इन्द्रिय-दोष, सस्कार-व्यापार इत्यादि। अह के अपरोक्ष अनुभव के कथित प्रसग मे ये सब अनुपस्थित होते हैं।

शकर-मतवादी माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ यह माना है कि जो प्रत्यक्ष मे दीखे किन्तु अततोगत्वा वाधित हो जाता हो। शकर-मतवादी मिथ्यात्व या अभाव की जो वाधित हो सकता है—ऐसी व्याख्या करते है। माया की घटना अनुभव मे भासमान होती है और इसलिए उन्हे अस्तित्ववान् माना है। वह वाधित हो सकती है इसलिए उसे असत् माना है। माया मे यह सत्-असत् का जो एकत्व है वही उसकी अनिर्वचनीयता है। इसका अनन्तराम यह उत्तर देते हैं कि वाध होना अभाव का अर्थ नही रखता। एक विशेष पदार्थ के रूप मे जैसेकि घडा दड के प्रहार से नष्ट किया जा सकता है इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। दड के प्रहार से घडे का नष्ट होना इस विचार का समावेश नही करता कि घडा असत् था। इसलिए, पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान से वाध पहले का मिथ्यात्व या अनस्तित्व समाविष्ट नही करता। सभी ज्ञान अपने मे सत्य है, जो कि उनमें से कुछ दूसरे को नष्ट कर सकते है। निम्बार्क मतवादी इसे ही सत्ख्याति-वाद कहते हैं। उनके अनुसार सत्ख्यातिवाद यह अर्थ रखता है कि सभी ज्ञान (ख्याति) किसी सत् पदार्थ से उत्पन्न होते है जिन्हें उनका कारण मानना चाहिए (सद्हेतुका ख्याति, सत् ख्याति)। ऐसे मत के अनुसार, इसलिए, मिथ्या ज्ञान का मूल कारण, कोई अस्तित्ववान् पदार्थ होना चाहिए। यह भी सोचना मिथ्या है कि मिथ्या या अस्तित्वविहीन वस्तु प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रम रूप काला नाग भय नही करता किन्तु सच्चे सर्प की स्मृति ऐसा करती है, इसलिए, यह सोचना गलत है कि मिथ्या जगत्-प्रपच हमारे बध का कारण हो सकता है।

जवकि भ्रम शक्य नही है, तो यह सोचना व्यर्थ है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष, अनुमान और अन्य प्रकार के ज्ञान अहकार से सयुक्त है तथा केवल भ्रम रूप से उत्पन्न होते है। सच्चा ज्ञान आत्मा का धर्म माना जाना चाहिए, और ज्ञान की उत्पत्ति के वृत्ति के माध्यम की आवश्यकता नही है। अज्ञान, जो ज्ञान के उदय को रोकता है वह हमारे कर्म हैं जो अनादि काल से सचित हुए है। इन्द्रियो के व्यापार से हमारी आत्मा हमसे वाहर विस्तृत होती है और इन्द्रिय-गोचर पदार्थों के ज्ञान से भर जाती है। इसी कारण, जब इन्द्रियाँ प्रवृत्त नही होती तब गोचर पदार्थों का ज्ञान नही होता, जैसाकि गाढ निद्रा मे होता है। आत्मा, इस प्रकार, सच्चा ज्ञाता है और सच्चा कर्त्ता है और उसके ज्ञाता एव कर्त्ता के अनुभवो को किसी भी कारण भ्रम-व्यापार के कार्य नही मानना चाहिए।[1]

---

[1] वेदान्त तत्व वोध, पृ० २० ।

लिए कर्मेन्द्रियों पर आश्रय रखना पड़ता है। आत्मा को भी सुख-दुख का अनुभव होता है। जीवों का कर्तृत्व और सत्ता तो अन्त में भगवान् की इच्छा के अधीन है, तो भी, क्योंकि वह किसी को सुख और किसी को दुख देता है इसलिए भगवान् पक्षपाती है या निर्दय है ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है, क्योंकि वह परमेश्वर है, जो भिन्न लोगों को भिन्न प्रकार से निर्देश देता है और उन्हें उनके कर्मानुसार सुख-दुख देता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् यद्यपि, लोगों को सुख-दुःख देते हैं और उन्हें पाप-पुण्यानुसार कर्म कराते हैं, तो भी वे अन्त में कर्म के बंधन में नहीं है और वे अपनी कृपा द्वारा उन्हें कभी भी बन्धन से मुक्त करा सकते हैं।[1] कर्म सिद्धान्त यांत्रिक सिद्धान्त है और भगवान् अधिष्ठाता रूप से प्रत्येक प्रसंग में निर्णय देते हैं। वे इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के विधायक हैं किन्तु उससे बंधे नहीं हैं। जीव भगवान् के ही स्वरूप के अंश हैं, और इसलिए अपने, स्वरूप, सत्ता एवं प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं (तदायत्त-स्वरूप स्थिति-पूर्विका)। भगवान् अन्तिम सत्य होने से, जीव और जड़ जगत्, भगवान् के अंश होने के कारण उसी के स्वरूप से सम्मिलित होने के कारण, अपना स्वरूप और सत्ता पाते हैं। इसलिए वे अपनी सत्ता और प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं।

जीव अनन्य है और अणु रूप हैं। किन्तु अणु होते हुए भी, वे शरीर के सभी भागों की संवेदनाओं को, अपने में स्थित सर्वव्यापी ज्ञान के गुण से जानते हैं। यद्यपि जीव अणु एवं अबद्ध हैं, वे भगवान् के सर्वव्यापी स्वरूप से पूर्णतः व्याप्त हैं। अणु रूप जीव, अनादि कर्म की मेखला से वेष्टित हैं जो उनके शरीर का कारण है, और फिर भी वे मुक्त हो जाते हैं, जब गुरु द्वारा शास्त्र वचन सुनकर उनके संशय छूट जाते हैं और वे जब भगवान् के सच्चे स्वरूप का गहरा ध्यान करते हैं जिससे वे भगवान् में लय हो जाते हैं। भगवान् अपनी दया और कृपा दिखाने में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। किन्तु होता ऐसा है कि वे उन्हीं पर दिखाते हैं जो भक्ति और पुण्य कर्म द्वारा उसके योग्य हैं। भगवान्, अपने सर्वातिशायी रूप में, अपने जगत्, जीव और ईश्वर इन तीनों रूपों से भी परे हैं। अपने शुद्ध एवं सर्वातिशायी रूप में वह किसी भी परिणाम से सर्वथा दूषित नहीं हैं और वह शुद्ध सत्ता, आनन्द और चैतन्य के अभेद है। ईश्वर के रूप में वह अनेक जीवों द्वारा जो उसके ही अंश हैं अपने अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। जीवों के अनुभव, इसलिए उसके अंश रूप से उसी में समाविष्ट हैं क्योंकि जीवों के अनुभव उसके ईक्षण के ही कारण हैं। मनुष्य के अनुभवों की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् के द्वारा नियमित है तथा उसी के अन्तर्गत है। जीव इस प्रकार,

[1] न वयं ब्रह्म नियन्तृत्वस्य कर्म-सापेक्षत्वं ब्रूमः, किन्तु पुण्यादि कर्म कारयितृत्वे तत्फल-दातृत्वे च।

—वेदान्त रत्न मञ्जूषा, पृ० १४।

मुक्त हो जाता है। (तत्र उत्तर-भाविनः क्रियमाणस्य पापस्य आश्लेप. तत्प्राग्भूतस्य सचितस्य तस्य नाश। 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' ४-१-१३)। वर्ण एव आश्रम धर्म, ज्ञान के उदय मे लाभप्रद हैं इसलिए, उन्हे ज्ञान आने पर भी करते रहना चाहिए, क्योंकि इस दीप की ज्योति हमेशा जलती रखना चाहिए (तस्मात् विद्योदयाय स्वाश्रम-कर्माग्निहोत्रादि-रत ग्रहस्थेन, तपो जपादीनि कर्माणि ऊर्ध्व-रेतोभिरनुष्ठेयानि इति सिद्धम्) कर्मों का सचय जो मुक्त होने लगा है उसे मुक्त होकर रहना चाहिए ऐसे कर्मों के फल, सन्त को एक या अनेक जन्म मे भोगने पडते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति ईश्वर की ध्रुव स्मृति मे और उसमें अश रूप से वास करने में है, जो ईश्वर में निरन्तर भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के बराबर है। यह स्थिति भगवान् की सत्ता रूप से एक रस होने से और उसमे मिल जाने से स्वतन्त्र या पृथक् है जो स्थिति प्रारब्ध कर्म के सत योनि-शरीर में सम्पूर्ण भोग से या आने वाले जन्म मे मुक्त होकर, नाश होने पर, प्राप्ति होती है। सन्त, प्रारब्ध क्षय होने पर, सूक्ष्म शरीर मे स्थित सुषुम्ना नाडी से, अपना स्थूल शरीर छोडता है और प्राकृत मण्डल का अतिक्रमण कर सीमान्त देश पर विराज नदी पर पहुँचता है जो भौतिक जगत् और विष्णु लोक के बीच है।[1] यहाँ वह अपना सूक्ष्म शरीर परमेश्वर मे छोड देता है और भगवान् के सर्वान्तिशायी स्वरूप मे प्रवेश करता है (वेदान्त कौस्तुभ प्रभा ४-२-१५)। मुक्त जीव इस प्रकार भगवान् मे उसकी विशिष्ट शक्ति के रूप मे रहते हैं, जिन्हे वह अपने हेतु फिर भी उपयोग कर सकते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष सासारिक जीवन जीने के लिए कभी नहीं भेजे जाते। यद्यपि मुक्त पुरुष भगवान् से एक हो जाते हैं फिर भी उनका जगत् के व्यवहार पर कोई अधिकार नहीं होता जो सर्वथा भगवान् द्वारा ही निदर्शित होता है।[2]

यद्यपि हम ईश्वर के सकल्प से स्वप्न अनुभव करते हैं और यद्यपि वह निरन्तर बना रहता है और वह हमारे अनुभवो की सभी अवस्थाओं मे वास करता है, तो भी वह हमारे सासारिक जीवन के अनुभवो से दूषित नहीं होता। (वेदान्त कौस्तुभ और उसकी टीका प्रभा ३-२-११)। हमारे अनुभव के विषय स्वय सुखद [illegible] नहीं होते किन्तु ईश्वर उन्हे, हमारे पाप और पुण्य के फल स्वरूप [illegible] बना देते हैं, ये विषय अपने मे उदासीन पदार्थ है न सुखात्मक हैं, न दु खात्मक (वेदान्त कौस्तुभ

प्रभा ३-२ (२)। ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्प और उसकी कुण्डली जैसा है। सर्प की कुण्डलावस्था उससे भिन्न है और न अभिन्न है। इस प्रकार ईश्वर और जीव का सम्बन्ध दीप और प्रभा जैसा भी है (प्रभा प्रदीपवत्) या सूर्य और उसके प्रकाश जैसा है। ईश्वर अपने में अपरिणामी रहता है और केवल अपनी शक्ति में ही चित् अचित् शक्ति के रूप में परिणत होता है।[1] जिस प्रकार जीव ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते उसी प्रकार स्थूल जगत् भी उससे भिन्न सत्ता नहीं रख सकता। जगत् इसी रूप में ईश्वर का अंश है और इस इसी अर्थ में उससे एक माना है। क्योंकि जगत् का रूप ईश्वर के स्वरूप से भिन्न है इसलिए यह ईश्वर से भिन्न माना गया है।[2]

वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म विविदिषा उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए, किन्तु एक बार सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर फिर उक्त धर्म-पालन आवश्यक नहीं है। (वही ३-४-६)। ज्ञानी पुरुष अपने किए कर्मों से प्रभावित नहीं होता। किन्तु यद्यपि धर्म-पालन करना विद्या प्राप्त करने में सहायक है, किन्तु अनिवार्य नहीं है, और ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो वर्णाश्रम धर्म पालन किए बिना भी विद्या प्राप्त करते हैं।

माधव मुकुन्द का अद्वैतवादियों के साथ विवाद

(क) अद्वैत वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त एवं चरम साध्य अमान्य है

माधव मुकुन्द, जो बंगाल में अरुणघटी नामक गाँव के निवासी माने जाते हैं, उन्होंने 'पर पक्ष गिरि वज्र' या 'हार्द संचय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने शंकर और उनके अनुयायियों द्वारा वेदान्त के अद्वैतवादी निरूपण की निरर्थकता बताने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है।

वे कहते हैं कि शंकर-मतवादी जीव ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करने में रत हैं और यही उनके सभी विवादों का मुख्य विषय रहा है। यह (ऐक्य) तादात्म्य भ्रम-पूर्ण या विपरीत हो सकता है। प्रथम विकल्प के अनुसार, द्वैतवाद या अनेकत्ववाद सत्य होगा, और दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात् तादात्म्य सत्य है तो, तादात्म्य में

---

[1] अनन्त-गुण-शक्तिमतो ब्रह्मण परिणामि स्वभावाचिच्छक्त्ते स्थूलावस्थाया सत्या तदनन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थानेऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डल दृष्टान्तो न दोषावह अपृथक् सिद्धत्वेन अभेदेऽपि भेद-ज्ञापनार्थं।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, ३-२-२९।

[2] जीववत् पृथक्-स्थित्यनर्ह-विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्व विशिष्ट-वस्त्वेक-देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्य विशेषण-विशेष्ययो स्वरूप स्वभाव-अभेदेन च भेद-व्यवहारो मुख्य।

—वही, ३-२-३०।

पूर्व-कल्पित द्वैत भी सत्य होगा ।[1] शकर-मतवादी तादात्म्य के एक ही पहलू मे रुचि नही रखते किन्तु ब्रह्म जीव के ऐक्य सिद्ध करने मे भी रुचि रखते हैं। तादात्म्य की सिद्धि आवश्यक रूप से द्वैत के अभाव की सत्ता अनुमित करती है। यदि ऐसा अभाव मिथ्या है तो तादात्म्य भी मिथ्या होगा, क्योकि तादात्म्य की सत्ता अभाव की सत्ता पर अवलम्बित है। यदि द्वैत का अभाव सत् है तो द्वैत भी किसी अर्थ मे सत् होगा और तादात्म्य केवल कुछ विशेष पहलू मे ही अभाव की सत्ता अनुमित कर सकता है।

शकर-मतवादी द्वारा, द्वैत या भेद को पदार्थ के रूप मे स्वीकृति के विरुद्ध, ये आक्षेप हैं, पहला, भेद एक सम्बन्ध होने से दो पदार्थों का सन्निवेश करता है और इसलिए अपने अधिष्ठान से एक रूप नही हो सकता जिसमे कि वह रहता है। (भेदस्य नाधिकरण-स्वरूपत्वम्)। दूसरा यदि भेद अधिकरण से भिन्न स्वरूप है तो हमे दूसरी कोटि का भेद लाना पडेगा और वह दूसरे को लाएगा, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि भेद का इस या उस अधिकरण की दृष्टि से सम्बन्ध नही है, किन्तु अधिकरण के प्रत्यय-मात्र की दृष्टि से है (भूतलत्वादिना निरपेक्षत्वेऽपि अधिकरणात्मकत्वेन सापेक्षत्वे क्षतेरभावात्)।[2] भेद का भेद लाने की अनवस्था-स्थिति का आक्षेप, अप्रमाण है, क्योकि सभी भेद अपने अधिकरण से एकरूप हैं। इसलिए भेद की परम्परा मे प्रत्येक मे भेद का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है और अनवस्था-स्थिति का अन्त हो जाता है। 'भूतल पर घडा है' इस उदाहरण मे, घट के भेद का स्वरूप घटत्व है, जबकि भेद के भेद मे, दूसरी कोटि के भेद मे, विशिष्ट प्रकार का निर्दिष्ट भिन्नत्व है। इसके अतिरिक्त, जबकि भेद पदार्थ के विशिष्ट प्रकार को प्रकट करता है, उसमें ये कठिनाईयाँ उत्पन्न नही हो सकती। भेद जब देखा जाता है तब हम, भेद को, वह जिन दो वस्तुओ के बीच रहता है उनमे उसे एक भिन्न पदार्थ के रूप मे नही देखते।[3] हम जीव ब्रह्म के ऐक्य मे भी अन्योन्याश्रय का दोष देख सकते हैं क्योकि यह जीव के ब्रह्म से तादात्म्य पर आश्रित है।

इस विषय का और परीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि भेद उत्पन्न होते है इसी कारण इस पर कोई भी आक्षेप नही लग सकता, क्योकि वे केवल होते हैं

---

[1] क्षितिय ऐक्य-प्रतियोगिक-भेदस्य पारमार्थिकत्व-प्रसगात् ।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० १२ ।

[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० १४ ।

[3] नाप्यन्योन्याश्रय भेद-प्रत्यक्षे प्रतियोगितावच्छेदक स्वभावत्वादि-प्रकार-ज्ञानस्यैव अपेक्षया न तावद् भेद प्रत्यक्षे भेदाश्रयाद् भिन्नत्वेन प्रतियोगि ज्ञान हेतु ।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० १४, १५ ।

उत्पन्न नही किए जाते या वे जाने जा सकते हैं इस कारण भी उस पर आक्षेप नहीं लग सकते, क्योंकि यदि वे कभी नहीं दीखते तो शंकर के अनुयायी तथाकथित भ्रम या भेद के दूषित प्रत्यक्ष को दूर करने के लिए इतने आतुर न होते, या यह सिद्ध करने में अपनी शक्ति न व्यय करते कि घट सभी भौतिक इत्यादि मिथ्या पदार्थ से भिन्न है और सन्त भी नित्य और अनित्य का भेद नहीं कर सकेंगे। पुनः, यह माना है कि ऐसा भी ज्ञान है जो भेद के विचार को बाधित करता है। किन्तु यदि इस ज्ञान में भेद स्वयं का समावेश होता है तो वह बाध नही कर सकता। जो भी कुछ किसी अर्थ को लक्षित करता है वह अर्थ को उससे प्रतिबन्धित करके ही ऐसा करता है और ऐसे सभी प्रतिबंधों मे भेद का समावेश होता ही है। ज्ञान जो भेद के मिथ्यात्व को सिद्ध करता है (अर्थात्, वह भेद नही है, या यहां भेद नही है इत्यादि) वह भी भेद की सत्ता सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहां प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि जो विचार भेद को बाधित करता है वह स्वयं भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है या नहीं। पहले प्रसग मे विचार की प्रमाणता भेद को दूषित नहीं करती, और दूसरे प्रसग मे, अर्थात् यदि वह भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात नहीं होता—वह उससे अभिन्न हो जाता है और उसे बाधित नहीं कर सकता।

यदि ऐसा विवाद किया जाता है कि उपरोक्त प्रक्रिया मे भेद को पदार्थ के रूप मे केवल परोक्ष रूप से ही प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है और भेद के प्रत्यय के स्पष्टीकरण मे कुछ साक्षात् नहीं कहा गया है तो उत्तर यह है कि जिन्होने एकत्व के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है वे अधिक सफल नहीं हुए हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि यदि आत्यंतिक रूप मे एकत्व या तादात्म्य को अन्त में नहीं स्वीकारा जाता तो वह शून्यवाद को लायगा, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह-पूर्वक किया जा सकता है कि भेद, पदार्थ का प्रकार होने से, भेद का निषेध, पदार्थ का निषेध होगा और यह भी शून्यवाद को लाएगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि भेद, भिन्न होने वाले पदार्थ का प्रकार मात्र ही है, तो भी जिन धर्मों के कारण भेद ज्ञात होता है (मेज कुर्सी से भिन्न है, यहां मेज का भिन्नत्व उसका प्रकार ही है, यद्यपि वह कुर्सी के भिन्नत्व के कारण ही समझ मे आता है) जिनमे भेद प्रकार के रूप मे रहता है उन पदार्थों का घटक नही है। शकर-अनुयायी द्वैत के खडन मे इस तरह मानते हैं कि मानोकि ऐसा खडन ही अद्वैत का प्रतिपादन है। एकत्व का विचार इस प्रकार, एक तरफ यद्यपि ऐसे खण्डन पर आश्रित है, फिर भी दूसरी तरफ, उससे अभिन्न है क्योंकि ऐसे सभी खण्डन काल्पनिक माने गए हैं। इसी प्रकार यह आग्रह किया जा सकता है कि भेद की सिद्धि दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध को समावेश करती है, किन्तु तो भी वह जिस पदार्थ का प्रकार है उससे स्वरूपतः अभिन्न है, दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध समझने के हेतु से ही आवश्यक है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जबकि भेद, पदार्थ का प्रकार मात्र ही है इसलिए पदार्थ के ज्ञान का अर्थ आवश्यक रूप से, उसमे विद्यमान सभी भिन्नताओ का ज्ञान है। एक पदार्थ विशेष प्रकार से जाना जा सकता है तो भी वह भेद रूप से अज्ञात भी रह सकता है, ठीक जिस प्रकार अद्वैतवादी यह मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा प्रकाशित रहता है किन्तु तो भी वह सभी वस्तुओ के एकत्व के रूप मे अज्ञात रहता है। दो पदार्थों के बीच के भेद को समझाने के लिए, अनवस्था दोष लाने जैसी तार्किक प्राथमिकता आवश्यक नही है। किन्तु दोनो एक ही चेतना के विषय होते हैं और एक का ज्ञान दूसरे से भिन्नत्व के रूप मे प्रतीत होता है। इसी प्रकार की पृथकता, अद्वैतवादियो को भी जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को समझाने के लिए बतानी चाहिए, नही तो, उनके लिए भी अनवस्था के दोष का अभियोग खडा हो सकता था। क्योकि जब कोई कहता है, 'ये दो भिन्न हैं' उनका द्वैत और भेद उनके भेद के ज्ञान पर आश्रित है, जो विद्यमान रहता हुआ, उनमे तादात्म्य स्थापित करने से रोकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि द्वैत काल्पनिक है, और एकत्व सत्य है तो ये दो भिन्न कोटि की सत्ता वाले होने के कारण एक का व्याघात दूसरे की स्वीकृति की ओर अनिवार्यत नही ले जाता। यह याचना करना कि तादात्म्य-ज्ञान मे दो सापेक्ष पदार्थों का सम्बन्ध आवश्यक नही है यह व्यर्थ है, क्योकि तादात्म्य दो वस्तुओ का निषेध करने पर ही ज्ञात होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से, शकर-मतवादियो का मुख्य सिद्धान्त की सभी वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है, असिद्ध होता है।

निम्बार्क के अनुसार मुक्ति का ध्येय ईश्वर के भाव को प्राप्त करना है (तद्-भावापत्ति)। यही जीवन का अन्तिम उद्देश्य और प्रयोजन है। शकर के अनुसार, मुक्ति जीव की ब्रह्म मे अन्तिम एकता या तादात्म्य मे है। ब्रह्म वास्तव मे जीव से एक है और हमारे व्यावहारिक जीवन मे दीखने वाला भेद अज्ञान या मिथ्या अनुभव मे है, जो हम पर द्वैत का मिथ्या विचार आरोपित करता है। माधव मुकुन्द आग्रह करते हैं कि ऐसे मत के अनुसार, जबकि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, तो फिर उनके लिए प्राप्त करने का कुछ नही रहता। इस प्रकार यहाँ सचमुच उद्देश्य प्राप्ति के प्रयत्न का कोई प्रयोजन नही है। माधव मुकुन्द, शकर के मत की निष्फलता दिखाने के लिए कहते हैं कि यदि चरम चैतन्य एक माना जाता है तो वह अनेक जीवो के अनुभव मे [illegible] रहेगा। वह भिन्न उपाधियो के कारण भिन्न दिखाई देता है ऐसा नही माना जा सकता, क्योकि हम अपने अनुभव मे यह पाते हैं कि यद्यपि शारीरिक [illegible] हमे भिन्न अनुभव होते हैं तो भी वे एक ही व्यक्ति के अनुभव हैं ऐसा [illegible] अनुभव भी होता है। उपाधियो की भिन्नता होने के कारण से भिन्न जीवो के अनुभव की [illegible] होनी चाहिए यह निष्कर्ष नही निकलता [illegible] शकर [illegible] मानते हैं।

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य को अनेक अन्तःकरण से तादात्म्य किया जा सकता है यह भी नही माना जा सकता। पुन शकर-मतवादी यह मानते हैं कि गाढ निद्रा मे (अन्त-करण) चित्त का लय होता है। यदि ऐसा होता है और यदि शुद्ध निर्विशेष चैतन्य अन्त करण के अध्यास से अपने को व्यक्त कर सकता है, तो स्मृति के रूप में चैतन्य की निरन्तरता स्पष्ट नही की जा सकती। यह तर्क नही किया जा सकता कि ऐसी निरन्तरता, गाढ निद्रा मे अन्त करण के सस्कार युक्त रहने से वनी रहती है (सस्कारा-त्मनावस्थितस्य), क्योकि सस्कारावस्थित अन्त करण मे स्मृति नही रह सकती, क्योकि ऐसे प्रसग मे गाढ निद्रा मे भी स्मृति का होना सिद्ध होगा।

आगे, यदि अनुभव अज्ञानावस्था मे होते है, तो मुक्ति जिसका शुद्ध चैतन्य से ही सम्बन्ध है वह, जो बन्धन मे था उस वस्तु से किसी अन्य को लक्ष्य करेगी। दूसरी ओर अनुभव शुद्ध चैतन्य के हैं, तो मुक्ति, एक साथ भिन्न अनुभव के अनुसार, नाना-विध विरोधी अनुभवो से सम्बन्धित नही हो जायगी।

शकर मतवादी आग्रह कर सकते हैं कि उपाधियाँ जो अनुभव उत्पन्न करती हैं, शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होती हैं, और इसलिए, परोक्ष रूप से, अनुभव कर्ता और मुक्ति पाने वाले के बीच निरन्तरता है। इस पर उत्तर यह है कि शोक का अनुभव, उपाधियो का पर्याप्त वर्णन है। जब ऐसा है, तो जहाँ शोक का अनुभव नही है वहाँ उपाधियाँ, जिनका पर्याप्त वर्णन है, वे भी नही हैं। इस प्रकार, जो बन्धन का दु ख पाता है और वह जो मुक्ति पाता है उनमे अलगाव बना रहता है।

पुन , जबकि यह माना गया है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है, तो यह भला प्रकार पूछा जा सकता है कि मुक्ति मे एक उपाधि का लय होता है या अनेक का। पहले प्रसग मे मुक्ति हमेशा रहेगी, क्योकि कोई न कोई उपाधि प्रत्येक क्षण लय होती ही रहती है और दूसरे प्रसग मे मुक्ति होगी ही नही, क्योकि असख्य जीवो के अनुभवो को निश्चित करने वाली सभी उपाधियाँ कभी भी लय नही हो सकती।

यह भी पूछा जा सकता है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य से अश रूप से या पूर्ण रूप से सम्बन्धित है। पहले विकल्प मे, अनवस्था-दोष होगा, और दूसरे मे, शुद्ध चैतन्य का अनेक इकाई मे विभाजन हो जाना अस्वीकार्य होगा।

इसके अतिरिक्त, यह पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ शुद्ध चैतन्य से निरपेक्ष या सापेक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। पहले विकल्प मे अनवस्था दोष आयगा और दूसरे से, मुक्ति असम्भव हो जायगी। बिम्बवाद भी इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण नही कर सकता, क्योकि प्रतिबिम्ब तभी स्वीकार हो सकता है जबकि प्रतिबिम्बित प्रतिमा, पदार्थ की ही कोटि की हो। अविद्या ब्रह्म से दूसरी कोटि की सत्ता की वस्तु है,

इसलिए अविद्या मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब न्याययुक्त नही है। पुन, बिम्ब के प्रसग मे जो प्रतिबिम्बित होता है और जिसमे बिम्ब पडता है, दोनो भिन्न स्थान पर होने चाहिए, जबकि अविद्या और ब्रह्म के प्रसग मे, ब्रह्म, अविद्या का अधिष्ठान है। उपाधि ब्रह्म के एक भाग मे नही रह सकती और न वह उसके पूर्ण भाग मे ही रह सकती है, क्योकि ऐसी अवस्था मे प्रतिबिम्ब असम्भव हो जायगा।

निम्बार्क की प्रणाली मे, द्वैतवाद एव अद्वैतवादी श्रुति-पाठो को पूर्ण स्थान है, द्वैतवादी पाठ जीव और ब्रह्म के भेद को सिद्ध करते हैं और अद्वैतवादी पाठ अन्तिम उद्देश्य की ओर सूचन करते हैं जिसमे जीव ब्रह्म का अश है और एक है ऐसा अनुभव करते है, किन्तु शकर की प्रणाली मे, जहा द्वैतवाद स्वीकार नही किया गया है, गुरु-शिष्य उपदेश को स्थान नही है क्योकि ये सब अज्ञान के अध्यास हैं।

(ख) शंकर के मायावाद के विभिन्न पहलुओ का खण्डन

शकर के मायावाद मे यह मान्यता निहित है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूर्ण या खण्ड ज्ञान होता है। भ्रम मे अज्ञान भाग पर विशिष्ट भासो का अध्यास होता है। वृक्ष का ठूठअश रूप मे एक लम्बी वस्तु सा दिखाई देता है किन्तु ठूठ के रूप मे उसका अन्य भाग इन्द्रिय का विषय नही होता है इसी भाग के सम्बन्ध में ही भ्रम का आरोपण अर्थात् मनुष्य का आरोपण शक्य होता है जिसके कारण लम्बा भाग मनुष्य के रूप मे दीखता है। किन्तु ब्रह्म अखड है और उसमे विभागो की कल्पना ही नही की जा सकती। इसलिए ब्रह्म का पूर्ण रूप से ही ज्ञान होना चाहिए वहाँ भ्रम का कोई स्थान नही रहता। पुन भ्रामक आभास का अर्थ है कि भ्रम का अध्यास किसी पदार्थ पर किया जाना चाहिए। किन्तु, अविद्या जो अनादि होने से वह स्वय भ्रम है ऐसा नही माना जा सकता। अनादित्व के दृष्टान्त का सहारा लेकर ब्रह्म को भी आभास माना जा सकता है। ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण मिथ्या नही हो सकता, यह उत्तर निरर्थक है, क्योकि यद्यपि अधिष्ठान भ्रम का मूल है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि अधिष्ठान सत्य होना चाहिए। अधिष्ठान की स्वतत्र सत्ता है क्योकि वही अज्ञान से सम्बन्धित है जो भ्रम का आधार बन सकता है, ऐसा आक्षेप व्यर्थ है, क्योकि परम्परागत क्रम मे जहाँ प्रत्येक अवस्था अविद्या से सम्बन्धित है वहाँ अधिष्ठान भी असत् हो सकता है। ऐसे मत के अनुसार, शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान नही बन सकता किन्तु भ्रम-युक्त ब्रह्म अज्ञान से सम्बन्धित रहता है। इसके अतिरिक्त, यदि अविद्या और उसके प्रकार सर्वथा असत् है, तो उन पर आरोपण नही हो सकता। जो सचमुच अस्तित्व रखता है उसका कही अध्यारोपण हो सकता है, किन्तु जो है ही नही उसका अध्यारोपण किस प्रकार हो सकता है। शश-विषाण जैसी तुच्छ वस्तु कभी भी अध्यास का आधार नही बन सकती, क्योकि जो नितान्त असत् है, वह दीख भी नही सकता।

(ग) शकर-मतवादियो के अज्ञान मत का खण्डन

अज्ञान को अनादि भाव रूप पदार्थ माना है जो ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है (अनादि-भावत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्)। यह परिभाषा व्यर्थ है क्योकि यह प्रत्यक्ष होने से पहले साधारण पदार्थ को आवृत करने वाले अज्ञान के लिए उपयुक्त नही होती। अज्ञान, वस्तु के अभाव के लिए भी उपयुक्त नही होता, क्योकि वह भाव रूप है। जिन सन्तो ने ब्रह्म-प्राप्ति की है उनमे वह ब्रह्म प्राप्ति होने पर भी वर्तता है इसलिए अज्ञान, ज्ञान द्वारा नष्ट होता है यह मिथ्या सिद्ध होता है। स्फटिक मे प्रतिबिम्ब के कारण लाल रग का देखना, यह जानते हुए भी कि स्फटिक सफेद है और लाल रग प्रतिबिम्ब के कारण है, बना रहता है। यहाँ भी अज्ञान ज्ञान से निवृत्त नही होता। यह भी सोचना गलत है कि अज्ञान, जो दोष-जनित है, उसे अनादि माना जाय। इसके अतिरिक्त, यह बताया जा सकता है कि अभाव को छोडकर सभी पदार्थ जो अनादि है, वे भी आत्मा की तरह अनादि है और यह एक विचित्र मान्यता है कि अज्ञान एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होने पर भी नाशवान् है। पुनः, अज्ञान को सत् और असत् दोनो से विलक्षण मानकर भी इसे भाव पदार्थ कहा गया है। यह कल्पना करना भी कठिन है कि जबकि निषेधात्मक पदार्थ अज्ञान के कार्य माने जाते है तब स्वय अज्ञान को भाव पदार्थ माना जाय। इसके अतिरिक्त, मिथ्या या भ्रम जो ज्ञानाभाव-जनित है, उसे निषेधात्मक पदार्थ मानना पडेगा, किन्तु भ्रम होने से उसे अज्ञान का कार्य मानना पडेगा।

'मैं अज्ञ हूं' इस तथाकथित अनुभव मे अज्ञान की सत्ता का कोई प्रमाण नही है। वह शुद्ध ब्रह्म नही हो सकता, क्योकि तब वह अशुद्ध कहा जायगा। वह भाव रूप ज्ञान भी नही हो सकता, क्योकि यही तो सिद्ध करने का विषय है। आगे यदि अज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए हमे ज्ञान का सहारा लेना पडता है और यदि ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए अज्ञान का सहारा लेना पडता है तो यहाँ दुश्चक्र उपस्थित हो जाता है। वह अह अर्थ भी नही हो सकता, क्योकि वह स्वय अज्ञान का कार्य है, इसलिए वह अज्ञान के अनुभव का अधिष्ठान नही बन सकता। अह का अज्ञ रूप मे अनुभव नही हो सकता, क्योकि वह स्वय अज्ञान का कार्य है। अह को अज्ञान के समानार्थ कभी नही माना जाता, और इस प्रकार अज्ञान का भाव रूप से गुण या द्रव्य के रूप मे अनुभव किया जाता है इसे सिद्ध करने का कोई साधन नहीं है। अज्ञान इस प्रकार ज्ञानाभाव से अन्य और कुछ नही है और शकर-मतवादियो को इसे मानना चाहिए क्योकि उन्हे 'मैं जो तुम कहते हो उसे नही समझता' इस अनुभव की प्रमाणता स्वीकार करनी पडती है, जो शकर-मतवादियो द्वारा अन्य प्रसग पर स्वीकारा गया है और जो ज्ञानाभाव से अन्य कुछ नही है। उपरोक्त उदाहरण, ज्ञानाभाव के ऐसे दृष्टान्तो से किसी भी प्रकार से भिन्न है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। [illegible]

अज्ञान पदार्थ को प्रावृत करता माना जाता है, तो परोक्षवृत्ति के प्रसग में (शकर-मतानुसार वृत्ति अज्ञान आवरण को नही हटाती) हमें यह अनुभव होना चाहिए कि हम ही परोक्षवृत्ति के विषय मे अज्ञ है क्योकि तब अज्ञान का आवरण बना रहता है।[1] इसके अतिरिक्त, माने हुए अज्ञान के सभी अनुभव, ज्ञानाभाव के ज्ञान के रूप में समझाए जा सकते हैं। उपरोक्त प्रकार से मुकुन्द माधव, अज्ञान के वादो की और मत के भिन्न पहलुओ की आलोचना करते है। किन्तु विवाद की पद्धति का जो इन तार्किक खण्डनो मे उपयोग किया गया है उसका वेंकटनाथ एव श्याम तीर्थ ने उपयोग किया है उससे तत्वत भिन्न न होने के कारण, हम मुकुन्द माधव के प्रतिपादन को विस्तार से देना आवश्यक नही समझते।

माधव मुकुन्द के अनुसार प्रमाण

निम्बार्क के अनुयायी आठ मे से केवल तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) ही मानते है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव अर्थात् छोटे का बडे मे समावेश होना, जैसे दस का सौ मे और इतिहास (ऐतिह्य) आठ प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। पाच ज्ञान इन्द्रियो के अनुसार बाह्य पांच प्रकार है। मानस प्रत्यक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहलाता है जो दो प्रकार का है, लौकिक और अलौकिक। सुख-दुःख का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष का उदाहरण है, जबकि आत्मा का स्वरूप, ईश्वर और उनके गुण पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण है। पर आभ्यतर प्रत्यक्ष पुन दो प्रकार का है, एक जो वस्तु के ध्यान करने से प्रकाशित होता है, और दूसरा जो श्रुति वाक्यो पर ध्यान करने से होता है। श्रुति कहती है कि परम सत्य मन से अनुभव नही होता या इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य मन से अनुभव नहीं होता इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य अपनी समग्रता मे मन द्वारा प्रत्यक्ष नही है या गुरु द्वारा सिखाए बिना या योग्य सस्कार उत्पन्न हुए बिना, परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान, जीव का अनादि, नित्य सर्वव्यापी धर्म है। किन्तु हमारी बद्धावस्था में यह ढके हुए दीप की रश्मि की तरह सकुचित रूप मे है। जिस प्रकार घडे में छिपे हुए दीए की रश्मि छेद पार करके कमरे मे जा सकती है और कमरे के दरवाजे से बाहर जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित कर सकती है, उसी प्रकार ज्ञान भी प्रत्येक जीव मे चित्त वृत्ति द्वारा इन्द्रियो तक पहुँचकर, फिर उनकी वृत्ति द्वारा विषय तक पहुँचता है और उन्हे प्रकाशित करके ज्ञान और विषय दोनो को प्रकाशित करता है।

---

[1] परोक्षवृत्तेर्विषयावरका ज्ञान-निवर्तकत्वेन परोक्षतो ज्ञातेऽपि न जानामि त्वनुभवा-पाताच्च।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ७६।

अज्ञान, जो विषय के ज्ञान से नष्ट होता है वह संकुचित अवस्था का आंशिक अन्त है जो ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान का अर्थ इस कथन मे यह है कि ज्ञान विशिष्ट आकार लेकर उसे प्रकाशित करता है। विषय जैसे हैं वैसे ही रहते है किन्तु वे ज्ञान के सयोग से प्रकट होते है और उसके बिना अप्रकट रहते । आभ्यान्तर प्रत्यक्ष के प्रसग मे इन्द्रियो के व्यापार की आवश्यकता नही रहती, इसलिए सुख और दुःख का मन को साक्षात् अनुभव होता है। आत्मचेतना और आत्म अनुभव मे, आत्मा स्वय स्वप्रकाश्य होने से, आत्मा की दिशा मे जाने वाली वृत्तियाँ, सकुचित अवस्था को हटाती हैं और आत्मा के स्वरूप को प्रकट करती हैं। इस प्रकार ईश्वर का अनुभव उनकी कृपा से और चित्त की ध्यानावस्था द्वारा अवरोधो को हटाने से हो सकता है।[1]

अनुमान मे, पक्ष मे हेतु के, ज्ञान को, जिसकी साध्य से व्याप्ति है, जो दूसरे शब्दो मे परामर्श कहलाता है, (वह्नि व्याप्य-धूमवानयम् एव रूपः) अनुमान कहा है और इससे ज्ञान होता है (पर्वत मे आग लगी है)। अनुमान दो प्रकार के है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दूसरे मे तीन ही अवयवो की (प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण) की आवश्यकता मानी है। तीन प्रकार के अनुमान केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी माने जाते है। इन तीन प्रकार के अनुमानो से उत्पन्न व्याप्ति के अतिरिक्त, श्रुति को भी व्याप्ति का प्रकार माना है। इस प्रकार का श्रुति वाक्य है कि आत्मा, अविनाशी और अपने धर्म से कभी रहित नही होता (अविनाशी वारे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा), इसे व्याप्ति माना है, जिससे ब्रह्म जैसे आत्मा का अविनाशीपन अनुमित किया जा सकता है।[2] निम्बार्क के अनुमान के विषय के अन्य कोई महत्व-पूर्ण अग नही है।

सादृश्यत का ज्ञान उपमान के पृथक् अनुमान से होता है ऐसा माना है। सादृश्यत का ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा या श्रुति द्वारा हो सकता है। एक पुरुष चद्र और मुख मे सादृश्यत देखे या वह श्रुति से आत्मा का ईश्वर के स्वरूप से सादृश्य और इस सादृश्यत से वह इसे समझ सकता है। इसे अनुमान के दृष्टान्तो मे समावेश किया जा सकता है। (उपमानस्य दृष्टान्त-मात्रैक विग्रहत्वेनानुमानावयवे उदाहरणे अन्तर्भाव। परपक्षगिरिवज्र, पृ० २५४)।

जिससे किसी के अभाव का ज्ञान होता है उसे अनुपलब्धि प्रमाण माना है। यह चार प्रकार की है, प्रागभाव, अन्योन्याभाव, ध्वसाभाव, और अत्यताभाव (कालत्रयेऽपि नास्तीति प्रतीति-विषय अत्यता भाव॰)। किन्तु अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण के रूप मे मानना आवश्यक नही है, क्योकि निम्बार्क-मत के

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २०३-२०६।
[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २१०।

अनुसार, अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। अभाव का ज्ञान, पदार्थ के प्रतियोगी को, जिसमें उसका संयोग नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव करने के सिवाय और कुछ नहीं है। घड़े का प्रागभाव मृत्पिण्ड मात्र है, घड़े के विनाश का अभाव घड़े के टुकड़े हैं। अन्योन्याभाव वह पदार्थ है जो दूसरे से भिन्न अनुभव किया जाता है, और अत्यन्ताभाव अभाव का प्रतियोगी मात्र है। इस प्रकार अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। सम्भव को आगम का ही एक प्रकार माना जा सकता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में, शंकर मत के अनुसार ही स्वतः प्रामाण्यवाद माना गया है। दोष के न रहने पर प्रमा उत्पन्न करने वाली सामग्री विषय का जैसा है वैसा ज्ञान कराती है, इसे निम्बार्क-मत में स्वतस्त्व कहा है अर्थात् उपरोक्त स्वतः प्रामाण्यवाद की परिभाषा है। (दोषाभावत्वे यावत्स्वाश्रय भूत-प्रमाग्राहक-सामग्रीमात्र-ग्राह्यत्वम्)।[1] जिस प्रकार नेत्र रंगीन पदार्थ देखते समय उस पदार्थ के रूप और आकार को भी देखते है, इसलिए वे पदार्थ के ज्ञान के साथ उसकी प्रमाणता भी ग्रहण करते हैं।

भगवान् के स्वरूप का वर्णन तो, केवल श्रुति द्वारा ही हो सकता है क्योंकि श्रुतियो की शक्ति सीधे ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। जीवों की शक्ति निस्सदेह ईश्वर से ही प्राप्त है, किन्तु वे ईश्वर का बोध नही करा सकती, क्योंकि वे जीव के अपूर्ण मन से दूषित होती हैं। मीमांसक यह सोचने मे गलती करते है कि वेद के सभी पाठों का अर्थ धार्मिक कर्मकाड है, क्योंकि सभी कर्मों का अन्तिम निष्कर्ष ब्रह्म-जिज्ञासा मे पूर्ण होता है और इसके द्वारा मुक्ति की योग्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस दृष्टि से सभी कर्मों के पालन का उद्देश्य मुक्ति-प्राप्ति है।[2] जिसने ब्रह्म-प्राप्ति कर ली है, उसके लिए धर्म-पालन आवश्यक नही रहता, क्योंकि सभी कर्मों का यही अन्तिम फल है और बुद्धिमान् पुरुष को कर्म करके और अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रहता। जिस प्रकार भिन्न प्रकार के बीज बोए जाने भी पर यदि पानी न बरसे तो वे भिन्न प्रकार के वृक्ष उत्पन्न नही करेंगे, उसी प्रकार, कर्म अपने आप फल नही दे सकते। ईश्वर की कृपा से ही कर्म अपना निर्दिष्ट फल देते हैं। इसलिए नैमित्तिक कर्म चित्त-शुद्धि मे सहायक हैं, उन्हे स्वतन्त्र रूप से अन्तिम ध्येय नही माना जा सकता, जो जिज्ञासा उत्पन्न करने तथा ईश्वर से अन्तिम एकता प्राप्त करने का रहा है।

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० २५३।

[2] वही, पृ० २७६-२८०।

रामानुज और भास्कर के मतों की आलोचना

रामानुज और उनके अनुयायियो का यह मानना है कि जीव और जड जगत् भगवान के गुण है। विशेषण का काम एक पदार्थ का उसके जैसे दूसरे पदार्थ से भेद करना है। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'राम, दशरथ का पुत्र है' तब 'दशरथ पुत्र या बलराम और परशुराम से भेद स्पष्ट हो जाता है। किन्तु जीव और जड-जगत् को ब्रह्म का विशेषण कहने से कोई हेतु सिद्ध नही होता, क्योकि वे ब्रह्म को अपने जैसे अन्य पुरुषो से भेद नही करते, क्योकि रामानुज मतवादी भी जीव, जड जगत् और दोनो के अन्तर्यामी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नही स्वीकारते। जब भेद करने के लिए कुछ नही है तब जीव और जड का प्रत्यय असाधारण धर्म के रूप मे भी व्यर्थ हो जाता है। विशेषण का दूसरा कार्य, पदार्थ को ठीक तरह समझने मे सहायता करना है। जीव और जड का ब्रह्म के गुण के रूप मे ज्ञान, हमे ब्रह्म को और अच्छी तरह समझने मे सहायक नही है।

पुन, यदि ब्रह्म, जीव और जड से सम्बन्धित है, तो वह उनके दोषो से भी सम्बन्धित होना चाहिए। यह तर्क किया जा सकता है कि ब्रह्म जिसमे जीव और जड रहते हैं वह स्वय विशेषित है या नही। पहले विकल्प के अनुसार, रामानुज मतवादियो को शकर के अनुयायियो की तरह निर्गुण सत्ता को स्वीकारना पडता है और ब्रह्म मे एक अश ऐसा भी मानना पडता है जिसका निर्गुण सत्ता के रूप मे अस्तित्व है। यदि ब्रह्म, अश रूप से सगुण और अश रूप से निर्गुण है तो वह अपने कुछ अशो मे ही सर्वज्ञ होगा। यदि शुद्ध असग ब्रह्म सर्वज्ञ माना जाता है तो एक ब्रह्म सर्वज्ञता और अन्य गुणो से सम्बन्धित होगा और दूसरा ब्रह्म जीव और जड से सम्बन्धित होगा और इस प्रकार अद्वैतवाद खण्डित हो जायगा। शुद्ध ब्रह्म जीव और जड के बाहर होने से, वे दोनो नियन्ता के विना रहेगे और ब्रह्म से स्वतत्र होगे। इसके अतिरिक्त, इस मत के अनुसार ब्रह्म कुछ अश मे उत्तम एव शुद्ध गुणो से युक्त होगा और दूसरे अशो मे भौतिक जगत् एव अपूर्ण जीवो के दूषित गुणो से युक्त होगा। दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात्, जड और जीव विशिष्ट ब्रह्म ही परम सत्ता है तो यहाँ एक नही किन्तु दो भिन्न मिश्र तत्वो का समावेश होता है और ब्रह्म पहले की तरह दो विरुद्ध, शुद्ध और अशुद्ध गुणो से युक्त होगा। पुन यदि ब्रह्म को सग्रथित इकाई माना जाता है और यदि जड और जीव, जो आपस मे परिच्छिन्न और भिन्न है वे यद्यपि ब्रह्म मे भिन्न होते हुए भी उसके अग माने जाते हैं तो इस परिस्थिति मे यह कैसे सोचा जा सकता है कि ये अग ब्रह्म से, अभिन्न होने पर भी भिन्न हो सकते हैं।[1]

---

[1] परपक्ष गिरि वज्र, पृ० ३४२।

निम्बार्क के मत में श्रीकृष्ण ही ईश्वर या परम सत्ता हैं जो जीव और जड़ जगत् को धारण करते हैं जो उनके अंग हैं और पूर्ण रूप से उनसे नियमित हैं। इसलिए उनकी परतन्त्र सत्ता है। परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की होती है, जीव, जो कि जन्म-मरण में आते दीखते हैं अपनी प्रकृति से नित्य हैं और अचित्, जड़ द्रव्य जिससे शरीर निर्माण होता है उसके अधिष्ठान हैं। श्रुति जिस द्वैत का वर्णन करती है वह यही है सबका, परम द्रव्य ब्रह्म, जो चेतन पूर्ण स्वतन्त्र है तथा जीव और जड़ जिनकी परतन्त्र सत्ता है, इनके बीच का है। श्रुति, जो द्वैत को अस्वीकार करती है, परम ब्रह्म को लक्ष्य करती है जो स्वतन्त्र है और सभी सत्ता का आधार भी है। श्रुति ब्रह्म को 'नेति नेति' कहकर वर्णन करती है, वह यह सूचित करती है कि ब्रह्म किस प्रकार सभी वस्तुओं से भिन्न है, या दूसरे शब्दों में यों कहती है कि किस प्रकार ब्रह्म जड़ और जीव से भिन्न है जो भौतिक उपाधियों से मर्यादित है।[1] ब्रह्म इस प्रकार परम सत्ता है सभी उत्तम और श्रेष्ठ गुणों का आगार है और अन्य सभी परतन्त्र वस्तुओं से भिन्न है। अद्वैतवादी ग्रन्थ उपरोक्त तथ्य को लक्ष्य करते हैं कि जड़ जगत् और असंख्य जीव तो परतन्त्र हैं वे ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते और इसी अर्थ में वे इससे एक हैं। उनकी सत्ता ब्रह्मात्मभाव में है और उससे पूरी तरह से व्याप्त हैं (तद्व्याप्यत्व) और उसी से आधारित हैं और उसी में उनका वास है तथा उससे पूर्णतया नियमित हैं।[2] जिस प्रकार सभी पदार्थ घड़े, पत्थर इत्यादि में द्रव्य होने के कारण द्रव्यत्व रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार जीव और जड़, ईश्वर से व्याप्त होने के कारण ईश्वर कहे जा सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार इनमें से वास्तव में, कोई भी द्रव्य नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार जीव और जड़ को ईश्वर से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।[3]

[1] वस्तुतस्तु नेति नेतीति नञ्भ्या प्रकृत स्थूल सूक्ष्मत्वादि धर्मवत्-जड-वस्तु-तदवच्छिन्न जीववस्तु विलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३४७।

[2] तयोश्च ब्रह्मात्मकत्व-तन्नियमत्व-तद्-व्याप्यत्व-तदभिन्नसत्व तदाधेयत्वा-दियोगेन तदपृथक्सिद्धित्वात् अभेदोऽपि स्वाभाविक।

—वही, पृ० ३५५।

[3] यथा घटो द्रव्य, पृथ्वी द्रव्यमित्यादौ द्रव्यत्वावच्छिन्नेन सह घटत्वा-वच्छिन्न-पृथिवीत्वा वच्छिन्नयोः सामानाधिकरण्य मुख्यमेव विशेषस्य सामान्याभिन्नत्व-नियमात् एव प्रकृतेऽपि सार्वज्ञाद्यनन्ताचिन्त्या-परिमितविशेषा वच्छिन्नेनापरिच्छिन्न-शक्ति-विभूतिकेन तत्पदार्थेन पर ब्रह्मणा स्वात्मक चेतन चेतनत्वावच्छिन्नयोस्त दात्मरूपयोस्त्वमादि पदार्थयो सामानाधिकरण्य मुख्यमेव।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५५-५६।

भास्कर के अनुयायी भी जीव को मिथ्या मानने मे गलती करते है क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्म पर मिथ्या उपाधि के आरोपण से मिथ्या दीखते हैं। तथाकथित उपाधियो का ब्रह्म पर आरोपण नही समझा जा सकता है। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि अणु रूप जीव ब्रह्म पर उपाधि के आरोपण के कारण है, जिसके कारण पूर्ण ब्रह्म भी स्वय जीव रूप मे दीखता है या जिससे ब्रह्म विभाजित हो जाता है और इसी विभाजन के कारण अनेक जीव रूप दीखता है, या ब्रह्म इन उपाधियो से विशिष्ट हो जाता है या उपाधियाँ स्वय जीव रूप दीखती है। ब्रह्म एकरस और अखण्ड होने के कारण विभाजित नहीं हो सकता। यदि वह विभाजित भी हो जाय तो जीव इस विभाजन से उत्पन्न होने के कारण कालगत होगे और इसलिए नित्य न होगे, और यह मानना पड़ेगा कि इस मत के अनुसार जितने जीव हैं उतने भागो मे ब्रह्म को विभाजित होना पड़ेगा। यदि यह माना जाता है कि उपाधियुक्त ब्रह्म के अंश ही जीव दीखते हैं तो ब्रह्म इन उपाधियो से दोषयुक्त हो जायगा और वह अंश बनकर जीव को उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त, उपाधियो के स्वरूप मे परिवर्तन होते रहने के कारण, जीवों का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहेगा, और इस प्रकार वे सहज ही बन्धन और मुक्ति पाते रहेंगे।[1] यदि उपाधि के परिवर्तन से ब्रह्म मे भी परिवर्तन होता है तो ब्रह्म अखण्ड और सर्वव्यापी न रहेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म पूर्णतया उपाधि-ग्रस्त हो जाता है, तो एक ओर, शुद्ध परब्रह्म न रहेगा, और दूसरी ओर, सभी शरीर में एक ही आत्मा रहेगी। पुन, यदि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं, तो फिर वे ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं यह कथन त्याग देना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि उपाधियाँ स्वय जीव या आत्मा है, तो यह चार्वाक जैसा भौतिकवाद हो जाता है। पुनः यह नही माना जा सकता कि उपाधियाँ केवल ब्रह्म के नैसर्गिक गुणो को आवृत करती हैं, जैसाकि सर्वज्ञता, इत्यादि, परन्तु ये स्वाभाविक गुण होने के कारण हटाई नही जा सकती। एक दूसरा प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ये स्वाभाविक गुण ब्रह्म से भिन्न हैं या नही, या भेद मे अभेद रूप है। वे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नही हो सकते, क्योंकि यह मानने से द्वैत आ पड़ता है। वे ब्रह्म से अभिन्न भी नही हो सकते, क्योंकि तब वे ब्रह्म के गुण नहीं माने जा सकेंगे। यदि वे अपना ही स्वरूप हैं तो आवृत नही किए जा सकते, क्योंकि ऐसे प्रसग मे ब्रह्म की सर्वज्ञता का अन्त हो जायगा। यदि ऐसा माना जाता है कि वे भेद मे अभेद रूप हैं तो यह निम्बार्क-मत को मानना होगा।

---

[1] किञ्च उपाधौ गच्छति सति उपाधिना स्वावच्छिन्न-ब्रह्म-प्रदेशाकर्षण-योगात् अनुक्षणमुपाधि-संयुक्त-प्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बन्ध मोक्षौ स्याताम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५७।

पुन, यदि ऐसा माना जाता है कि सर्वज्ञता इत्यादि स्वाभाविक गुण भी उपाधि के कारण है, तो यह पूछा जा सकता है कि ये उपाधियाँ ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न। दूसरे (पिछले) विकल्प के अनुसार, उनमे ब्रह्म मे नानात्व उत्पन्न करने की शक्ति न होगी। पहले विकल्प के अनुसार, यह पूछा जा सकता है कि वे अपने से कार्यान्वित होते है या किसी अन्य कारक या ब्रह्म से कार्यान्वित होते हैं। पहले मत के अनुसार यह स्वगतिवाद की आलोचना का ग्रास होगा, दूसरा हमे अनवस्था-दोष की ओर ले जायगा, और तीसरा आत्माश्रय की स्थिति को पहुँचायगा। इसके अतिरिक्त, इस मत मे, ब्रह्म नित्य होने से, उसकी गति भी नित्य होगी, और उपाधियो के कार्य का अन्त कभी भी न आयगा इस प्रकार मुक्ति अशक्य हो जायगी। उपाधियो को मिथ्या असत् या तुच्छ नही माना जा सकता, क्योंकि तब यह निम्बार्क मत के मानने के बराबर हो जायगा।[1]

यह आगे पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ किसी कारणवशात् आरोपित होती है या अकारण ही। पहले विकल्प मे, अनवस्था-दोष आता है और दूसरे मे, मुक्त पुरुष भी फिर बद्ध हो सकता है। पुन, यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञता इत्यादि गुण जो ब्रह्म मे हैं वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से व्याप्त करते हैं या उसके कुछ अश को। पहले मतानुसार, यदि गुण ब्रह्म को पूर्णतया व्याप्त करते हैं तो मुक्ति असम्भव है और चेतना का सारा क्षेत्र अज्ञान आवृत होने के कारण पूर्ण अधकार का प्रसग उपस्थित होगा (जगदाध्य-प्रसग)। दूसरे मतानुसार, सर्वज्ञता केवल ब्रह्म का एक ही गुण या एकाशिक होने से ब्रह्म के पूर्णत्व का अन्त होता है।

भास्कर के मत का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि मुक्त जीवो की पृथक् सत्ता है या नही। यदि पहला विकल्प माना जाता है और यदि उपाधियो का नाश होने पर भी जीव अपनी पृथक् सत्ता रखते है तो फिर भेद उपाधि द्वारा जनित हैं यह मत त्याग देना पडेगा (औपाधिक-भेद-वादो दत्त-जलाजलि स्यात्)। यदि जीवो की पृथक्ता मुक्तावस्था मे बनाई नही रखी जा सकती, जो उनके स्वरूप का नाश होता है, और यह शकरानुयायियो के मायावाद मानने के बराबर होगा, जो यह मानते हैं कि ईश्वर और जीव के मुख्य गुण नाशवान् है।

यह मानना गलत है कि जीव ब्रह्म के अश मात्र हैं, क्योंकि इस प्रसग मे, अश से बना होने के कारण ब्रह्म स्वय नाशवान् होगा। जब श्रुति जगत् और जीव को ब्रह्म का अश कहती है तो उसके कहने का बल ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसकी तुलना मे कही छोटा है इस बात पर है। यह भी कल्पना करना कठिन है कि अन्त करण ब्रह्म के स्वरूप को मर्यादित करने मे किस प्रकार कार्य कर सकता है। ब्रह्म किस प्रकार

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ३५८।

इन उपाधियो को अपना स्वरूप दूषित करने देता है। ब्रह्म ने इन जीवो को उत्पन्न करने के लिए इन उपाधियो को नही बनाया है, क्योकि जीव, उपाधियो के पहले अस्तित्व में नही थे। इस प्रकार ब्रह्म भेदाभेदवाद का सिद्धान्त जो उपाधियो के कारण माना गया है (औपाधिक भेदाभेदवाद) सर्वथा गलत है।

निम्बार्क के मतानुसार, इसलिए, ब्रह्म और जीव के बीच भेद और अभेद स्वाभाविक है और जैसा भास्कर सोचते हैं वैसा औपाधिक नही हैं। सर्प काकुण्डलाकार उसके लम्बे आकार से भिन्न है जो उसका स्वरूप है, कुण्डल का सर्प से कोई पृथक् अस्तित्व नही है। कुण्डलाकार का सर्प के स्वाभाविक स्वरूप मे वास है ही। किन्तु वहाँ यह अपृथक् है अदृश्य है, और सर्प ही है जिससे वह आश्रित और सपूर्णतः व्याप्त है। इस प्रकार जीव और जगत्, एक दृष्टि से ब्रह्म से पूर्णतया अभिन्न हैं, क्योकि वह उनका आधार है और उसमे पूर्णतया व्याप्त है, और उस पर आश्रित है, फिर भी दूसरी दृष्टि से, ब्रह्म से, दृश्य रूप और व्यापार रूप से भिन्न है।[1] दूसरा दृष्टान्त जिसके सहारे निम्बार्कमतानुयायी अपनी बात स्पष्ट करना चाहते है वह है सूर्य और उसकी किरणो का दृष्टान्त। किरणें एक ओर सूर्य से अभिन्न हैं, फिर भी वे भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का विषय होती है।

इस मत का रामानुज से यह भेद है कि जबकि रामानुज जीव और जड को, ब्रह्म को विशिष्ट करते हुए मानते हैं और इस अर्थ मे वे उससे अभिन्न हैं, निम्बार्क मतवादी जड और जीव द्वारा, ब्रह्म के स्वरूप के नित्य विकार के प्रसग को अस्वीकार करते हैं।

जगत् की सत्ता

शकर-मतवादी मानते हैं कि यदि जगत् जो कार्य रूप होने मे सत् होगा तो उसका ब्रह्म-ज्ञान होने पर निरास न किया जा सकेगा, यदि वह तुच्छ है तो वह प्रत्यक्ष नही दीखेगा। किन्तु जगत् हमे प्रत्यक्ष दीखता है और उसका बोध भी होता है इसलिए वह अनिर्वचनीय है, यह कहने का अर्थ यही होता है कि वह मिथ्या है।[2]

---

[1] यथा कुण्डलावस्थापन्नस्य अहे कुण्डल व्यक्तापन्नत्वात् प्रत्यक्ष-प्रमाण-गोचर तद् भेदस्य स्वाभाविकत्वात् लम्बायमानावस्थाया तु सर्पायतावच्छिन्न-स्वरूपेण कुण्डलस्य तत्र सत्वेऽपि अव्यक्त-नामरूपतापत्त्या प्रत्यक्षागोचरत्व सर्वात्मकत्व-तदाधेयत्व-तद् व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदयस्यापि स्वाभाविकत्वम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० २६१।

[2] असतच्चेन्न प्रतीयते सच्चेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च अत सदसद्-विलक्षण हि अनिर्वचनीयमेव अभ्युपगन्तव्यम्। —परपक्षगिरिवज्र, २८८।

परन्तु इस अनिर्वचनीयता का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह नही है कि वह खरगोश के सीग जैसे निर्मूल पदार्थ की तरह पूर्णतया असत् है। इसका यह भी तात्पर्य नही है कि जो पूर्णतया असत् होगा, वह आत्मा होगा। किन्तु सभी पदार्थ या तो है या नही है। (सत् या असत्) क्योकि सत् और असत् से भिन्न कोई वस्तु नही होती। यह ऐसी भी नही हो सकती जिसकी कोई परिभाषा ही नही की जा सके, क्योकि इसे अभी ही अनिर्वचनीय कहकर परिभाषा दी गई है (नापि निर्वचनानर्हत्वम् अनेनैव निरुच्यमानतया असभवात्)। इसे अभाव का प्रतियोगी भी नही कहा जा सकता, क्योकि तुच्छ वस्तु भी ऐसी नही है, और ब्रह्म भी जो सत् है और निर्गुण है वह भी किसी सत्ता का प्रतियोगी नही है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, मिथ्या भास का प्रतियोगी है तो वह तथाकथित अनिर्वचनीय के विषय मे सच कहा जा सकता है। ब्रह्म किसी भी सत्ता का प्रतियोगी नही है जो उसकी कोटि का हो। वह सत् और असत् दोनो का प्रतियोगी नही है, ऐसी व्याख्या भी ब्रह्म की नही की जा सकती क्योकि तुच्छ वस्तु का कोई प्रतियोगी नही होता, क्योकि तुच्छ वस्तु अपने स्वय के अभाव का प्रतियोगी नही होती। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म और तुच्छ वस्तु निर्गुण हैं, तो वे दोनो ही सत् और असत् वस्तु के प्रतियोगी माने जा सकते हैं, और इस प्रकार वे अनिर्वचनीय माने जा सकते है।

यह भी नही कहा जा सकता कि अनिर्वचनीयता एक ऐसी वस्तु है जिसका वह पर्याप्त रूप से ऐसी है, या ऐसी नही है, इस प्रकार वर्णन नही किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म मे और अनिर्वचनीयता मे कोई भेद न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अनिर्वचनीय वह है जिसकी सत्ता के विषय मे कोई प्रमाण दिया नही जा सकता, तो वही ब्रह्म के विषय मे भी कहा जा सकता है, क्योकि ब्रह्म प्रत्यय-रहित शुद्ध सत्व होने से, उसे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही किया जा सकता।

पुन, जब ऐसा कहा जाता है कि अनिर्वचनीय सत् और असत् दोनो ही नही है तो सत् और असत् शब्द के अर्थ समझ के परे हो जाते है। क्योकि सत् शब्द का अर्थ सामान्य सत्ता नही हो सकता, ऐसा प्रत्यय न ब्रह्म और न जगदाभास मे रहता है। सत् को अर्थक्रियाकारित्व की परिभाषा भी नही दी जा सकती और न उसे बाधरहित कहा जा सकता है, न अभाव ही कहा जा सकता है जिसकी बाध सम्भव है, क्योकि जगदाभास जिसका बोध होता है वह अभाव रूप नही माना गया है, वह असत् और सत् दोनो रूप नही है। सत् और असत् की, जो सिद्ध नही किया जा सकता, ऐसी भी परिभाषा नही कर सकते, क्योकि ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जो न सिद्ध ही है और न असिद्ध ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जगत्-प्रपच को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह सत् और असत् से भिन्न है, क्योकि उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। पुन यह भी आग्रह किया जा सकता कि यदि किसी वस्तु का ठीक

तरह से सत् या असत् रूप से वर्णन नही कर सकते तो वह पदार्थ सर्वथा अवास्तव होना चाहिए, यदि कोई वस्तु सत् और असत् रूप से ठीक तरह वर्णित नही हो सकती, तो वह अवास्तव है यह अर्थ नही निकलता। अविद्या का अन्तिम प्रलय असत् या सत् है ऐसा हम वर्णन नही कर सकते, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ऐसा प्रलय स्वय अवास्तविक और अनिर्वचनीय है (नानिर्वाच्यश्च तत्क्षय)।

पुन, 'जगत् का ज्ञान से लय होना' इस सीधे वाक्य से जगत् का मिथ्यात्व आवश्यक रूप से अनुमित नही होता। यह मानना गलत है कि ज्ञान मिथ्या अज्ञान का नाश करता है, क्योकि ज्ञान, अपने जैसे विषय वाले, अभाव का नाश करता है, एक पदार्थ का ज्ञान, जैसेकि घडे का ज्ञान, किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से निरास किया जा सकता है, सस्कार प्रत्यभिज्ञा से हटाए जा सकते हैं, मोह, सासारिक वस्तुओ में दोष दर्शन से हटाया जा सकता है और उसी प्रकार पाप पुण्य कर्म से। प्रस्तुत प्रसग मे भी, यह भली प्रकार मानना चाहिए कि केवल ब्रह्म के ज्ञान से नही किन्तु उसके स्वरूप के ध्यान से जगत् की वस्तुओ के विषय मे मिथ्या विचार हटते हैं। इस प्रकार बन्धन भी सत्य है, और वह ब्रह्म के स्वरूप के ध्यान से नही हट सकता, यदि श्रुति ऐसा कहती है, तो इस विषय मे कोई आक्षेप भी नही किया जा सकता। जो काटा जा सकता है या हटाया जा सकता है वह आवश्यक रूप से मिथ्या होना चाहिए, यह किसी भी न्याय-युक्त मान्यता से अनुमित नही होता। पुन यह अनुभव से सुविदित है कि जो नष्ट किया जाता है और जो नष्ट करता है उनकी एक ही कोटि की सत्ता होती है, यदि ब्रह्म ज्ञान जगत् के प्रति दृष्टिकोण को मिटा सकता है तो वह दृष्टिकोण भी सत्य होना चाहिए। जैसे ज्ञान और ज्ञेय एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं उसी प्रकार दोष का अधिष्ठान भी है, ब्रह्म और अज्ञान एक ही कोटि की वस्तु है और इसलिए दोनो सत्य है।

आगे, यदि जिसे अज्ञान कहा जाता है वह मिथ्या ज्ञान ही केवल है, तो जब वह आत्म-ज्ञान से हट जाता है तो उसे जीवन मुक्ति या सिद्धावस्था मे बने रहने का कोई कारण नही है। इसलिए, एक वस्तु ज्ञान से मिट सकती है, केवल इसी कारण, वह मिथ्या है, यह केवल उसका ज्ञान से विरोध प्रकट करता है। इसलिए ससार भी सत्य है और बन्धन भी। बन्धन किसी प्रकार के ज्ञान से नहीं हटता किन्तु ईश्वर-कृपा से हटता है।[1] सच्चे ज्ञान का कार्य भगवान् को कृपा करने के लिए जगाना है जिससे बन्धन की ग्रन्थि कट जाय।

पुन, सभी श्रुति की इस बात पर एक वाक्यता है कि इस दृश्य जगत् का ईश्वर द्वारा धारण एव रक्षण किया जाता है। यदि यह जगत् केवल मिथ्या-प्रपच ही होता

---

[1] वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बध-निवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० २८८।

तो यह कहने का कोई अर्थ ही न होता कि भगवान् ने इसे धारण किया है। क्योंकि जगत् मिथ्या है यह जानकर वह उसे रक्षण और पालन करने के लिए कोई प्रयत्न नही करता। यदि भगवान् स्वय अज्ञान के प्रभाव मे है, ऐसा माना जाता है तो वह ईश्वर ही नही कहा जा सकता।

पुरातन विवाद प्रणाली स्वीकार करते हुए माधव मुकुन्द कहते हैं कि जगत् को जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है उसे कभी भी सिद्ध या प्रमाणित नही किया जा सकता। जगत् मिथ्या है इसे सिद्ध करने का एक प्रमाण यह दिया जाता है कि वह ज्ञेय है या दृश्य है। किन्तु यदि वेदान्तग्रन्थ, ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे लिखते हैं तो उन पाठो के अर्थ ज्ञान से, ब्रह्म का स्वरूप बुद्धिगम्य हो जायगा और इसलिए मिथ्या होगा। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ब्रह्म सोपाधिक रूप से ही बुद्धिगम्य होता है और वह उपाधियुक्त ब्रह्म मिथ्या माना जाता है तो उत्तर यह है कि जब ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से प्रकट नही हो सकता तो उसकी शुद्धता सिद्ध नही की जा सकती। यदि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप बुद्धि के विषय के रूप मे, श्रुति के वर्णन के अनुसार प्रकट नही हो सकता, तो वह स्वप्रकाश्य नही है, यदि वह बुद्धि की वृत्ति से व्यक्त होता है तो वृत्ति से व्यक्त होने के कारण मिथ्या है। यह भी नही कहा जा सकता कि क्योंकि जो कुछ भी अशुद्ध है वह पर-प्रकाश्य है इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो कुछ भी अज्ञात है वह स्वप्रकाश्य है क्योंकि शुद्ध सत्ता जो नितान्त असग है वह व्यतिरेक व्याप्ति से लक्षित नही की जा सकती या जानी नही जा सकती। इस प्रकार अशुद्ध ही स्वय एक केवल भाव पदार्थ के रूप मे जाना जाता है, शुद्ध से विरोधी तत्व के रूप में नही जाना जाता, क्योंकि ऐसा ज्ञान, शुद्धता के ज्ञान को अनुमित करेगा। यदि इसलिए, स्वप्रकाश्यता के विधेय को शुद्धता-विरोधी के रूप मे अशुद्धता में अस्वीकार नही किया जाता, तो स्वप्रकाश्यता भी शुद्धता में स्वीकृत नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध ब्रह्म बुद्धि द्वारा कभी भी ज्ञात नही हो सकता तो मुक्ति कभी शक्य न होगी, या मुक्ति केवल उपाधियुक्त ब्रह्म से होगी।

इसके अतिरिक्त, यदि सभी पदार्थ ब्रह्म पर अध्यास के कारण हैं तो उनके ज्ञान के साथ ब्रह्म का भी ज्ञान होना चाहिए। श्रुति भी ऐसा कहती है, 'ब्रह्म मन द्वारा देखा जाना चाहिए और कुशाग्र शुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए,' ब्रह्म मन द्वारा और कुशाग्र शुद्धि द्वारा ग्रहण करना चाहिए।' (मन सेवोनु द्रष्टव्यम् ··दृश्यते त्वग्रया बुद्धया)। और भी श्रुतिपाठ हैं, जो ब्रह्म को ध्यान का विषय बताते हैं (त पश्यति निष्कल ध्यायमानम्)।

पुन· मिथ्या को निश्चित करने वाली अनुभव क्षमता या बुद्धिगम्यता को चैतन्य से सम्बन्धित होने के अर्थ मे परिभाषित किया जाता है, जबकि शुद्ध चैतन्य का भ्रम द्वारा सम्बन्धित होना माना गया है तो ब्रह्म भी प्रत्यक्ष हो सकता है इस प्रकार की

आपत्ति उठाई जा सकती है। इस सम्बन्ध मे, यह समझना कठिन है कि, ब्रह्म जिसका अज्ञान से कोई विरोध नही है, उसका वृत्ति से या चेतनावस्था से सयोग होने पर, अज्ञान से किस प्रकार विरोध हो सकता है। इस प्रकार मानने के बजाय, यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि पदार्थ का अपने ही अज्ञान से विरोध हो जाता है जबकि वह वृत्ति से सम्बन्धित हो जाता है जब वह उसी अन्तर्वस्तु को अपना विषय बनाए रहती है। ऐसी मान्यता के अनुसार दृश्यता चित्तवृत्ति युक्त चैतन्य से नही होती, क्योंकि उपाधि का सम्बन्ध विषय से होता है न कि चैतन्य से। इस प्रकार यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि एक पदार्थ अपनी ही चित्त-वृत्ति द्वारा उपाधि-युक्त होकर दृश्य बनता है। चित्त-वृत्ति का शुद्ध चैतन्य पर बिम्ब पडना चाहिए, यह मान्यता अनावश्यक है, क्योंकि यह भली प्रकार माना जा सकता है कि अज्ञान वृत्ति द्वारा ही नष्ट होता है। एक विषय या पदार्थ, वृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है और किसी भी वस्तु का भान होने के लिए यह आवश्यक नही है कि वृत्ति, प्रत्यय या प्रतिकृति को चैतन्य मे प्रतिबिम्बित होना चाहिए। पुन यदि ब्रह्म अपना ही ज्ञेय विषय नही बन सकता, तो उसे स्वप्रकाश्य भी नही कहा जा सकता। क्योंकि स्व-प्रकाश्यता का अर्थ यही है कि वह अपने को स्वतत्र रूप से प्रकट करे और उससे यह अर्थ निकलता है कि ब्रह्म स्वय अपना विषय है। यदि जो अपना विषय नही हो सकता उसे ही स्वप्रकाश्य कहा जा सकता है तो भौतिक पदार्थ भी स्वप्रकाश्य कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, निर्विशेष ब्रह्म मे अपने स्वरूप से अतिरिक्त परोक्षता या स्वप्रकाश्यता नही हो सकती (निर्विशेष ब्रह्मणि स्वरूप-भिन्नापरोक्षस्य अभावेन)।

अद्वैतवाद मे आत्मा को शुद्ध ज्ञान स्वरूप माना गया है, जिसमे ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नही है। किन्तु जो यह दोनो ही नही है उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान को विषय को प्रकाशित करने वाला माना है। यदि जो विषय को प्रकट नही करता उसे ज्ञान कहा जा सकता है, तो घडा भी ज्ञान कहलाया जा सकता है। पुन, एक प्रश्न स्वाभाविक तौर से खडा होता है कि यदि ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तो वह प्रमा होगा, या अप्रमा, यदि प्रमा है तो अज्ञान इसके द्वारा प्रकाश पाता है, वह भी प्रमा कहलाएगा, और यदि वह अप्रमा है तो वह किसी दोष के कारण होगा, और आत्मा मे कोई ऐसा दोष नही है। यदि वह न तो सच्चा या झूठा ज्ञान है तो ज्ञान होगा ही नही। पुन, यदि जगत्-प्रपच भ्रम है, तो वह ब्रह्म पर अध्यस्त होगा। यदि ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान है, तो वह सामान्य तौर से जानने मे आने वाला कोई एक पदार्थ होगा किन्तु उसका विस्तार से ज्ञान नहीं होगा। किन्तु ब्रह्म कोई ऐसा पदार्थ नही है जिसका हमे सामान्य या विशेष रूप से ज्ञान हो। ब्रह्म, इसलिए अध्यास का अधिष्ठान नही माना जा सकता। इस सम्बन्ध मे आगे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यदि जगत् असत् था तो उसका अनुभव नहीं हो सकता था, तुच्छ

वस्तु किसी के अनुभव मे नही आती। भ्रम-जनित सर्प भी सच्चा भय पैदा कर सकता है यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि भ्रम-जनित सर्प भय उत्पन्न नही करता किन्तु सर्प का सच्चा ज्ञान उसे उत्पन्न करता है। एक बच्चा सच्चे सर्प को पकडने मे नही डरता क्योकि उसे सर्प के विषय मे कोई ज्ञान नही होता और न उसके हानिकारक गुणो का ज्ञान होता है। स्वप्न को भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई सच्ची कृतियाँ मानना चाहिए, उसे मिथ्या आरोपण नही मानना चाहिए। स्वप्न, स्वप्न द्रष्टा को ही दीखते हैं और किसी को नही, इसलिए वे मिथ्या हैं यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि एक व्यक्ति के भाव और विचार उससे निकटवर्ती को मालूम नहीं हो सकते।[1]

जगत्, इस प्रकार ब्रह्म पर मिथ्या आरोपण नही है किन्तु ब्रह्म की विभिन्न शक्तियो का परिणाम है। इस मत का सांख्य मे यह भेद है कि सांख्य कुछ प्राकृत तत्वो के सम्पूर्ण परिणाम को मानता है जबकि निम्बार्क ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों के परिणाम को मानते है। ब्रह्म स्वय नित्य अपरिणामी एव अविकारी रहता है केवल उसकी शक्तियाँ ही परिणाम पाती है और दृश्य जगत् उत्पन्न करती हैं।[2]

जगत्, ब्रह्म के माया मे प्रतिबिम्बित होने से उत्पन्न होता है या इससे उपाधि-ग्रस्त होने से उत्पन्न होता है, यह स्पष्टीकरण अप्रमाण है, क्योंकि माया दूसरी ही कोटि का पदार्थ है, ब्रह्म का उसमे प्रतिबिम्बित होना या उपाधिग्रस्त होना नही हो सकता। एक चोर को स्वप्न की डोरी से नही बाधा जा सकता।

वनमाली मिश्र

भारद्वाज वश के वनमाली मिश्र, वृन्दावन से दो मील दूरी पर, त्रियग के निवासी थे उन्होने अपने 'वेदान्त सिद्धान्त सग्रह' मे जो 'श्रुति सिद्धान्त सग्रह' भी कहलाता है, निम्बार्क-मत के महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए है। ग्रन्थ कारिकाओ और उनकी टीकाओ की शैली मे लिखा गया है। इस ग्रन्थ का आधार निम्बार्क की ब्रह्म सूत्र टीका तथा उनकी अन्य टीकाएँ हैं।

वे दु ख का कारण, आत्मा से बाह्य पदार्थों के प्रति मोह को मानते है, सुख इसका विरोधी है।[3] स्वार्थ दृष्टि से किए गए कर्म, वेदनिषिद्ध कर्मो का करना तथा वेद-विहित कर्मों का न करना पाप उत्पन्न करता है। इसके विपरीत कर्म तथा वे जो भगवान् को प्रिय हैं, पुण्य उत्पन्न करते हैं। पाप और पुण्य, का मूल, भगवान् की

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२९।

[2] वही, पृ० ४२९।

[3] श्रुति सिद्धान्त सग्रह, १, ९, १०, ११।

शक्ति ही है जो भगवान् के गुणों को आवृत कर कार्य करती है।[1] अविद्या सत् और भाव रूप है और प्रत्येक जीव मे भिन्न है। यह मिथ्या या भ्रम को उत्पन्न करती है जिससे वस्तु अयथार्थ दीखती है और यही मिथ्या-ज्ञान पुनर्जन्म का कारण है।[1] प्रत्येक जीव मे अविद्या भिन्न है। इसी अविद्या के कारण व्यक्ति अपने शरीर से ममत्व करके मोहित होता है और इसी के कारण उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। वास्तव मे सभी के सारे कर्म भगवान् के कारण है और जब कोई यह अनुभव कर लेता है तब उसका मोह टूट जाता है और वह फलाशा त्याग देता है। अविद्या, चित्त और सुख-दु ख के अनुभव उत्पन्न करती है, यही मिथ्या मोह उत्पन्न करती है जिससे वह इन अनुभवो को अपना मान लेता है और ज्ञान और आनन्दमूलक अपने स्वरूप का अनुभव करना छोड़ देता है। केवल विदेह ही इस अवस्था का भोग करते हैं, जीवन मुक्त और सन्त इसे अन्य रूप मे ही भोगते हैं। अज्ञान-जनित मोह के कारण ही, मनुष्य ईश्वरेच्छा पर अग्रसर होने के लिए जागृत होता है। किन्तु यह ज्ञान सचमुच अज्ञान है इसलिए दु ख का अनुभव भी सच्चा है। हमारा पुनर्जन्म वेद-विरुद्ध कर्म करने से या अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने के कारण होता है।[2] भगवान् द्वारा ही हमारे सारे कर्म होते है और कर्त्ता किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नही है, ऐसा अनुभव करने से आत्मा शुद्ध होती है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि दूसरे पदार्थ से मिथ्या सम्बन्ध जोड़ने से और अपने को सचमुच स्वतन्त्र मानने से वह दु ख का भागी होता है, तब वह अपने कर्मों और सुख-दु ख से विरक्त हो जाता है और सभी पदार्थो को दु ख-रूप समझने लगता है। यही विरक्ति भगवान् को प्रिय है। वेद मे भक्ति प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधन कहे गए हैं।[3] निदिध्यासन, श्रवण और मनन करने पर ही होता है, क्योंकि निदिध्यासन साक्षात् अनुभव है जो श्रवण और मनन के बिना शक्य नही है। उपरोक्त प्रक्रिया से ही चित्त शुद्ध होता है, जो

---

[1] प्रति जीव विभिन्ना स्यान् सत्या च भावरूपिणी।
अतस्मिस्तद्धियो हेतु निदान जीव ससृतो।

—श्रुति सिद्धान्त सगह, १–१५।

[2] अत काम्य निषिद्धम् च दु ख बीज त्यजेत् बुध। श्रुति सिद्धान्त सगह पृ० ६३। वनमाली मिश्र के अनुसार मनुष्य अपने कर्मानुसार मृत्युपर्यन्त स्वर्ग या नरक मे जाता है और अपने फल का भोग प्राप्त करने पर या दु ख उठाकर वह वृक्ष रूप से जन्मता है उसके बाद तिर्यक् योनि मे, फिर यवन या म्लेच्छ योनि मे, फिर निम्न जाति में और अन्त मे ब्राह्मण कुल मे जन्म लेता है।

[3] अन्यार्थं विषय पुरो ब्रह्माकारधिया सदा।
निदिध्यासन शब्दार्थो जायते सुधिया हि स।

—वही, २–१३।

भगवान् को प्रिय है और जिस प्रकार सगीत के अभ्यास से ही राग और स्वर अपरोक्ष होते हैं उसी प्रकार भगवान् अपरोक्ष होते हैं। यह अपरोक्ष अनुभव अपने आपका ही है। क्योकि इस अवस्था मे चित्त-व्यापार नही रहता। वृत्यात्मक अनुभव का अन्त होना भगवान् के अपरोक्ष अनुभव के बराबर है। यह अवस्था अविद्या या मनोनाश की अवस्था है।[1] इस प्रकार मनुष्य परम मुक्ति की अवस्था मे भगवान् का आनन्द स्वरूप मे अनुभव करता है, लेकिन तब भी वह भगवान् के सभी गुणो का अनुभव नही कर सकता, क्योकि भगवान् भी अपने सारे गुणो को नही जानते। ऐसी मुक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्य है। ऐसी मुक्तावस्था मे मनुष्य, एक मछली जिस प्रकार उदधि मे तैरती है, ऐसे वह भगवान् मे वास करता है। भगवान् अपनी कृपा की सहजता से ससार-रचना करते हैं, अपनी कृपा को बढावा देने के लिए ऐसा नही करते, उसी प्रकार मुक्त भी भगवान् मे अपने स्वरूप का सहजता से स्मरण करते हैं अपना आनन्द बढाने के लिए नही करते।[2] भगवान् हमारे अन्तर मे ही विराजमान हैं और उसे हम साक्षात् करते हैं तब ही हम मुक्ति पाते हैं। कुछ लोग इस लोक मे मुक्ति पाते हैं और कुछ परलोक मे, जहाँ से वे, अपने कर्मानुसार गमन करते है। किन्तु सभी प्रकार की मुक्ति, अज्ञान के नाश से, मनुष्य की स्वस्थिति मे वास है।[3] जीवन-मुक्त या सन्त पुरुष वे हैं जिनकी अविद्या का नाश हो गया है, किन्तु अभी उन्हे अपने

[1] ब्रह्म-गोचरस्य वेदान्त-वासित-मनसि उत्पन्नस्य आपरोक्ष्यस्य य प्रागभाव तस्य अभावो ध्वसो ज्ञान-तद्-ध्वसान्यतररूपो ज्ञान-ब्रह्मण सम्बन्ध ससार-दशाया नास्ति। —वही, २–१६।

[2] आनदोद्रकतो विष्णोर्यथा सृष्टयादि-चेष्टनम्।
तथा मुक्तचिता क्रीडा न त्वानद विवृद्धये। —वही, २–३७।

[3] स्वरूपेण स्थिति मुक्ति रज्ञान ध्वस पूर्वकम्। (वही, २–५८ यह मुक्ति चार प्रकार की हो सकती है, सारूप्य, अर्थात् कृष्ण बाह्य रूप जैसी, सालोक्य अर्थात् विष्णु-लोक मे वास, सायुज्य, या भगवान् मे लय होना, सामीप्य या भगवान् के किसी रूप से सम्बन्धित होकर उनके पास रहना। भगवान मे लय- होना उनसे एक होना नही समझना चाहिए। यह अर्थ पशुओ का वन मे भ्रमण करने जैसा है। मुक्त जीव भगवान् से भिन्न हैं, किन्तु वे भगवान् मे वास करते हैं (एव मुक्ता हरे भिन्न रमन्ते तत्र मोदत वही २ ६१) वे भगवान् मे से बाहर भी आ सकते है, और हम भी सुनते है कि वे उत्तरोत्तर अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के शरीर मे प्रवेश करते हैं। इन मुक्त जीवो का ससार-रचना और सहार से कोई वास्ता नही होता। वे, यह परिणाम होते रहते भी वैसे ही बने रहते हैं। वे महाभारत के नारायणीय भाग मे वर्णित श्वेतद्वीपवासी जैसे है। तो भी वे भगवान् के नियत्रण मे हैं और इस नियत्रण का किसी प्रकार का दु ख नही उठाते।

प्रारब्ध का फल भोगना बाकी है। भगवत्प्राप्ति, संचित और क्रियमाण को नष्ट कर सकती है किन्तु प्रारब्ध को नष्ट नहीं कर सकती।

यह समझना गलत है कि हर कोई आनन्द का अनुभव कर सकता है, इच्छित अवस्था केवल वही है जिसमें व्यक्ति अनिरोध आनन्द अनुभव कर सके।[1] गाढ निद्रा की अवस्था में आनन्द का थोड़ा अनुभव हो सकता है, किन्तु पूर्ण आनन्द नहीं अनुभव किया जा सकता जैसाकि मायावादी मानते हैं। मायावादी और बौद्ध में कोई भी भेद नहीं है केवल कहने के ढंग में ही भेद है।[2]

आत्मा को अणु माना है, किन्तु उसकी सत्ता अहं-प्रत्यय से सिद्ध होती है, (अहं प्रत्ययवेद्य), जो समस्त अनुभव भोगता है। भगवान् पर आश्रित होते हुए भी वह सचमुच कर्ता है जो अविद्या से प्रभावित होकर ऐसा करता है। आत्मा की सत्ता भी जीवन की सभी अवस्थाओं की निरन्तरता से सिद्ध होती है। स्वार्थ कर्म के प्रति सभी जीवों की ममता यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक आत्मा को अपने में अनुभव करता है और यह आत्मा प्रत्येक में भिन्न है। जीव और ईश्वर में भेद यह है कि जीव की शक्ति और ज्ञान सीमित है और वह परतन्त्र है और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और स्वतन्त्र है, वह जीवों में अविद्या-शक्ति द्वारा स्वतन्त्रता का मिथ्या विचार पैदा करता है। जीव इस प्रकार ईश्वर से भिन्न है, किन्तु वे मुक्तावस्था में ईश्वर में रहते हैं और उनके सभी कर्म ईश्वर की अविद्या शक्ति से नियन्त्रित हैं, इसलिए उन्हें ईश्वर से एक भी माना जा सकता है। जीव का चित्त ईश्वर की अविद्या का कार्य है, जीव का जगत् अनुभव भी, ईश्वर की क्रिया के कारण है। आत्म स्वरूप होने से, जीव को ईश्वर के स्वरूप का शुद्ध आनन्द के रूप में अनुभव होता है। जीव की स्वरूपावस्था ही उनकी मुक्तावस्था है। जीव अपने स्वरूप से सत् चित् आनन्द रूप है और अणु होने पर भी, अन्तर्वृत्ति द्वारा अपने सारे शरीर का अनुभव कर सकते है जिस प्रकार कि दीप अपने प्रकाश से सारे कमरे को प्रकाशित करता है। दुःख का अनुभव भी अन्तःकरण का शरीर के भिन्न भागों में प्रसारण और अविद्या से शक्य है, जिस अविद्या के कारण जीव अपने पर अन्य वस्तुओं का अध्यास करता है। जीव का दूसरे पदार्थों से सम्बन्ध प्रत्येक के अन्तःकरण से शक्य है इसलिए प्रत्येक जीव के अनुभव का क्षेत्र भी उसके अन्तःकरण के व्यापार तक ही सीमित है। प्रत्येक जीव में पृथक् अन्तःकरण है।

---

[1] पुरुषार्थं मुक्तित्वं हि नत्वानन्द-स्वरूपता। —वही, २८६।

[2] मैयतो न विशेषोऽस्ति मायि सौगतयोर्मते।
भङ्गीमात्र-भिदा तु स्यात् एकस्मिन्नपि दर्शने। —वही, २–१३६।

उपनिषद् ईश्वर को सर्व कहते है, (सव खल्विद ब्रह्म) और यह इसलिए सभी मे व्याप्त है और सबो का नियता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव उस पर आश्रित है और आधारित है (तदाधारत्व), किन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि वे उससे अभिन्न हैं। ईश्वर स्वय अपने आप सभी वस्तुओ को रच सकता है, किन्तु केवल अपनी लीला के लिए क्रीडा के लिए, वह प्रकृति की और जीवो के कर्मो से उत्पन्न नियति की, सहायता लेता है। यद्यपि ईश्वर मनुष्यो को अपनी इच्छानुसार कर्म करने देता है किन्तु उसका नियत्रण अनादि अदृष्ट के अनुसार होता है। यहाँ पर जो कर्मवाद प्रतिपादित किया गया है वह पतजलि के कर्मवाद से भिन्न है। पतजलि और उनके टीकाकारो के अनुसार मनुष्य अपने सुख-दुःख रूप कर्मो के फलो का भोग अपनी स्वतन्त्रता से भोगता है किन्तु यहाँ मनुष्य के कर्म ईश्वर द्वारा, उनके पिछले शुभाशुभ कर्मानुसार, नियन्त्रित है जो अनादि है। इस प्रकार हमारे साधारण जीवन मे हमारे सुख-दुःख ही नही, किन्तु अच्छे और बुरे कर्म करने की शक्ति भी हमारे पिछले कर्म द्वारा ईश्वर के नियत्रण से निश्चित है।

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल मे किस प्रकार काल एक पृथक् वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त मे लय होती हैं। ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं। मैत्री उपनिषद् मे काल को अकाल भी कहा है।[1] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति है। सर्ग की उत्पत्ति के बाद जब वह सूर्य की गति के रूप मे नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निसर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल की शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो बिना किसी नियन्ता के होता है। काल का ऐसा विचार सौंदर्यधर्मी है क्योंकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय मे, गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने डस लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर बल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक संवाद है। इस संवाद मे ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओं का चालक ही नहीं है किन्तु सत्व रजस् और तमस् की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जंगम, सभी आंदोलन और उनका अन्त, सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड़ है वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर ये काल मे ही समाते हैं। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल, अवश्य ही, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओं का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वयं काल से उत्पन्न है और काल भविष्य में होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था या दर्शन है जो काल का अनन्त एवं सर्वातिशायी कारण के रूप मे विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियन्त्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणों मे मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म मे नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप मे है जो [illegible] के [illegible] से क्रियाशील होती है।[2]

जगत्, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से, साक्षात् प्रकट नही होता, और न काल, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म मे से परिणाम द्वारा प्रकट होते हैं। यदि जगत्, ब्रह्म से साक्षात् ही प्रकट हुआ होता तो पाप और बुराइयाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई मानी जातीं। ईश्वर के अनादि सकल्प द्वारा सत्व के सयोग मे, ब्रह्म, पूर्व सर्ग के आरम्भ में, ईश्वर रूप से कार्य करता है और सचमुच पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है जो ब्रह्म मे अव्यक्त हैं और दोनो का सयोग कराता है। जिस क्षण ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है उसे काल माना जा सकता है। इस अर्थ मे काल को, बहुधा ब्रह्म का गत्यात्मक कारक माना जाता है। यद्यपि पुरुष अपने आप मे सर्वथा सक्रिय है, किन्तु उनमे प्रकृति के सयोग के कारण आदोलन का भास होता है, जो सर्वदा गतिशील है। काल, ब्रह्म का गत्यात्मक कारक होने से, स्वाभाविक तौर से प्रकृति की गति से सम्बन्धित है, क्योकि पुरुष और प्रकृति, स्वय दोनो, अपने आप मे सक्रिय हैं और ब्रह्म की गत्यात्मक शक्ति से क्रियमाण होते हैं। वास्तविक सत्ता के सभी रूपो मे काल मर्यादित और निश्चित है, और इस कारण अनित्य और कुछ अश मे काल्पनिक है। गत्यात्मक क्रिया के समस्त व्यापारो मे निहित नित्य शक्ति के रूप मे काल नित्य कहा जा सकता है। जो काल, प्रकृति पुरुष का सयोग स्थापित करता है तथा महत् को भी उत्पन्न करता है, वह अनित्य है और इसलिए प्रलय के समय, यह सयोग न रहने के कारण, नही रहता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष का सयोग कराने वाला काल निश्चित काल है, वहाँ एक ओर ब्रह्म के सकल्प द्वारा मर्यादित है और दूसरी ओर विकारो से भी मर्यादित है, जिन्हे वह उत्पन्न करता है। यह निश्चयात्मक काल ही भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप मे निर्दिष्ट किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान, भूत और भविष्य मे परिणाम सन्निविष्ट है और यह क्रिया या गति की अपेक्षा करता है, यह क्रिया या गति जो काल के भूत वर्तमान और भविष्य रूप व्यक्त रूप से असग है, नित्य है।[1]

---

[1] अथर्ववेद १९ ५४। अथर्ववेद में काल को पृथ्वी और आकाश का जनयिता कहा है और सभी पदार्थ काल में ही बसते हैं। तपस् और ब्रह्म भी काल मे हैं, काल सभी का ईश्वर है। काल सभी जीवो को उत्पन्न करता है। ससार, काल द्वारा गतिशील किया गया है, उसी से उत्पन्न किया गया है और उसी ने ससार को धारण किया है। काल ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे काल को सूर्य ने मूल कारण के रूप में धारण किया है ऐसा कहा गया है। मैत्री उपनिषद् मे (४–१४) काल से सभी जीव उत्पन्न होते हैं उसी मे वे बढते हैं और लय होते हैं। काल निर्गुण रूप है (कालात् स्रवन्ति भूतानि, कालात्, वृद्धि प्रयान्ति च। काले चास्त नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्)।

उसी ग्रन्थ मे यह भी कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, काल और अकाल।

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल मे किस प्रकार काल एक पृथक् वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त मे लय होती हैं। ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं। मैत्री उपनिषद् मे काल को अकाल भी कहा है।[1] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति हैं। सर्ग की उत्पत्ति के वाद जब वह सूर्य की गति के रूप मे नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निसर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल की शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो विना किसी नियता के होता है। काल का ऐसा विचार सौंदर्यधर्मी है क्योकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय मे, गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने डस लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर वल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक सवाद है। इस सवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओ का चालक ही नही है किन्तु सत्व रजस् और तमस् की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जगम, सभी आदोलन और उनका अन्त, सूर्य, चद्र, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड है वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर वे काल मे ही समाते हैं। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल, अवश्य ही, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओ का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वय काल से उत्पन्न है और काल भविष्य में होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था का वर्णन है जो काल का अतःस्थ एव सर्वातिशाही कारण के रूप मे विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियंन्त्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणो मे मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म मे नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप मे है जो भगवान् के सकल्प से क्रियाशील होती है।[2]

---

[1] जो सूर्य से पहले है वह अकाल है और अखड है तथा जो सूर्य के वाद है वह काल है और सखड है।

[2] अहिर्वुंध्न्य सहिता मे, जो पचरात्र मत का ग्रन्थ है, नियति और काल, अनिरुद्ध से उत्पन्न पर काल की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस काल से पहले सत्व गुण उत्पन्न होता है फिर उससे रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होते हैं।

आगे यह भी कहा है कि काल सभी का सयोग वियोग कराता है। काल, अवश्य ही अपनी शक्ति को विष्णु की सुदर्शन शक्ति से पाता है। प्रकृति का विकार परिणाम भी काल के ही कारण है।

जगत्, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से, साक्षात् प्रकट नही होता, और न काल, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म मे से परिणाम द्वारा प्रकट होते हैं। यदि जगत्, ब्रह्म से साक्षात् ही प्रकट हुआ होता तो पाप और बुराइयाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई मानी जाती। ईश्वर के अनादि सकल्प द्वारा सत्व के सयोग से, ब्रह्म, पूर्व सर्ग के आरम्भ मे, ईश्वर रूप से कार्य करता है और सचमुच पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है जो ब्रह्म मे अव्यक्त हैं और दोनो का सयोग कराता है। जिस क्षण ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है उसे काल माना जा सकता है। इस अर्थ मे काल को, बहुधा ब्रह्म का गत्यात्मक कारक माना जाता है। यद्यपि पुरुष अपने आप मे सर्वथा सक्रिय है, किन्तु उनमे प्रकृति के सयोग के कारण आदोलन का भास होता है, जो सर्वदा गतिशील है। काल, ब्रह्म का गत्यात्मक कारक होने से, स्वाभाविक तौर से प्रकृति की गति से सम्बन्धित है, क्योकि पुरुष और प्रकृति, स्वय दोनो, अपने आप मे सक्रिय हैं और ब्रह्म की गत्यात्मक शक्ति से क्रियमाण होते हैं। वास्तविक सत्ता के सभी रूपो मे काल मर्यादित और निश्चित है, और इस कारण अनित्य और कुछ अश मे काल्पनिक है। गत्यात्मक क्रिया के समस्त व्यापारो मे निहित नित्य शक्ति के रूप मे काल नित्य कहा जा सकता है। जो काल, प्रकृति पुरुष का सयोग स्थापित करता है तथा महत् को भी उत्पन्न करता है, वह अनित्य है और इसलिए प्रलय के समय, यह सयोग न रहने के कारण, नही रहता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष का सयोग कराने वाला काल निश्चित काल है, वहाँ एक ओर ब्रह्म के सकल्प द्वारा मर्यादित है और दूसरी ओर विकारो से भी मर्यादित है, जिन्हे वह उत्पन्न करता है। यह निश्चयात्मक काल ही भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप मे निर्दिष्ट किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान, भूत और भविष्य मे परिणाम सन्निविष्ट है और यह क्रिया या गति की अपेक्षा करता है, यह क्रिया या गति जो काल के भूत वर्तमान और भविष्य रूप व्यक्त रूप से असग है, नित्य है।[1]

[1] अथर्ववेद १९ ५४। अथर्ववेद मे काल को पृथ्वी और आकाश का जनयिता कहा है और सभी पदार्थ काल मे ही बसते हैं। तपस् और ब्रह्म भी काल मे हैं, काल सभी का ईश्वर है। काल सभी जीवो को उत्पन्न करता है। ससार, काल द्वारा गतिशील किया गया है, उसी से उत्पन्न किया गया है और उसी ने ससार को धारण किया है। काल ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल को सूर्य ने मूल कारण के रूप में धारण किया है ऐसा कहा गया है। मैत्री उपनिषद् मे (४–१४) काल से सभी जीव उत्पन्न होते हैं उसी मे वे बढते हैं और लय होते हैं। काल निर्गुण रूप है (कालात् स्रवन्ति भूतानि, कालात्, वृद्धि प्रयान्ति च। काले चास्त नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्)।
उसी ग्रन्थ में यह भी कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, काल और अकाल।

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल मे किस प्रकार काल एक पृथक् वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त मे लय होती हैं। ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं। मैत्री उपनिषद् मे काल को अकाल भी कहा है।[1] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति हैं। सर्ग की उत्पत्ति के बाद जब वह सूर्य की गति के रूप मे नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निसर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल की शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो बिना किसी नियतता के होता है। काल का ऐसा विचार सौदर्यधर्मी है क्योकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय मे, गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने डस लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर बल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक सवाद है। इस सवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओ का चालक ही नही है किन्तु सत्व रजस् और तमस् की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जगम, सभी आदोलन और उनका अन्त, सूर्य, चद्र, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड है वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर वे काल मे ही समाते हैं। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल, अवश्य ही, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओ का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वय काल से उत्पन्न है और काल भविष्य मे होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था का वर्णन है जो काल का अतःस्थ एव सर्वातिशाही कारण के रूप मे विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियन्त्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणो मे मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म मे नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप मे है जो भगवान् के सकल्प से क्रियाशील होती है।[2]

---

[1] जो सूर्य से पहले है वह अकाल है और अखड है तथा जो सूर्य के बाद है वह काल है और सखड है।

[2] अहिर्बुध्न्य सहिता मे, जो पचरात्र मत का ग्रन्थ है, नियति और काल, अनिरुद्ध से उत्पन्न पर काल की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस काल से पहले सत्व गुण उत्पन्न होता है फिर उससे रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होते हैं।

आगे यह भी कहा है कि काल सभी का सयोग वियोग कराता है। काल, अवश्य ही अपनी शक्ति को विष्णु की सुदर्शन शक्ति से पाता है। प्रकृति का विकार परिणाम भी काल के ही कारण है।

पुरुष शब्द का श्रुति मे एक वचन मे प्रयोग किया गया है, किन्तु वह जाति को उद्देश्य करके कहा गया है, देखें साख्य सूत्र १–१५४ (नाद्वैत-श्रुति-विरोधो जाति-परत्वात्)।[1] परम पुरुष या ईश्वर तथा सामान्य पुरुषो मे भेद यह है कि सामान्य पुरुष कर्मानुसार सुख-दु ख का अनुभव करते हैं, जबकि ईश्वर सत्वमय देह के प्रतिविम्ब के कारण सर्वदा आनन्द का नित्य और निरन्तर अनुभव करता है। सामान्य पुरुषो मे सुख-दु ख का अनुभव असाधारण धर्म के रूप से नही हैं, क्योकि जीवनमुक्तअवस्था मे ऐसा अनुभव नही रहता है। ब्रह्म, अवश्य ही, दूसरो के सुख-दु ख के अनुभवो से क्लिष्ट हुए बिना अनुभव कर सकने हैं। चरम सिद्धान्त या ब्रह्म, शुद्ध चैतन्य है जो पुरुष, प्रकृति तथा उनके विकारो के अन्तर्गत है और ये स्वरूप से ब्रह्म के आविर्भाव हैं, इसलिए आपस मे सम्बन्धित दीख सकते है। प्रकृति का व्यापार भी अन्त मे शुद्ध चैतन्य की सहज गति के कारण ही है, जो मूल सत्ता है।

विवेक और अविवेक, भेद और अभेद का ज्ञान, बुद्धि का गुण है, इसी कारण पुरुष अपने को बुद्धि से परिच्छिन्न नही कर सकते जिनमे वे सम्बन्धित हैं। पुरुष का बुद्धि से सयोग यह बताता है कि उसमे भेद और अभेद दोनो की विशेषता है। कठिनाई यह है कि विवेक के प्रकाश पर अविवेक की शक्ति का इतना विरोध है कि विवेक व्यक्त हो नही पाता। योग का उद्देश्य अविवेक की शक्ति को निर्बल करना है और अन्त मे उसे निर्मूल करना है जिससे विवेक प्रकट हो जाय। अब यह पूछा जा सकता है कि अन्तराय का स्वरूप क्या है। उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह अविवेक है जो प्रकृति के विकारो के सयोग से, राग द्वेष से उत्पन्न होता है और ज्ञान को उभरने नही देता। साख्य तो यह कहता है कि विवेक के उदय का न होना, पुरुष और बुद्धि के स्वरूप मे अतिसूक्ष्मता होने के कारण है जिससे वे एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते हैं कि उनमे विवेक करना कठिन हो जाता है, किन्तु साख्य के इस मत से यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि इन दो तत्वो के बीच अति सूक्ष्मता ही विवेक

साख्य कारिका की माठर वृत्ति को काल के सिद्धान्त को जगत् कारण के रूप में लक्ष्य करती है, (कालः सृजति भूतानि काल सहरते प्रजा। काल सुप्तेपु जागर्ति तस्मात् काल तु कारणम्) और उसका यह कहकर खण्डन करती है, कि काल जैसे पृथक वस्तु नही है (कालो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति) केवल तीन ही पदार्थ हैं, व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष और काल इनके अन्तर्गत है (व्यक्त मव्यक्त पुरुष इति त्रय एव पदार्थ तत्र कालो अतर्भूत)।

[1] अहिर्बुधन्य सहिता मे तो पुरुष को पुरुषो के समूह के अर्थ मे लिया गया है, जैसेकि मधुमक्खी का पुज है जो सघ रूप से व्यवहार करता है और पृथक रूप से भी।

—अहिर्बुधन्य सहिता, ६ ३३।

मे अतराय रूप है। क्योकि यदि ऐसा होता तो इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास उपयोगी नहीं होगा। मूल कारण यह है कि हमारा स्थूल पदार्थों के प्रति राग द्वेषात्मक सबध ही इन दोनो सूक्ष्म तत्वो के विषय मे विवेक उत्पन्न करने मे बाधक है। स्थूल पदार्थों से हमारा मोह, इनसे दीर्घ काल के इन्द्रिय-सम्बन्ध से है। दार्शनिक को, इसलिए, स्थूल पदार्थों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। ससार-रचना का मूल हेतु, पुरुष को भोग की सामग्री प्रदान करना है, जिसे बुद्धि के माध्यम से, सुख-दु ख, भोग और कष्ट के बदलते अनुभव होते रहते है। बुद्धि के असग होने पर इन अनुभवो का अन्त हो जाता है। ईश्वर वस्तुत शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, यद्यपि उसका ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है, तो भी, सर्वशक्तिमता, सर्वव्यापित्व तथा अन्य गुण ईश्वर को इसलिए दिए जाते हैं कि ईश्वर का महापुरुष के रूप मे प्रणिधान करने से ही भक्ति शक्य है, और भक्ति तथा प्रेम द्वारा ही सच्चे ज्ञान का उदय हो सकता है। श्रुति मे ऐसा कहा गया है कि ईश्वर-प्राप्ति, तप, दान या यज्ञ से नही हो सकती, केवल भक्ति से ही होती है।[1] परम भक्ति प्रेमस्वरूपा है। (अत्युतमा भक्ति प्रेमलक्षणा)।

ईश्वर सभी मे अन्तर्यामी रूप से विराज-मान है और उसके लिए बिना इन्द्रियो के माध्यम के, सभी पदार्थ प्रकट है। ईश्वर को सर्वव्यापी कहा है क्योकि वह सभी का कारण है और अन्तर्यामी भी है।

भक्ति, भगवान् का नाम-श्रवण करने, उनके गुणो का वर्णन करने, पूजा करने और अन्त मे ध्यान करने मे है जिससे सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबको भगवत्-सेवा कहा है। यह सारा कार्यक्रम प्रेम से करना होता है। भिक्षु, गरुड पुराण का समर्थन देते हुए कहते हैं कि भज् शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ मे किया गया है। वे भागवत का भी उल्लेख, यह बताने के लिए करते हैं कि भक्ति उस भाव से सबधित है जो आंखो मे अश्रु लाती है, हृदय को गद्गद करती है और रोमाच उत्पन्न करती है। भक्ति द्वारा भक्त जिस प्रकार गगा सागर मे अपने को लय करती है उसी प्रकार भक्त अपने को विलीन करता है और भगवान् मे लय करता है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होगा कि भिक्षु प्रेमलक्षणा भक्ति को श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मतो का भगवान् की भक्ति के प्रति अत्यन्त सीमित क्षेत्र है। क्योकि यदि परम सत्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो हम ऐसी

[1] अह प्रकृष्ट. भक्तितोऽन्यैः साधने द्रष्टु न
शक्य· भक्तिरेव केवला मद्दर्शने साधनम्।
ईश्वर गीता टीका। (हस्त० प० महा० गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिपल क्वीन्स कालेज वाराणसी से प्राप्त)।

सत्ता से पारस्परिक सम्बन्ध नही जोड सकते। प्राप्ति की अन्तिम अवस्था भी परम सत्ता से तादात्म्य होने मे ही है, जो स्वय पुरुष रूप नही है इसलिए उसके साथ कोई पारस्परिक सम्बन्ध भा शक्य नही है। विज्ञानामृत भाष्य ४-१-३ मे भिक्षु कहते हैं कि प्रलय या मुक्ति के समय, जीव का किसी भी ज्ञान के विषय मे सम्बन्ध नही रहता, इसलिए वे अचेतन होते हैं और लकडी या पत्थर जैसी जड वस्तु के समान होने से वे सर्वाविभासक परमात्मा मे इस तरह मिलते हैं जैसे सागर मे नदी। पुन, यही परमात्मा, अपने मे से, उन्हे आग के स्फुल्लिग की तरह बाहर फेंकते हैं और उन्हें विविक्त करते है और उन्हे कर्म करने की प्रेरणा करते हैं।[1] यह परमात्मा हमारी आत्मा का अन्तर्यामी तथा प्रेरक है। किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि यह परमात्मा परम सत्य, शुद्ध चैतन्य नही है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के सत्वमय देह के सयोग की अभिव्यक्ति है। इस तरह तात्विक दृष्टिकोण से परम सत्य और जीव के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नही हो सकता। किन्तु फिर भी शुद्ध चैतन्य रूप ईश्वर का दार्शनिक दृष्टिकोण से पारस्परिक सम्बन्ध शक्य न होते हुए भी, भिक्षु ने, आवश्यक दार्शनिक निष्कर्ष के नाते नही, किन्तु ईश्वरवादी धारा के कारण इसे यहाँ प्रतिपादित किया है। यह ईश्वरवादी सम्बन्ध रहस्यात्मक रूप मे भी विचारा गया है जो प्रेमोन्माद सा है। ईश्वरीय प्रेम का ऐसा विचार, भागवत पुराण मे और चैतन्य द्वारा प्रचारित वैष्णव सम्प्रदाय मे पाया जाता है। यह रामानुज सिद्धान्त में प्रतिपादित भक्ति के सिद्धान्त से भिन्न है, जहाँ भक्ति अनवरत, धारावाहिक समाधि के रूप मे मानी गई है। यदि हम भागवत पुराण गत भावात्मक की गणना न करें तो, भिक्षु इस प्रकार भावात्मक ईश्वरवाद के प्रवर्तको मे से सर्वप्रथम नही तो उनमे से एक अवश्य है। आधुनिक यूरोपीय दार्शनिको के ग्रन्थो मे भी ऐसे दृष्टान्त हैं, जहाँ यह कठिन परिस्थिति, ईश्वरवादी व्यक्तिगत अनुभव से अभिभूत होकर भाववाद के अनुभवो को न्याययुक्त प्रमाणित नही करती, और उदाहरण के तौर पर हम प्रिंगल पेटिसन के ईश्वर सम्बन्धी विचारो का उल्लेख कर सकते है। जीव के विचार मे भी हम आपातत विरोध देख सकते हैं। क्योकि कभी जीव को शुद्ध चैतन्य रूप कहा है, और कभी उसे जडवत् और परमात्मा के पूर्ण नियन्त्रण मे बताया गया है। उक्त विरोध यह समझ कर हल किया जा सकता है कि यह जडता केवल आपेक्षिक है

[1] तस्मात् प्रलय-मोक्षादौ विषय-सम्बन्धाभावात् काष्ठ-लोष्ठादिवत् जडा· सान्ता जीवा मध्यदिनादित्यवत्सदा सर्वाविभासके परमात्मनि विलीयते समुद्रे नद-नद्य इव पुनश्च स एव परमात्मा स्वेच्छयाग्नि-विस्फुलिंगवत् तानुपायिसम्बन्धेन स्वतो विभज्यान्तर्यामी स न प्रेरयति तथा चोक्तम् चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना इति अत स एव मुख्य आत्मान्तर्याम्यमृत।

—विज्ञानामृत भाष्य, ४-१-३।

अर्थात् पुरुष स्वय अक्रिय है, किन्तु कर्म के लिए परमात्मा से प्रेरित है। उन्हें लोष्ट और पत्थर रूप जड इसीलिए कहा गया है कि वे अपने आप मे निष्क्रिय हैं। किन्तु इस निष्क्रियता को चैतन्य-रहितता से एक नही करना चाहिए। वे नित्य चैतन्य के स्फुलिंग होने के कारण, सर्वदा चैतन्य-स्वरूप है। उनकी क्रियाशीलता परमात्मा के कारण तो अवश्य है, जिससे वे आकर्षित हो, नित्य चैतन्य मे से बाहर आते हैं और सासारिक जीवो का नाटक रचते है और अन्त मे मुक्ति स्थिति मे सागर मे नदी की तरह, ब्रह्म मे विलीन होते हैं। ईश्वर की यह क्रिया नित्य है, यह नित्य रचनात्मक प्रवृति है जो सर्वथा अहेतुकी है (चरम-कारणस्य कृते नित्यत्वात्)।[1] यह श्वास प्रश्वास की तरह सहज ही, ईश्वर मे से स्वतः स्फुरित आनन्द रूप से उत्पन्न होती है, यहाँ सर्वथा किसी हेतु पूर्ति का आशय नहीं है। व्यास भाष्य मे कहा है कि ससार-रचना जीवो के लाभ के हेतु की गई है। किन्तु भिक्षु कोई भी हेतु नही मानते। कभी-कभी इस अहेतुकी क्रीडा से भी तुलना की गई है। किन्तु भिक्षु कहते हैं कि यदि क्रीडा मे अश मात्र भी हेतु है तो ईश्वर की क्रिया मे वह भी नही है। यह क्रिया, ईश्वर की रचना की इच्छा के साथ सहज ही उत्पन्न होती है, जिसके लिए किसी देह या इन्द्रियो की आवश्यकता नही रहती है। वह सारे विश्व से एक है इसलिए उसकी क्रिया का लक्ष्य अपने से बाहर कही भी नही है, जैसाकि साधारण कर्म मे होता है। वह ही, जीवो के अनादि कर्म पर आश्रित होकर, उन्हे अच्छे और बुरे कर्म कराता है। कर्म भी, उसकी शक्ति का अग होने के कारण, और उसकी प्रेरणा की अभिव्यक्ति होने के कारण उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित नही कर सकता।[2] कृपा के सिद्धान्त, को समझाने मे, राजा, सेवको पर उनकी सेवा के अनुसार, कृपा करता है या नही करता है, यह उपमा भी सहायक नही है। जीवो के कर्मों के अनुरूप फल देने का, भगवान् की स्वतन्त्रता से सामजस्य है। यदि यह तर्क किया जाता है कि, भगवान् की रचना-प्रवृत्ति नित्य है तो वह किस प्रकार कर्म पर आश्रित है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि कर्म सहकारी कारण हैं जो सुख-दुःख रूप ईश्वर की रचना-प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। पौराणिक पद्धति का अनुसरण करते हुए, भिक्षु, यह सूचित करते हैं कि ईश्वर द्वारा उत्पन्न हिरण्य गर्भ ही कर्म सिद्धान्त का विधायक है, जो ईश्वर की सहज क्रिया के रूप मे प्रकट है। इसलिए वही कर्मानुसार दुःखी मानवता के लिए जिम्मेदार है। ईश्वर केवल इस प्रक्रिया को निर्विरोध रूप से चलते रहने मे सहायता करता है।[3] दूसरे अनुच्छेद मे वे यह कहते हैं कि ईश्वर धर्म-अधर्म से सयुक्त जीव तथा उपाधियो को अपने ही मे अपने अश के रूप मे देखता है,

---

[1] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २-१-३२।

[2] देखो विज्ञानामृत भाष्य, २-१-३३।

[3] वही, २-१-३३।

जीवो को इन उपाधियो से सम्बन्धित करके, वह उन्हे अपने मे से बाहर लाता है। जिस प्रकार कुम्हार घडो को रचता है, इस प्रकार वह जीवो का निर्माता है।[1]

आत्मा अस्पृश्य और असग है। प्रकृति और पुरुष का सयोग, इसलिए, साधारण अर्थ मे साक्षात् सम्बन्ध के रूप मे नही समझना चाहिए, किन्तु यह सम्बन्ध उपाधि द्वारा प्रतीत रूप से विम्बित होना है जिससे शुद्ध आत्मा ससारी की तरह कार्य करता है। आत्मा को अपने गुण एव धर्म का ज्ञान नहीं होता, वह स्वय शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस शुद्ध चैतन्य का किसी समय भी अवसान नही होता, वह गाढ निद्रा में भी रहता है। किन्तु गाढ निद्रा मे कोई ज्ञान नहीं होता, क्योकि वहां कोई ज्ञान का विषय नही होता, और इसी कारण चैतन्य आत्मा मे विद्यमान होते हुए भी, उसका भान नहीं करता। अन्त करण मे रही वासनाएँ शुद्धात्मा को दूषित नही कर सकती, क्योकि उस समय अन्त करण का लय हुआ रहता है। बुद्धि की वृत्तियो के प्रतिविम्ब से ही पदार्थो का ज्ञान शक्य है। शुद्ध चैतन्य, आत्मा से अभिन्न होने के कारण, ज्ञाता और ज्ञेय रूप द्वैत युक्त आत्म-चेतना गाढ निद्रा मे नही हो सकती। शुद्ध चैतन्य वैसा ही बना रहता है और केवल चित्तवृत्तियो के परिणाम के अनुसार, विषयो का ज्ञान आता और जाता है।[2] जीव, इस प्रकार, परमात्मा के अनुचिन्तन से उत्पन्न हुआ नही माना जाना चाहिए, जैसाकि शकर मतवादी मानते हैं, क्योकि ऐसी स्थिति मे जीव सर्वथा असत् होगे, और वन्धन-मुक्ति भी असत् कहे जाएँगे।

विज्ञानामृत भाष्य के अनुसार ब्रह्म और जगत्

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, विकार, क्षय और विनाश, ईश्वर रूप ब्रह्म से है। वह प्रकृति और पुरुष को निर्मित करने-वाली शक्तियो को अपने मे धारण करता है, और अपने विभिन्न रूपो मे व्यक्त करता है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म, अपनी सत्ता की उपाधि से सयुक्त होता है, जो समस्त सर्जन-क्रिया मे सत्व गुण-युक्त, माया है, इसलिए, उस महान् सत्ता से, जो क्लेश-रहित है, कर्म तथा फल उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म सूत्र २-२ मे यह कहा है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तथा उसी से धारण किया गया है इससे यह अर्थ निकलता है कि जगत् की जैसी भी अपनी सत्ता है वह परम सत्ता और अव्यक्त की सत्ता के अन्तर्गत एक नित्य तथ्य है। जगत् की उत्पत्ति,

---

[1] ईश्वरो हि स्वाशस्व शरीराश-तुल्यो जीव-तदुपाधि-स्वान्तर्गतो धर्मादि सहितो साक्षादेव पश्यन्नपरतन्त्र स्व-लीलया सयोग विशेष ब्रह्मादीनामपि दुर्विभाव्य कुर्वन् कुम्भकार इव घटम्। —वही, २-१-२३।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, २-३-५।

परिणाम और विनाश उसके भासमान पहलू हैं।[1] ब्रह्म को यहाँ अधिष्ठान कारण माना है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जगत् का आधार है जिसमे जगत् अविभक्त और अव्यक्त रूप से स्थित है और वह जगत् को धारण भी करता है। ब्रह्म ही एक कारण है जो जगत् के उपादान कारण को धारण करता है जिससे कि वह उस रूप से परिणत हो सके।[2] ब्रह्म चरम कारण का सिद्धान्त है जिससे सभी प्रकार के कारणत्व शक्य है। मूल ब्रह्म मे प्रकृति और पुरुष नित्य चैतन्य रूप मे रहते हैं और इसलिए दोनो उससे एक होकर रहे है। ब्रह्म न तो परिणामी है और न प्रकृति और पुरुष से तद्रूप है। इसी कारण यद्यपि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य स्वरूप और अपरिणामी है, फिर भी वह जगत् से एक रूप और उसका उपादान कारण माना गया है। विकारी कारण और अधिष्ठान कारण को, उपादान कारण की सज्ञा दी गई है। उपादान और अधिष्ठान कारण के अन्तर्गत सिद्धान्त यह है कि कार्य उसमे लय होता हुआ, धारण किया गया है या उससे अविभेद्य है।[3] कार्य से अविभाग या एकात्मकता, सामान्य रूप से समझा जाने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नही है किन्तु यह एक प्रकार का निरवधित सम्बन्ध है, एक प्रकार की विलक्षणता है जिसे सम्बद्ध घटको मे अपघटित नही किया जा सकता जिससे कि यह सम्बन्ध उन घटको मे फिर से जोडा जाय। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि जगत् ब्रह्म रूप अधिष्ठान से इस प्रकार अधिष्ठित है कि उसे केवल ब्रह्म का मिथ्याभास या उसे ब्रह्म का परिणाम या विकार ही नही माना जा सकता है किन्तु जब ये दो प्रकार के सम्भावित कार्य-कारण-सम्बन्ध नही उपयुक्त होते, तो जगत् की ब्रह्म के बिना, जो ब्रह्म जगत् का आधार है और जो विकास-क्रम की सहायता करता है, कोई सत्ता, महत्व या अर्थ नही रहता। आधार-आधेय का सामान्य सम्बन्ध, यहाँ अनुपयुक्त ठहरता है, क्योकि इसमे स्वतत्र सत्ता का द्वैत बना रहता है, वर्तमान प्रस्ताव मे, तो, जहाँ ब्रह्म को अधिष्ठान कारण माना गया है वहाँ यह द्वैत भाव नही है और जगत् का ब्रह्म से पृथक् होना सोचा नही जा सकता, जो उसका अधिष्ठान है और अपने पररूप से अपरिणामी रहता है। इस प्रकार, यद्यपि, यहाँ यह मानना पडता है कि सम्बन्ध दो के बीच है, किन्तु इसे पर या सर्वातिशायी दृष्टि से समझना चाहिए जिसकी उपमा कही भी नही मिलती। पानी और

[1] अत्र चैतद् यत इत्यनुक्त्वा जन्माद्यस्य यत इति वचनादव्यक्त-रूपेण जगत् नित्य एव इति आचार्याशय।

—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-२।

[2] किं पुनरधिष्ठान-कारणत्वमुच्यते तदेवाधिष्ठान-कारण यत्रविभक्त येनोपष्टब्ध च सदुपादाना कारण कार्याकारेण परिणमते। —वही।

[3] कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादान-सामान्य-लक्षणत्वात्।

—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-२।

दूध के मिश्रण जैसी निश्चल उपमा भी इसके अनुरूप नहीं ठहरती ।[1] यहाँ जहाँ तक दोनों सम्मिश्र अवस्था में है वहाँ तक पानी दूध पर आश्रित है, और दोनों को हम एक को दूसरे के बिना सोच नहीं सकते । प्रकृति और पुरुष के धर्म भी शुद्ध चैतन्य मय ईश्वर के स्वरूप में अभिव्यक्त होते है, द्रव्यगुण और धर्म का कारणत्व भी ईश्वर में अंतर्निहित स्वरूप से है जो सभी पदार्थों में व्याप्त है । समवाय सम्बन्ध का अधिष्ठान में इस विलक्षण अविभाज्य सम्बन्ध से भेद यह है कि समवाय, कार्यों के आपस के अंतरंग गाढ सम्बन्ध में होता है और अविभाग सम्बन्ध केवल कार्य का कारण से विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, और यह कार्य अंशों का, कार्यों के अविच्छेद संयोग रूपी पूर्ण से कोई सम्बन्ध लक्ष्य नहीं करता । एक जीवित प्राणी के अंगों में आपस में विद्यमान अविभाग सम्बन्ध भी इस कार्य कारण अविभाग सम्बन्ध से भिन्न है । जड और जीव युक्त, इस जगत् के अंग, एक दूसरे से अवियोज्य सम्बन्ध में एक हुए माने जा सकते है, किन्तु यह संबंध आपस में कार्यों के बीच गाढ संबंध है, और पूर्ण इनके समूह से पृथक् कुछ नहीं है । यही समवाय संबंध की विशिष्टता कही जा सकती है । किन्तु अधिष्ठान के अविभाग संबंध में, कार्य, अधिष्ठान में इस प्रकार समाया हुआ है कि कार्य की कारण से पृथक् सत्ता ही नहीं है ।[2] ब्रह्म, इस मत में, आधार या अधिष्ठान है जो पुरुष और प्रकृति के सम्पूर्ण एकत्व को आधार देता है जिससे कि वह जगत् के विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त हो ।[3] वह, इसलिए, विकार तथा जगत् परिणाम में कोई भाग नहीं लेता किन्तु वह अपने में अभिन्न रूप से रहता है, और अपने में स्वस्थित और स्वाश्रित होकर जगत् रूप होता है ।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि वैशेषिक मत में ईश्वर को चालक या निमित्त कारण माना है, जबकि वे सोचते है कि ईश्वर का कारणत्व, समवायी, असमवायी या निमित्त, इनमें से कोई भी नहीं हो सकता, किन्तु वह तो चौथे ही प्रकार का है जो अधिष्ठान या आधार कारण है ।[4] वे इस प्रकार के कारण का अधिष्ठान शब्द से भी वर्णन

---

[1] अविभागश्चा धारतावत् स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषोऽत्यत-सम्मिश्रण-रूपो दुग्ध जला-द्येकता-प्रत्यय-नियामक ।   —विज्ञानामृत भाष्य ।

[2] तत्र समवाय-सम्बन्धेन यत्राविभाग स्तद् विकारि-कारण यत्र च कार्यस्य कारणा-विभागेन अविभागस्तदधिष्ठान-कारणम् ।   —वही ।

[3] यदि हि परमात्मा देहवत् सर्वं कारण नाधितिष्ठेत तर्हि द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधा-रणाखिल-कार्ये इत्य मूलकारणम् न स्यात् ।

—ईश्वरगीता भाष्य, हस्त० ।

[4] अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्याम् उदासीन निमित्त कारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधार-कारणत्वम् ।   —वही ।

करते हैं जिस शब्द से हम शंकर वेदान्त मे परिचित है। किन्तु इन दोनों अधिष्ठान कारण के पक्षों मे महान् भेद है, क्योंकि भिक्षु इसे अपरिणामी आधार मानते है जो अपनी अविभक्त एकता मे परिणाम के सिद्धान्त की क्रिया को धारण करता है. शंकराचार्य, यद्यपि अधिष्ठान को परिणाम का आधार मानते है जो वास्तव मे असत् है। भिक्षु के अनुसार तो परिणामी व्यापार असत् नही है किन्तु वे आधार कारण के साथ अविभक्त एकता मे रहने वाले परिणाम सिद्धान्त का विकार मात्र है। जब जगत को सत् असत् रूप कहते है और इसलिए वह असत् और मिथ्या है, तब शंकर मतवादी बड़ी भूल करते है। जगत् को सत् असत् यो कहा है कि वह परिणाम के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है। उसे 'यह' कहा जाता है और तो भी, क्योकि वह बदलता है इसलिए उसे 'यह' भी नही कहा जा सकता। बदलते व्यापार के भविष्य मे होने वाले रूप भी, वर्तमान मे असत् रूप है और वर्तमान रूप भी भविष्य मे होने वाले रूपो मे नही के समान है। इस प्रकार उसके कोई भी रूप असत् माने जा सकते है, इसलिए जो वस्तु सदा है और एक ही रूप मे बनी रहती है उसकी तुलना मे, यह मिथ्या है।[1] जगत् के सभी पदार्थ जहाँ तक वे भूत भविष्य मे हैं, वे उनकी वर्तमान दशा मे बाधित हैं और इसलिए मिथ्या माने जाते है, किन्तु जहाँ तक वे अपने वर्तमान से प्रत्यक्ष किए जाते है सत्य माने जाते हैं।[2]

जगत् तो शुद्ध चैतन्य रूप से नित्य और अविकारी है, जिसमे से वह जड और जीव युक्त जगत् के रूप मे पृथक् किया गया है। शुद्ध चैतन्य अपने आप मे अन्तिम सत्य है जो सर्वदा एकसा है और उसमे किसी प्रकार का परिणाम या विकार नही होता। जीव और जड जगत् का अन्त मे ब्रह्म मे ही लय होता है जो शुद्ध और परम चैतन्य है। ये इसलिए, नित्य अपरिणामी ब्रह्म की तुलना मे नाम-रूप कहे गए है।[3] किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि जीव और यह जड जगत्, नितान्त मिथ्या और माया या भ्रम है। यदि सब जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है तो सभी नैतिक मूल्यो का अन्त हो जायगा और बंधन तथा मुक्ति के सभी विचार निरर्थक हो जाएँगे। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओ का मिथ्यात्व किसी प्रकार सिद्ध भी कर दिया जाता है,

[1] एक-धर्मेण सत्व दशाया परिणामि-वस्तूनामतीतानागत-धर्मेण असत्वात्।
—विज्ञानामृत भाष्य, १-१-३।

[2] घटादयो हि अनागताद्यवस्थासु व्यक्ताद्यवस्थाभि र्बाध्यन्ते इति। घटादयो मिथ्या-शब्देन उच्यन्ते विद्यमान धर्मैश्च तदानी न बाध्यन्ते इति सत्या इत्यपि उच्यन्ते।
—वही।

[3] ज्ञान स्वरूप परमात्मा स एव सत्य जीवाश्चाशस्तयश्चिन्येकीभूता अथवावयवत्वेन परमात्मापेक्षया तेऽप्यसन्त। —वही।

तो यह प्रयास स्वयं सिद्ध कर देगा कि इन प्रमाणों में सचाई है और इसलिए यह भी कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और भी वस्तु हैं जो सत्य हो सकती हैं। यदि वे प्रमाण असत्य हैं किन्तु वे अन्य वस्तु के विरोध में शुद्ध चैतन्य की प्रमाणता सिद्ध कर सकते हैं तो ये प्रमाण जगत् की अन्य वस्तुओं की सचाई भी सिद्ध कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि जिसे सामान्य मनुष्य सत्य समझते हैं उन्हें, वेदान्त प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें वे प्रमाण मानते हैं, किन्तु शंकर मतानुसार किसी को भी सत्य नहीं माना गया है, इसलिए जगत्-व्यापार को सत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु इस मत के विषय में जो उत्तर उपस्थित होता है वह यह है, यद्यपि जगत् की सचाई सिद्ध नहीं की जा सकती तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जगत्-व्यापार असत् है, क्योंकि यदि उसकी प्रमाणता सिद्ध भी न की जा सके तो भी, उसकी सचाई या सत्ता कम से कम शंकास्पद रह सकती है। इसलिए, हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे, हम उसकी सत्यता या मिथ्या के विषय मे निष्कर्ष दे सकें। जगत् की सच्चाई, ब्रह्म जो शुद्ध चैतन्य है, उससे किसी दूसरी कोटि की है, जगत् की सचाई, अर्थक्रियाकारित्व दृष्टि से है। किन्तु जगत् की परिणाम अवस्था मे जगत् की सचाई उसके परिणाम होने मे या अर्थक्रियाकारित्व में है तो भी वह अपने आप मे परम सत्य भी है, क्योंकि जगत् की अंतिम सत्ता ब्रह्म से उद्भूत हुई है। जीव और जड युक्त जगत्, ब्रह्म मे, शुद्ध चैतन्य रूप से विद्यमान है और इसलिए उससे एक है। जब वह अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था मे जीव और जड जगत् के रूप मे व्यक्त होता है, तब हम उसकी सर्जन अवस्था कहते हैं। जब वह ब्रह्म मे चैतन्य रूप से फिर लय होता है तब वह प्रलय अवस्था है।[1] जीव, जड-जगत् को भी अन्त मे शुद्ध चैतन्य रूप मानना पडता है, और इसलिए वह शुद्ध चैतन्य का अंग है जिसमे वह लय हुआ सा रहता है। परिवर्तनशील दृश्य रूप जगत् भी, इस प्रकार का ज्ञान रूप है और केवल अज्ञानी ही उसे केवल विषय (अर्थ) रूप मानते हैं।[2] जब श्रुति, ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता प्रतिपादन करती है, तब वह इस अन्तिम अवस्था को लक्ष्य करके कहती है, जिसमे जगत् ब्रह्म से एक होकर शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है। किन्तु प्रलयावस्था मे ही केवल जगत्, ब्रह्म से अविभक्तावस्था मे ही नही रहता, किन्तु सर्जनावस्था मे भी वह ब्रह्म से एक होकर रहता है, क्योंकि जड वस्तु मे पाई जाने वाली जो कुछ भी यान्त्रिक या अन्य प्रकार की शक्तिया हैं वे ईश्वर की ही शक्तियाँ है और क्योंकि शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न माना जाता है

---

[1] प्रलयेहि पु प्रकत्यादिक ज्ञानरूपेणैव रूप्यते न त्वर्थरूपेण अर्थतो व्यजक-व्यापारा-भावात्। —विज्ञानामृत भाष्य, १-१-४।

[2] ज्ञान स्वरूपमखिल जगदेतदबुद्धय। अर्थस्वरूप पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्लप्वे।
—वही।

इसलिए यह माना जाता है कि परिवर्तनमय समस्त जगत् ईश्वर में ही है।[1] प्रलयावस्था मे जगत् शक्तिया ईश्वर मे चैतन्य रूप से या चित् शक्ति के रूप मे रहती है, जो उत्तरकाल मे उसके द्वारा जड रूप से या जड शक्ति के रूप मे व्यक्त की जाती हैं। जगत्-शक्तियो की ईश्वर मे एकता इस प्रकार की है कि यद्यपि वे किसी अश मे स्वतन्त्र है तो भी वे ईश्वर की सत्ता से इस प्रकार घुल मिल गई है कि उससे प्रथक् नही किया जा सकता। उनकी स्वतन्त्रता इसमे है कि वे शक्ति रूप हैं किन्तु वे ईश्वराधीन हैं इसलिए उनको ईश्वर से पृथक् सोचा नही जा सकता और न उनकी सत्ता ही है। इस प्रकार वर्णित जड जगत् नित्य सत्य नहीं है, इस तथ्य के भान को वाध या व्याघात कहा जा सकता है (पारमार्थिक-सत्ताभाव-निश्चिय एव वाध)।[2] किन्तु इस वाध के होते हुए भी जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है (तादृश-वाधेऽपि च सति ज्ञान-साधनादीना व्यावहारिक-सत्वात्)।

प्रकृति और पुरुप का कारणत्व उनकी विशिष्ट शक्तियो मे मर्यादित है, जिससे विकार निश्चित होते हैं। किन्तु ईश्वर, इन सबो के पीछे, सामान्य सर्व कारण है जो इन विशिष्ट मर्यादित विकारो से ही प्रकट नही है किन्तु वह उनकी आन्तरिक एकतानता एव क्रम को तथा आपस के सवध को भी नियमित करता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय दृष्टि के व्यापार तक ही सीमित है और त्वगिन्द्रिय अपने व्यापार मे स्पर्श सम्बन्ध तक सीमित रहती है किन्तु इन सबके व्यापार, जीव द्वारा सगठित होते हैं जो इनमे से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ब्रह्म, इस दृष्टि से उपादान एव निमित्त कारण माना जा सकता है।[3] साख्य और योग के अनुसार प्रकृति पुरुप से आन्तरिक और सहज प्रयोजनवत्ता से सम्बन्धित मानी गई है किन्तु वेदान्त के अनुसार भिक्षु के मत से उनका आपस मे मिलकर कार्य करना ईश्वर के कारण से है।[4]

जीव

ईश्वर गीता की टीका मे भिक्षु कहते हैं कि जो अधिक सामान्य है उसका कम

[1] शक्तिमत्कार्य कारणाभेदेनैव ब्रह्माद्वैत बोधयन्ति अय च सार्वकालो ब्रह्मणि प्रपचाभेद। —वही।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, १-१-४।

[3] ब्रह्मणस्तु सर्व शक्तिकत्वात् तत्तदुपाधिभि सर्व-कारणत्व यथा चक्षुरादीना दर्शनादि-कारणत्व यत्प्रत्येकमस्ति तत्सर्व सर्वाध्यक्षस्य जीवस्य भवति, एतेन जगतो भिन्न-निमित्तोपादानत्व व्याख्यातम्। —वही, १-१-२।

[4] साख्य योगिभ्या पुरुषार्थ-प्रयुक्ता प्रवृत्ति स्वयमेव पुरुषेण आद्यजीवेन सयुज्यते··· अस्माभिस्तु प्रकृति-पुरुप-सयोग ईश्वरेण क्रियते। —वही।

सामान्य से क्षेत्र बडा होता है इसलिए वह छोटे के सम्बन्ध मे ब्रह्म कहलाता है। कार्य का कारण, कार्य से बृहत् और अधिक सामान्य होता है इसलिए उसकी तुलना मे वह ब्रह्म कहलाता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर है। किन्तु जो इस स्तर से सर्वोपरि है वह महान् या परम सामान्य है और चरम कारण है इसलिए वह पर-ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म, इस प्रकार महान् और परम सत्य है। जड जगत् को निश्चित करने वाले तत्व ब्रह्म मे ज्ञान रूप से विद्यमान है। सृष्टि-रचना का अर्थ यह है कि ये निश्चित करने वाले तत्व, जो अव्यक्त और अक्रिय होकर विद्यमान है वे जगत् रूप से व्यक्त और सक्रिय होते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप ईश्वर को इस अव्यक्त प्रकृति के कार्य एव परिणामो का पूर्ण एव विस्तृत ज्ञान है, जो वास्तविक जगत् रूप से परिणत होता है। प्रकृति के परिणाम का आरम्भ पुरुष का चैतन्य से सयोग के क्षण से होता है। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने पुरुष और प्रकृति मे प्रवेश किया, सन्तुलन को क्षुब्ध किया और एक दूसरे का सयोग साधा। पुरुष अवश्य ही, चैतन्य के स्फुलिंग रूप है, और उनमे किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करना असम्भव है। क्षोभ इस प्रकार प्रकृति मे होता है और इस क्षोभ का प्रभाव पुरुष मे भी मान लिया जाता है। पुरुष को ईश्वर का अश रूप मानना चाहिए, और पुरुष और ब्रह्म मे सचमुच तादात्म्य हो नही सकता। पुरुष और ब्रह्म मे तथाकथित तादात्म्य का अर्थ यह है कि वे ईश्वर की सत्ता के विभाग हैं जिस प्रकार पूर्ण के अश उसके विभाग होते हैं। शकर-मत-वादियो का यह कहना कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, और भेद केवल अज्ञान की बाह्य उपाधि के कारण या प्रतिबिम्ब के कारण है, गलत है। ब्रह्म और जीव के बीच एकता अविभाग रूप है। यदि जीव की सत्ता अस्वीकार की जाती है तो यह नैतिक और धार्मिक मूल्यो और तथा बधन और मुक्ति को भी अस्वीकार करना होगा।

इस सम्बन्ध मे यह भी आग्रह किया जाता है कि जीव ब्रह्म से, आग से स्फुल्लिग की तरह उत्पन्न है या पिता से पुत्र की तरह। जीव, शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से ईश्वर के अनुरूप हैं। किन्तु यद्यपि वे उससे उत्पन्न हुए हैं तो भी वे अपना व्यक्तित्व बनाए रखते हैं और अपने नैतिक व्यवहार का क्षेत्र भी बनाए रखते है। जीव अपने स्वरूप से स्वतत्र और मुक्त हैं, वे सब सर्वव्यापी है, और वे अपने चैतन्य मे जगत् को धारण करते हैं। इन सबो मे वे ब्रह्म के समान हैं। किन्तु उपाधि से सम्बन्धित होकर, वे मर्यादित और सीमित दीखते हैं। जब जीव का सारा जीवन-काल, ब्रह्म मे अश रूप से विद्यमान माना जाता है, तथा ब्रह्म मे से पृथक् रूप से व्यक्त हुआ माना जाता है, और वह उपाधि के सयोग से उत्पन्न जीवन व्यतीत करता है और अन्त मे उससे विमक्त होता है और ब्रह्म से अपनी एकता अनुभव करता है, तथा कुछ अश मे उससे भिन्न भी है ऐसा अनुभव करता है, तब ही सच्चा दार्शनिक ज्ञान हुआ कहा

जाता है और यही अपने स्वरूप की सच्ची अनुभूति है।[1] साख्य से इस मत का भेद यह है कि साख्य केवल पुरुष की पृथक्ता और विलक्षणता मानकर ही सतुष्ट रहता है किन्तु वेदान्त-दृष्टि जो यहाँ प्रतिपादित की गई है, वह उस तथ्य की अवहेलना नही कर सकता कि वे पृथक् होते हुए भी ब्रह्म से एक रूप है और वे उससे उत्पन्न हुए हैं, और यही अपनी विलक्षणतामय नियति को पूरा करके फिर उसी मे लय होगे और सासारिक जीवन काल मे भी वे एक दृष्टि से अविभक्त है क्योकि वे उसकी शक्ति हैं।[2] जीव और ब्रह्म के बीच रहा हुआ भेद, उनके सासारिक जीवन काल मे बहुत ही स्पष्ट है। वह इस कारण है कि प्रत्येक जीव मे प्रकृति का ज्ञान, उनकी चेतना मे पृथक् रूप से रहता है और प्रत्येक जीव अपने अनुभव से सीमित है। किन्तु प्रलय के समय, जब प्रकृति जगत् ब्रह्म मे अव्यक्त शक्ति की स्थिति मे मिल जाती है, तब जीव भी उसमे मिल जाते है, और फिर उनके अनुभव का पृथक् क्षेत्र नही रहता और उनकी पृथक् सत्ता वर्णित नही की जा सकती।

पूर्ण और अश जैसा सम्बन्ध जो जीव और ब्रह्म के बीच विद्यमान है, वह पिता पुत्र जैसा है। पिता पुत्र रूप से फिर जन्म लेता है। जन्म से पहले पुत्र, पिता की प्राण शक्ति मे अविभक्त रूप से रहता है और जब उससे पृथक् हो जाता है तो मानो पिता की ही प्राण शक्ति या जीवन शक्ति, एक नए जीवन काल मे पुनरावृत्ति करती है और अपना पृथक् कार्य-क्षेत्र बनाती है। पुन जब ऐसा कहा है कि जीव ब्रह्म के विभाग हैं, तब ऐसा नही समझना चाहिए कि वे ईश्वर या सृष्टि रचयिता के रूप मे भाग लेते है। ईश्वर अपने स्वरूप मे एकरस नहीं है किन्तु उसमे पृथक्कता और विलक्षणता का तत्व सर्वदा विद्यमान रहता है। यदि वह एकरस होता तो उसके भागो मे विशिष्ट पृथक्ता न होती और वे आकाश के विभाग की तरह एक दूसरे से सदा अविभाज्य रहते। किन्तु ईश्वर मे भेद का सिद्धान्त विद्यमान है, यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जीव ब्रह्म से चैतन्य रूप से ही समान है किन्तु उनका, सर्व शक्ति सत्ता और सृष्टि-रचना के कार्य मे कोई भी दायित्व नही है। साख्यकार यह मानते हैं कि अपने ममत्वमुक्त अनुभव, वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ, बुद्धि और देह अलग होने पर ही मुक्ति मिलती है, यह जानकर कि आत्मा स्वप्रकाश्य है जिसे सारे अनुभव दृश्य होते हैं और यद्यपि वे उससे सर्वथा भिन्न है तो भी वे उसमे (आत्मा) एक रूप से धारण

[1] भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ कालभेदेन अविरुद्धौ अन्योन्या भावश्च जीव-ब्रह्मणो-रात्यन्तिक एव।

—विज्ञानामृत भाष्य, १ १.२।

[2] अत इद ब्रह्मात्म ज्ञान विविक्त जीव ज्ञानात् साख्यो क्तादपि श्रेष्ठम्।

—वही, १ १ २।

किए हुए रहते हैं। किन्तु वेदान्त का अर्थ जो यहाँ पर ग्रहण किया गया है उसके अनुसार, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान से तथा ईश्वर से वे उत्पन्न हुए हैं, और उसी के द्वारा उनकी स्थिति बनी हुई है, और जिसमे वे अन्त मे विलीन होंगे और इस ज्ञान से कि वे सब ईश्वर के चैतन्य मे उसके अंश रूप मे विद्यमान हैं, और यह कि आत्मा अनुभव का सच्चा भोक्ता नही है किन्तु वह केवल चैतन्य है जिसमे जगत् और अनुभव प्रकाशित होते है, ममत्व का नाश होता है। इस प्रकार यद्यपि सांख्य और वेदान्त मे जैसाकि यहाँ समझा गया है, मुक्ति मिथ्या ममत्व के दूर होने से प्राप्त होती है, हमारे मत मे ममत्व का लय एक भिन्न दार्शनिक विचारानुसार होता है।[1]

चैतन्य एक गुण नही है, किन्तु आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चैतन्य भी एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब कोई कहता है 'मैं इसे जानता हूँ' तब ज्ञान 'मैं' के गुण रूप से प्रतीत होता है जो न तो आत्मा है और न एक रस वस्तु है। 'मैं' इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि का मिश्रण है जिसमे गुण निवेश किए जा सकते हैं, आत्मा कोई मिश्र वस्तु नही है, किन्तु एकरस अमिश्र वस्तु चैतन्य है। 'मैं' रूप मिश्र वस्तु, चैतन्य के प्रकटीकरण द्वारा सभी वस्तुओं को व्यक्त करती है। आनन्द या सुख, अवश्य ही, स्वप्रकाश्य पदार्थ नही माने जा सकते, किन्तु वह दुःख जैसा स्वतन्त्र पदार्थ है जो चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए न तो आत्मा और न ब्रह्म ही को आनंद या सुख रूप माना जा सकता, क्योंकि ये प्रकृति के विकार हैं और इसलिए इन्हे दर्शन नही किन्तु दृश्य मानना चाहिए। चैतन्य को, विषयो को प्रकाशित करने के लिए बुद्धि-व्यापार के माध्यम की आवश्यकता नही है, क्योंकि ऐसा मत प्रश्न को हल किए बिना अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यह भी सोचना गलत है कि चैतन्य को प्रकाशित होने के लिए कोई व्यापार करना पडता है क्योंकि वस्तु अपने आप पर क्रिया नही कर सकती (कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। यदि उपरोक्त कारणवश आत्मा को सुख रूप नहीं माना जा सकता तो मुक्ति के समय भी उसमे वह गुण नही हो सकता उस समय केवल दुःख का अन्त है या यो कहिए कि सुख और दुःख दोनो का अन्त है जिसे पारिभाषिक शब्दो मे सुख कहा है (सुख दुःख-सुखात्यय)। मुक्ति के समय बुद्धि व्यापार इत्यादि समस्त उपाधियाँ लय होती है और परिणामस्वरूप सुख-दुःख के सभी अनुभव लुप्त हो जाते हैं क्योंकि ये विषयगत हैं जो आत्मा के लिए उपाधिवशात् दृश्य हैं। जब उपनिषद् कहते है कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि सुख सबसे अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्मा स्वत के लिए मूल्यावान् हो सकती है, यह भी सोचा जा सकता है कि यहाँ सुख का अर्थ दुःख

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० ३६।

का अन्त है।[1] अमरत्व की इच्छा या आत्मा की अनन्त काल तक जीवन की अभिलाषा, हमारा अपने प्रति मोह को उदाहृत करता है। दूसरा मत, कि प्राप्ति का परम हेतु दु ख का अन्त करना है, यह भी आक्षेप पूर्ण नहीं है क्योंकि सुख-दु·ख आत्मा के धर्म नहीं है, क्योंकि सुख-दु.ख का सयोग केवल उनके भोग और क्लेश से सम्बन्ध रखता है और वह आत्मा के मोह के बन्धन के रूप में नही है। भोग को अनुभव शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश कर सकते हैं, इस शब्द का दो रूप से प्रयोग होता है एक बुद्धि और दूसरा पुरुप से सम्बन्ध रखता है। प्रकृति, सुख-दु ख और मोह-तत्वो की बनी है और बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिए बुद्धि का जब सुख-दु ख से सयोग होता है तब यह सयोग उसे उन्ही तत्वो से मिलाता है जिनसे वह बनी है इसलिए उसके स्वरूप को धारण तथा बनाए रखता है। किन्तु भोग जब पुरुष से अर्थ रखता है तब अर्थ यह होता है कि सुख और दु ख जो बुद्धि धारण किए हुए है वे उस पर प्रतिबिम्बित होते है और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है। यह पुरुष मे प्रतिबिम्ब द्वारा सुख और दु ख का साक्षात्कार ही पुरुष का भोग या अनुभव कहलाता है। बुद्धि को कोई भोग या अनुभव, किसी सुदूर अर्थ में भी नही हो सकता क्योंकि वह जड है। किन्तु यह भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि जबकि पुरुष वास्तव मे 'अह' नही है तो उसे वास्तविक रूप से कोई सच्चा अनुभव नही हो सकना, क्योंकि उसे सचमुच कोई सुख-दु ख का अनुभव नही हो सकता, वह इसके अन्त का अपने लिए मूल्यवान नही समझ सकता। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि अनुभव-कर्त्ता, पुरुष के लिए दु ख का अन्त परम मूल्यवान् है इस अनुभव की सच्चाई, बुद्धि को अपने विकास मार्ग पर अग्रगामी करती है। यदि ऐसा न होता तो बुद्धि अपने हेतु की ओर आगे न प्रवृत्त होती। इसलिए सुख-दु ख पुरुष मे नही होने पर भी उसके द्वारा अनुभव किए जा सकते है और बुद्धि को उसके द्वारा मार्गदर्शन मिल सकता है।

जब उपनिषद् 'तत्वमसि' कहते हैं, तो उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को चित्त की व्यापार-बुद्धि मे एक नही करना चाहिए और न प्रकृति के किसी विकासज से एक करना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का विभाग है। जब मनुष्य उपनिषद् से यह जान लेता है या गुरु से यह सुनता है कि वह ब्रह्म का अश है तब वह ध्यान द्वारा इसे अनुभव करने का प्रयास करने लगता है। सांख्य का वेदान्त से मत-भेद यह है कि सांख्य जीव को चरम तत्व रूप से मानता है जबकि वेदान्त ब्रह्म को परम सत्ता मानता है और यह भी कि जीव और जड तथा अन्य पदार्थों की सत्ता ब्रह्म पर आश्रित है।

[1] आत्मत्वस्यापि प्रेम-प्रयोजकत्वात् दु ख-निवृत्ति-रूपत्वाचा बोध्यम्।

—वही।

किए हुए रहते हैं। किन्तु वेदान्त का अर्थ जो यहाँ पर ग्रहण किया गया है उसके अनुसार, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान से तथा ईश्वर से वे उत्पन्न हुए हैं, और उसी के द्वारा उनकी स्थिति बनी हुई है, और जिसमे वे अन्त मे विलीन होगे और इस ज्ञान से कि वे सब ईश्वर के चैतन्य मे उसके अश रूप से विद्यमान हैं, और यह कि आत्मा अनुभव का सच्चा भोक्ता नही है किन्तु वह केवल चैतन्य है जिसमे जगत् और अनुभव प्रकाशित होते हैं, ममत्व का नाश होता है। इस प्रकार यद्यपि साख्य और वेदान्त मे जैसाकि यहाँ समझा गया है, मुक्ति मिथ्या ममत्व के दूर होने से प्राप्त होती है, हमारे मत मे ममत्व का लय एक भिन्न दार्शनिक विचारानुसार होता है।[1]

चैतन्य एक गुण नही है, किन्तु आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चैतन्य भी एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओ को प्रकाशित करता है। जब कोई कहता है 'मैं इसे जानता हूँ' तब ज्ञान 'मैं' के गुण रूप से प्रतीत होता है जो न तो आत्मा है और न एक रस वस्तु है। 'मैं' इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि का मिश्रण है जिसमे गुण निवेश किए जा सकते हैं, आत्मा कोई मिश्र वस्तु नही है, किन्तु एकरस अमिश्र वस्तु चैतन्य है। 'मैं' रूप मिश्र वस्तु, चैतन्य के प्रकटीकरण द्वारा सभी वस्तुओ को व्यक्त करती है। आनन्द या सुख, अवश्य ही, स्वप्रकाश्य पदार्थ नही माने जा सकते, किन्तु वह दुःख जैसा स्वतन्त्र पदार्थ है जो चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए न तो आत्मा और न ब्रह्म ही को आनद या सुख रूप माना जा सकता, क्योकि ये प्रकृति के विकार हैं और इसलिए इन्हे दर्शन नही किन्तु दृश्य मानना चाहिए। चैतन्य को, विषयो को प्रकाशित करने के लिए बुद्धि-व्यापार के माध्यम की आवश्यकता नही है, क्योकि ऐसा मत प्रश्न को हल किए बिना अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यह भी सोचना गलत है कि चैतन्य को प्रकाशित होने के लिए कोई व्यापार करना पडता है क्योकि वस्तु अपने आप पर क्रिया नही कर सकती (कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। यदि उपरोक्त कारणवश आत्मा को सुख रूप नहीं माना जा सकता तो मुक्ति के समय भी उसमे वह गुण नहीं हो सकता उस समय केवल दु ख का अन्त है या यो कहिए कि सुख और दु ख दोनो का अन्त है जिसे पारिभाषिक शब्दो मे सुख कहा है (सुख दु ख-सुखात्यय)। मुक्ति के समय बुद्धि व्यापार इत्यादि समस्त उपाधियाँ लय होती है और परिणामस्वरूप सुख-दु ख के सभी अनुभव लुप्त हो जाते है क्योकि ये विषयगत हैं जो आत्मा के लिए उपाधिवशात् दृश्य हैं। जब उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि सुख सबसे अधिक प्रिय है, क्योकि आत्मा स्वत के लिए मूल्यावान् हो सकती है, यह भी सोचा जा सकता है कि यहाँ सुख का अर्थ दु ख

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० ३६।

का अन्त है ।[२] अमरत्व की इच्छा या आत्मा की अनन्त काल तक जीवन की अभिलाषा, हमारा अपने प्रति मोह को उदाहृत करता है । दूसरा मत, कि प्राप्ति का परम हेतु दुःख का अन्त करना है, यह भी आक्षेप पूर्ण नही है क्योंकि सुख-दुःख आत्मा के धर्म नही है, क्योकि सुख-दु.ख का सयोग केवल उनके भोग और क्लेश से सम्बन्ध रखता है और वह आत्मा के मोह के बन्धन के रूप मे नही है । भोग को अनुभव शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश कर सकते है, इस शब्द का दो रूप से प्रयोग होता है एक बुद्धि और दूसरा पुरुष से सम्बन्ध रखता है । प्रकृति, सुख-दुःख और मोह तत्वो की बनी है और बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिए बुद्धि का जब सुख-दुःख से सयोग होता है तब यह सयोग उसे उन्ही तत्वो से मिलाता है जिनसे वह बनी है इसलिए उसके स्वरूप को धारण तथा बनाए रखता है । किन्तु भोग जब पुरुष से अर्थ रखता है तब अर्थ यह होता है कि सुख और दुःख जो बुद्धि धारण किए हुए है वे उस पर प्रतिबिम्बित होते है और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है । यह पुरुष मे प्रतिबिम्ब द्वारा सुख और दुःख का साक्षात्कार ही पुरुष का भोग या अनुभव कहलाता है । बुद्धि को कोई भोग या अनुभव, किसी सुदूर अर्थ में भी नही हो सकता क्योकि वह जड है । किन्तु यह भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि जबकि पुरुष वास्तव मे 'अहं' नही है तो उसे वास्तविक रूप से कोई सच्चा अनुभव नही हो सकता, क्योकि उसे सचमुच कोई सुख-दुःख का अनुभव नही हो सकता, वह इसके अन्त का अपने लिए मूल्यवान नही समझ सकता । ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि अनुभव-कर्ता, पुरुष के लिए दुःख का अन्त परम मूल्यवान् है इस अनुभव की सच्चाई, बुद्धि को अपने विकास मार्ग पर अग्रगामी करती है । यदि ऐसा न होता तो बुद्धि अपने हेतु की ओर आगे न प्रवृत्त होती । इसलिए सुख-दुःख पुरुष मे नही होने पर भी उसके द्वारा अनुभव किए जा सकते है और बुद्धि को उसके द्वारा मार्गदर्शन मिल सकता है ।

जब उपनिषद् 'तत्वमसि' कहते हैं, तो उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को चित्त की व्यापार-बुद्धि से एक नही करना चाहिए और न प्रकृति के किसी विकासज से एक करना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का विभाग है । जब मनुष्य उपनिषद् से यह जान लेता है या गुरु से यह सुनता है कि वह ब्रह्म का अंश है तब वह ध्यान द्वारा इसे अनुभव करने का प्रयास करने लगता है । सांख्य का वेदान्त से मत-भेद यह है कि सांख्य जीव को चरम तत्व रूप से मानता है जबकि वेदान्त ब्रह्म को परम सत्ता मानता है और यह भी कि जीव और जड तथा अन्य पदार्थों की सत्ता ब्रह्म पर आश्रित है ।

---

[१] आत्मत्वस्यापि प्रेम-प्रयोजकत्वात् दु.ख-निवृत्ति-रूपत्वाधा बोध्यम् ।

—वही ।

ब्रह्मानुभव और अनुभव

कारण की उपादान कारण के साक्षात् और अव्यवहित प्रत्यक्ष के कारण उत्पत्ति है, ऐसी परिभाषा दी जा सकती है। बुद्धि को कार्य माना है, क्योकि घडे और अन्य पदार्थों की तरह, वह उसके उपादान तत्व के साक्षात् और अव्यवहित अनुभूति से उत्पन्न है। इससे स्वाभाविक यह अर्थ निकलता है कि बुद्धि का उपादान द्रव्य है जो किसी सत्ता द्वारा साक्षात् अनुभवगम्य है और जिसके प्रति उस सत्ता की सर्जन-शक्ति कार्य करती है, और वह सत्ता ईश्वर है। ब्रह्म सूत्र मे यह कहा है कि, ब्रह्म, श्रुति-प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु यह सत्य नही हो सकता क्योकि उपनिषदों मे कहा है कि ब्रह्म शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता और बुद्धि द्वारा अगम्य है। इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठो मे जो निषेध किया गया है वह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि ब्रह्म पूर्ण रूप से तथा विलक्षण रूप से श्रुति से नही जाना जा सकता, किन्तु इन पाठो का यह अर्थ नही है कि ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा सामान्य ज्ञान शक्य नही है। हमे जब श्रुति द्वारा ऐसा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तभी हम इस क्षेत्र मे प्रवेश करते हैं जिस पर योगाभ्यास द्वारा आगे से आगे बढते हैं, और अन्त मे उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करते हैं। ईश्वर विशिष्ट गुण-धर्म-रहित है इससे यही अर्थ निकलता है कि उसके गुण-धर्म अन्य वस्तुओ के गुण-धर्मों से सर्वथा भिन्न हैं और यद्यपि ऐसे गुण-धर्म सामान्य प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि प्रमाण द्वारा अनुभव-गम्य नही होते किन्तु वह योग ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभव किए जा सकते हैं, इसमे कोई आक्षेप नही हो सकता। कुछ वेदान्ती ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म का साक्षात् अनुभव नही हो सकता किन्तु वह वृत्ति का विषय होता है। ऐसी वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है और परिणामस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते हैं और कहते हैं कि वृत्ति या बुद्धि-व्यापार को चैतन्य या आत्मा से विषय को सम्बन्धित करने के लिए स्वीकारा गया है किन्तु एक बार यह सम्बन्ध हो जाने पर विषय का साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसलिए ब्रह्म को ज्ञान-क्षेत्र मे लाने के वास्ते अन्त प्रज्ञात्मक समाकल्पन सप्रत्यक्षण इस हेतु पर्याप्त है। यह नही माना जा सकता कि जबकि ब्रह्म स्वय स्वप्रकाश स्वरूप है तो अन्त-प्रज्ञात्मक सप्रत्यक्षण आवश्यकता नही है और यह भी आवश्यक नही कि वृत्ति को अज्ञान के विलय के लिए स्वीकारा गया था, क्योकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य होने से केवल अन्त प्रज्ञात्मक सम्प्रत्यक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्वय ज्ञान स्वरूप है। जबकि सभी अनुभव साक्षात् और अपरोक्ष हैं तो आत्म ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिए। ज्ञान के उदय के लिए उपाधि के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को मानना किंचित भी आवश्यक नही है जिसे फिर निरास करना पडे। गाढ निद्रा की स्थिति मे तमस् के रूप मे अवरोध के सिद्धान्त को, यह समझाने के लिए मानना पडता है कि वहाँ ज्ञानाभाव है जिससे सभी ज्ञान-व्यापार और व्यवहार का भी अभाव है। प्रतिपक्षी का यह मानना कि ब्रह्म

स्वप्रकाश है, उसका किसी से भी सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म वेत्ता और वेद्य दोनों नहीं हो सकता, तो इसका भिक्षु यह उत्तर देते है कि स्वप्रकाशता का अर्थ सम्बन्ध-रहितता नहीं है (असगता), और ब्रह्म और जीव का पूर्ण तादात्म्य भी नहीं स्वीकारा जा सकता, और यदि स्वीकारा भी जाय, तो हम ब्रह्म-ज्ञान की प्रक्रिया को उसी प्रकार समझा सकते है जिस प्रकार हम हमारी आत्मचेतना या अनुभव को समझा सकते हैं।

भिक्षु सोचते हैं कि जबकि हम ब्रह्म सूत्र मे ज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि का वर्णन नहीं पाते, तो साख्य-योग-प्रतिपादित ज्ञान का वर्णन भली प्रकार स्वीकार सकते हैं क्योंकि वेदान्त और साख्य के विचारों मे सामान्य समानता है। साख्य योग के अनुसार, पहले इन्द्रियों का विषय से सयोग होता है और परिणामस्वरूप उस समय, बुद्धि का दब जाता है तमोगुण और बुद्धि विशुद्ध सत्व स्वरूप से विषय का रूप ग्रहण कर लेती है। बुद्धि की यह अवस्था विषयावस्था है या सवेदना की अवस्था या स्थिति है (सा बुद्धयवस्था विषयाकारा बुद्धि-वृत्तिरित्युच्यते)। स्वप्न और ध्याना-वस्था में बाह्य पदार्थों के चित्र चित्त में उठते हैं और साक्षात् दीखते हैं इसलिए सत्य है। पुरुष का बाह्य पदार्थों से सयोग बुद्धि के माध्यम मे होता है। जहाँ तक बुद्धि मलिन रहती है पुरुष विषयों मे उसके द्वारा सम्बन्धित नहीं हो सकता। इसी कारण से गाढ निद्रा में जब बुद्धि तमस् से अभिभूत होती है तो पुरुष चैतन्य अपने को प्रकट नहीं कर पाता या अन्य विषयों से सम्बन्ध नहीं जोड पाता। इसी कारण गाढ निद्रा मे जब बुद्धि तमस् से आच्छन्न होती है, पुरुष-चैतन्य अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता या विषयों के साथ सयुक्त नहीं हो पाता। ज्योंही बुद्धि सवेदनात्मक या प्रतिमा अवस्था में रूपान्तरित होती है वह पुरुष मे प्रतिबिम्बित होती है, जो उस समय अपने को चैतन्यावस्था के प्रकाश की तरह प्रकट करती है। इस प्रकार ही शुद्ध अनन्त चैतन्य, विषय को परिमित रूप से व्यक्त कर पाता है। क्योंकि बुद्धि का विषय रूप से निरन्तर परिणाम होता रहता है और उन्हें अनादि काल से पुरुष पर उन्हें प्रति-बिम्बित करती रहती है इसलिए चेतन अवस्थाओं का निरन्तर प्रवाह लगा रहता है केवल कभी-कभी गाढ निद्रा का अन्तराय होता रहता है। पुरुष भी अपनी बारी से बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है और इस कारण अह का प्रत्यय खड़ा करता है। इस सम्बन्ध मे भिक्षु वाचस्पति के मत की आलोचना करते हैं कि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्ब ज्ञान के प्रसग को समझाने के लिए पर्याप्त है और कहते हैं कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब चेतनावत् नहीं हो सकता इसलिए बुद्धि-वृत्तियों का चैतन्य रूप से दर्शन वह नहीं समझा सकते। किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ चैतन्य मे प्रतिबिम्बित होती हैं यह मान्यता चैतन्य के वास्तविक सम्बन्ध को समझाती है। यह कहा जा सकता है कि जबकि केवल प्रतिबिम्ब ही चैतन्य से सम्बन्धित है तो वस्तु यथार्थ रूप से नहीं जानी जाती। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि बुद्धि की वृत्तियाँ बाह्य वस्तु की प्रतिकृतियाँ हैं, और यदि प्रतिकृतियाँ चैतन्यवत् होती हैं, तो हमारे पास इन प्रतिकृतियों के ज्ञान

की सचाई के लिए उनका विषयो पर प्रयोग उनकी गारटी है। यह पुन. कहा जा सकता है कि जब बुद्धि-वृत्तियो का चैतन्य मे प्रतिबिम्ब उससे एक होकर दीखता है और इसलिए ज्ञान का प्रसग उत्पन्न करता है तो हमे यहाँ इस प्रसग मे चैतन्य की वृत्तियो के साथ भ्रमपूर्ण एकता का अनुभव होता है, हमारा ज्ञान भ्रमयुक्त होता है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि ज्ञान मे भ्रम का अश विद्यमान है तो वह उन विषयो की सच्चाई को जिन्हें ज्ञान लक्ष्य करता है, स्पर्श नही करता। प्रमा, इस प्रकार, पुरुष मे बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब मे है। प्रमाण-फल शुद्ध चैतन्य को मिलता है या पुरुष को जो ज्ञाता है, यद्यपि वह सभी वस्तुओ से सर्वथा असग है। वैशेषिक, ज्ञान के अनुभव को उत्पत्ति और नाश के रूप मे समझते है और इसलिए ज्ञान, कार्य के अन्योन्य-सम्बन्ध से उत्पन्न और नाश होता है, ऐसा मानते हैं। पुरुष के समक्ष वृत्तियो का प्रतिबिम्बित होने को वे आत्मा को ज्ञान के भास के रूप मे समझते है, वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञान-व्यापार को, जिसमे पुरुष ज्ञाता और भोक्ता दीखता है, वे, ज्ञान के अनुव्यवसाय नामक पृथक् व्यापार से समझाते हैं।

ईश्वर के इन्द्रियातीत अनुभव को भी सामान्य आनुभविक ज्ञान के आधार पर समझना होगा। श्रुति वाक्यो के ज्ञान से और योगाभ्यास से बुद्धि में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विकार होता है। यह सत्य विकार, पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष मे सच्चे आत्म-ज्ञान के रूप से प्रकट होता है। सामान्य अनुभव और इस ज्ञान मे भेद यह है कि यह अभिमान का नाश करता है। आत्म-ज्ञान के ऐसे मत पर यह आक्षेप कि आत्मा, ज्ञाता और ज्ञेय दोनो नही हो सकता, यह उपयुक्त नही है क्योकि आत्मा जो ज्ञेय है वह पर रूप आत्मा से, जो ज्ञाता है, स्वरूपत भिन्न है। अतीत (पर) आत्मा ही ज्ञाता है जबकि उसका बुद्धि मे प्रतिबिम्ब उस पर प्रत्यावर्त होता है वह ज्ञेय रूप आत्मा है।[1] आत्मा का ज्ञान शक्य है यह स्वीकृति आत्मा के स्वप्रकाशता के सिद्धान्त की विरोधी है, यह आक्षेप ठीक नही है। आत्मा की स्वप्रकाशता से केवल यह अर्थ है कि वह अपने आप प्रकाशित है, और उसे अपने को प्रकट करने के लिए किन्ही अन्य साधनो की आवश्यकता नही है।

स्वप्रकाशता और अज्ञान

चित्सुख स्वप्रकाशता की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो जानी नहीं जा सकती तो भी अपरोक्ष है ऐसी अनुभव की जा सके (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-

[1] आत्मापि विम्बरूपेण ज्ञाता भवति स्वगत-स्वप्रतिविम्ब-रूपेण च ज्ञेय।
—विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ३।

योग्यत्वम्)। भिक्षु तर्क करते हैं कि स्वप्रकाशत्व की ऐसी परिभाषा सर्वथा अमान्य है। उपनिषद् मे ऐसी व्याख्या कही भी नही की गई है, और यह स्वप्रकाशत्व की निरुक्ति से भी समर्थित नही है। निरुक्ति से यही अर्थ निकलता है जो 'अपने आप से वेद्य' है। पुन यदि एक वस्तु नही ज्ञात होती, तो इसी कारण से उसका हम से कोई सम्बन्ध नही हो सकता, और ऐसा अर्थ श्रुति से विरोध करेगा जो यह प्रतिपादन करता है कि परम सत्य अनुभव गम्य है, बोध्य है। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि चित्त की ब्रह्म-स्थिति साक्षात् न जानी जा सकने पर भी पुरुष मे अविद्या दूर करेगी। किन्तु इस पर अनेक आक्षेप हो सकते हैं। प्रथमत, स्वप्रकाशत्व ज्ञान का प्रमाण है, किन्तु पुरुष में अविद्या दूर करना ही केवल प्रमाण नही है। इस सम्बन्ध मे यह भी प्रश्न करना योग्य होगा कि अविद्या का अर्थ क्या है। यदि अविद्या भ्रमपूर्ण चित्त-वृत्ति है तो वह बुद्धि की अवस्था होगी, और उसका नाश बुद्धि से सम्बन्ध रखेगा, पुरुष से नहीं। यदि अविद्या से वासना का अर्थ निकाला जाता है, जो भूल के कारण है: तब भी जबकि वासनाएं प्रकृति के गुणो का धर्म हैं इसलिए उनका नाश प्रकृति के गुणो का नाश होगा। यदि इसे तमस् माना जाता है, जो आत्मा को ढक देता है तो यह मान्यता अस्वीकार्य रहेगी, क्योकि यदि बुद्धि मे वर्तमान तमस् हटाया नही जाता तो बुद्धि का विषय रूप परिणाम नही होगा और यदि बुद्धिगत तमस् एक बार इस प्रकार हट जाता है तो उसका पुरुष मे प्रतिबिम्ब न पडेगा। इस प्रकार, ज्ञान माया के आवरण का नाश करता है यह मत प्रमाणित नही हो सकता। आवरण का सम्बन्ध केवल ज्ञान के कारण से है जैसेकि आंख, और इसलिए उसका शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। ज्ञान का उदय शुद्ध चैतन्य पर से आवरण के हटने के कारण है यह मत इसलिए पुष्टि नही पाता। आत्मा मे कोई आवरण हो नहीं सकता। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो उसमे कोई भी अज्ञान का आवरण स्वभावत. नही हो सकता। क्योकि ये दोनो मान्यताएँ परस्पर-विरोधी है। पुन. यदि यह माना जाता है कि जगत् प्रपच चित्त मे अविद्या के कार्य से है, और यदि वह माना जाता है कि सच्चा ज्ञान अविद्या को हटाता है, तो हम इस नितान्त अनधिकृत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् ज्ञान से नष्ट हो सकता है या यह कि जब आत्मा सच्चा ज्ञान प्राप्त करती है तो जगत्-प्रपच का अन्त हो जाता है या यह कि जब जीवन्मुक्ति होती है तो उसे जगत् का अनुभव नही होगा। यदि ऐसा माना जाता है कि मुक्ति सन्त मे भी अज्ञान का अश होता है तो ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है इस वाद को त्याग देना पडेगा। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा को सभी से सर्वथा असग माना जाता है, तो यह मानना गलत है कि वह अविद्या या अज्ञान से सम्बन्वित होगा। आवरण का सम्बन्ध वृत्तियो से ही हो सकता है, शुद्ध नित्य चैतन्य से नही हो सकता, क्योकि हमारे पास ऐसे सादृश्यत का कोई दृष्टान्त नहीं है। पुन यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य का अविद्या से नैसर्गिक सम्बन्ध है तो ऐसा सयोग कभी तोडा नहीं जा सकता।

योग में पूरा करना चाहिए। यदि उनमे कोई विरोध जैसा दीखता है तो उन्हे इस प्रकार समझाना चाहिए जिससे उनके विरोध का समाधान हो जाय। किन्तु भिक्षु का यह सुभाव केवल साख्य और योग के प्रति ही नही है अपितु न्याय-वैशेषिक और पचरात्र के प्रति भी है। उनके मतानुसार इन सब प्रणालियो का आधार वेद और उपनिषद् है और इसलिए इनमे एक आन्तरिक सम्बन्ध है जो बौद्धो मे नहीं है। बौद्ध मतवादी ही केवल एक सच्चे विरोधी हैं। इस प्रकार वे सभी आस्तिक प्रणालियो का एक दूसरे के पूरक के रूप मे समाधान करने का प्रयास करते है या इनके भेदो को इस प्रकार प्रतिपादित करते है कि यदि इन्हे ठीक दृष्टि से देखा जाय तो समाधान हो सकता है। भिक्षु अपनी सामग्री उपनिषद् और स्मृति मे से इकट्ठी करते हैं, और उनके आधार पर बोधार्थ की पद्धति खडी करते हैं। इसलिए, इसे ईश्वरवादी वेदान्त का, कुल मिलाकर, प्रमाणित बोधार्थ माना जा सकता है जो कि पुराण का प्रधान आशय है और जो सामान्य हिन्दू-जीवन और धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू विचार-धारा का सामान्य प्रवाह जो पुराण और स्मृति मे वर्णित है और जिन मूल स्रोतो से हिन्दू-जीवन ने प्रेरणा प्राप्त की है के साथ तुलना करते हुए विशुद्ध साख्य, शकर वेदान्त, न्याय और मध्व का द्वैतवाद, रूढिगत दर्शन का तात्विक आकारवाद ही माना जा सकता है। भिक्षु का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेदवाद है जो अनेक रूप मे भर्तृ-प्रपच, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क और अन्यो मे मिलता है। इस भेदाभेदवाद का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि भेदाभेदवाद मे जगत् की सत्ता, तथा उसकी चिद्रूपता, जीवो की पृथकता तथा उनकी ईश्वर के केन्द्र रूप से अभिव्यक्ति, नैतिक स्वतत्रता तथा उत्तरदायित्व एव आध्यात्मिक नियतत्ववाद, व्यक्तिगत ईश्वर और उसकी असग सत्ता, परम चैतन्य जिसमे भूत तथा प्रकृति आध्यात्मिकता में लय होते हैं, जड और जीव के उद्गम तथा आपस के व्यवहार मे व्यापक प्रयोजनवाद, ईश्वरीय सकल्प की पवित्रता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता, ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता, नैतिक और सामाजिक धर्म की अनिवार्यता तथा उनके त्याग की आवश्यकता आदि उभयपक्षीय सिद्धान्तो की मान्यता स्वीकार की गई है।

सामान्य क्लासिक साख्य अनीश्वरवादी है और प्रश्न यह उठता है कि ईश्वरवाद और अवतारवाद से इसकी सगति किस प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म सूत्र १-१-५ का बोधार्थ करते भिक्षु कहते हैं कि जबकि श्रुति कहती है कि 'उसने देखा, या इच्छा की' तो ब्रह्म अवश्य ही पुरुष होगा, क्योकि इच्छा या प्रत्यक्षीकरण जड प्रकृति का धर्म नहीं है। शकर इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहते है कि इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि प्रकृति जगत् का कारण नही है क्योकि प्रकृति या प्रधान का प्रत्यय अवैदिक है। भिक्षु उपनिषद् के कई उद्धरण देकर यह बताते हैं कि यह प्रत्यय अवैदिक नही है। उपनिषद् मे प्रकृति को जगत् का कारण और ईश्वर की शक्ति कहा गया है। प्रकृति

को श्वेताश्वतर मे माया भी कहा है, और ईश्वर को मायावी या जादूगर कहा गया है जो अपने मे माया-शक्ति धारण करता है। जादूगर द्वारा अपनी शक्ति न बताने पर भी वह उसमे रहती है (मायाया व्यापार-निवृत्तिरेवावगम्यते न नाश)।[1] सामान्य प्रकृति निरन्तर परिवर्तन और परिणाम करती रहती है और विशिष्ट सत्व जो ईश्वर से सम्बन्धित है, नित्य माना गया है।

एक प्रश्न इस सम्बन्ध मे खडा हो सकता है, यदि ईश्वर स्वय अपरिणामी है और सत्व शरीर जिससे वह सदा मुक्त है वह भी सर्वदा अपरिवर्तनशील है तो ईश्वर को एक विशेष समय पर जगत् उत्पन्न करने की इच्छा कैसे हो सकती है ? ईश्वर मे विशेष सर्जन-क्षण मे सकल्प का आरोपण करने का एक मात्र स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि यहाँ भाषा का सस्पष्ट प्रयोग किया गया है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि जब कारण उपाधियो की योग्य अन्योन्य स्थिति सर्जन-क्रम को व्यक्त करने के लिए किसी विशेष क्षण पर तत्पर होती है, उसे ईश्वर के सकल्प की अभिव्यक्ति कह दिया गया है। ईश्वर के सकल्प और ज्ञान का काल मे आरम्भ होना सोचा नही जा सकता।[2] किन्तु यदि ईश्वर के सकल्प को प्रकृति की गति का कारण माना जाता है तो प्रकृति की गति पुरुष के हेतु अर्थ अन्तर्निहित प्रयोजन से होता है ऐसा साख्य मत असमर्थनीय हो जाता है। महत् मे सत्व, रजस और तमस् साख्य द्वारा, अवश्य ही, ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीन जन्येश्वर के रूप मे माने गए हैं। किन्तु साख्य नित्येश्वर के रूप मे किसी को भी नही मानता। योग के अनुसार महत् का सत्वाश जो नित्य शक्तियो से सयुक्त है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। उसका सत्व शरीर अवश्य ही कार्य रूप है क्योकि वह महत् के सत्वाश से बना है और उसका ज्ञान कालातीत नही है।

साख्य के समर्थन मे, भिक्षु यह प्रतिपादन करते हैं कि साख्य द्वारा ईश्वर का अस्वीकार करने का यह अर्थ है कि मुक्ति के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नही है। मुक्ति आत्म-ज्ञान द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि यह क्रम स्वीकारा जाता है तो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में वह सूचित करना अवश्य ही उपयुक्त होगा कि भिक्षु द्वारा ईश्वर के विषय मे दिया गया यह स्पष्टीकरण ठीक नही है, क्योकि साख्य सूत्र ईश्वर के बारे मे मौन ही नही है किन्तु वह ईश्वर के अनस्तित्व को सिद्ध करने का स्पष्ट प्रयत्न भी करता है और ऐसा कोई भी कथन नही मिलता जिससे यह सिद्ध नही हो सकता कि साख्य, ईश्वरवार का विरोधी नही था। भिक्षु अवश्य ही, पुनरावृत्ति करते हैं कि साख्य अनीश्वरवादी नही था और श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-१६) के कथन को लक्ष्य करते

[1] विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ५।
[2] विज्ञानामृत भाष्य, १ १ ५।

है कि मुक्ति, साख्य योग के कथनानुसार, मूल कारण के ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है, और गीता के कथन को भी इगित करते है जहां अनीश्वरवाद को आसुरी दृष्टिकोण कहा है।

योग के सम्बन्ध मे उल्लेख, भिक्षु कहते है कि यह एक विचित्र बात है कि योग मे ईश्वर के अस्तित्व को माना गया तो भी वह पक्षपाती है या निर्दय हो सकता है इसे खण्डन करने का प्रयास नही किया गया है और ईश्वर को विश्व मे योग्य स्थान देने के बदले, स्वाभाविक वाद स्वीकार किया गया है कि प्रकृति को अपने आप ही पुरुषार्थ के प्रति क्रियाशील होती है। पातजल योग सूत्र मे ईश्वर, एक ध्यान का विषय है जो अपने भक्तो तथा अन्य जीवो पर कृपा करता है। भिक्षु तो यह मानते है कि ईश्वर का विश्व मे जब तक ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की आपूर्ति नही करता तबतक पुरुप-प्रकृति का सयोग ठीक तरह से नही समझाया जा सकता।

ईश्वर अपने कर्म के लिए किसी ऐसे तत्व से मर्यादित नही है जो रजस् या तमस् जैसे चचल तत्वो से सम्बन्धित हो किन्तु वह उस तत्व से सम्बन्धित रहता है जो सर्वदा एक है और नित्य ज्ञान, इच्छा और आनन्द से सम्बन्धित है।[1] इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ईश्वर का सकल्प नित्य और अटल नियम के रूप से कार्य करता है। यह नियम अवश्य ही, ईश्वर का घटक नही है, किन्तु प्रकृति का घटक है। इस नित्य अटल अश द्वारा ही, जो ईश्वर की नित्य इच्छा और ज्ञान के रूप से कार्य करती है, प्रकृति का परिणामी जगत् अश निर्धारित होता है।

गीता मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह परात्पर पुरुष है और उससे श्रेष्ठ तथा परम और कोई नही है। भिक्षु उपरोक्त कथन का जो स्पष्टीकरण देते हैं वह ईश्वर के बारे मे उपरोक्त विचार के विरुद्ध है। एक स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण जब अपने को उद्देश्य करके ईश्वर कहते है तव यह कथन सापेक्ष है, यह जन साधारण दृष्टि से किया गया है जिसका निरूपाधिक परमेश्वर के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नही है और जो साधारण अनुभव से परे है। दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण अपने को ईश्वर से तादात्म्य करके ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार, कार्य ब्रह्म और परब्रह्म मे भेद है, और श्रीकृष्ण कार्य ब्रह्म होते हुए भी जन-साधारण की दृष्टि से अपना कारण ब्रह्म के रूप से वर्णन करते हैं। जब अन्य लोग, ब्रह्म मे अपना तादात्म्य करते हैं तब यह तादात्म्य कार्यब्रह्म को लक्ष्य करके ही सत्य है, जो श्रीकृष्ण या नारायण है। उन्हे अपने को पर ब्रह्म कहने

---

[1] रजस्तम -सम्भिन्नतया मलिन कार्य-तत्व परमेश्वरस्य नोपाधि किन्तु केवल नित्य-ज्ञानेच्छानदादिमत्सदैकरूप कारण-सत्वम् एव तस्योपाधि ।

—ईश्वर गीता, हस्त० ।

का अधिकार नहीं है। अनादि, पर ब्रह्म, देवों और ऋषियों से भी अज्ञात और अगोचर है, नारायण ही उसे अपने सच्चे स्वरूप मे जान सकते हैं। नारायण को इसलिए सब जीवों से महाज्ञानी मानना चाहिए।[1] जो लोग अपने संयम से सायुज्य मुक्ति द्वारा ईश्वर से एक हो गए हैं वे वासुदेव व्यूह मे वास करते हैं। वासुदेव व्यूह मे वासुदेव ही एक नित्य देव है, दूसरे उसके अंश हैं। दूसरे व्यूह, जैसे संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, वासुदेव विभूति की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं और इन्हें ईश्वर का आश्रित सर्जन मानना चाहिए या ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानना चाहिए। विष्णु या शिव जो निम्न कोटि के देव हैं उनकी शक्ति मर्यादित है क्योंकि वे विश्व के कार्य के नियमों मे परिवर्तन नहीं कर सकते जब वे अपने को परमेश्वर कहते हैं तब वे पर निरुपाधि ब्रह्म से तादात्म्य होकर ही ऐसा कहते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् युक्त महत्तत्व, ब्रह्मा, विष्णु और शिव या संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं। इन तीनों देवों का एक ही शरीर है, जो महत् तथा विश्व-परिणाम की मूल नींव है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि विश्व उनका शरीर है। ये तीनों देव, कार्य के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं जैसेकि वात पित्त और कफ। इसीलिए वे एक दूसरे से भिन्न एवं एक भी कहे गए हैं।[2] ये तीनों देव महत् से एक रूप हैं जो पुन पुरुष और प्रकृति की एकता है। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को ईश्वर की (अंशावतम्) आंशिक अभिव्यक्तियाँ मानना चाहिए, व्यक्त अवतार नहीं मानना चाहिए।[3]

ईश्वर, प्रधान और पुरुष मे, अपनी ज्ञान, इच्छा और क्रिया द्वारा प्रवेश करते हैं और इससे गुणों को क्षुब्ध करते हैं और महत् उत्पन्न करते हैं। भिक्षु यह बताने का कठिन परिश्रम करते हैं कि भगवान् या परमेश्वर, नारायण या विष्णु से भिन्न हैं जो पिता से पुत्रवत् उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। भिक्षु का यहाँ पंचरात्र मत से तथा मध्व, वल्लभ, और गौडीय वैष्णवों से मतभेद है जो नारायण, विष्णु और कृष्ण को भगवान् से एकरूप मानते हैं। मत्स्य, कूर्म इत्यादि अन्य ऐसे अवतारों को भिक्षु,

[1] अनाद्यत पर ब्रह्म न देवा नर्षयो विदु
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायण प्रभु। —विज्ञानामृतभाष्य, १-१-५।

[2] विज्ञानामृत भाष्य, १-१-५।

[3] इस सम्बन्ध मे भिक्षु भागवत का श्लोक उद्धृत करते हैं 'एते चाश-कला पुस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् १-१-५। वे यहा कृष्ण से विष्णु अर्थ करते हैं और स्वय भगवान् को ईश्वर के अश के अर्थ मे ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता का अश होता है 'अत्र कृष्ण विष्णु स्वय परमेश्वर स्तस्य पुत्रवत् साक्षादश' इत्यर्थ —वही। यह अर्थ गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णवों से सर्वथा विरुद्ध ठहराता है, जो कृष्ण को परमेश्वर मानते हैं।

विष्णु के लीलावतार मानते है और भगवान् के आवेश अवतार को भगवान् या परमेश्वर मानते है।

माया और प्रधान

शकर, वेदान्त सूत्र, १-१-४ की टीका मे अव्यक्त शब्द का अर्थ करते हैं और मानते हैं कि इसका कोई पारिभाषिक अर्थ नही है। यह केवल व्यक्त का निषेध वाचक शब्द ही है। वे कहते है कि अव्यक्त शब्द 'व्यक्त' और 'न' का समास है। वे यह बताते हैं कि जब अव्यक्त शब्द का केवल व्युत्पत्तिलभ्य ही अर्थ है और वह अनभिव्यक्त तो वह पारिभाषिक अर्थ मे प्रधान के लिए प्रयुक्त होता है यह नही मानना चाहिए। अव्यक्त शकर के मत मे सूक्ष्म कारण का अर्थ रखता है किन्तु वे यह नही सोचते कि जगत् का प्रधान के रूप मे कोई सूक्ष्म कारण है जैसाकि साख्य ने माना है।[1] वे मानते है कि जगत् की यह प्राकृतावस्था ईश्वर पर आश्रित है, और वह एक स्वतत्र सत्ता नही है। ईश्वर मे ऐसी सूक्ष्म शक्ति न मानी जाय तो ईश्वर स्वतत्र सत्ता के रूप मे स्वीकृत नही हो सकता। विना शक्ति के ईश्वर सर्जन के प्रति क्रिया-शील नही हो सकता। वीज-शक्ति जो अविद्या है, वही अव्यक्त है। यह माया की गाढ निद्रा है (माया मयी महा सुप्ति) जो ईश्वर पर आश्रित है। इसमे सभी विना आत्म-जाग्रति के रहते हैं। इस वीज-शक्ति का बल, मुक्ति जीवो मे, ज्ञान से नष्ट हो जाता है और इसी कारण उनका पुनर्जन्म नही होता।[2] वाचस्पति, भामती मे इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि भिन्न जीवो की भिन्न अविद्याएँ है। जब कभी एक जीव ज्ञान प्राप्त करता है तब उससे सम्बन्धित अविद्या नष्ट होती है यद्यपि दूसरो से सम्बन्धित अविद्या वैसी ही बनी रहती हैं। इस प्रकार, एक अविद्या नष्ट भी हो जाय तो दूसरी अविद्या बनी रह सकती है और जगत् उत्पन्न कर सकती है। साख्य के अनुसार तो जो केवल एक ही प्रधान को मानते है, उसके नाश मे सबका नाश होगा। वाचस्पति आगे यह भी कहते है कि यदि यह माना जाता है कि प्रधान तो वैसा ही बना रहता है तो भी पुरुष और प्रधान के बीच अविवेक रूप अविद्या बन्धन का कारण है, तो फिर प्रकृति को मानने की कोई आवश्यकता नही है। अविद्या की सत्ता और असत्ता, बधन और मुक्ति के प्रश्न को स्पष्ट कर सकती है।

---

[1] यदि वय स्वतन्त्रा काचित् प्रागवस्था जगत कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम प्रसजयेम तदा प्रधान-कारणवादम्।

—वेदान्त सूत्र, १-४-३।

[2] मुक्ताना च पुनरनुत्पत्ति, कुत विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।

—वेदान्त सूत्र, १-४-३।

जीवो में भेद अविद्या के कारण है और अविद्या का जीवो के कार
अप्रमाण है क्योकि यह क्रम अनादि है। अव्यक्त शब्द अविद्या के
वाचक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जो सभी अविद्याओ को अपने में र
है। अविद्या जीव में है किन्तु तो भी ईश्वर पर उसके कारक और
अवलम्बित है। अविद्या ब्रह्म के आधार बिना क्रियाशील नही हो
जीव का सच्चा स्वरूप ब्रह्म ही है, तो भी जहाँ तक वे अविद्या से आवृत
वे अपना सच्चा स्वरूप नही जान सकते।

भिक्षु इसके उत्तर मे कहते हैं कि बिना शक्ति के केवल ईश्वर अकेल
जगत् उत्पन्न करने में असमर्थ है, इसलिए यह मानना पडता है कि ई
भिन्न शक्ति द्वारा ऐसा करता है और यह शक्ति प्रकृति और पुरुष है। य
जाता है कि यह शक्ति अविद्या है, तो भी क्योकि वह, ब्रह्म से पृथक् द्वि
इसलिए वह अद्वैतवाद का खण्डन कर सकता है और साथ ही साथ प्रकृति
की मान्यता की स्वीकृति का भी खण्डन होता है। यह भी नही कहा जा
प्रलयावस्था मे अविद्या का अस्तित्व नही रहता, क्योकि उस प्रसग मे केवल
होने से, जगत् को केवल ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ मानना पडेगा और जीव,
अभिन्न और एक होकर विद्यमान हैं, मुक्त होते हुए भी, ससार यात्रा करें
ऐसा माना जाता है कि बधन और मुक्ति कल्पना मात्र हैं, तो कोई कारण न
कि लोग क्यो ऐसी काल्पनिक मुक्ति के लिए इतना कष्ट उठाएँ। यदि
जाता है कि प्रलय के समय अविद्या की व्यावहारिक सत्ता रहती है और
विवाद किया जाता है कि ऐसे प्रसग मे बन्धन और मुक्ति की भी व्यावहा
मानी जा सकती है तो अद्वैतवाद निरपवाद हो जायगा। किन्तु, यदि ऐसी
मानी जाय जिसकी केवल व्यावहारिक सत्ता ही हो, तो प्रधान के लिए भ
कहा जा सकता है। यदि हम व्यावहारिक शब्द का अर्थ और तात्पर्य समझ
तो हम यह पाते हैं कि इस शब्द का अर्थ हेतु पूर्ति के साधन और अर्थ की
ही सीमित है। यदि ऐसा है, तो प्रकृति भी इसी प्रकार की सत्ता रखती
सकती है।[1] यह निस्सदेह सत्य है कि प्रधान को नित्य माना है, किन्तु यह
निरन्तर परिणाम की नित्यता है। वेदान्ती अविद्या को अपारमार्थिक म
अर्थात् अविद्या परम सत्य नही है। परम सत्य के निषेध से यह अर्थ हो
कि वह साक्षात् स्वप्रकाश्य नही है या यह कि वह सत्ता के रूप में प्रकट नही है
या यह कि वह सभी काल मे असत् है। किन्तु ये मर्यादाएँ प्रधान के बारे

[1] प्रधानेऽपीद तुल्य प्रधाने अर्थ क्रियाकारित्व-रूप-व्यावहारिक-सत्वस्यैवा स्मा
त्वात्। —विज्ञानामृतभाष्य, १-४-

सत्य हैं। प्रधान परिणामी रूप से नित्य है, किन्तु अपने सभी विकारो मे वह अनित्य है, प्रकृति के सभी विकार नाशवान् है, जड होने के कारण वे स्वप्रकाश्य नही हो सकते। पुन, प्रधान किसी भी रूप मे, किसी भी समय सत्ता रखने वाला माना जा सकता है तो भी वह उस समय, अपने भूत और भविष्य रूप मे असत् है। इस प्रकार, व्यावहारिकत्व का अर्थ तुच्छत्व नही हो सकता (शश-विषाण की तरह) और क्योकि वह परम सत्ता का अर्थ भी नही रख सकता, वह केवल परिणभाव (परिणामित्व) का ही अर्थ रख सकता है, और यह सत्ता प्रधान के विषय मे ठीक बैठती है। इस प्रकार शकर मतवादी, प्रधान के सिद्धान्त का खण्डन कर कुछ लाभ नही उठाते, क्योकि अविद्या को उन्होने उसी गुण-धर्मयुक्त माना है जो प्रकृति मे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि शकर के द्वारा किया गया प्रकृति का खण्डन, ईश्वर कृष्ण के अनुसार प्रकृति के मत मे भी प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु, यह पुराणान्तर्गत प्रकृति के विचार को, जिसे भिक्षु ने समझाया है उस पर प्रयुक्त नही होता, जिसके अनुसार प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति माना गया है। यदि अविद्या को भी ऐसे ही माना जाता है तो वह प्रकृति के समान हो जाती है। जबकि उसे अव्यक्त रूप मे भगवान् मे विद्यमान मानी है तो प्रलय मे भी अविद्या के बहुत से गुण धर्म जो उसे परम सत्ता से विभिक्त करते हैं, वे प्रकृति के भी है।

भिक्षु द्वारा प्रतिपादित किए गए मतानुसार प्रधान की पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता नही है किन्तु वह भगवान् की शक्ति के रूप मे है।[1]

भिक्षु ब्रह्म सूत्र १-४-२३ को स्पष्ट करते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर की प्रकृति के सिवा और कोई उपाधि नही है। ईश्वर के सभी गुण, जैसेकि आनन्द इत्यादि, प्रकृति से उत्पन्न हैं जैसाकि पातजल सूत्र मे निर्दिष्ट है। प्रकृति को ब्रह्म-धर्म मानना चाहिए, जो साक्षात् जगत् का उपादान कारण नही है, किन्तु वह नित्य या अधिष्ठान कारण है और प्रकृति, मानो अपना ही भाव है या अश है (स्वीयो भाव पदार्थ उपाधिरित्यथ)। उपाधि और प्रकृति मे नियामक और नियाम्य का सम्बन्ध है या अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध है। ईश्वर विचार और सकल्प कर सकता है यह तथ्य इसे प्रमाणित करता है कि ईश्वर को प्रकृति जैसा साधन होना चाहिए जिससे ईश्वर के लिए विचार करना सभव हो। क्योकि भगवान् अपने मे केवल शुद्ध चैतन्य है। प्रकृति, अवश्य ही, ईश्वर की उपाधि या काय अपने शुचिपूर्ण निर्मल सत्त्वाश, से करती है। काल और अदृष्ट भी प्रकृति के विकार हैं और इसलिए उन्हे भगवान् की पृथक् शक्तियां नही माना है।

---

[1] प्रकृतस्य तदुपगत्तये प्रधान कारणत्व [illegible] शक्ति विषयेषो [illegible] स्थापित इत्यर्थ।

सिद्धान्त को भी उसी प्रकार समझाने का प्रयास करते है जैसाकि साख्य के विषय मे अभ्युपगमवाद को स्वीकार करके किया है। वे मानते हैं कि योग की यह धारणा है यदि प्रकृति स्वतन्त्र है और स्वत ही भगवान् के अनन्त ज्ञान और सकल्प द्वारा निश्चित न होकर भी विकासोन्मुख होती है, और यदि यह भी स्वीकारा जाय कि सदैव ईश्वर को नित्य ज्ञान और सकल्प नही है, और प्रकृति की प्रवृत्ति कर्मानुसार आन्तरिक प्रयोजन से है और सर्ग के प्रारम्भ मे प्रकृति भगवान् की सत्वोपाधि बन जाती है, तो भी ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से कैवल्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार, योग की दृष्टि से, ईश्वर की उपाधि एक कार्य है, जगत् का निमित्त या उपादान कारण नही है, जबकि भिक्षु द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के अनुसार, ईश्वर की उपाधि जगत् का उपादान एव निमित्त कारण दोनो ही है, उसका कार्य नही है। योग मत के अनुसार ईश्वर नित्य है, किन्तु उसके ज्ञान और सकल्प नित्य नही है। ज्ञान और सकल्प, प्रकृति के सत्वाश से सयुक्त है जो प्रलय के समय उसमे निविष्ट रहते हैं, जो नए सर्ग के प्रारम्भ मे, भगवान् के पूर्व सर्ग मे किए हुए, सकल्प की शक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं। योग मतानुसार, ईश्वर जगत् का निमित्त एव उपादान कारण नही है जैसाकि वेदान्त मानता है। भिक्षु द्वारा मान्य वेदान्त मतानुसार, प्रकृति द्विधा कार्य करती है, एक भाग से वह ईश्वर के नित्य ज्ञान और सकल्प का नित्य वाहक बनी रहती है और दूसरे भाग द्वारा, वह विकास-मार्ग पर आरुढ हो सत्व, रजस् और तमस् में क्षोभ उत्पन्न करती है। वह सत्व, रजस् तमस् की, प्रकृति के विकास रूप क्रमिक उत्पत्ति के पौराणिक मत को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार गुणो की अन्तिम अवस्था मे जगत् का विकास होता है। इस प्रकार, प्रकृति, जो ईश्वर के ज्ञान और सकल्प के वाहन के रूप मे उससे सम्बन्धित बनी रहती है, अपरिणामी और नित्य है।[1]

ईश्वर गीता और उ । दर्शन विज्ञान भिक्षु के प्रतिपादनानुसार

कूर्म पुराण मे उत्तर विभाग के ११ अध्याय इश्वर गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस खण्ड के पहले अध्याय मे सूत, व्यासजी से मुक्ति-मार्ग के सच्चे ज्ञान के बारे मे पूछते हैं जिसे नारायण ने कूर्म अवतार धारण करके दिया था। व्यास का कहना है कि बदरिकाश्रम मे सनत्कुमार, सनन्दन, सनक, अगिरा भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, बलदेव, शुक्र और वशिष्ठ इत्यादि ऋषि-मुनियो के समक्ष नारायण प्रत्यक्ष हुए और फिर शिव भी आए। शिव ने ऋषियो की प्रार्थना सुनकर, अन्तिम सत्य ईश्वर और जगत् का निरूपण किया। मूल सवाद दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होता है। विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर गीता पर टीका लिखी है। उन्होने सोचा कि ईश्वर गीता मे भगवत्

---

[1] विज्ञानामृत भाष्य, पृ० २७१-२७२।

गीता का तात्पर्य समाया हुआ है इसलिए उन्होने भगवत् गीता पर टीका लिखना अनावश्यक समझा। साख्य और योग पर ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होने ब्रह्म सूत्र, उपनिषद्, ईश्वर गीता और कूर्म पुराण पर टीका लिखी। ब्रह्म सूत्र पर अपनी टीका मे वे १३वी शताब्दी के चित्सुखाचार्य के ग्रन्थ का उद्धरण देते है। वे स्वय सम्भवत· १४वी शताब्दी मे रहे। भिक्षु के अन्य ग्रन्थ, 'साख्य प्रवचन भाष्य,' 'योग वार्तिक,' 'योग सूत्र,' 'साख्य सार,' और 'उपदेश रत्नमाला' है। ब्रह्म सूत्र और ईश्वर गीता की व्याख्या में वे पुराण मे प्रतिपादित वेदान्त मत का अनुसरण करते हैं, जिसमे साख्य, योग और वेदान्त एक सूत्र मे बधे है। ईश्वर गीता का दर्शन जिसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है वह भिक्षु की टीका पर आधारित है जो प्रस्तुत लेखक को महामहा० प० गोपीनाथ कविराज, सस्कृत कालेज वाराणासी से हस्तलिखित प्रति के रूप मे प्राप्त हुई।

मुनियो ने जो मुख्य प्रश्न पूछे, उन पर शिव ने निम्न सवाद दिए (१) सबका कारण क्या है ? (२) पुनर्जन्म किसका होता है ? (३) आत्मा क्या है ? (४) मुक्ति क्या है ? (५) पुनर्जन्म का क्या कारण है ? (६) पुनर्जन्म का स्वरूप क्या है ? (७) किसने उसे स्पष्ट रूप से समझा है ? (८) परम सत्य ब्रह्म क्या है ? इन सबके उत्तर क्रमवार नही दिए गए है, किन्तु गुरु शिव को जो महत्वपूर्ण प्रश्न लगे, उनके उत्तर उन्होने अपने ही क्रम से दिए हैं। इसलिए सबसे पहले आठवें प्रश्न का उत्तर दिया गया। यह उत्तर परमात्मा के स्वरूप के वर्णन से प्रारम्भ होता है।

विज्ञान भिक्षु जीव का परमात्मा मे सम्पूर्ण लय के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं ऐसा मालूम होता है और उनकी दृष्टि मे इस जगत् में रहते हुए भी जीव मात्र द्रष्टा रहता है।

वे कूर्म पुराण २-५०-७ पृ० ४५३[1] के आठवें प्रश्न के उत्तर मे बताते हैं कि आत्मा शब्द से ईश्वर का अर्थ निकलता है, यद्यपि साधारण व्यवहार में यह जीव के लिए प्रयुक्त है और जीव और ब्रह्म की एकता का सूचन करता है। यहाँ उल्लेख प्राकृतात्मा से है जीवात्मा मे नहीं।[2] ईश्वर को सर्वान्तर कहा है, क्योकि उसने सभी के हृदय मे प्रवेश (अन्त) किया है और वहाँ वह द्रष्टा होकर रहता है (सर्वेषा स्व-भिन्नानामन्त साक्षित्वेनानुगत·)।[3] साक्षी वह है जो अपने को बिना किसी प्रयत्न के व्यापार द्वारा (व्यापार विनैव) प्रकाशित करता है(स्व प्रतिबिम्बित वस्तु भासक),

---

[1] बिबलियोथेका इण्डिका सस्करण १८९०।

[2] देखो ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[3] एव अन्तर्यामी-सत्व-सम्बन्धतात् चिन्मात्रोऽपि परमात्मा··मी भवति सर्वान्तरत्वेन सर्व प्रति··विभाग लक्षणाभेदात्। —वही।

वह अपूर्ण चित् से सम्बन्धित होने के कारण अन्तर्यामी कहलाता है और उसी सम्बन्ध के कारण, जीव, परमात्मा की महानता के भागी बनते हैं।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि यहाँ पर 'अस्मात् विजायते विश्वम् अत्रैव प्रविलीयते' यह पंक्ति 'शक्तिमदभेदत्व सिद्धान्त के कारण के रूप में दी गई है जो परमात्मा को अन्तर्यामी कहकर बडी चतुराई से रखी गई है और फिर सिद्धान्त के गूढ महत्व को या शक्ति शक्तिमदभेदत्व के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेषण जोडकर उपरोक्त सिद्धान्त को समझाया है। ऐसा कहा गया है कि परमात्मा से ही विलोम रूप से कार्य उत्पन्न हुए हैं और वे उसी में रहते हैं और उसी में विलीन होते हैं। वह पुरुष और प्रकृति से अभिन्न (या अपृथक्) है, क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति में लगाकर समस्त विश्व का आधार है, अर्थात् वह पुरुष और प्रकृति में लगाकर और उन्हें समाविष्ट करके सभी कार्यों का आधार है। यदि उसने देहवत् सभी कारणों का अधिष्ठान न किया होता तो द्रव्य, गुण और कर्म इत्यादि कारण स्वतः कार्य नहीं कर सकते थे (यदि हि परमात्मा देहवत् सर्वं कारणं नाधिष्ठेत द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधारणाखिला-क्रियार्थ-मूल-कारण न स्यादिति)।[1] यदि ऐसा कहा जाता है कि वाक्य दृश्य घटनाओं के सामान्य कारण के विषय में उल्लेख करता है तो पूर्व वाक्य में जो ब्रह्म और जगत् की एकता प्रतिपादित की गई थी, वह अस्वीकृत रहेगी।[2]

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, किन्तु यह जगत् ब्रह्म का परिणामी रूप है। इसलिए ब्रह्म परिणामी रूप नहीं है क्योंकि यह उस श्रुति वाक्य का विरोध करेगा जिसमें ब्रह्म को कूटस्थ कहा है। तब विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि परमात्मा सभी का परम अधिष्ठान है इसलिए उसी से सभी प्रकार के कारणों के व्यापार को सहायता मिलती है और इसी को परमात्मा की अधिष्ठान-कारणता कहा जाता है।

तब वे जीवात्मा-परमात्मा के अंश और अंशी के अभेद सिद्धान्त को जीवात्मा-परमात्मनो रंशांश्यभेद' स मायी मायया बद्ध करोति विविधास्तनू' इस पंक्ति से प्रतिपादित करते है और आगे कहते है कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वेदान्त सूत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। श्रीमद्‌भगवत् गीता मे यही कहा है। फिर वे इसी विचार का विशदीकरण करते है। यहाँ शंकर का उल्लेख उनकी आलोचना के लिए मिलता है।[3] मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है और उसका समर्थन करने के लिए पद्मपुराण का उद्धरण दिया गया है।

---

[1] ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[2] वही।

[3] वही।

अधिष्ठान कारण वह है जिसमे सार वस्तु वैसी की वैसी ही बनी रहकर अग्नि मे से स्फुल्लिंग की तरह, नवीन भेद उत्पन्न हो। इसे अंशांशिभाव भी कहा है, क्योंकि यद्यपि निरवयव ब्रह्म मे अंश नही माने जा सकते, फिर भी, सामान्य अधिष्ठान मे से भिन्न लक्षणो के उत्पन्न होने के कारण ही, भिन्न लक्षणो को अंश कहा गया है। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि विज्ञान भिक्षु इस मत का विरोध करते हैं कि ब्रह्म मे परिणाम होता है। यद्यपि ब्रह्म मे परिणाम नही होते तो भी उसमे नवीन भेद उत्पन्न होते हैं। 'स मायी मायया बद्ध' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वय ब्रह्म का अविभक्त अंश है और उससे भिन्न नही है। माया अंश रूप है जो अग्नि मे भिन्न नही है।

यद्यपि श्रुति मे जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद का बहुधा उल्लेख किया गया है, तो भी जीव ब्रह्म से भिन्न है इसी ज्ञान मे मुक्ति मिल सकती है।[1]

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और किसी भी प्रकार से उसके अनुभवों मे बद्ध नही है। शंकर का यह कहना कि आत्मा का स्वरूप आनन्द या सुखमय है, यह भी गलत है, क्योंकि कोई अपने से सदा आसक्त नही रह सकता, यह तथ्य कि हम प्रत्येक कर्म मे अपनी रुचि खोजते हैं इससे यह अर्थ नही होता कि आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो वह एक साथ आनन्द स्वरूप नही हो सकता, हमे जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सदा आनन्द का अनुभव नही होता।[2]

अभिमान भी आत्मा का धर्म नही है, वह सुख-दुःख की तरह प्रकृति का गुण है जो गलती से आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं।[3] आत्मा को, अवश्य ही सुख-दुःखो के अनुभव का भोक्ता माना है तथा वृत्ति द्वारा उनका प्रतिबिम्ब होना और वृत्ति द्वारा, सुख-दुःख के ऐसे अनुव्यवसाय इत्यादि को अनुभव का साक्षात्कार कहा है। अनुभव का ऐसा भोग, इसलिए, अनौपाधिक है। सांख्य और भगवत् गीता मे इसका समर्थन भी है। अनुभव (भोग) इस प्रकार से प्रकृति का धर्म नही है (साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य दृश्य धर्मत्व सम्भवात्)। जिन पाठो मे ऐसा कहा गया है कि अनुभव पुरुष के धर्म नही है, यह अनुभव सम्बन्धित वृत्तियो के परिणामो के बारे मे कहा है। इसलिए, शंकर का आत्मा को अभोक्ता तथा अकर्ता कहना मिथ्या है।

विज्ञान भिक्षु अज्ञान से अन्यथा ज्ञान अर्थ करते है। प्रधान इसलिए कहा है कि वह पुरुष के लिए सभी कर्म करता है, और वह पुरुष प्रधान से संयोग के दोष से, मिथ्या ज्ञान से सम्बन्धित होता है।

---

[1] वही।

[2] वही।

[3] वही।

आत्मा अपने में कूटस्थ रहता है, और भेद, अनुभव उत्पन्न करने वाले बुद्धि तथा अन्य कर्मों के संयोग के कारण हैं। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से अभिन्न रहते हैं, प्रकृति, पुरुष और काल अन्त में ब्रह्म द्वारा धारण किए जाते हैं फिर भी उनसे भिन्न हैं।

दो प्रकार के श्रुति पाठ हैं—एक अद्वैत का और दूसरे द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। सच्चे बोधार्थ को द्वैतवादी श्रुति पाठों पर बल देना चाहिए, क्योंकि यदि सभी कुछ मिथ्या है तो ऐसा मिथ्यात्व भी असिद्ध और स्वबाधित रहेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति तक श्रुति की प्रमाणता को हम स्वीकार लें और जब यह प्राप्त हो जाता है तत्पश्चात् यह मालूम हो कि वे अप्रमाण हैं तो इसका कोई महत्व नही है। ऐसे आक्षेप का यह उत्तर है कि जब कभी किसी को यह पता चलता है कि जिन साधनो द्वारा निष्कर्ष निकाला गया है वे अप्रमाण हैं तो वह स्वभावतः ही उन निष्कर्षों पर शका करने लगता है। इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी, उसको शकास्पद लगेगा जिसे यह पता चल गया कि ज्ञान के साधन दोषयुक्त है।

जीव, परमात्मा मे अभिन्नावस्था मे रहते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मा उनका सार या अधिष्ठान कारण हैं और श्रुति-पाठ जो अद्वैत मत प्रतिपादन करते हैं वे परमात्मा के स्वरूप को अधिष्ठान कारण के रूप मे सूचित करते हैं। इसका यह अर्थ नही होता कि जीव ब्रह्म से एक ही है।

सुख दु ख आत्मा के धर्म नही है, वे अन्त करण के धर्म है, वे आत्मा के अन्त-करण से सम्बन्धित होने के कारण ही, आत्मा पर आरोपित किए जाते है। मुक्तावस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, बिना सुख दु ख के सम्बन्ध से रहता है। अन्तिम ध्येय दु ख के भोग की निवृत्ति है। (दु:ख-भोग-निवृत्ति) दु ख की निवृत्ति नही है (न दु ख-निवृत्ति) क्योकि जब कोई दु ख के भोग से निवृत्त हो जाता है, दु ख वर्तमान भी रहे और उसे दूर करने का उद्देश्य दूसरे का होगा। शकर का यह कहना कि मुक्ति आनन्दावस्था है, गलत है। क्योकि उस अवस्था मे कोई मनो-व्यापार नही होता जिससे सुख का अनुभव हो सके। यदि आत्मा को आनन्दस्वरूप माना जाय तब भी आत्मा कर्ता एव आनन्द के भोग का विषय होगा, जो असम्भव है। पारिभाषिक शब्दावली मे ही मुक्तावस्था में आनन्द का आरोपण किया गया है, आनन्द का अर्थ सुख दु ख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तर मानते है। वे ऐसा मानते है कि जब एक वस्तु दूसरी से अधिकस्थिर है तो वह दूसरी से अधिक सत्य है। जबकि परमात्मा सर्वदा एक-सा रहता है और उसमे कोई परिणाम, विकार या प्रलय नही होते इसलिए, वह प्रकृति, पुरुष और उनके विकारो से अधिक सत्य है। यह विचार पुराण के मतो मे भी प्रदर्शित

किया गया है कि जगत् को अन्ततोगत्वा ज्ञान रूप से सत्य माना है या अन्तिम सत्य है और जो परमात्मा का स्वरूप है। इसी सदर्भ मे जगत् पुरुष-प्रकृति रूप से नही है जो परिवर्तनशील है।

प्रकृति या माया का बहुधा ऐसा वर्णन किया गया है कि उसे सत् और असत् दोनो नहीं कहा जा सकता है। शकर मतवादी इससे यह समझते हैं कि माया मिथ्या है। किन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार, दूसरा अर्थ यह है कि मूल कारण को अशतः सत् और असत् इस दृष्टि से माना जा सकता है कि वह अव्यक्त अवस्था मे असत् है और परिणाम की गति मे सत् है (किंचित् सद्रूपा किंचिदसद्रूपा च भवति)।

साधना के विषय में कहते हैं कि आगम, अनुमान और ध्यान द्वारा हमे आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्म-ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कराता है, जिससे सभी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, यह अज्ञान की निवृत्ति से ही नही, किन्तु कर्म के क्षय से भी प्राप्त होती है। वे यह मानते हैं कि शकर का श्रुति के श्रवण पर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बल देना भी उचित नहीं।

मुक्तावस्था मे आत्मा लिंग शरीर से छूट जाने पर ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे नदी समुद्र मे एक हो जाती है। यह तादात्म्य नही है किन्तु अविभागावस्था है (लिंग-शरीरात्मक-षोडश कला-शून्येन एकताम विभाग-लक्षणाभेदमत्यन्त व्रजेत्)। यहा, मुक्तावस्था मे जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद, नदी और सागर के दृष्टान्त से बताया गया है।

भिक्षु का कहना है कि सांख्य और योग मे मुक्ति के विषय मे भेद है। सांख्य के अनुयायी केवल प्रारब्ध कर्म का अन्त करके मुक्ति पा सकते हैं। अविद्या के नष्ट हो जाने पर मुक्ति पाने के लिए प्रारब्ध कर्मों के क्षय तक की राह देखनी पडती है। योग के अनुयायी जो असम्प्रज्ञात समाधि में जाते है, उन्हें प्रारब्ध के फल नहीं भोगने पडते, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि मे होने के कारण उन्हे प्रारब्ध कर्म छू नहीं सकते। इसलिए तुरन्त ही अपनी स्वेच्छा से मुक्तावस्था मे प्रवेश कर सकते है। भिक्षु के अनुसार, ईश्वर गुणातीत है तो भी शुद्ध सत्वमय शरीर के द्वारा वह रचना-कार्य और जगत् व्यापार का नियमन करते रहते हैं। उसका कर्तृत्व शुद्ध सत्वमय शरीर रूपी निदर्शन क्रिया द्वारा प्रकट होता है, तो भी वह राग द्वेष इत्यादि से रहित होता है।

और काल का प्रकट होना, ब्रह्म को इन तीनों का अभिव्यक्ति कारण मानकर समझाया है (अभिव्यक्ति कारण या आधार कारण)। किन्तु प्रकृति पुरुष और काल का यह परिणाम दूध से दही परिवर्तन की तरह नहीं है। प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करते इसलिए असत् समान माने जा सकते हैं। परमात्मा के सङ्कल्प से, पुरुष और प्रकृति को पारस्परिक सम्पर्क में संयुक्त किया जाता है प्रकृति के परिणाम के लिए प्रेरणा बिन्दु का आरम्भ किया जाता है। इस प्रेरणा-बिन्दु को काल कहा है। इस रूप में ये तीनों कार्य उत्पन्न करने वाले माने जा सकते है और इसलिए सत् माने जा सकते है। इसी दृष्टि से प्रकृति, पुरुष और काल परमात्मा द्वारा उत्पन्न किए जाते है।[1]

अव्यक्त को परमात्मा इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्य के ज्ञान से परे है। यह इसलिए ऐसा कहा गया है कि वह अद्वैतावस्था मे है जहाँ शक्ति और शक्तिमत् का भेद नही है और जहाँ सब कुछ अविभक्तावस्था मे है। प्रकृति के रूप में अव्यक्त परिणाम का आधार है या परिणाम मात्र है, और पुरुष ज्ञाता है।

परमात्मा सभी जीवो का आत्मा है। इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि केवल परमात्मा ही है और सारे पदार्थ उसके स्वरूप पर मिथ्या आरोपण मात्र हैं। परमात्मा या परमेश्वर, काल, पुरुष और प्रधान से भिन्न और एक भी है। प्रकृति और पुरुष की सत्ता, परमेश्वर की सत्ता की अपेक्षा परम कम है क्योंकि पुरुष और प्रकृति की सत्ता, ईश्वर की सत्ता से तुलना मे आपेक्षिक है (विकारापेक्षया स्थिरत्वेन अपेक्षकम् एतयोस्तत्वम् पृ० ४४)। काल को पुरुष और प्रकृति के सयोग का निमित्त कारण माना है। काल कर्मों का श्रेष्ठ निमित्त कारण है, क्योंकि कर्म भी काल द्वारा उत्पन्न होते हैं (कर्मादीनामपि काल-जन्यत्वात्) यद्यपि काल अनादि है फिर भी यह स्वीकारना पडता है कि काल का प्रत्येक कार्य के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी कारण से प्रलय के समय, काल, महत् इत्यादि कोई विकार उत्पन्न नही करता। अहत्तत्व स्वय चैतन्य और मूल तत्वो का समाहार है।

पुरुष, जब एक वचन मे प्रयोग किया जाता है, तो इस प्रयोग का यह अर्थ नही

---

[1] न तु साक्षादेव ब्रह्मण. अत्र कालादि-त्रयस्य ब्रह्म-कार्यत्वमभिव्यक्ति-रूपमेव विवक्षितम् प्रकृति-पुरुषयोश्च महादादि-कार्योन्मुखता च परमेश्वर कृतादन्योन्य सयोगादेव भवति एव कालस्य प्रकृति-पुरुष-सयोगास्य-कार्योन्मुखत्व परमेश्वरेच्छयैव भवति।

—ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

समझना चाहिए कि इससे अन्य पुरुषो का निषेध किया गया है। पुरुष भी दो प्रकार के हैं, अपर और पर, दोनों निर्गुण हैं और शुद्ध चैतन्य रूप हैं। किन्तु पर और अपर पुरुष में यह भेद है कि पर पुरुष का सुख-दुःख से कोई सम्बन्ध नही होता, जबकि अपर पुरुष कभी-कभी सुख-दुःख से सम्बन्धित हो जाता है जो इसे उस समय वे अपने हैं ऐसा अनुभव होता है (अन्ये गुणाभिमानात्मगुणाइव भवति परमात्मा तु गुणाभिमान-शून्यः पृ० ४६)। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि सुख-दुःख का अनुभव होना पुरुष का अनिवार्य लक्षण नही है क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था मे पुरुष अपने सुख-दुःख के अनुभव से एकत्व नही करते हैं, तो भी पुरुष ही रहते हैं। परमात्मा, जो परम पुरुष कहलाता है, कर्म-विपाक से होने वाले अनुभवो से सम्बन्ध नही रखता, जो देशकाल अवस्था से युक्त होते हैं। किन्तु परमेश्वर अपनी विशिष्ट उपाधि से सम्बन्धित हो, नित्य आनन्द का भोग करता रहता है (स्वोपाधिस्थ-नित्यानद-भोक्तृत्व तु परमात्मनोऽपि अस्ति)। जब श्रुति परम पुरुष मे सुख-दुःख के अनुभवो के भोग का अस्वीकार करती है तब अतःस्थित तात्पर्य यह है कि यद्यपि परम पुरुष सभी पुरुषो का आधार है, तो भी वह इन अनुभवो से निस्सग रहता है (एकस्मिन्नेव बुद्धावस्थानेन जीव-भोगत प्रसक्तस्य परमात्म-भोगस्यैव प्रतिषेध)। इस प्रकार परम पुरुष मे अन्य पुरुष के कुछ सामान्य अनुभव विद्यमान रहते हैं। ये शुद्ध नित्य आनन्द के अनुभव स्वय पुरुष मे आनन्द के साक्षात् और अनन्तर प्रतिबिम्ब के कारण है, जिससे यह आनन्द साक्षात् और त्वरित ही अनुभव होता है। पुरुष के इस अनुभव से पुरुष परिणाम को पाता है ऐसा नही माना जा सकता। उसे सामान्य पुरुषो की मानसिक अवस्थाओ तथा सुख-दुःख के अनुभवो का भान, उनसे प्रभावित हुए बिना, अवश्य ही, रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम बाह्य विषयो का ज्ञान करते हैं। अनुभव का यह भोग, परमेश्वर के मन के कारण, प्रतिबिम्ब-व्यापार द्वारा होता है।

जब हम देखते हैं कि पुरुष, महत् और अहकार और सभी विकार, परमात्मा के स्वरूप मे अविभक्त रूप से रहते हैं तब हमे ऐसे मत का अद्वैतवाद समझ मे आ जाता है। परम पुरुष सभी पुरुषो मे और बुद्धि तथा अहकार मे तथा पीछे होने वाले सभी विकारों में, ज्ञाता रूप से अतर्हित है। इसी कारण से, इस तत्व के व्यापार मे हमारे सभी ज्ञानात्मक व्यापार शक्य होते हैं, क्योंकि यही तत्व का व्यापार ज्ञान उत्पन्न करने की क्रिया के रूप में कार्य करता है। सुख-दुःख के अनुभवो के विषय मे भी, यद्यपि ये अन्तःकरण मे बाहर रह नही सकते, और प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की आवश्यकता न भी रखें, तो भी इनके विषय मे भी मनस् और बुद्धि अन्तःकरण के रूप से कार्य करते हैं। इसलिए यद्यपि सुख और दुःख अज्ञान रूप मे अस्तित्व रखते हुए नही माने जा सकते हैं, तो भी इनके अनुभव भी मनस मे प्रतिबिम्ब होने के कारण होते हैं ऐसा माना जाता है।

जब महत् पुरुष से संयुक्त होता है और पुरुष तथा बुद्ध व्यापार शासन के बीच भेद मालूम नही पडता, तभी सर्गारम्भ होता है। परमात्मा की सत्ता दोनों विषयी और अविषयी सिद्धान्तो को एक साथ धारण करती है। विषयी प्रकृति और अविषयी केन्द्र, पुरुष दोनो अति सूक्ष्मावस्था में बंधे हुए रहते हैं। यही जीव लोक और बन्धन के सभी अनुभवो को उत्पन्न करता है। यह पूछा जा सकता है कि पुरुष और बुद्धि किस प्रकार इस अवस्था मे अभेद रूप से रहते हैं और एक दूसरे से विरिक्त क्यो नही रहते। उत्तर यह है कि अभेद और भेद, बुद्धि के सम्बन्धित रहते हैं और योग का कार्य ऐसे आपस के अभेद के अनुभव से बाधाओ को नष्ट करना है (बाधादिना तु प्रतिबधमात्रमपाक्रियते)।

परमात्मा का प्रेम दो स्तर से चलता है। पहला, ईश्वर हमारी उच्चतम आवश्यकताएँ सतुष्ट करता है इस विचार से और दूसरा भक्त और भगवान् दोनो एक हैं इस विचार से। ये उच्चतम आवश्यकताएं पहले, मूल्य के विचार मे प्रकट होती हैं, जिसका अनुभव सतोष और सुख रूप लगता है, दूसरे हम मुक्ति का मूल्य समझने लगते है, तीसरे हम परमात्मा की महिमा का अनुभव कर सतोष पाते हैं और इस मूल्य को समझने लगते है। (प्रेम च अनुराग-विशेष परमात्मनि इष्ट-साधनता-ज्ञानादात्मव-ज्ञानाच्च भवति। इष्ट मपि द्विविध भोगापवर्गो तन्महिमा-दर्शनोत्थ-सुखम् च इति तदेव माहात्म्य-प्रतिपादनस्य फल प्रेम लक्षणा भक्ति)।

प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त माया को द्रव्य पदार्थ मानना चाहिए। प्रकृति मे, सत्व और तमस् दो तत्व हैं। सत्व से ज्ञान या सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है, तमस् से मिथ्या ज्ञान या मोह उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने वाला प्रकृति का पहलू माया कहलाता है। माया को त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा है या तीन गुणयुक्त प्रकृति कहा है। किन्तु यद्यपि माया को प्रकृति से एक रूप माना है तो भी यह अध्यास, प्रकृति का तमो रूप अखड प्रकृति से पृथक् नही किया जा सकता, इसका कारण है। जब श्रुति मे ऐसा कहा है कि परमात्मा योगियो की माया का नाश करता है, इससे यह अर्थ नही होता कि सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाश होता है किन्तु योगी से सम्बन्धित तमो व्यापार का अन्त या नाश होता है। माया का इस प्रकार भी वर्णन किया है, वह जिस पर आधारित है अर्थात् परमात्मा, उसमे भ्रम उत्पन्न नही कर सकती, किन्तु दूसरो में भ्रम या मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर सकती है (स्वाश्रय-व्यामोहक-त्वे सति पर व्यामोहकत्वम्)।

आगे और यह कहा है कि परमात्मा ने त्रिगुण युक्त माया शक्ति से जगत् उत्पन्न किया है। माया का यहाँ ऐसा अर्थ होता है कि पुरुष और प्रकृति मे मिथ्या आरोपण से जगत् की उत्पत्ति के परिणाम-व्यापार तथा जगत् का अनुभव शक्य है।

परमात्मा के सम्बन्ध में माया, प्रकृति के लिए व्यवहृत है, जबकि जीव के सम्बन्ध में उसे मोह उत्पन्न करने वाली अविद्या कहा है।

सच्चा ज्ञान केवल ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त करने में नहीं है, किन्तु ब्रह्म के संपूर्ण ज्ञान से है। इसका तात्पर्य ब्रह्म का ज्ञान प्रधान, पुरुष और काल तथा समस्त ब्रह्माण्ड का किस प्रकार विकास होता है, उसके द्वारा धारण किया जाता है और अन्त में उसमें विलीन होता है इत्यादि से है, तथा जीव का ब्रह्म से व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा है, वह किस प्रकार उन्हें नियन्त्रित करता है और अन्त में मुक्ति ज्ञान से होती है। काल को, पुन उपाधि कहा है जिसके द्वारा परमात्मा प्रकृति और पुरुष को जगत्-रचना क्रम की ओर प्रवृत्त करता है।

एक कठिन समस्या यह है कि परमात्मा, जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप और इसलिए इच्छा और सकल्प-रहित है, वह किस प्रकार प्रकृति और पुरुष के महान् सयोग का कारण है। भिक्षु इसका यह उत्तर देते हैं कि परमात्मा के स्वरूप में ही ऐसी शक्ति है कि जिससे वह, अपने में अन्तर्हित प्रकृति और पुरुष को सयुक्त करने की क्रिया तथा विकास क्रम को बनाए रखता है। यद्यपि पुरुष और प्रकृति को जगत् का कारण माना जा सकता है, तो भी क्योंकि सयोग, काल में होता है इसलिए काल को ही प्रधान रूप में गति का कारक मानना चाहिए, यह सयोग परमात्मा में निहित उपाधि वशात् सम्भव है। (मम स्वीयो भाव पदार्थ स्वभाव उपाधि ततस्तस्य प्रेरणात् भगवान् अप्रतिहतो महायोगस्य प्रकृति-पुरुषादि सयोगस्य ईश्वरस्तत्र समर्थ ·· प्रकृति प्रतिक्षण परिणामानम् एव कालोपाधित्वात्)। चूँकि भगवान्, पुरुष और प्रकृति को अपनी प्रेरक उपाधि से गतिशील करता है इसलिए जड-चैतन्य-युक्त सारा जगत् इस दृष्टि से उसका शरीर कहलाते हैं वे भगवान् की क्रिया के निष्क्रिय विषय है। ईश्वर, प्रकृति और पुरुष रूप से अपनी ही शक्तियों में नृत्य करता रहता है। यह तर्क किया जा सकता है कि पुरुष नितान्त निष्क्रिय होने से वह किस प्रकार गति उत्पन्न कर सकता है और किस प्रकार प्रकृति से सयोग स्थापित कर सकता है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे विशिष्ट क्रिया में प्रवृत्त कर दिए जाते हैं या प्रवृत्ति से सयुक्त कर दिए जाते हैं। कभी-कभी यह भी सूचित किया जाता है प्रकृति पुरुष की उपाधि है और प्रकृति की पुरुष के सयोग में प्रवृत्ति, पुरुष की ही प्रकृति है, ऐसा समझा जाता है।

ईश्वर गीता के सातवें अध्याय में ब्रह्म को व्यापक कहा गया है। इस प्रकार कोई भी कारण अपने कार्य के सम्बन्ध से ब्रह्म माना जा सकता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर, छोटे सामान्य से लेकर बडे सामान्य के रूप में हो सकते हैं। ब्रह्म की इस प्रकार परिभाषा की गई है, 'यद्यस्य कारण तत्तस्य ब्रह्म तदपेक्षया व्यापकत्वात्'

बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-५ मे कहा है कि आत्मा की कामना के लिए सभी वस्तुओ की कामनाएँ हैं। शकर इससे यह अनुमान लगाते है कि हमारी प्रियता मूलत. आत्मा से है और जब सभी मोह सुख का मोह है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा आनन्द या सुख-स्वरूप है। दूसरे पदार्थ की इच्छा केवल तभी होती है जब हम उन्हें भूल से अपना स्वरूप या अग मान लेते हैं। भिक्षु इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करते है। वे कहते हैं कि प्रथमत यह गलत है कि हमे सर्वदा अपने मे मोह है, और इसलिए, यह सत्य नहीं है कि जब हम अन्य पदार्थ की कामना करते हैं तो हम अपनी आत्मा की कामना करते है। इसलिए, यह गलत है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है तो वह आनन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। यदि आनन्द और चैतन्य दोनो एक ही हैं, तो सभी ज्ञान आनन्द रूप होगा, किन्तु हमारा अनुभव, जितना सुख से सम्बन्धित है उतना ही दु ख से भी है। सुख-दु ख और अभिमान, ये सब प्रकृति के धर्म है या उसके विकार बुद्धि के धर्म हैं और ये वृत्ति द्वारा आत्मा पर स्थानान्तरित होते हैं, जो सचमुच सुख-दु ख का भोक्ता है। इसलिए अनुभव प्रकृति का धर्म नहीं है किन्तु आत्मा का है।[1] विषय से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के और प्रकाश के व्यापार द्वारा चित्त-व्यापार उत्पन्न होता है। इन्हे वृत्तियाँ कहा जाता है जो बुद्धि का धर्म है और इसलिए प्रकृति का, किन्तु इसके अनुरूप पुरुष द्वारा वृत्ति साक्षात्कार होता है और यह साक्षात्कार ही पुरुष का खरा अनुभव है। भोग शब्द द्वयर्थी है, सदिग्धार्थ है। कभी यह वृत्ति को लक्ष्य करता है और कभी वृत्ति-साक्षात्कार को। पहले अर्थ मे भोग पुरुष मे अस्वीकृत है।

अज्ञान, इस प्रणाली मे मिथ्या ज्ञान का अर्थ रखता है। जब पुरुष बुद्धि की वृत्ति का साक्षात्कार करता है और उसे अपने पर आरोपित करता है तब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है जो बन्धन का कारण होता है। साक्षात्कार स्वय सत्य है किन्तु आत्मा से साक्षात्कार के गुण का सम्बन्ध मिथ्या है। जब आत्मा वृत्ति मे भिन्न अपना स्वरूप जानता है और अपने को ब्रह्म का एक अविभक्त अग जानता है तब मुक्ति होती है। ब्रह्म से आत्मा की अविभक्तता का सरल अर्थ यही है कि ब्रह्म आधार कारण है और इसलिए यह आधार कारण मूल मे शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सारा जगत् शुद्ध चैतन्य रूप से ही ब्रह्म मे स्थिर है जिसके प्रकृति और पुरुष जिसमे एक सच्चे विकार से परिणाम प्राप्त करने के कारण और दूसरा प्रकृति के व्यापार का अपने पर अध्यारोप द्वारा, कार्य माने जा सकते हैं। जगत् अन्त मे शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, किन्तु जड तथा उसके परिणाम और अनुभव भी केवल जड है और उसमे

---

[1] साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य दृश्य-धर्मत्व-सम्भवात्।
—ईश्वर गीता पर भिक्षु की टीका, हस्त०।

से बुद्बुद की तरह निकलते कालमय रूप हैं। किन्तु चूंकि ये कार्य के रूप में ब्रह्म के सच्चे प्रकार हैं, इसलिए अद्वैतवाद पर अधिक बल देना गलत रहेगा। सत्ता में अधिष्ठान कारण तथा उद्भूत रूप दोनों ही समान हुए हैं। शंकर ने यह प्रतिपादन किया है कि अद्वैत न पहुँचने तक ही द्वैत सत्य है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते कहते हैं कि जबकि अद्वैत सत्य पर पहुँचने के लिए द्वैत की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है, इसलिए द्वैतवाद का सर्वथा खण्डन अद्वैत का भी खण्डन होगा।

तेइसवाँ अध्याय

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

जिन पाठकों ने विज्ञान भिक्षु द्वारा व्याख्यात कूर्म पुराणान्तर्गत ईश्वर गीता तथा ब्रह्म सूत्र की टीका पढ़ी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि, उनके अनुसार वेदान्त का सम्बन्ध सांख्य और योग से है और इसके समर्थन में उन्होंने बहुत से पुराणों का उल्लेख किया है, जो शंकर से पहले वर्तमान थे। विज्ञान भिक्षु, इसलिए, पुराण के बहुत से उद्धरण देते हैं और रामानुज, मध्व, वल्लभ, जीव गोस्वामी और बलदेव के ग्रन्थों में, हम उनके द्वारा मान्य वेदान्त दर्शन के समर्थन में पुराण के बहुत से उद्धरण देखते हैं।

यह बहुत ही सम्भव है कि ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है। उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या पुराण में पाए जाने वाले अर्ध वस्तुवादी अर्थ बोधन से बहुत दूर हट गया है। सम्भवतः, इसीलिए, शंकर पुराण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु जबकि शंकर द्वारा अर्थ बोधन का प्रकार पूर्व गामी पुराणों में नहीं मिलता, और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषद् के प्रति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से हल्का कर दिया है, तो यह माना जा सकता है कि पुराण और भगवद् गीता में पाया जाने वाला वेदान्त-मत, कम-से-कम सामान्य रूप से, ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् दर्शन का अति प्राचीन दृष्टिकोण है।

इसलिए यह वाञ्छनीय है कि रामानुज और विज्ञान भिक्षु के दर्शन के निरूपण को, कुछ मुख्य पुराणों के दर्शन के संक्षिप्त वर्णन से पूरा करना चाहिए। सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं।[1] इस प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पुराण के सर्ग प्रति सर्ग में विद्यमान दार्शनिक विचारों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा जिससे पाठक पुराण के दर्शन की भास्कर, रामानुज, विज्ञान भिक्षु और निम्बार्क के दर्शन से तुलना कर सकें।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष मानी गयी है, फिर

---

[1] सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानु चरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं। —कूर्म पुराण, १-१२।

से बुदबुद की तरह निकलते कालमय रूप हैं। किन्तु यद्यपि ये कार्य के रूप में ब्रह्म के सच्चे प्रकार हैं, इसलिए अद्वैतवाद पर अधिक बल देना गलत रहेगा। सत्ता में अधिष्ठान कारण तथा उद्भूत रूप दोनों ही समान हुए हैं। शंकर ने यह प्रतिपादन किया है कि अद्वैत न पहुँचने तक ही द्वैत सत्य है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते कहते हैं कि जबकि अद्वैत सत्य पर पहुँचने के लिए द्वैत की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है, इसलिए द्वैतवाद का सर्वथा खण्डन अद्वैत का भी खण्डन होगा।

तेइसवाँ अध्याय

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

जिन पाठकों ने विज्ञान भिक्षु द्वारा व्याख्यात कूर्म पुराणान्तर्गत ईश्वर गीता तथा ब्रह्म सूत्र की टीका पढ़ी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि, उनके अनुसार वेदान्त का सम्बन्ध सांख्य और योग से है और इसके समर्थन में उन्होंने बहुत से पुराणों का उल्लेख किया है, जो शंकर से पहले वर्तमान थे। विज्ञान भिक्षु, इसलिए, पुराण के बहुत से उद्धरण देते हैं और रामानुज, मध्व, वल्लभ, जीव गोस्वामी और बलदेव के ग्रन्थों में, हम उनके द्वारा मान्य वेदान्त दर्शन के समर्थन में पुराण के बहुत से उद्धरण देखते हैं।

यह बहुत ही सम्भव है कि ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है। उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या पुराण में पाए जाने वाले अर्थ वस्तुवादी अर्थ बोधन से बहुत दूर हट गया है। सम्भवतः, इसीलिए, शंकर पुराण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु जबकि शंकर द्वारा अर्थ बोधन का प्रकार पूर्व गामी पुराणों में नहीं मिलता, और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषद् के प्रति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से हल्का कर दिया है, तो यह माना जा सकता है कि पुराण और भगवद् गीता में पाया जाने वाला वेदान्त-मत, कम-से-कम सामान्य रूप से, ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् दर्शन का अति प्राचीन दृष्टिकोण है।

इसलिए यह वाञ्छनीय है कि रामानुज और विज्ञान भिक्षु के दर्शन के निरूपण को, कुछ मुख्य पुराणों के दर्शन के संक्षिप्त वर्णन से पूरा करना चाहिए। सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं।[1] इस प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पुराण के सर्ग प्रति सर्ग में विद्यमान दार्शनिक विचारों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा जिससे पाठक पुराण के दर्शन की भास्कर, रामानुज, विज्ञान भिक्षु और निम्बार्क के दर्शन से तुलना कर सकें।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष मानी गयी है, पर

---

[1] सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानु चरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं। —कूर्म पुराण, १-१२।

परमात्मा अपने सकल्प से प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है और सर्जन आरम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है।[1] जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष मे प्रवेश करता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सर्जन करने वाले क्षोभ के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि एक सुगन्धित पदार्थ अपने सान्निध्य मात्र से मन का परिणाम किए बिना सुगन्ध उत्पन्न करता है।[2] परमात्मा क्षोभ और क्षोभ्य दोनो है और इसी कारण, विरोध और विकास द्वारा सर्ग होता है। यहाँ पर पुन हम सर्वेश्वरवाद पाते हैं, सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक मे वही समाया हुआ है। अणु से जीवात्मा का अर्थ है।[3] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप से है और पुरुष और ब्रह्म रूप से भी।[4] यह स्पष्ट ही सर्वेश्वरवाद है।

टीकाकार कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात्' मे क्षेत्रज्ञ शब्द से पुरुष का तात्पर्य है। किन्तु प्रत्यक्षत सदर्भ और न साख्य मत इसका समर्थन करता है। पाठ का अनुसधान स्पष्ट ही ईश्वर को लक्ष्य करता है, और प्रकृति मे प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा उसका अधिष्ठातृत्व पहले ही वर्णन किया जा चुका है।[5] प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है तब वह प्रधान द्वारा आवृत होता है और इस प्रकार आवृत होकर वह सात्विक, राजस और तामस महत् के रूप मे विभक्त होता है। प्रधान महत् को ठीक उसी तरह ढकता है जैसे त्वचा बीज को।[6] इस प्रकार आवृत हुए महान् मे, वैकारिक, तैजस् और भूतादि या तमस् अहकार, त्रिविध रूप मे उत्पन्न होते हैं। इस भूतादि अहकार, से, जो महत् द्वारा आवृत है (जैसे महत् प्रधान द्वारा) शब्द तन्मात्र सहज स्वविकार द्वारा उत्पन्न होते हैं और उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द तन्मात्र मे आकाश भूत तत्व उत्पन्न होता है। पुनः भूतादि शब्द तन्मात्र आकाश को आवृत कर लेता है। आकाश इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त हो स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता है जो त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है। भूतादि पुन आकाश, शब्द तन्मात्र स्पर्श तन्मात्र और विभक्त वायु को आवृत करता है जो पुन· रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित

---

[1] वही, १-२-२९।

[2] वही, १-२-३०।

[3] विष्णु पुराण, १-२-३१।

[4] वही, १-२-३२।

[5] गुण साम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुण-व्यजन-सम्भूति सर्ग-काले द्विजोत्तम।

—वही, १-२-३३।

[6] प्रधान तत्वेन सम त्वचा बीजमिवावृतम्।

—विष्णु पुराण, १-२-३४।

ही ज्योति उत्पन्न करता है ।[1] स्पर्श तन्मात्र और वायु, रूप तन्मात्र को आवृत करता है । इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त होकर विभक्त स्थूल-ज्योति रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है, जिसमे से पुन स्थूल अप उत्पन्न होता है । इसी प्रकार रस तन्मात्र और रूप तन्मात्र आवृत होकर विभक्त स्थूल अप गन्ध तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमे पुन स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है । तन्मात्र गुणों की अव्यक्त उपाधियां हैं इसलिए इनमे गुण प्रकट नही है । इसलिए इन्हें, सृष्टि प्रणाली में अविशेष कहा है । ये शान्त घोर और मूढ त्रिगुण धर्म नहीं प्रकट करते हैं । इस कारण भी इन्हें अविशेष कहा है ।[2]

तेजस अहंकार मे पंच ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । वैकारिक अहंकार से मनस् उत्पन्न होता है ।[3] ये तत्व सुसंगति तथा एकता से कार्य करते हैं और तन्मात्र अहंकार और महत् के साथ, परमात्मा के परम नियंत्रण मे विश्व की एकता बनाते हैं । जब विश्व वृद्धि पाता है तब ये अण्डाकार रूप मे हो जाते हैं जो क्रमश पानी के बुदबुद की तरह अन्दर से विस्फोट करते हैं, और यह विष्णु रूप ब्रह्म का भौतिक शरीर कहलाता है । विश्व बाह्य परिधि पर, आप, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि से आवृत रहता है और इसके बाद महत् और अव्यक्त द्वारा, जो पृथ्वी से दस गुने बडे हैं । इस प्रकार सात आवरण होते हैं । विश्व नारियल के फल के समान है जिसके ऊपर अनेक आवरण हैं । योग्य समय पर, पुन तमस् के आधिक्य से, परमात्मा विश्व का रुद्र रूप मे भक्षण करता है और फिर ब्रह्मा रूप मे सर्जन करता है । अन्तोगत्वा, अवश्य ही, परमात्मा क्योंकि विश्व को अपने मे धारण करता है इसलिए वह सर्जक और सर्जन दोनो ही है, रक्षक और संहारक भी है ।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है, अज्ञेय और निर्मल है तो भी वह अपनी शक्ति द्वारा, जिन्हें हम जान नही सकते, सर्जक बन सकता है । वास्तव मे शक्ति या बल तथा द्रव्य का सम्बन्ध विचारातीत है । हम यह कभी नही समझा सकते कि अग्नि क्यों तथा कैसे गर्म है ?[4] पृथ्वी हरि की प्रार्थना करती हुई उसका इस प्रकार वर्णन

---

[1] टीकाकार यहां कहता है कि जब आकाश स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता कहा गया है तो कहने का अर्थ यह नही है कि आकाश ऐसा करता है किन्तु भूतादि आकाश रूप से व्यक्त होकर करता है, अर्थात् भूतादि के आधिक्य से आकाश स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न कर सकता है । "आकाश आकाशमयो भूतादिः स्पर्श-तन्मात्र ससर्ज ।"

[2] श्लोक की टीका देखो, विष्णु पुराण १-२-४४ ।

[3] टीकाकार कहते हैं कि यहां मनस् से चतुर्विध कार्य सहित अन्त करण का अर्थ है, ये मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं ।

[4] विष्णु पुराण, १-३, १-२ ।

करती है इस जगत् मे जो भी कुछ दृश्य है तेरी ही अभिव्यक्ति है सामान्य मनुष्य इसे भौतिक जगत् मानने मे भूल करता है सारा जगत् ज्ञानरूप है, उसे विषय मानना भूल की भूल है। जो ज्ञानी है वे इसे चिद्रूप मानते है और परमात्मा का रूप मानते हैं जो शुद्ध ज्ञान रूप है। जगत् को भौतिक मानना और ज्ञान की अभिव्यक्ति न मानना ही भूल है।'

विष्णु पुराण १-४, ५०-५२ मे ऐसा कहा है कि परमात्मा ही एक निमित्त कारण है और उपादान कारण जगत् के पदार्थ की शक्तियाँ है जो उत्पन्न की जाने वाली है। इन शक्तियो के जगत् के रूप मे प्रकट होने के लिए केवल निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है। परमात्मा केवल निमित्त मात्र ही है, जगत् का उपादान कारण जगत् के पदार्थो की शक्ति मे विद्यमान है, जो परमात्मा के सान्निध्य से प्रभावित है। टीकाकार सूचित करता है कि परमात्मा सान्निध्य मात्र से निमित्त है (सान्निध्य मात्रेणैव)'

विष्णु पुराण १-४ मे हम सृष्टि का दूसरा वर्णन पाते है। ऐसा कहा गया है कि भगवान् ने सृष्टि रचना का विचार किया, और एक जड रूप सृष्टि तमस् मोह, महा मोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्न के रूप मे प्रकट हुई। ये पाच प्रकार की अविद्या भगवान् से उत्पन्न हुई। इनसे पाँच प्रकार के वृक्ष हुए जो वृक्ष, गुल्म, लता, विरुत और तृण हैं (यहाँ पर्वत और गिरि को और जोडना चाहिए) जिनमे अन्त और बाह्य चेतना नही होती, इन्हे सवृतात्मन कहा जा सकता है। इससे सतुष्ट न होकर, उसने पशु और पक्षियो को उत्पन्न किया जो तिर्यक् कहलाए। पशु इत्यादि तिर्यक् कहलाते है क्योकि उनका ससार ऊपर न होकर सभी दिशाओ मे होता है। तमस् से पूर्ण है इसलिए अवेदिन कहलाते है। टीकाकार यहाँ आलेखित करते हैं कि अवेदिन् का अर्थ यह है कि पशुओ को भूख प्यास का ही ज्ञान होता है, किन्तु

---

[1] यदेतद्दृश्यते मूर्तम्, एतद् ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रांति-ज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिन। —विष्णु पुराण, १-४ ३९।
ज्ञान स्वरूपमखिल जगदेनद वुद्धय।
अर्थ स्वरूप पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह-सल्पवे॥ —वही, १-४-४०।

[2] निमित्रमात्रमेवासीत् सृज्याना सर्ग-कर्मणि।
प्रधान कारणी भूता यतो वै सृज्य शक्तय॥ —वही, १-४-५१।
निमित्त मात्र मुक्त्वैकम् नान्यत् किंचिदवेक्ष्यते।
नीयते नमताम् श्रेष्ठ स्वशक्तया वस्तु वस्तुताम्॥ —वही, १-४-५२।
सिसृक्षु शक्ति युक्तोसौ सृज्य-शक्ति प्रचोदित। —वही, १-५-६५।

इस पाठ मे ईश्वर के सकल्प और सृजन शक्ति को सृष्ट पदार्थों की शक्ति से सहायता मिलती है, ऐसा सूचन है।

निर्मल सतोप है, और मनुष्य मे हेतुपूर्ति है। यह अनुग्रह सर्ग कहलाता है।[1] तत्पश्चात् नवा सर्ग आता है जो कौमार सर्ग कहलाता है। वह सम्भवत ईश्वर के मानस पुत्र सनत्कुमार इत्यादि के सर्जन से सम्बन्ध रखता है।

प्रलय चार प्रकार के कहे गए है ये नैमित्तिक या वाह्य, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य है। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा की निद्रा है, प्राकृतिक प्रलय मे विश्व प्रकृति मे विलीन होता है, आत्यन्तिक परमात्मा के ज्ञान से होता है अर्थात् जब योगी अपने को परमात्मा मे लय करता है और चौथा जो नित्य प्रलय है निरन्तर विनाश है। वह प्रतिदिन होता रहता है।

वायुपुराण मे आत्यातिक सिद्धान्त का उल्लेख है, जो परमात्मा की प्रथम कार्यकारी प्रवृत्ति से है। इसे 'कारण अप्रमेयम्' कहा है, और यह अनेक नाम से विख्यात है जैसे ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूत्ति (प्रकृति प्रसूति) आत्मन्, गुह, योनी, चक्षुप, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तपस्, सत्वम् और अतिप्रकाश। ये दूसरे पुरुष को घेरे हुए है। यह दूसरा पुरुप सम्भवत लोक पितामह है। रजस के आधिक्य एव काल के सयोग से क्षेत्रज्ञ से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकार के स्तर उत्पन्न होते हैं।[2] इस सम्बन्ध मे वायु पुराण भी प्राकृतिक, नैमित्तिक, और आत्यन्तिक प्रलय का उल्लेख करता है।[3] वह यह भी कहता है कि पदार्थो का विकास शास्त्र-निर्देश तथा बुद्धि

---

[1] वायु पुराण ६-६८ मे इसे निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

स्थावरेपु विपर्यास्तिर्यग योनिपु शक्तिता।
सिद्धात्मनो मनुष्यास्तुत्रिपु देवेपु कृत्स्नश.।

यहां छठा सर्ग भूत-सर्ग है।

भूनादिका नाम् सत्वाना पष्ठ सर्ग स उच्यते। —वही, ६-५८-५६।

ते परिग्रहिण. सर्वे सविभागरता पुन खादनाश्चाप्य शीलाश्य ज्ञेया भूतादिका च ते॥ —वही, ६-३०।

मार्कंडेय पुराण मे अनुग्रह-सर्ग पांचवा सर्ग है।

कूर्म पुराण मे (७-११) भूत पाचवां सर्ग है, कूर्म पुराण के अनुसार पहला सर्ग महत्सर्ग, दूसरा, भूत-सर्ग, तीसरा वैकारिकेन्द्रिय सर्ग, चौथा, मुख्य सर्ग, पांचवां तिर्यक् सर्ग है। इस प्रकार यहां विरोध है क्योकि उसी अध्याय मे ११वें श्लोक मे पांचवां भूत-सर्ग कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि कम से कम सातवे अध्याय को लिखने मे दो व्यक्तियो का योग है।

[2] वायु पुराण, २-११, अहिर्बुध्न्य सहिता मे विस्तृत पचरात्र सिद्धान्त से इसकी तुलना करो।

[3] वायु पुराण, ३-२३।

अध्यवसाय हैं। यह त्रिगुणात्मक है। रजस् के आधिक्य से, महत् से अहकार उत्पन्न हुआ। तमस् के आधिक्य से भूतादि भी उत्पन्न होते हैं जिनमे से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसमे शून्य रूप आकाश उत्पन्न होता है जिसका शब्द से सम्बन्ध है। भूतादि के परिणाम से शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुए है। जब भूतादि शब्द तन्मात्र को आवृत कर लेते हैं, तब स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है। जब आकाश शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र को आवृत करता है, तब वायु उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अन्य भूत और उनके गुण उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओ को अविशेष भी कहा है। वैकारिक या सात्विक अहकार से पच ज्ञानेन्द्रिया पच कर्मेन्द्रिया और मनस् उत्पन्न होते हैं।[1]

ये गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं और पानी की बुद बुद की तरह ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते है। इस ब्रह्माण्ड से क्षेत्रज्ञ, ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ (चतुर्मुखी देव) उत्पन्न होता है। परमात्मा प्रत्येक प्रलय के समय अपना शरीर छोडता है और नवीन सर्ग के समय नवीन शरीर धारण करता है।[2] ब्रह्माण्ड अप, तेज उष्णता, वायु, आकाश, भूतादि, महत् और अव्यक्त से आवृत रहता है। आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है और सम्भवत ब्रह्माण्ड आठवा आवरण है।[3]

आठवें अध्याय मे ऐसा कहा है कि रजस्, सत्व और तमस् में प्रवृत्यात्मक तत्व के रूप मे विद्यमान है, जैसे तिल मे तेल रहता है। आगे यह भी कहा है कि महेश्वर, प्रधान और पुरुष मे प्रवेश करता है और रजस् भी प्रवृत्ति से प्रकृति की साम्यावस्था मे क्षोभ पहुँचता है।[4] गुण क्षोभ से तीन देव उत्पन्न होते हैं, रजस् से ब्रह्मा, तमस् से अग्नि और सत्व से विष्णु। अग्नि का काल से भी एकत्व किया गया है।

वायु पुराण मे माहेश्वर योग का वर्णन भी है।[5] यह पांच धर्म का बना है, जैसेकि प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण। प्राणायाम तीन प्रकार

---

[1] यह अन्य वर्णनो से भिन्न है। यहाँ रजस् अहकार का कोई कार्य नही है जिससे कर्मेन्द्रिया उत्पन्न होती हैं।

[2] वायु पुराण, ४-६८।

[3] यह पाठ क्लिष्ट है क्योकि यह समझना कठिन है कि ये आठ प्रकृत्तियाँ कौन-सी हैं। —वही, ४, ७७-७८।

[4] यह पहले कहा है कि भौतिक जगत् तामस् अहकार से उत्पन्न होता है, और सात्विक अहकार से ज्ञान-कर्मेन्द्रिय पचक। राजसिक अहकार से कुछ उत्पत्ति नहीं मानी है, वह केवल साम्यावस्था के क्षोभ का क्षण ही माना है। —और वायुपुराण, ५-६ देखो।

[5] वायुपुराण, अ० ११-१५।

के है, मन्द, मध्यम और उत्तम। मन्द १२ मात्रा का, मध्यम चौबीस मात्रा का और उत्तम ३६ मात्रा का होता है। जब वायु को प्रत्याहार-क्रम से नियमित किया जाता है तब सभी पाप जल जाते है और सभी शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। ध्यान द्वारा भगवान् के गुणो का ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम से चार प्रकार के लाभ होते हैं, शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद। शान्ति का अर्थ माता-पिता से प्राप्त दोष तथा दूसरो के सयोग से जनित पाप का नष्ट होना है। प्रशान्ति व्यक्तिगत दोषों का नाश जैसेकि तृष्णा, अभिमान इत्यादि। दीप्ति का अर्थ उस ज्ञान-चक्षु दृष्टि से है जिसमे त्रिकाल अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान होता है और ऋषियों से सयोग होता है जिससे बुद्ध जैसा बन सकते है। प्रसाद सन्तोष है, और इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, मनस् और पच वायु का शमन है।

आसन से आरम्भ कर प्राणायाम की प्रक्रिया तक का भी वर्णन किया है। प्रत्याहार अपनी इच्छाओं का नियमन है। धर्म मन को नासिका के अग्रभाग अथवा भौंहो के मध्य बिन्दु केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना है। प्रत्याहार द्वारा बाह्य वस्तुओं का प्रभाव हटाया जाता है। ध्यान से हम अपने को सूर्य या चन्द्र जैसा देखते हैं, अर्थात् इससे हमे अप्रतिहत प्रकाश प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की सिद्धि जो योगी को प्राप्त होती है। उन्हे उपसर्ग कहा गया है और इन सिद्धियो से दूर रहने का आग्रह किया गया है। ध्यान के विषय पृथ्वी, मनस् और बुद्धि से उत्पन्न तत्व हैं। योगी को इन प्रत्येक तत्वो को बारी-बारी से लेना चाहिए और छोड देना चाहिए, जिससे वह किसी से भी मोहित न हो जाय। जब वह इन सातो मे से सग नही करता है और वह सर्वज्ञ, सतोष, अनादि ज्ञान, स्वातन्त्र्य, अनवरुद्ध एव अनन्त शक्ति युक्त महेश्वर का ध्यान करता है। इसलिए योग का अन्तिम हेतु[1] महेश्वर जैसी ब्रह्म प्राप्ति है जिसे अपवर्ग भी कहते है।[2]

मार्कंडेय पुराण मे योग को ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कहा है, जो एक ओर मुक्ति और ब्रह्म से तादात्म्य है और दूसरी ओर प्रकृति के गुणो से वियोग है।[3] सभी दु ख मोह से उत्पन्न होते हैं। मोह-निवृत्ति से ममत्व का भी नाश होता है जो सुख प्राप्ति कराता है। मुक्ति प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और अन्य सब

---

[1] वायुपुराण के योग मे वृत्ति-निरोध या कैवल्य का उल्लेख नही है।

[2] वायु और मार्कंडेय पुराण मे अरिष्ट पर एक अध्याय है जैसाकि जयाख्य सहिता मे पाया जाता है, जहाँ मृत्यु चिह्न का वर्णन है जिससे योगी मृत्यु समय जानता है, यद्यपि यह वर्णन अन्य दो ग्रन्थो मे दिए वर्णनो से सर्वथा भिन्न है।

[3] ज्ञान पूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिन ।
सामुक्ति र्ब्रह्मणा चैक्यम् अनैक्यम् प्रकृते र्गुणै. ॥   —मा० पु० ३९-१ ।

कुछ अज्ञान है। धर्म-पालन तथा अन्य कर्त्तव्य-पालन द्वारा, पाप और पुण्य के फल का अनुभव लेने से, अपूर्व के फल के मग्रह से, और दूसरो के पूर्ण हो जाने से, कर्म का बन्धन होता है। कर्म से मुक्ति, इसलिए, इसमे विरोधी प्रक्रिया से ही हो सकती है। प्राणायाम से पाप नष्ट होते हैं।[1] अन्तिम स्थिति मे योगी ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे पानी मे पानी डालने से एक हो जाता है।[2] यहां पर योग के चित्तवृत्ति-निरोध का उल्लेख नही किया गया है।

वासुदेव को यहां परम ब्रह्म कहा है, जिसने अपनी रचना की इच्छा से, काल की शक्ति द्वारा सभी कुछ रचा है। इसी शक्ति द्वारा, पर ब्रह्म ने अपने मे से पुरुष और प्रधान को अलग किया और उनका सयोग किया। इस सर्जन-क्रम मे सबसे प्रथम तत्व महत् निकला, जिसमे से अहकार, इसमे से पुनः सत्व, रजस् और तमस् उत्पन्न हुए। तमस् से पच तन्मात्र और पचभूत, और रजस् से दश इन्द्रियां और बुद्धि निकले। सत्व मे से इन्द्रियो के अधिष्ठाता देवता और मनस् उत्पन्न हुए।[3] और आगे यह कहा है कि वासुदेव, पुरुष और प्रकृति और सभी विकार मे है, जो इनमे व्याप्त भी है और पृथक् भी है, अर्थात् वह व्यापक एव अतीत भी है। वह इनमे व्याप्त भी है तब भी उनके दोष और मर्यादाएँ उसे कुछ भी प्रभावित नही करती। सच्चा ज्ञान वह है जो वासुदेव से उत्पन्न सभी रूपो को, प्रकृति, पुरुष इत्यादि को समझता है और वासुदेव को भी उसके शुद्ध और पररूप से जानता है।[4]

यहां ध्यान रखना चाहिए कि पद्म पुराण मे ब्रह्म-भक्ति का उल्लेख है जो कायिक या वाचिक, या मानसिक या लौकिक या वैदिकी और आध्यात्मिकी है। आध्यात्मिकी भक्ति फिर दो प्रकार की कही है, साख्य-भक्ति और योग-भक्ति।[5] चौबीस तत्वो का ज्ञान, और इनका परम तत्व पुरुष से भेद, तथा प्रकृति और जीव का ज्ञान साख्य-भक्ति है।[6] ब्रह्म पर ध्यान और प्राणायाम का अभ्यास योग-भक्ति है।[7] भक्ति यहां विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त की गई है।

नारदीय पुराण मे नारायण को परम सत्य माना है, अर्थात्, धार्मिक दृष्टि से, यदि इसे देखा जाय तो, वह अपने मे से सर्जक ब्रह्मा को रक्षक और पालक विष्णु को

---

[1] प्राणायाम तथा योग की अन्य प्रक्रिया वायुपुराण मे वर्णित जैसी ही है।
[2] मार्कंडेय पुराण, ४०,४१।
[3] स्कद पुराण, २-६-२४ श्लोक १-१०।
[4] वही, श्लोक ६५-७४।
[5] पद्म पुराण, १-१५ श्लोक १६४-१७७।
[6] वही, श्लोक १७७-१८६।
[7] वही, श्लोक १८७-१९०।

की प्राप्ति इन दुःखों से छुटकारा पाने का एक उपाय है।[1] परमात्म-प्राप्ति के दो उपाय है ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग। ज्ञान शास्त्र के अध्ययन द्वारा विवेक से आता है।[2]

योग का भी वर्णन दूसरे अध्याय मे दिया है। इसे ब्रह्म-लय कहा है। मनस् ही बध और मोक्ष का कारण है। बन्धन विषयो से अनुरक्ति है, मुक्ति उनसे असगतता है। जब आत्मा मन को चुम्बक की तरह अन्दर खीच कर उसकी प्रवृत्ति को नीचे की ओर निर्देश करता है और अन्त मे ब्रह्म से जोड देता है, यही योग है।[3]

विष्णु की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, परा जो चरम है, अपरा, (जो व्यक्तिगत प्रयत्न से एक है) और तीसरी जो विद्या या कर्म कहलाती हैं।[4] सभी शक्तियाँ विष्णु की हैं, और उनकी ही शक्ति से सभी जीव कर्म मे प्रवृत्त होते हैं।[5]

भक्ति को दूसरे अध्याय मे श्रद्धा के अर्थ मे प्रयुक्त किया है, और इसे जीवन के सभी कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है।[6]

---

[1] अन्तर्यामी प्रत्यय के लिए अ० ३ का २६वाँ श्लोक देखिए और अ० ३३ का ४८वाँ श्लोक।

[2] नारदीय पुराण श्लोक ४, ५।

उत्पत्ति प्रलय चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवान् इति ॥
ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य-वीर्य-तेजास्यशेषत ।
भगवच्छब्द वाच्योऽय विना हेयैर्गुणादिभि ॥
सर्वं हि तत्र भूतानि वसति परमात्मनि ।
भूतेषु वस ते सान्तर्वासुदेव स्तत स्मृत ॥
भूतेषु वसते सान्तर्वस त्यत्र चतानि यत् ।
धाताविधाता जगता वासुदेव स्तत स्मृत ॥

—वही, १-४६, श्लोक २१-२४।

वासुदेव के गुण निम्न चार श्लोको मे वर्णन किए हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् का अर्थ वासुदेव है (वही, श्लोक १९)।

[3] आत्मा प्रयत्न-सापेक्षा विशिष्टा या मनोगति ।
तस्या ब्रह्मणि सयोगो योग इत्यभिधीयते। —ना० पु० ४७-७।
प्राणायाम यम और नियम का वर्णन ५-८ से ५-२० तक में दिया है।

[4] वही, ना० पु० १-४७, श्लोक ३९-३८।

[5] वही, ४७-४९।

[6] वही, १-४।

कूर्म पुराण के अनुसार, परमात्मा पहले अव्यक्त, अनन्त, अजेय और अनिर्देशक के रूप में रहता है। किन्तु यह, अनन्त, नित्य और विश्व का कारण भी कहा गया है, जो सत् और असत् दोनों है और इसे प्रकृति से एक कहा है। इस रूप में वह परब्रह्म माना गया है, जो तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इस अवस्था में पुरुष मानो उसमें समाया रहता है, और इसे प्रकृति-लय की अवस्था भी कहते हैं। परब्रह्म की इस अव्यक्तावस्था में, वह ईश्वर के रूप में प्रकट होने लगता है और वह अपने अन्तरंग संयोग से पुरुष और प्रकृति में प्रवेश करता है। ईश्वर की इस स्थिति की, इसी पुराणों में, स्त्री काम-वासना से तुलना की गई है, जो उसमें हमेशा रहती हुई केवल सर्जन प्रवृत्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। इसी कारण ईश्वर तटस्थ-क्षोभ्य और गतिशील-क्षोभक दोनों ही माना गया है। इसी कारण यह कहा जाता है कि ईश्वर, संकुचन और विस्तार द्वारा प्रकृति का-सा व्यवहार करता है। पुरुष और प्रकृति की क्षुब्धावस्था में महत् का बीज उत्पन्न होता है। पुरुष और प्रधान स्वरूप (प्रधानपुरुषात्मकम्) है। इसमें महत् की उत्पत्ति होती है जो आत्मन्, मति, ब्रह्मा, प्रबुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, धृति, स्मृति और संवित् भी कहलाता है। इस महत् से त्रिविध अहंकार उत्पन्न होते हैं, ये वैकारिक, तैजस और भूतादि (तामस अहंकार) है। इस अहंकार को अभिमान, कर्ता, मन्ता, और आत्मन् भी कहा है क्योंकि हमारे सभी प्रयत्न यहीं से उत्पन्न होते हैं।

ऐसा कहा है कि विश्व मनस् जैसा एक मनस् है जो अव्यक्त से अचिरात् ही उत्पन्न होता है और इसे पहला विकार माना है जो तामस अहंकार से उत्पन्न कार्यों की अधिनियमणा करता है।[1] इस मनस को, तैजस और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय रूप मनस् से भिन्न समझना चाहिए।

तन्मात्र और भूत के विकास के प्रकार के दो मत एक के बाद एक यहां दिए हैं, जिससे यह पता चलता है कि कूर्म पुराण का पुनः संस्करण हुआ होगा, और इसका मत जो पहले से विसंगत है उसे आगे जाकर शामिल कर दिया गया है। ये दो मत इस प्रकार है —

(१) भूतादि ने अपने विकास में शब्द तन्मात्र को उत्पन्न किया, इसमें आकाश हुआ जिसका शब्द गुण है। आकाश ने अपना विकास करते हुए स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न किया, स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न हुई, जिसका स्पर्श गुण है। वायु अपनी वृद्धि में, रूप तन्मात्र को जन्म देती है, जिससे ज्योति (ताप-तेज) हुआ, जिसका गुण रूप है। इस ज्योति से अपना विकास करते हुए, रस तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जिसने

---

[1] मनस्त्वव्यक्तज प्रोक्त विकार प्रथम स्मृत ।
येनासौ जायते कर्ता भूतादीश्चानुपश्यति ।। कू० पु० ४-२१ ।

अप उत्पन्न किया, जिसका गुण रस है। अप विकास करते हुए गन्ध तन्मात्र उत्पन्न करता है, जिससे सकीर्ण द्रव्य उत्पन्न होता है जिसका गुण गन्ध है।

(२) शब्द तन्मात्र रूप से आकाश ने स्पर्श तन्मात्र को आवृत किया, और इससे वायु उत्पन्न हुई, इसलिए इसमे दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। यह दोनो गुण, शब्द और स्पश, रूप तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए, जिससे अग्नि उत्पन्न हुई जिसमे तीन गुण हैं, शब्द, स्पर्श और रूप। ये गुण, शब्द, स्पर्श और रूप, रस तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए, जिससे अप उत्पन्न हुआ जिसमे चार गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप और रस। ये चार गुण, गन्ध तन्मात्र मे प्रविष्ट हुए और उन्होने स्थूल पृथ्वी को उत्पन्न किया जिसमे पाँच गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

महत्, अहकार और पच तन्मात्र अपने आप व्यवस्थित जगत् उत्पन्न करने मे अशक्य हैं, जो पुरुष के अधिनियत्रण मे (पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च) और अव्यक्त की सहायता मे (अव्यक्तानुग्रहेण) होता है। इस प्रकार उत्पन्न जगत् के सात आवरण हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय, भगवान् की स्व-लीला है जो भक्तो के हित के लिए होती है।[1]

---
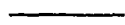
[1] भगवान् नारायण कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्यों का अन्तिम आधार है।
नराणामयनं यस्मात् तेन नारायणः स्मृतः। कूर्म पुराण, ४-६२।

परिशिष्ट

लोकायत, नास्तिक और चार्वाक

लोकायत, चार्वाक या बार्हस्पत्य के नाम से प्रसिद्ध भौतिक दर्शन सम्भवत बहुत प्राचीन विचारधारा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे अनेक नास्तिकवादी मतो का उल्लेख है, जिसमे हम इस सिद्धान्त को पाते है, जिसमे, भूत को अन्तिम (मूल) सिद्धान्त माना है। लोकायत नाम अति प्राचीन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे यह पाया जाता है, जहाँ इसे साख्य और योग के साथ अन्वीक्षिकी कहा है।[1] राइस् डेविड्स् ने अनेक पाली भाषा के अनेक लेखाश सगृहीत किए हैं जिनमे 'लोकायत' शब्द आता है, और इन्ही लेखाशो का हमने निम्न विवाद मे उपयोग किया है।[2] बुद्ध घोष लोकायतो को वितण्डावाद-सत्थम् कहते है।[3] वितण्डा का अर्थ छलपूर्ण विवाद है और न्याय सूत्र १-२-३ मे इस प्रकार परिभाषा दी है वह जल्प मे प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा की आलोचना अपना प्रतिपक्ष स्थापित किए बिना की जाती है (सा प्रतिपक्ष-स्थापना-हीना वितण्डा) और इसलिए इसे वाद से भिन्न समझना चाहिए, जो प्रतिज्ञा सिद्ध करने के हेतु न्यायपूर्ण आर्थिक विवाद है। वितण्डा मे कोई प्रतिज्ञा सिद्ध करने को नही होती किन्तु वह एक प्रकार का जल्प है जो प्रतिपक्षी, को जान बूझकर उसके शब्दो और तर्कों का (छल) गलत अर्थ लगाकर, गलत तथा सभ्रमात्मक उपमा (जाति) का उपयोग करके, हराना चाहता है और व्यामोह का वातावरण खडा करके उसे मूक कर देना चाहता है या उसे स्वबाध और निग्रह स्थान पर ला देना चाहता है। किन्तु वितण्डा इस प्रकार वाद नही हो सकता, क्योकि वाद तार्किक विवाद, सत्य के प्रतिपादन के लिए होता है और इस प्रकार वितण्डावाद विरोधपूर्ण शब्द है।

---

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र १-१।

[2] बुद्ध के सवाद ग्र० १, पृ० १६६, हाल ही, दो इटली के विद्वानो ने, डा० पिस्झा-गल्ली और डॉ० टुच्ची ने नास्तिक, चार्वाक लोकायत और Linee di una storia del materialismo Indiano नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं जिनमे उन्होने नास्तिक, चार्वाक और लोकायत शब्द के अर्थ को और इनके सिद्धान्त को भी ढूँढने का प्रयास किया है। बहुत से पाली भाषा के लेखाश जिनको इन्होने समझाने की कोशिश की है वे राइस डेविड्स् ने सग्रह किए हैं वे ही है।

[3] अभिधान दीपिका ५-११२, बुद्ध घोषो के वाक्यो की पुनरावृत्ति करता है 'वितण्डा सत्थ विण्णेय य त लोकायतम्।'

जयन्त, अवश्य ही, इंगित करते है कि बौद्ध वाद और वितण्डा मे भेद नही करते और दोनो के लिए एक ही शब्द वाद का प्रयोग करते है ।[1] इससे यह समझ मे आता है कि यद्यपि लोकायत वितण्डा है, तो भी बौद्ध ग्रन्थो मे उसे क्यो वाद कहा है ? बुद्ध घोष ने उसी टीका मे वितण्डा के कुछ उदाहरण, लोकाख्यायिका शब्द (शाब्दिक अर्थ प्रचलित वार्ता है किन्तु पी० टी० एस० पाली डिक्सनरी के अनुसार जनसाधारण का दर्शन है) को समझाने के लिए देते है—कौवे सफेद है क्योकि उनकी हड्डियाँ सफेद हैं । बलाका लाल है क्योकि उनका खून लाल है ।[2] ऐसी वितण्डाओ को वितण्डा-सल्लाप-कथा जहाँ सल्लाप और कथा दोनो का मिलकर सवाद अर्थ होता है । सल्लाप शब्द सम् और लप से बना है । न्याय सूत्र २-१८ की परिभाषा के अनुसार ये उदाहरण वितण्डा के नही, किन्तु जाति के हैं, अर्थात् गलत सादृश्य से अनुमान, जिसमे योग्य व्याप्ति नही है । वे वितण्डा नही है जैसाकि ऊपर कहा है । राइस डेविड्स् अग्गवश की सद्दनीति (आरम्भिक बारहवी शती) से दूसरे पाठ उद्धृत करते हैं जो उनके अनुवाद के अनुसार इस प्रकार है 'लोक का अर्थ है—सामान्य जगत (बाल लोक) ।' लोकायत का अर्थ है—'आयतति उस्साहन्ति वायमन्ति वादस्सदेनाति' अर्थात् वे वाद केवल उससे मिलने वाले आनन्द के द्वारा प्रयत्न करते है परिश्रम करते हैं । या शायद यह अर्थ भी हो सकता है 'जगत् उसके लिए कोई यत्न नही करता है, (यतति) अर्थात् वह उस पर निर्भर नही है, उससे चलती नही है (नयतनि न ईहति वा) । क्योकि सत्ता, उस पुस्तक के कारण (तहि गध निस्साय) ।[3] अपना चित्त नही देती (चित्त न उपादेन्ति) । लोकायत नास्तिको का ग्रन्थ है (तिस्थिया सत्थय लोके वितण्डा सत्यम् उच्चति) जिसमे ऐसे निम्न निरर्थक विवाद है, 'सभी कुछ अपवित्र है, सभी कुछ अपवित्र नही है, कौवा सफेद है, बलाका काली है, और इस या उस कारण से । पुस्तक, जो वितण्डा सत्था के नाम से जगत् मे विख्यात है, जिसके विषय मे, अद्वितीय नेता बोधिसत्व और पण्डित विधुर ने कहा है, 'लोकायत का अनुसरण न करो, इससे पुण्य नही होगा ।[4] इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण और पाली ग्रन्थ के

---

१ इत्युदाहृतमिद कथात्रय यत् परस्पर विविक्त लक्षणम् ।
स्थूलमध्यनवलोक्य कथ्यते वाद एक इति शाक्य शिष्यकै ।

—न्यायमजरी, पृ० ५६६ ।

२ सुमगल विलासिनी, १-६०-६१ ।

३ यह अनुवाद ठीक नही है । पाली पाठ किसी पुस्तक से सम्बन्ध नही बताता, पिछले वाक्य मे शब्द वादस्सादन था जिसका अनुवाद 'वाद मे आनन्द लेने को' जबकि शाब्दिक अनुवाद यह होगा, 'लडाई के स्वाद के कारण' और यहाँ इसका अर्थ 'गन्ध को पीछा करते' लोग पुण्य कर्म की ओर नही झुकते यह होता है ।

४ बुद्ध के सवाद देखो १-१६८ (अनुवाद ठीक नही है) । 'सब कुछ अपवित्र है, सब

पहले इसे अ+यनन्ति (कठिन यत्न करना) से उत्पन्न माना है और इसके 'उत्साहन्ति' 'वायमति', पर्यायवाची शब्द दिए हैं, और दूसरा अ+यतन्ति से उत्पन्न माना है अर्थात्, जिससे लोक यत्न करना छोड देते हैं (तेन लोको न यतति न ईहति वा लोकायतम्)। किन्तु प्रो० टुच्ची बुद्ध घोष की सारत्थ प्रकासिनी से एक अश उद्धृत करते हैं जहाँ आयत शब्द आयतन (आधार) के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है और इस अर्थ के अनुसार 'मूर्ख और अपवित्र जगत् का आधार होता है। लोकायत का दूसरा अर्थ लोकेषु आयत होगा, अर्थात्, जो सामान्य जनता मे प्रचलित है और कौवेल ने अपने सर्व दर्शन सग्रह के अनुवाद मे इस अर्थ को स्वीकारा है और यह इसकी व्युत्पत्ति अ+यमृक्त (विस्तृत) होगी।'[1] अमर कोष मे केवल शब्द ही दिया गया है और वहाँ यह भी कहा है कि इस शब्द का प्रयोग नपु सक लिंग मे होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि दो लोकायत शब्द हैं। एक विशेषण है जिसका अर्थ, जगत् मे या जन साधारण मे प्रचलित' और दूसरा पारिभाषिक है जिसका अर्थ, 'वितण्डा, जल्प इत्यादि का शास्त्र' (वितण्डावाद सत्थम्)। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नही है कि इस शब्द का प्रयोग जगत् विद्या के रूप मे किया गया हो, जैसाकि राइस डेविडस् और फ्रान्के ने सूचित किया है और इसका प्रयोग दडनीति के अर्थ मे किया गया हो जैसाकि अन्य विद्वानो का कहना है। शुक्र नीति मे शास्त्रो और कलाओ का लम्बा वर्णन दिया गया है जो उस समय पढे जाते थे और इसमे इस नास्तिक शास्त्र को ऐसा शास्त्र बताते है जो तर्क मे बडा बलवान् है और जो मानता है कि सभी पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं और वेद और ईश्वर कोई नही है।[2] मनु ७-८३ पर टीका करते मेधातिथि भी चार्वाक की तर्क-विद्या का उल्लेख करते हैं, और पुराने सभी उद्धरण, जिन पर हमने विवेचना की है, यह बताते हैं कि लोकायत नाम का शास्त्र था जो न्याय और हेत्वाभास का शास्त्र था। सौभाग्यवश, हमारे पास और भी निश्चयात्मक प्रमाण है जो सिद्ध करते हैं कि लोकायत शास्त्र टीका सहित, सुपूर्व कात्यायन के समय मे था, अर्थात् लगभग ईसा से ३०० वर्ष पूर्व था। ७ ३-४५ 'वर्णक-तान्तवे उप सख्यानम्' के सम्बन्ध मे यह वार्तिक नियम है कि वर्णक शब्द स्त्रीलिंग मे 'वर्णका'

---

[1] Linee di una storia del materialismo Indiano पृ० १७, सारत्थ प्रकासिनी (बकोक) २-६६।

[2] राइस डेविडस् लोकायत ब्राह्मणों की विद्या है ऐसा कहते हैं, सम्भवत यह जगत् विद्या, सुभाषित, पहेलियाँ पद्य या वाद है जो स्थगित पाई हैं और जिसका विषय, विश्वोत्पत्ति, तत्त्व, तारे, मौसम, थोडी बहुत खगोल, प्रारम्भिक भौतिक शास्त्र, शरीर व्यवच्छेद विद्या, रत्नमणि का गुणो का ज्ञान और पशु-पक्षी और वृक्षो का ज्ञान है। (बुद्ध के सवाद १-१७१) फ्राके इसे Logische beweisende nature taring से अनुवाद किया है। —टीप० १६।

हो जाता है जिसका अर्थ कम्बल या लपेटने का कपड़ा (प्रावरण) होता है और पतजलि लगभग (१५० ई० पू०) वार्तिक सूत्र का बोधार्थ करते कहते है कि वर्णक शब्द के रूप को कपास या ऊनी प्रावरण के अर्थ मे सकुचित करने का हेतु यह है कि दूसरे अर्थ मे, स्त्रीलिंग का रूप वर्णिका या वर्त्तिका होगा (जिसका अर्थ टीका होगा) जैसेकि लोकायत पर भागुरी टीका है—वर्णिका, भागुरि लोकायतस्य, वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।[1] इस प्रकार यह निश्चित दीखता है कि लोकायत नाम की एक पुस्तक थी जिस पर कम से कम एक टीका ई० पू० १५० वर्ष पूर्व या ३०० वर्ष ईसा पूर्व थी, जो सम्भवत वार्तिक सूत्र के रचयिता कात्यायन का काल है। सम्भवत वाद और हेत्वाभास का यह एक प्राचीन ग्रन्थ था, क्योकि इससे पूर्व कोई ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसमे लोकायत का सम्बध जडवाद से हो, जैसाकि पिछले साहित्य मे पाया जाता है, जहाँ चार्वाक और लोकायत को एक ही कहा गया है।[2] कमल शील, जयन्त, प्रभाचद्र गुण रत्न इत्यादि की टीकाओ मे ७वी से १४वी शताब्दी तक मे कई सूत्रो का उद्धरण दिया गया है और कुछ का कहना है कि ये चार्वाक के हैं, और अन्य का यह कहना है कि ये लोकायत के हैं और गुण रत्न (१४वी शताब्दी) इन्हे बृहस्पति का बताते हैं।[3] कमलशील इन सूत्रो पर दो टीकाओ का उल्लेख करते हैं। जो कुछ भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गई हैं और जो न्याय मजरी मे दिए धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाक विभागो से मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कम से कम लोकायत पर एक टीका जो सम्भवत पतजलि और कात्यायन से पूर्व थी, और सातवी शताब्दी तक मे लोकायत की कम से कम दो टीकाएँ दो भिन्न विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करती लिखी गई थी। इसके उपरान्त, बृहस्पति रचित एक पद्यमय ग्रन्थ भी था, जिसके उद्धरण चार्वाक विचार-धारा के निरूपण के लिए, सर्वदर्शन सग्रह मे, उपयोग मे लाए गए हैं। यह कहना, अवश्य ही कठिन है कि कब यह प्राचीन वितण्डा शास्त्र, भौतिकवाद तथा प्रतिक्रियात्मक नीति से सम्बन्धित हो गया, और बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों द्वारा घृणित समझा जाने लगा। पहले बौद्ध ही इससे घृणा करते थे, जबकि हिन्दू इसे अन्य शास्त्रो के अग के रूप मे अध्ययन करते थे।[4]

[1] पाणिनि पर पतजल महाभाष्य ७, ३-४५ और उस पर कैयट की टीका।

[2] तन्नामानि चार्वाक लोकायतेत्यादिनी। षड् दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका। पृ० ३००, गुण रत्न के अनुसार लोकायत वह है जो साधारण अविवेकी जन की तरह आचरण करते हैं—लोकानिर्विचारा सामान्या-लोकास्तत्वदाचरन्ति स्म इति लोकायत्ता लोकायतिका इत्यपि।

[3] वही, पृ० ३०७, तत्व सग्रह, पृ० ५२०।

[4] अनुगतार, १-१६३।

यह तो सुविख्यात है कि वाद विवाद की कला का अभ्यास भारत में अतिप्राचीन रहा है। सर्वप्रथम, इसे हम चरक संहिता (ईसवी पहली शताब्दी) में व्यवस्थित रूप से पाते हैं जो इससे पहले ग्रन्थ (अग्नि वेश संहिता) का पुनसंस्करण ही है, इससे यह सूचित होता है कि इस प्रकार का वाद, इससे पूर्व यदि न रहा हो, तो पहली या दूसरी शताब्दी में अवश्य रहा होगा। न्याय सूत्र में इस वितण्डावाद का विवेचन सुविख्यात है। आयुर्वेद तथा न्याय में लोग, अपने को प्रतिपक्षियों के आक्रमण से बचाने के लिए, इस विवाद की प्रणाली के अभ्यास किया करते थे। कथावत्थु भी में इस वितण्डा कला का व्यावहारिक उपयोग पाया जाता है। यहाँ हम उसे हेतुवाद के नाम से जानते हैं, और महाभारत में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[1] महाभारत के अश्वमेध पर्व में हम पाते हैं कि हेतुवादिन् एक दूसरे को तार्किक वाद में हराने की कोशिश करते थे।[2] सम्भवत, छान्दोग्योपनिषद् में (७-१-२, ७-२-१, २-७१) वाको-वाक्य शब्द का अर्थ इसी कला में है। इस प्रकार, यह लगभग निश्चित मालूम होता है कि इस वाद का उपयोग अतिप्राचीन है। इस सम्बन्ध में एक बात और सूचित होती है, ऐसा हो सकता है कि शास्त्र-सगत हिन्दू दर्शन का यह सिद्धान्त कि परम सत्य केवल श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो सकता है—और जबकि तर्क या अनुमान द्वारा अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकल सकता, क्योंकि जो एक तार्किक द्वारा सिद्ध किया गया है, वह दूसरे के द्वारा असिद्ध किया जा सकता है—यह वितण्डावादियों के निषेधात्मक प्रभाव से है, जो दूसरों के द्वारा असिद्ध किए सत्य को सिद्ध करने में फलीभूत होते थे, और इनके सत्य को इनसे अधिक निष्णात तार्किक असिद्ध कर सकते थे।[3] ऐसे भी लोग थे जो आत्मा की अमरता के तथा दूसरे लोक की सत्ता पितर् या देवयान् के रूप में, वेद यज्ञ के फल देने की योग्यता का खण्डन करने की कोशिश करते थे और ये हेतुक जो वेदों का उपहास करते थे वे नास्तिक कहलाते थे। इस प्रकार मनु कहते हैं कि जो ब्राह्मण हेतु शास्त्र पर अधिक विश्वास करके वेद और स्मृति को नगण्य मानते हैं वे केवल नास्तिक हैं वे योग्य ब्राह्मण द्वारा बहिष्कार के योग्य हैं।[4] भागवत पुराण

---

[1] महाभारत, ३—१३०३४, १३—७२६५—१९८३ इत्यादि।

[2] वही, १४—८५, २७।

[3] ब्रह्मसूत्र 'तर्कं प्रतिष्ठानाद प्यन्यथानुमानमिति चेदेवमपि अविमोक्ष-प्रसग.' २-१-११ से तुलना करो। शंकर यह भी कहते हैं, 'यस्मान्निरागमा पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबंधना तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरकुशत्वात् कैरपि उत्प्रेक्षिता सन्त लत्तोऽन्यैराभास्यन्ते इतिन प्रतिष्ठितत्व तर्काणा शक्यमाश्रयितुम्।

वाचस्पति मिश्र शंकर की टीका पर टीका करते हुए वाक्य प्रदीप उद्धृत करते हैं, 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभि। अभियुक्त तरैरन्यै रन्यथै वो पपाद्यते।

[4] यो वमन्येतते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विज।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदक। —मनु २-११।

मे पुन कहा है किसी को न तो वैदिक धर्म का अनुसरण करना चाहिए, न पाखण्डियो का (पाखण्डी से बौद्ध और जैनो का अर्थ होता है), न हेतुको का और किसी को वितण्डा द्वारा किसी का भी पक्ष नही लेना चाहिए।[1] पुन, मनु ४-३० मे ऐसा कहते है कि किसी को पाखण्डियो से बात तथा अतिथिसत्कार गलत कामो मे (विकर्म-स्थान्) तथा वैडालव्रतिक, कपटी और हेतुको से बात तक नही करनी चाहिए।[2] ये हेतुक सभी प्रकार के विवादो मे उतर जाते थे और वेद के सिद्धान्त का खण्डन करते थे। ये नैयायिक नही हो सकते थे, या मीमांसक भी नही हो सकते जिन्हे भी कभी-कभी हेतुक या तर्की कहा जाता था, क्योंकि वे वेद-सिद्धान्त के अनुसार तर्क करते थे।[3] इस प्रकार हम अपने विवेचन की दूसरी अवस्था पर आते है जिसमे हेतुक वितण्डा का उपयोग करते थे, न केवल अपने ही वाद-विवाद मे, किन्तु वेद के सिद्धान्त [illegible] ऐसा करते थे, सम्भवत बौद्ध सिद्धान्त के लिए भी, इसी कारण ये वेदवादी एव बौद्ध द्वारा निंदास्पद थे, और इस प्रकार वितण्डा और वेद और बौद्ध सिद्धान्तो की आलोचना ब्राह्मणो मे बढी और उसका अभ्यास होने लगा। मनु २-११ मे इसे प्रमाणित करते है जहा ब्राह्मण हेतुशास्त्र सीखते है ऐसा कहा है और यह अगुत्तर १-१६२ से तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थो मे पुष्ट होता है।

किन्तु ये नास्तिक कौन थे और क्या वे तथा हेतुक एक थे? यह शब्द पाणिनि के नियमानुसार ४-४६० (अस्ति नास्तिदिष्ट मति) अनियमित रूप से बना है। पतजलि, अपनी टीका मे आस्तिक शब्द को इस प्रकार समझाते है आस्तिक वह है जो सोचता है कि 'वह सत्ता रखता है' और नास्तिक वह है जो यह सोचता है कि 'वह सत्ता नही रखता।' जयादित्य, अपनी काशिका टीका मे, उपरोक्त सूत्र पर आस्तिक को इस प्रकार समझाते हैं, जो परलोक के अस्तित्व मे विश्वास रखता है, नास्तिक वह है जो इसे नही मानता और दिष्टिक वह है जो केवल न्याय-युक्त सिद्धि को ही मानता है।[4] किन्तु हमे स्वय मनु के शब्दो मे नास्तिक की परिभाषा जो वेद निन्दक

[1] वेदवादरतो न स्यान्न न पाषण्डिना हेतुक।
शुष्क वाद विवादे न कचित् पक्ष समाश्रयेत्॥ —भागवत, ११-१८, ३०।

[2] मेधातिथि यहाँ हेतुको को नास्तिक कहते हैं, या वे जो परलोक मे या यज्ञ मे विश्वास नही रखते। इस प्रकार वे कहते हैं कि हेतुका नास्तिक नास्ति परलोको, नास्ति दत्तम्, नास्ति हुतमित्येव स्थित प्रज्ञा'।

[3] मनु, १२-१११।

[4] परलोक अस्तिति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक, तद्विपरीतो नास्तिक, प्रमाणा-नुपातिनी यस्य मति स दिष्टिक। काशिका, पाणिनि ४-४-६० पर। जयादित्य का काल ७वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे था।

है[1] ऐसी मिलती है। इस प्रकार नास्तिक शब्द का पहले अर्थ यह है, जो परलोक नही मानता, और दूसरा, जो वेद निन्दक है। वे दोनो मत, अवश्य ही, एक दूसरे से सम्बन्धित है क्योकि वेद को न मानना, और जीव का पुनर्जन्म न मानना बराबर है तथा यज्ञ के सामर्थ्य मे यह नास्तिक मत कि इस जन्म के बाद कोई जीवन नही है, और मृत्यु के साथ चेतना नष्ट होती है, उपनिषद् काल मे अच्छी तरह से स्थापित हो गया था, और उपनिषद् इसी मत का खडन करना चाहते थे। इस प्रकार, कठोपनिषद् मे, नचिकेता कहते हैं कि लोगो मे इस विषय पर गम्भीर सदेह है कि मृत्यु के बाद जीवन है या नही और वे यम मृत्यु के देवता से इस विषय पर निश्चयात्मक अन्तिम उत्तर चाहते थे।[2] आगे यम कहते हैं कि जो तृष्णा मे अंधे हो गए हैं और परलोक मे नही मानते हैं वे इस प्रकार मृत्यु के पाश मे निरन्तर पडते रहते हैं।[3] पुन बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-१२, ४-५-१३) मे एक मत का उल्लेख याज्ञवल्क्य द्वारा दिया गया है कि चेतना मूल से उत्पन्न होती है और उसी के साथ नष्ट होती है और मृत्यु के बाद चेतना नही रहती है। जयन्त अपनी न्याय मजरी में कहते हैं कि उपरोक्त पाठो मे वर्णित मत पर लोकायत प्रणाली का आधार था जो केवल प्रतिपक्षी का ही मत था।[4] जयन्त आगे उसी पाठ मे कहते हैं कि लोकायतो का कोई कर्त्तव्य उपदेश नही है, वह तो केवल एक वितण्डावाद है (वैतण्डिक-कथै वासो) और यह आगम नही है।[5]

बौद्ध ग्रन्थो मे भी नास्तिको का उल्लेख मिलता है। पी० टी० एस० शब्द कोष नात्थिक शब्द का अर्थ, वह जो 'नत्थी' (नास्ति) आदर्श वाक्य का अनुशीलन करते हैं। यहां कुछ नास्तिकवादियो का वर्णन करना वाछनीय होगा, जिनका उल्लेख

---

[1] मनु २-११ मेधातिथि 'नास्तिकाक्रातम्' (मनु ८-२२) को समझाते हुए नास्तिक और लोकायत को एक कहते हैं जो परलोक नही मानते। वे कहते हैं यथा नास्तिकै परलोकापवादिभि लोकायतिकाद्यैराक्रातम्। किन्तु मनु ४ १६३ की दृष्टि मे नास्तिक वह है जो वेद को मिथ्या मानता है वेद प्रमाणकानामर्थाना मिथ्यात्वाध्यवसायस्य नास्तिक्य शब्देन प्रति पादनम्।

[2] येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्ती चैके। एतद् विद्यामनुशिष्ट-स्त्वयाऽहम् वराणाम् एष वरस्तृतीय। —कठ० १-२०।

[3] विज्ञानघन एव एतेभ्य भूतेभ्या समुत्थाय तान्येव नुविनश्यति, न प्रेत्य सज्ञा स्तित्यन्य रे ब्रवीमि। —वृ० २-४-१२।

[4] तदेव पूर्वपक्ष वचन मूलत्वात् लोकायत शास्त्रमपि न स्वतन्त्रम्।
—न्याय मजरी, पृ० २७१, वी० एस सीरीज, १८९५।

[5] नहि लोकायते किञ्चित् कर्त्तव्य मुपदिश्यते वैतण्डिक कथैवासौ न पुन कश्चिदागम।
—वही, पृ० २७०।

बौद्ध ग्रन्थो मे है और जो किसी न किसी अर्थ मे शून्यवादी या सदेहवादी कहे जा सकते हैं। पहले हम दीघनिकाय २-१६-१७ मे दिए गए पुरण कस्सप का देखें। बुद्ध घोष, दीघ निकाय १-१-२ की टीका 'सुमगला विलासिनी' मे कहते है कि जिस कुटम्ब मे ९९ नौकर थे उसमे कस्सप सौवा था, उसने इस प्रकार सौवीं सख्या पूरी की (पूरण), इसलिए उसका नाम मालिक ने पूरण (पूरा करने वाला) रखा, और कस्सप उसका गोत्र था। वह अपने कुटुम्ब से भाग आया था, राह मे चोरो ने उसके कपडे छीन लिए, वह किसी प्रकार घास पात लगाकर गाव के अन्दर घुसा। किन्तु गाव वालो ने उस नग्न देखकर उसे महान् साधु समझा और उसे बडा सम्मान दिया। उस समय से वह साधु बन गया और पाँच सौ लोग साधु होकर उसका अनुसरण करने लगे। राजा अजातशत्रु एक बार पूरण कस्सप के पास आए और उससे पूछा कि इस ससार मे ऐसा कौनसा प्रत्यक्ष फल है जो साधु बनकर मिल सकता है, पूरण कस्सप ने इस प्रकार उत्तर दिया, 'हे राजा जो कर्म करता है या औरो से काम कराता है, वह जो अग भग करता है या औरो से ऐसा करवाता है, वह जो दड देता है या दूसरो से दड दिलवाता है, वह जो पीडा या शोक पहुँचाता है या, जो दुखता है या दूसरो को दुखाता है, वह जो जीव का हनन करता है, वह न दी हुई वस्तु को लेता है, जो घर मे चोरी के लिए घुसता है, जो डाका डालता है, रास्ते मे डाका डालता है, व्यभिचार करता है, भूठ बोलता है, ऐसे कर्म करने वाले को पाप नही लगता। यदि उसके जैसी तीखी धार वाले चक्र से, वह सभी जीवो का ढेर कर देता है, मास का एक ढेर लगा देता है, तो भी उसे पाप नही लगता, पाप की वृद्धि भी न होगी। यदि वह गगा के दक्षिण तट पर भिक्षा दे और भिक्षा देने का आदेश दे, यज्ञ करे या दूसरो से यज्ञ करवाए, तब उससे कोई पुण्य न होगा, न पुण्य मे वृद्धि होगी। इस प्रकार प्रभु, पूरण कस्सप ने, साधु जीवन से मिलने वाले सुचिर लाभो के विषय मे पूछने पर, अपने अकिरियम् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।'[1] यह मत कर्म के सिद्धान्त का खडन करता है और मानता है कि पाप और पुण्य जैसी कोई वस्तु नही है, इस प्रकार कोई भी कर्म किसी फल की प्राप्ति नही करा सकते।[2] इसे ही अक्रिया का सिद्धान्त कहते हैं और एक दृष्टि से वह उस प्रश्न का उत्तर है कि साधु बनने से प्रत्यक्ष क्या फल मिलता है। जब पाप और पुण्य दोनो ही नही है तो कोई भी कर्म धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं कर सकता—यह एक प्रकार का नास्तिकवाद है। किन्तु इस अक्रिया के सिद्धान्त[3] को शीलाक द्वारा, सूत्र कृताग सूत्र १-१-१३ की अपनी टीका मे

---

[1] बुद्ध के सवाद, १, ६९-७०।

[2] बुद्ध घोषो इस पर टीका करते कहते हैं 'सब्बथापि पाप-पुञ्ञानाम् किरियामेव परिखिपति।' —सुमगल विलासिनी, १-१६०।

[3] इसे डॉ० बरुआ पुराण कस्सप का मत मानते हैं जो स्पष्ट ही एक बडी भूल है। बुद्ध से पूर्व हिन्दू दर्शन। कलकत्ता १९२१, पृ० २७९।

बताए ऐसे साख्य के अकारक सिद्धान्त से सकीर्ण नही करना चाहिए। वह अकारक सिद्धान्त साख्य मत है जिसके अनुसार आत्मा अच्छे बुरे किसी प्रकार के कर्म मे भागी नही होता।'

अब हम दूसरे शून्यवादी आचार्य को देखें, जो अजित केश कम्बली है। उसके सिद्धान्त दीघ २-२२-२४ मे सक्षेप से वर्णन किए गए है, अजित कहते हैं, भिक्षा या दान या यज्ञ जैसी कोई वस्तु नही है न कोई फल ही है और न अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम है। इह लोक और परलोक जैसी कोई वस्तु नही है (नत्थी अय लोको न परलोको)। न बाप है न माता और उनके बिना जन्म जैसी भी वस्तु नहीं है। जगत् मे ब्राह्मण या साधु कोई नही हैं, जो अन्तिम सीढी पर पहुँचे हैं, जो पूर्ण आचरण करते हैं और जो अपने अनुभव से इह लोक और परलोक दोनो को समझ कर और प्राप्त करके, अपना ज्ञान दूसरो को बताते है। मनुष्य चार तत्वो का बना है, जब वह मर जाता है तो उसमे रहा पृथ्वी तत्व पृथ्वी मे वापस जाकर उसी मे समा जाता है, द्रव तत्व, पानी मे, ताप अग्नि मे, प्राण वायु मे, और उसकी सज्ञाएँ आकाश मे चली जाती है। चार उठाने वाले और पाचवी अर्थी, शरीर को ले जाती हैं, जब तक वे श्मशान पहुँचाते हैं तब तक उसके गुण गाते हैं, किन्तु वहाँ उसकी हड्डियाँ काली की जाती है, और उसकी भेंट राख से हो जाती है। मूर्खों का मत ही फल या भेंट की बात करता है। यह सब थोथा झूठ है, केवल व्यर्थ की बातचीत है, जब लोग कहते हैं कि इसमे लाभ है। मूर्ख और बुद्धिमान दोनो, देह के गिरने पर, काट दिए जाते हैं, नष्ट कर दिए जाते हैं और मृत्यु के बाद वे नही रहते है।[2] 'वह अजित केश कम्बली इसलिए कहलाता था कि वह मनुष्य के बाल के कपड़े पहनता था जो गर्मी मे गरम रहते थे और सर्दी में ठडे रहते थे और जो इस प्रकार दु:ख का स्रोत था।[3] यह स्पष्ट ही है कि अजित केश कम्बली का मत चार्वाक मत के समान है, जो हमे उद्धरणो तथा दूसरो द्वारा दिए गए उनके वर्णन से ज्ञात है। इस प्रकार, अजित परलोक नही मानते थे, पाप-पुण्य नहीं मानते थे और कर्म मे फल-प्राप्ति को भी अस्वीकार करते थे। वह, अवश्य ही, इस मत को मानते थे कि देह चार तत्वो का बना है, और देह से पृथक् आत्मा नही है और देह के विनाश के साथ इस जीवन की समाप्ति होती है, और वैदिक यज्ञो से कोई लाभ नही होता।

अब हम मक्खलि गोशाल या मक्खलि पुत्त गोसाल या मक्खलि गोसाल के

---

[1] बाले च पण्डिते कायस्सभेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सन्ति, न होन्ति पर मरणा।'
—दीघ २ २३ बुद्ध के सवाद, ७३-७४।

[2] सुमगल विलासिनी, १-१४४।

[3] वही, १-१४४।

निर्ग्रंथ को दिगम्बर से भिन्न नही करते या दिगम्बरों को आजीवको से एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने आजीवको पर अपने लेख मे किया है। हर्नले उसी लेख मे यह बताते हैं कि १३वी शताब्दी के विरिंचिपुरम् के पास पोयगै मे पेरुमाल के मन्दिर की दीवारो के लेख मे, चोल राजा राजराज ने सन् १२१८, १२३६, १२४३ और १२५६ मे आजीवको पर जो कर नियुक्त किए थे उनका वर्णन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मक्खलि की आजीवक प्रणाली का ई० पू० पाचवी शताब्दी मे प्रचार हुआ और वह उत्तर भारत मे ही नही फैला किन्तु दक्षिण भारत मे भी फैला और उसमे से और प्रणालियो ने भी विकास पाया जैसेकि त्रैराशिक। पाणिनि के व्याकरण मे एक नियम (४-१-१५४) है, 'मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयो,' जिसका तात्पर्य यह है कि मस्कर का अर्थ बास है और मस्करिन् का अर्थ परिव्राजक है। पाणिनि, तो उसकी टीका मे कहते हैं कि मस्करिन् वे थे जो कर्म न करने की सलाह देते थे और यह मानते थे कि शान्ति अधिक श्रेय है, (मास्कृत कर्माणि शातिर्वह श्रेयसी इत्याह अतो मस्करी परिव्राजक.)। इसलिए इस शब्द से आवश्यक रूप से एक दण्डिन् अर्थ नही होता या वे जो एक बाँस का दण्ड धारण करते हैं। मक्खलि का मस्करिन् से तादात्म्य करना सदेह-युक्त है।[1] यह भी शका-युक्त है कि आजीवको

हर्नले की तरह एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने Encyclopaedia of Religion and Ethics मे आजीवक पर लेख मे कहा है। शीलाक ठीक-ठीक वाक्य ये हैं, 'आजीवका दीना परतीर्थकाना दिगबराणा च असदाचरणैरूपनेया।'

[1] Encyclopaedia of Religion and Ethics मे आजीवक पर अपने लेख मे हर्नले यह कहते हैं, 'गोशाल,मक्खलि पुत्त या मखलि (मस्करिन्) अर्थात् बास के दण्ड वाला पुरुष कहलाता है इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि भूल मे वह एक दण्डिन् वर्ग (एक दण्डिन्) का सन्यासी था, और यद्यपि वह महावीर का अनुयायी हो गया था और उनकी प्रणाली स्वीकारी थी तो भी वह अपने सिद्धान्त भी रखता था और उसने अपने विशिष्ट चिह्नो को भी रखा। 'बास का दड' यह सब शकास्पद है, क्योकि प्रथम तो मख और मस्करिन् को एक नहीं किया जा सकता, दूसरा, मख का अर्थ भिखाली है जो अपने हाथ मे तस्वीर रखता है। मखश्चित्र-फलक-व्यग्र करो भिक्षुको विशेष (भगवती सूत्र, पृ० ६६२ पर अभयदेव सूरी की टीका निर्णय-साजर)। और उनका नाम मखलि था जिस पर से गोशाल मक्खलि पुत्र कहलाते थे। याकोबी (जैन सूत्र २-२-६७ की फुट नोट) और हर्नले (आजीवक Encyclopaedia of Religion and Ethics पृ० २६६) दोनो यहाँ गलत हैं, क्योकि जिसका उल्लेख है वह शीलाक की सूत्र कृताग सूत्र ३-३-११ (आजीविकादीना परतीर्थिकानाम् दिगम्बराणा च) पर टीका है जिसके वे 'च' को 'और' अर्थ मे

और दिगम्बरों को एक ही मानना चाहिए, जैसाकि इन्होंने माना है, क्योंकि न वराह और न गोहोत्पल आजीवकों और जैनों को एक मानते हैं और शीलांक इन दोनों को एक न समझ कर, भिन्न मानते हैं। हलायुध भी दिगम्बरों को और आजीवकों को एक नही मानते। इसलिए, यह अत्यन्त सन्देह-युक्त है कि आजीवकों को दिगम्बरों से एक माना जाय या यह सम्भवत इसी कारण हो सकता है कि आगे जाकर दोनों दिगम्बर और आजीवक, नग्न रहते थे, इसलिए ये दोनों पर्यायों मे एक माने गए है।[1]

गोशाल का मुख्य सिद्धान्त उवासगदसाओ, १,६७,११५,२,३,१३२, संयुक्त निकाय ३-२१० अगुत्तर निकाय १-२८६ और दीघ निकाय २-२० में न्यूनाधिक रूप से एक-सा ही है। अन्तिम कहे गए ग्रन्थ मे गोशाल अजातशत्रु से ऐसा कहते बताए गए हैं, 'जीवों के लिए दुःख का कोई कारण नही है, वे बिना कारण ही पीड़ा पाते हैं, जीवों की विशुद्धि का कोई कारण नही है वे सब बिना कारण ही शुद्ध हो जाते हैं, दूसरों के या अपने कर्मों से कोई शक्ति नही है (न अत्थि अत्त कारे न 'परिय पुरकारे') या अपने स्वतन्त्र प्रयत्न से (पुरिसकारे) न कोई शक्ति, न बल है, न मानवी शक्ति है या पराक्रम है।[3] सभी प्राणी सब्बे सत्ता), सभी पशु, एक या अधिक इन्द्रिय युक्त हों, (सब्बे पाणा), सभी अण्डज या भ्रूणज, (सब्बे भूता) सभी पौधे, बिना बल और क्रिया शक्ति के हैं। वे अपने रूप मे अन्त स्थित, भाग्य के कारण, और स्वभाव से, विभिन्न जीव के रूप मे अभिव्यक्त होते हैं (नियति-सगति-भवपरिणति), और अपने षड्विध जीवन स्थिति के अनुसार सुख-दुःख पाते हैं।' पुन, सूत्र-कृताग सूत्र, २-६-७ में गोशाल यह कहते बताए गए है कि साधु को स्त्रीगमन से कोई पाप नही होता।[4]

अनुवाद करते हैं, 'या' अर्थ से नही, इससे आजीवक दिगम्बर से विविक्त हो जाते हैं।

[1] नग्नो तो दिग्वासा क्षपण श्रमणाश्च जीवको जैना, आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भि। —२-१६०।

[2] दिव्यावदान पृ० ४१७, मे एक प्रसग का उल्लेख है जहाँ बुद्ध की मूर्ति एक निर्ग्रन्थ ने निन्दित की थी और फलवशात् ८००० आजीवक, पुण्ड्रवर्धन मे मारे गए। डॉ० बरुवा भी अपनी पुस्तक आजीवक मे इस प्रसग का उल्लेख करते हैं।

[3] जैसा बुद्ध घोष कहते है ये सब पुरिषकार को निर्दिष्ट करते हैं (सर्वेव पुरिपकार-विवेचनमेव)। —सुमगल विलासिनी, २-२०।

[4] सूत्र कृताग सूत्र (३-४-६) मे एक दूसरा पाठ है (एवमेगे उ पासत्था पण्णवन्ति अनारिया, इत्थिवासम् गया बाला जिनसासन पराम्मुहा) जहाँ यह कहा है कि कुछ कुमार्गियो तथा लोग जो जैन हैं जैन सिद्धान्त से विमुख होकर स्त्री के गुलाम हो गए है। हर्नले कहते है कि (आजीवक पृ० २६१) यह पाठ गोशाल के अनुयायियो

गोशाल के इस सिद्धान्त के प्रति हमारी रुचि यही तक है कि वे अन्य नास्तिक उपदेशो के समान हैं। किन्तु अन्य नास्तिको से विपरीत, गोशाल पुनर्जन्म मे विश्वास नही करते थे, किन्तु, उन्होने सजीवन का एक नया सिद्धान्त भी प्रतिपादन किया।[1] दूसरे सिद्धान्त जो दार्शनिक, नैतिक या पुनर्जन्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही हैं वे दीघ निकाय २ २० और भगवती सूत्र १५ मे दिए गए हैं, और ये हुर्नले ने आजीवक के लेख मे तथा उवासगडसाओ के अनुवाद मे विस्तार से दिए हैं। दो महत्वपूर्ण विषयो पर हमे यहाँ ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आजीवक सप्रदाय जो एक विशिष्ट सप्रदाय था वह कर्म या सकल्प की शक्ति को नही मानता था, और स्त्री-सग को साधुओ के लिए निषिद्ध नही मानता था। सूत्र कृताग सूत्र, १,३,४,९-१४ मे अन्य विधर्मियो का

को लक्ष्य करके कहा गया है। किन्तु यदि हम शीलाक की टीका पर विश्वास करें तो उसका कोई प्रमाण नही है। शीलाक 'एगे' या 'एके' को 'बौद्ध विशेषा नील पटादय नाथ-वादिक-मण्डल-प्रविष्टा वा शैव-विशेषा' और 'पसत्थ को सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्ति इति पार्श्वस्था स्वयूथ्या वा पार्श्वस्था वसन्न-कुशलादय स्त्री परिषह पराजिता।' ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार यह नील वसन पहनने वाले बौद्धो को, नाथवादी, शैव, और कुछ कुचरित्र जैनो को या सामान्य कुत्सित जनो को लक्ष्य करता है।

[1] गोशाल मानते थे कि एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे मृत शरीर को सजीव कर सकती है। इस प्रकार जब महावीर ने उन्हे आह्वान किया और जो शिष्यो को उनसे कोई सम्पर्क रखने का निषेध करते थे, तब गोशाल ने यह कहा बताया कि मक्खलि पुत्त गोशाल जो महावीर का शिष्य था वह तो कभी का मर चुका है और उसने देवलोक मे जन्म लिया है, जबकि वह उदायी कुण्डी यायणीय, वास्तव मे है, जो सजीवन द्वारा, अपने सातवें और अन्तिम देह परिवर्तन मे, गोशाल के देह मे आया है। गोशाल के अनुसार जीव को ८४ हजार महाकल्प समाप्त करने चाहिए जिसके अन्तर्गत, उसे सात बार देव लोक मे और सात बार मनुष्य योनि मे, सात बार सजीवन होकर, सारे कर्म पूरे करना चाहिए। भगवती सूत्र १५-६७३ निर्णय सागर देखो। हुर्नले का उवासगडसाओ के अनुवाद के दो परिशिष्ट तथा आजीवक निबन्ध जो Encyclopedia of Religion and Ethics के पृ० २६२ पर देखो। एक महाकल्प ३००,००० सर का और एक सर, सात गगा की रेती को (प्रत्येक गगा ५०० योजन या २२५० मील लम्बी २१।४ मील चौडी और ५० धनु या १०० गज गहरी) एक रेती को हटाने के लिए १०० वर्ष लगे इस हिसाब से खतम होने मे लगे उतना समय। देखिए वही तथा रोकहिल की बुद्ध की जीवनी का पहला परिशिष्ट।

भी उल्लेख है, जहाँ ऐसा कहा है कि वे भी ऐसे ही आचरण करते थे।[1] ऐसा कहा है, 'कुछ अयोग्य विधर्मी, स्त्री के गुलाम, अज्ञ लोग जो जैन नियम से विरुद्ध हैं ऐसा कहते हैं, जैसेकि फोड़े या स्फोट को दबाने से थोड़े समय के लिए आराम मिलता है, ठीक उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें पाप क्या हो सकता है? जैसे एक भेड़ निर्मल पानी पीता है, उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें क्या पाप है? ऐसे कुछ अयोग्य विधर्मी, जो झूठे सिद्धान्त मानते हैं और ये जैसे भेड़ अपने बच्चे के लिए लालसा करती है ऐसे ही वे सुख की लालसा करते हैं। भविष्य का विचार नहीं करते हैं किन्तु केवल वर्तमान-सुख को ही भोगते हैं वे पीछे मृत्यु या युवावस्था के बाद पछताते हैं।[2]

पुन कुछ विधर्मियों (जिन्हें शीलांक लोकायत से एक करते हैं) का वर्णन सूत्रकृताग सूत्र २-१,९-१० मे मिलता है जो इस प्रकार उपदेश करते थे पैर के तले से ऊपर बाल के सिरे तक और सभी तिर्यक् दिशा मे, आत्मा चमड़ी तक है, जहाँ तक शरीर है वहाँ तक आत्मा है और शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इसलिए आत्मा देह से एक रूप है, जब देह मर जाती है आत्मा नही रहती। जब शरीर जला दिया जाता है तब आत्मा नही दीखती और जो कुछ भी दीखता है वह सफेद हड्डियाँ हैं। जब कोई म्यान से तलवार निकालता है, हम कह सकते हैं कि पहला दूसरे मे रहता है, किन्तु कोई इसी प्रकार आत्मा के बारे मे नही कह सकता कि वह शरीर मे रहता है, वास्तव में आत्मा को शरीर से विविक्त करने का कोई भी रास्ता नही है जिससे कोई यह कह सके कि आत्मा शरीर मे रहता है। तृण मे से गूदा निकाला जा सकता है और मास मे से अस्थि, दही मे से मक्खन, तिल मे से तेल, इत्यादि, किन्तु शरीर और आत्मा मे इस प्रकार का सबध ढूढ निकालना असम्भव है। आत्मा जैसी कोई पृथक् वस्तु नही है जो सुख और दुःख भोगती है और मृत्यु के पश्चात् परलोक मे गमन करती है, क्योकि शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिए जाय किन्तु आत्मा नही देखी जा सकती जैसेकि घडे के टुकडे-टुकडे कर दिए जाए किन्तु घडे मे आत्मा नही दीखती, जबकि तलवार म्यान से भिन्न दीखती है जिसमे वह रखी जा सकती है। लोकायत इस प्रकार सोचते हैं कि जीव को मारने में कोई दोष नही है क्योकि हथियार से जीव को मारना, जमीन को मारने के बराबर है। ये लोकायत, इसलिए अच्छे बुरे कर्म मे विवेक नही कर सकते क्योकि वे ऐसा सिद्धान्त नही जानते जिसके आधार पर वे ऐसा कर सकें, इस प्रकार उनके अनुसार नीति जैसी कोई वस्तु नहीं है। सामान्य नास्तिक और प्रगल्भ नास्तिक मे थोडा-बहुत भेद किया गया है जो कहते हैं कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न

[1] शीलाक के अनुसार वे एक बौद्ध सम्प्रदायी जो नीला वस्त्र पहनते थे, तथा शैव, नाथ तथा कुछ अद्म जैन भी थे।

[2] सूत्र-कृताग-सूत्र। याकोबी द्वारा अनूदित देखो। जैन सूत्र २-२७०।

होती जो उसका कोई निश्चित रूप, स्वाद या जैसा कुछ होता, किन्तु ऐसी कोई पृथक् वस्तु मिलती नही है, इसलिए आत्मा पृथक् है यह नही माना जा सकता। सूत्र कृताग-सूत्र २ १ ६ (पृ० २७७) मे प्रगल्भ नास्तिको के विषय मे कहा है कि वे ससार को अपना सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए कहते है, किन्तु शीलाक कहते है कि लोकायत प्रणाली मे दीक्षा जैसा कुछ नही है और इसलिए उनमे साधु जैसा कोई नही हो सकता, अन्य सम्प्रदाय के साधु, जैसेकि बौद्ध, वे कभी-कभी साधु अवस्था मे लोकायत को पढते है और लोकायत मत मे परिवर्तित हो जाते है और दूसरो को उपदेश देने लगते है।[1]

सूत्र-कृताग-सूत्र मे लोकायत नास्तिक मत के प्रतिपादन के पश्चात् साख्य मत का प्रतिपादन किया गया है। शीलाक इस सम्बन्ध मे यह कहते हैं कि साख्य और लोकायत मे कुछ भी फर्क नही है, क्योकि साख्य यद्यपि आत्मा को मानते है किन्तु वह नितान्त निष्क्रिय है और सारा कार्य प्रकृति द्वारा होता है जो अव्यक्त रूप से स्थूल तत्व ही है। शरीर और तथाकथित मन, इसलिए स्थूल तत्वो के सघात से अन्यथा और कुछ नही है, और उनका पुरुष को पृथक् तत्त्व मानना केवल नाममात्र ही है। जबकि ऐसा आत्मा कुछ भी नही कर सकता और निरुपयोगी है (अकिंचित्कर) लोकायत उसे अस्वीकार करते हैं। शीलाक आगे कहते है कि लोकायत की तरह साख्यकार भी जीव की हिंसा को बुरा नही मानते, क्योकि अन्त मे सभी जीव भौतिक पदार्थ है, और तथाकथित आत्मा किसी भी कार्य मे भाग लेने मे असमर्थ है।[2] इसलिए न तो नास्तिक और न साख्यवादी अच्छे और बुरे, स्वर्ग और नरक के बीच भेद सोच सकते हैं और इसलिए वे सभी प्रकार के भोगो मे रत रहते है। लोकायत नास्तिक के विषय मे, सूत्र-कृताग-सूत्र मे यह कहा है, इस प्रकार कुछ निर्लज्ज लोग साधु बनकर अपना ही धर्म प्रचलित करते है, और दूसरे उसे मानने लगते है, और अनुसरण करने लगते है, (यह कहते हुए), 'तुम सच कहते हो, ओ ब्राह्मण (या) ओ श्रमण, हम तुम्हे भोजन, पेय व्यजन और मिष्टान्न, चोगा, भिक्षापात्र, झाडू के साथ भेट करेगे।' कुछ लोगो को उन्हे सम्मान देने पर फुसलाया जाता है, कुछ लोगो ने उनके धर्म

---

[1] यद्यपि लोकायतिकाना नास्ति दीक्षादिक तथापि अपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्या-विधानेन प्रव्रज्या पश्चात् लोकायतिकमधीयानस्य तथाविध-परिणते तदेवाभिरुचितम्। शीलाक की सूत्र-कृताग-सूत्र पर टीका, पृ० २८० (निर्ण० सा०)।

शीलाक २८०-२८१ पृष्ठ पर बताते है कि भागवत और अन्य परिव्राजक, सन्यास के समय अनेक प्रकार के नियम की बाधा लेते है किन्तु ज्यो ही वे लोकायत-मत मे परिणत होते है त्योही वे स्वेच्छाचार करने लगते है। तब वे नीला वस्त्र (नील पट) पहनने लगते हैं।

[2] वही, पृ० २८१, २८३।

पण्डितों से सम्मान दिलवाया। संघ में प्रवेश होने के पहले, उन्होंने श्रमण, घरबार रहित, गरीब साधु बनने का निश्चय कर लिया था, जिनके पास पुत्र और पशु न होंगे, और वे भिक्षान्न ही खाएँगे, और पाप न करेंगे। संघ में आने के बाद वे पाप करते हुए नहीं रुकते, वे स्वयं पाप करते हैं, और दूसरे पाप करने वालों का साथ देते हैं। तब वे भोग, विलास और विषय-सुख में रत हो जाते हैं वे लोभी, बद्ध, कामी, लालसी और प्रीति और घृणा के दास हैं।[1]

हम केवल सूत्रकृतांग-सूत्र में ही नहीं किन्तु बृहदारण्यक, कठ में भी लोकायत का उपरोक्त वर्णित उल्लेख पाते हैं और छांदोग्य उपनिषद् ७ ७-८ में जहाँ दानवों का प्रतिनिधि विरोचन जो प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के उपदेश के लिए आया था, वह 'देह ही आत्मा है' इस मत से सन्तुष्ट होकर चला गया। प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनों को पानी के कटोरे के पास खड़े रहने को कहा और उन्होंने अपना प्रतिबिम्ब देखा, प्रजापति ने उनसे कहा कि यह अच्छे वसन और आभरणयुक्त शरीर है, यही आत्मा है। विरोचन और इन्द्र दोनों सतुष्ट हो गए, किन्तु इन्द्र आगे जाकर असतुष्ट हुए और दूसरे उपदेश के लिए लौटे जबकि विरोचन वापस नहीं आया। छादोग्य उपनिषद् में यह एक पुरानी वार्ता के रूप में कही गई है और कहा है कि इसी कारण से, जो इस समय केवल ससार के सुखों को ही मानते हैं और जिन्हें विश्वास नही है (कर्म की शक्ति मे, या आत्मा की अमरता मे) और जो यज्ञ नहीं करते, वे असुर कहलाते हैं, और इसलिए वे मृत शरीर को अच्छे कपड़ों से, अच्छे आभूषणों से भूषित करते हैं और खाना देते हैं, यह सोचकर कि इससे वे सम्भवत परलोक जीत लेंगे।

छादोग्य उपनिषद् का यह पाठ विशेष प्रकार से महत्त्वपूर्ण है। इसमे यह पता चलता है कि आर्यों से भिन्न एक दूसरी जाति थी जिसे असुर कहते थे, जो मृत शरीर को अच्छे वस्त्र और आभूषणों से मंडित करती थी और खाना देता था जिससे कि वे पुनर्जन्म के समय इन वस्त्राभूषणों से परलोक मे उन्नति कर सकें और ये ही लोग थे जो देह को आत्मा मानते थे। पीछे आने वाले लोकायत या चार्वाक भी देह को मानते थे। किन्तु इनमे यह भेद था कि छादोग्य मे कहे देहात्मवादी परलोक को मानते थे जहाँ से मृत्यु के बाद शरीर जाता है और मृत शरीर को दिए वस्त्राभूषण द्वारा वह उन्नति करता है। इस रीति को असुर-रीति कहा है। इसलिए यह सम्भावित है कि लोकायत सिद्धान्त का आरम्भ पूर्वगामी सुमेर सस्कृति मे हुआ जहाँ यह मान्यता थी और मृत शरीर को वस्त्राभूषण से मडित किया जाता था। यह मान्यता, आगे जाकर इतनी बदल गई कि ऐसा तर्क किया जाने लगा कि जब आत्मा और देह दोनो एक है और जबकि शरीर मृत्यु के बाद जला दिया जाता है तो मृत्यु के

[1] देखो जैन सूत्र, याकोबी, २ ३४१-३४२।

बाद पुनर्जन्म नहीं हो सकता और इसलिए मृत्यु के बाद परलोक भी नहीं हो सकता। हमे ऐसे लोगों के होने का प्रमाण मिलता है जो मृत्यु के बाद चेतना की सत्ता नहीं मानते थे और मृत्यु के साथ सब कुछ खत्म होता है, ऐसा मानते थे, और छांदोग्य मे हम देखते हैं कि विरोचन यह मानता था कि देह ही आत्मा है और यह रीति आसुरों में प्रचलित थी, ऐसा खोज से पता चला है।

गीता १७,७-१८ मे आसुरों के सिद्धान्तों का ऐसा वर्णन है, 'असुर भले-बुरे का विवेक नहीं कर सकते, वे पवित्र, सत्यवादी नहीं हैं और योग्य आचरण नहीं करते, वे ऐसा नहीं सोचते कि संसार सचाई और सत्ता पर आधारित है, वे ईश्वर को नहीं मानते और सभी प्राणी काम-वासना से और केवल मैथुन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानते हैं। ऐसा मानने वाले मूर्ख लोग संसार की बहुत हानि करते है। हिंसक कर्मों को करते हैं, और अपने आपका विनाश करते हैं (क्योंकि वे परलोक मे न विश्वास ही करते हैं, न उसकी प्राप्ति के साधनों मे)।[1] अतोषणीय इच्छाओं, अहंकार, दर्प और अभिमान से भरे, वे अज्ञान से खोटा मार्ग ग्रहण करते हैं और अशुचि जीवन जीते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जीवन का मृत्यु मे अन्त होता है और इस संसार और उसके सुखों के परे कुछ भी नहीं और इसलिए संसार सुख मे रचेपचे रहते हैं। असंख्य इच्छा, क्रोध और राग मे बंध, वे कुसाधन से संसार सुख की सामग्री को इकट्ठा करने मे लगे रहते हैं, वे सर्वदा अपनी सम्पत्ति का ही ख्याल करते रहते है वे जो प्रतिदिन कमाते हैं और जिसका वे संग्रह करते रहते है, इससे वे वर्तमान मे अपनी इच्छा तृप्त करते हैं या भविष्य मे तृप्त करने की सोचते रहते है या वे अपने दुश्मनों को मारने की या जिन्हें उन्होंने मार डाला है उनके विषय मे सोचते रहते हैं, इस प्रकार, वे अपने बल, सफलता, सुख, शक्ति इत्यादि के विषय मे ही सोचते रहते हैं।

लोकायत जैसा एक सिद्धान्त, रामायण मे (२-१०८) जाबालि ने प्रचलित किया था जहाँ वह कहता है कि यह कितना दयनीय है कि कुछ लोग संसार की अच्छी वस्तुओं के बजाय परलोक के पुण्य मे अधिक रुचि रखते हैं, मृत पुरुषों के संताप के लिए श्राद्ध-यज्ञ करना भोजन का दुरुपयोग है, क्योंकि वे मृत होने से खा नहीं सकते। यदि लोगों द्वारा यहाँ खाया हुआ भोजन दूसरे शरीरों के लिए उपयोगी हो सकता है, तो जो लोग दूर देश मे भ्रमण करते हैं, उनके लिए भोजन का प्रबन्ध करने के बजाय उनके लिए श्राद्ध करना अधिक अच्छा होगा। यद्यपि बुद्धिमानों ने दान, यज्ञ, दीक्षा और वैराग्य के पुण्यों की प्रशंसा मे ग्रन्थ लिखे हैं, वास्तव मे आँखों से जो दीखता है उससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

---

[1] श्रीधर कहते हैं कि यह लोकायतों को लक्ष्य करता है।

—गीता, १६-६।

विष्णु पुराण मे (१-६,२९-३१) कहा है कि कुछ लोगों को यज्ञ से लाभ होता है ऐसा नही मानते हैं और वेद और यज्ञ की निन्दा करते हैं, और महाभारत मे (१२,१८६) ऐसा भारद्वाज ने आग्रह किया है कि जीवन-व्यापार भौतिक और शरीर विज्ञान द्वारा समझाया जा सकता है और आत्मा की मान्यता स्वीकारना अनावश्यक है। महाभारत मे हेतुकों का भी उल्लेख है जो परलोक को नहीं मानते थे, उनकी मान्यता प्राचीन और दृढ थी (दृढ पूर्वे) जो अपना मत परिवर्तन नही कर सकते थे, वे बहुश्रुत थे और अन्य शास्त्रों का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था, वे भेंट देते थे, यज्ञ करते थे, मिथ्या से घृणा करते थे, और सभा मे वे वक्ता थे और लोगो मे अपना मत प्रवर्तित करते थे। यह पाठ विचित्र तथ्य उपस्थित करता है कि वैदिकों मे भी ऐसे लोग थे जो यज्ञ करते थे, भेंट देते थे और प्राचीन ग्रन्थों और वेद मे निपुण थे, जो मिथ्या से घृणा करते थे, बडे तार्किक और वक्ता थे, और तो भी इस संसार और जो कुछ उसमे है उससे किसी अन्य मे विश्वास नही करते थे (नैतदस्ति इति वादिन)। बौद्ध ग्रन्थों से हमे मालूम है कि ब्राह्मण लोकायत सिद्धान्त मे प्रवीण थे, हम यह भी जानते हैं कि उपनिषद् की मडली मे, ऐसे भी लोग थे जो परलोक को नही मानते थे, उनका उल्लेख है और उनकी निंदा की गई है और छादोग्य मे उन लोगो का उल्लेख है जो मृतक को आभूषण से मडित करने का रिवाज पालते थे और जिसके कारण देह को ही आत्मा मानते थे। रामायण मे हमे पता है कि जाबालि उस सिद्धान्त का उपदेश करते थे जिसके अनुसार परलोक नही है और मृतात्मा के सतोष के लिए दान यज्ञ अनावश्यक है। गीता मे भी ऐसे मतावलम्बियो का वर्णन है जो यज्ञ नाम मात्र ही से करते थे क्योकि वे कर्मकाण्ड मे श्रद्धा नही रखते थे।[1] किन्तु महाभारत मे कुछ लोगो का वर्णन है जो बहुश्रुत थे, प्राचीन ग्रन्थो मे निपुण थे, तो भी परलोक और आत्मा की अमरता नही मानते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि यह शास्त्रविरुद्ध मत (परलोक मे अश्रद्धा) वेदानुयायियो की कुछ मडली मे क्रम से प्रचलित हो गया था और उनमे से कुछ अयोग्य पुरुष थे जो सिद्धान्तो का उपयोग विषय-भोग के सन्तोष के लिए करते थे और निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करते थे, कुछ ऐसे भी थे जो वेद की परिपाटी का पालन करते थे और तो भी आत्मा की अमरता मे तथा इस लोक से परे परलोक मे विश्वास नही करते थे। इस प्रकार, एक ओर वैदिक मडली मे, उस प्राचीन समय मे, बहुत से नैतिक और विद्वान् पुरुष थे जो नास्तिकवाद मानते थे, जबकि कुछ अनैतिक और कुत्सित लोग थे जो दोषयुक्त जीवन व्यतीत करते थे और ऐसे नास्तिक मत को प्रकाश या प्रच्छन्न रूप मे मानते थे।[2]

[1] यजन्ते नाम जज्ञैस्ते दम्भेनाविधि-पूर्वकम्। —गीता, १६,७१।

[2] मैत्रायण उपनिषद् ८-८,९ मे लिखा है कि बहुत से निरर्थक तर्क, उदाहरण, मिथ्या उपमान, भ्रमपूर्ण प्रमाण द्वारा, वैदिक आचरण का विरोध करने की इच्छा रखते

हम इस प्रकार जानते हैं कि लोकायत मत अतिप्राचीन, सम्भवत वेद जितना प्राचीन या उससे भी प्राचीन था और आर्यों से पहले सुमेर के लोगों मे प्रचलित था। हम आगे यह भी जानते हैं कि लोकायत पर भागुरी की टीका २०० या ३०० वर्ष ई० पू० सुविख्यात थी, किन्तु लोकायत शास्त्र के रचयिता के बारे में कुछ कहना अति कठिन है। यह बृहस्पति या चार्वाक की रचना थी।[1] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह बृहस्पति कौन है,। एक राज नीति पर बृहस्पति सूत्र डा० एफ० डब्लू० थोमस द्वारा सम्पादित और अनूदित किया गया है जो लाहोर मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ मे लोकायत का वर्णन, २,५,८,१२,१६,२६ तथा ३,१५ मे हुआ है। यहाँ उन्हें चोर कहकर निन्दित किया है जो धर्म को एक लाभ मानते हैं और जो नरक मे जाने योग्य है। इसलिए यह बिलकुल निश्चित है कि बृहस्पति जो राजनीति के इस शास्त्र के रचयिता थे, वे लोकायत विद्या के रचयिता नहीं थे। न बृहस्पति उसके विवियुक्त रचयिता हो सकते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे, एक बृहस्पति का, राजनीति के रचयिता के रूप मे उल्लेख है, किन्तु यह एफ० डब्लू थोमस द्वारा प्रकाशित बार्हस्पत्य सूत्र से भिन्न होगा।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उल्लिखित बृहस्पति खेती, वाणिज्य, व्यापार (वार्ता), विधि और दड-नीति को ही केवल शास्त्र मे स्वीकार करते हैं, उसी अध्याय के दूसरे पाठ मे (विद्यासमुद्देश मे) दड-नीति को उशनस् द्वारा शिक्षा का विषय कहा है। प्रबोध चन्द्रोदय मे कृष्ण मिश्र, चार्वाक विधि और दड नीति को ही विद्या मानते हैं ऐसा बताया है और वार्ता-विज्ञान (अर्थात् खेती, वाणिज्य-व्यापार, पशु-पालन इत्यादि) इसमे समाविष्ट होते हैं ऐसा कहा है। इस ज्ञान के अनुसार चार्वाक दण्डनीति और वार्ता का शास्त्र समझते थे और इस प्रकार इनके मत बृहस्पति

हैं, वे आत्मा को नहीं मानते और चोर की तरह वे स्वर्ग कभी न जाएँगे और जिनके साथ कोई सम्पर्क न रखना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन लोगो के सिद्धान्त मे कुछ भी नवीनता नहीं है किन्तु यह एक भिन्न प्रकार की वेद विद्या है (वेद विद्यान्तरम् तु नतु)। बृहस्पति शुक्र बने और उन्होंने असुरो को यह सिद्धान्त सिखाया जिससे वे वैदिक धर्म के प्रति घृणा करने लगे और अच्छा बनना बुरा समझने लगे और बुरे को अच्छा समझने लगे।

[1] मैत्रायण बृहस्पति और शुक्र को रचयिता बताते हैं, कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय में कहा है कि वे पहले बृहस्पति ने रचे और चार्वाक को दिए गए जिन्होंने अपने शिष्यों द्वारा लोगों में प्रचलित किए।

श्री डी० शास्त्री का चार्वाक षष्ठी भी देखो, पृ० ११-१३। जहाँ वे अनेक आप्त प्रमाण देते हैं जो इसे बृहस्पति की रचना बताते हैं।

[2] अर्थ शास्त्र कौटिल्य, पृ० ६,२६,६३,१७७,२६२ मैसूर, १६२४।

और उशनस् में मिलते थे और विशेष कर पिछले में। परन्तु इससे हम यह नहीं मान सकते कि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित बृहस्पति या उशनस् सूत्र लोकायत के रचयिता हो सकते हैं। लोकायत सूत्र के रचयिता, इस प्रकार एक काल्पनिक व्यक्ति होते हैं। लोकायत सूत्र के मूल प्रवर्तक के विषय में हमारे पास कोई ज्ञान नहीं है। यह सम्भव है कि मूल लोकायत ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा गया हो और जिसकी कम से कम दो टीकाएँ थीं, जिसकी पहली टीका कम से कम ७०० या ३०० वर्ष ई० पू० पुरानी थी। इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों का कम से कम एक पद्यात्मक सारांश था जिसके कुछ पाठ माधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' तथा अन्य स्थान पर उद्धृत है।

यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी जीवित पुरुष का नाम था या नहीं। महाभारत १२-३८ और ३९ में, ही सर्वप्रथम इस नाम का उल्लेख मिलता है जहाँ चार्वाक को निंदटी साधु ब्राह्मण के वेश में राक्षस कहा गया है, किन्तु उनके सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में लोकायत सिद्धान्त का या तो लोकायत मत या बृहस्पति के मत के नाम से वर्णन किया गया है। इस प्रकार पद्म पुराण के सृष्टि खंड १२, ३१८-३४० में कुछ लोकायत सिद्धान्तों को बृहस्पति का उपदेश कहा गया है। आठवीं शताब्दी के कमलशील चार्वाकों को लोकायत सिद्धान्त का अनुयायी बताते हैं, प्रबोध चन्द्रोदय, चार्वाक को एक महान् आचार्य बताते हैं जिन्होंने वाचस्पति द्वारा लिखित लोकायत शास्त्र को अपने शिष्यों तथा शिष्यों के शिष्यों द्वारा प्रचलित किया। माधव, अपने 'सर्वदर्शन सग्रह' में उन्हें बृहस्पति के अनुयायी मुख्य नास्तिक बताते हैं (बृहस्पति मतानुसारिणी नास्तिक-शिरोमणिना)। गुण रत्न, 'षड् दर्शन समुच्चय' में चार्वाक नास्तिक सम्प्रदाय का है ऐसा कहते हैं। ये केवल खाते ही है किन्तु पाप पुण्य नहीं मानते और प्रत्यक्ष के सिवाय और किसी प्रमाण को नहीं मानते। वे शराब पीते थे और मास खाते थे और विषय भोग में रत रहते थे। प्रतिवर्ष वे एक दिवस इकट्ठे होते थे और अबाध-स्त्री संग करते थे। वे साधारण लोगों जैसा व्यवहार करते थे और इसी कारण वे लोकायत कहलाते थे और वे बार्हस्पत्य भी कहलाते थे क्योंकि वे बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित किए मतों को मानते थे। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी सच्चे मनुष्य का नाम है या लोकायत मत में मानने वालों का केवल लाक्षणिक नाम है।

हरिभद्र और माधव, दोनों ने लोकायत या चार्वाक दर्शन को एक दर्शन-प्रणाली माना है। उनका तर्क नवीन था, वे अन्य भारतीय दर्शन के सुमान्य सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना करते थे, उनका दर्शन भौतिकवादी था, और नैतिकता, नैतिक उत्तर-दायित्व और सभी प्रकार के धर्मों को अस्वीकार करते थे।

इसलिए, हम पहले चार्वाक न्याय को सर्वप्रथम देखें। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते थे। पाच इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है उससे अन्य और कुछ

नही है। किसी भी प्रकार का अनुमान प्रमाण नही हो सकता, क्योंकि अनुमान, हेतु और साध्य के व्याप्ति-ज्ञान द्वारा शक्य है और इस हेतु का सम्बन्ध पक्ष मे होना चाहिए। (व्याप्ति पक्ष धर्मताशालि हि लिंग गमकम्)। यह व्याप्ति अन्यथा सिद्ध ही न होनी चाहिए किन्तु उसके अन्यथा सिद्धि मे शका नही होनी चाहिए। इस व्याप्ति का ज्ञान हुए बिना अनुमान शक्य नहीं है। परन्तु वह जाना कैसे जाय? प्रत्यक्ष द्वारा नही, क्योंकि व्याप्ति दृश्य वस्तु नही है जिससे इन्द्रिय सन्निकर्ष हो सके। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु की दूसरी से व्याप्ति का अर्थ यह है कि ये भूत, भविष्य और वर्तमान मे आपस मे सम्बन्धित होगी (सर्वोपसहारवती व्याप्ति·) और भविष्य का सहचार इन्द्रियो का क्षेत्र नही हो सकता और भूतकाल भी नही। यदि ऐसा कहा जाता है कि व्याप्ति साध्य (अग्नि) और हेतु (धुआँ) के सामान्य गोचर मे है तो यह आवश्यक नही है कि हेतु-साध्य की व्याप्ति इन्द्रियो द्वारा सभी काल मे साक्षात् अनुभूत होनी चाहिए। किन्तु यदि व्याप्ति धुएँ और अग्नि के जाति गुणो मे है तो एक अग्नि को धुएँ के सभी प्रसगो के साथ क्यो सम्बन्धित होना चाहिए? यदि व्याप्ति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है तो वह मनस् द्वारा भी नही हो सकती, क्योंकि मन का सम्बन्ध बाह्य पदार्थ से इन्द्रियो द्वारा ही हो सकता है। व्याप्ति अनुमान द्वारा नही मानी जा सकती, क्योंकि वह अनुमान का आधार है। इस प्रकार, व्याप्ति के जानने का कोई मार्ग नही है और अनुमान अशक्य है। पुन., व्याप्ति अनुमान की सिद्धि के लिए निरुपाधिक होनी चाहिए, किन्तु अनुमान के समय, भूत और भविष्य मे उपाधियो की अनुपस्थिति का अनुभव नही हो सकता। इसके अतिरिक्त उपाधियो को इस प्रकार व्याख्यायित किया है कि वह जो साध्य के साथ अचूक व्याप्ति सम्बन्ध मे है, किन्तु हेतु के साथ ऐसे ही व्याप्ति-सम्बन्ध नही है (साधना व्यापकत्वे सति साध्यसम-व्याप्ति)।[1]

पुन, ऐसा कहा है कि अनुमान तभी शक्य है जब हेतु (धुआँ) पक्ष (पर्वत) से सम्बन्धित देखा गया है, किन्तु वास्तव मे, पर्वत का धुएँ से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह न उसका धर्म हो सकता है, क्योंकि वह अग्नि का गुण है। धुएँ और पर्वत के बीच कोई सर्वव्यापी स्वीकृति नही है जिससे कि हम यह कह सकें कि जहाँ-जहाँ पर्वत है वहाँ-वहाँ धूम है। न ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि और पर्वत दोनो ही है। जब कभी धुआँ पहले देखा जाता है तब वह पर्वत मे सम्बन्धित अग्नि के गुण के रूप से नही देखा जाता, इसलिए यह कहना पर्याप्त नही है कि हेतु (धुआ) पक्ष का धर्म है (पर्वत) किन्तु हेतु, साध्य मे सम्बन्धित पक्ष के एक विभाग के गुण के रूप मे जानना चाहिए।

---

[1] सर्वदर्शन सग्रह, १।

सिद्ध अनुमान निम्न दो परिस्थितियों में शक्य है, (१) हेतु और साध्य में नियत अनन्यथा सिद्ध व्याप्ति इस प्रकार हो कि जब भी हेतु हो साध्य सभी काल और स्थान में किसी भी प्रभावित करने वाली उपाधि के बिना हो। (२) साध्य के साथ हेतु की ऐसी व्याप्ति पक्ष में वर्तती है ऐसा ज्ञान होना चाहिए, जिसमें साध्य की स्वीकृति की गई है। चार्वाक का यह विवाद है कि ये सारी उपाधियाँ पूर्ण करना शक्य नहीं है इसलिए सिद्ध अनुमान असम्भव है। पहले, व्याप्ति हेतु और साध्य के सम्बन्ध के भूयो दर्शन (अनेक उदाहरणों के) आधार पर सिद्ध की जाती है। किन्तु परिस्थितियाँ, देश और काल के भेद के अनुसार, पदार्थ की शक्ति और सामर्थ्य में भी भेद होता है और इस प्रकार जबकि पदार्थ के गुण धर्म सदा एक से नहीं रहते इसलिए दो पदार्थों का सभी परिस्थितियों, देश और काल में एक दूसरे से मिले होना असम्भव है।[1] पुन, प्रसगों के असख्य अनुभव से भविष्य में सम्भावित सहमति के न मिलने का विलोप नही होता। धुए और अग्नि के सभी प्रसग प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते, और सहमति के पतन के अवसर निर्मूल नही किए जा सकते, और यदि सम्भावित होता तो अनुमान की आवश्यकता ही नही रहती।[2] चार्वाक सामान्य को नही मानते और इसलिए वे यह नही स्वीकारते कि व्याप्ति धूम और अग्नि में नही है किन्तु धूमत्व और अग्नित्व मे है।[3] पुन, यह भी विश्वास होना कठिन है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति से दूषित करने वाली उपाधियाँ है ही नही, क्योंकि वे अभी न देखने मे आवे तो भी वे अदृश्य रह सकती है।[4] व्यतिरेक के बिना (अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है) व्याप्ति की निश्चितता नही है। व्यतिरेक के सारे प्रसग को देख डालना असम्भव है। इस प्रकार जबकि व्यतिरेक और अन्वय के बिना व्याप्ति निश्चित नही की

---

[1] देशकाल-दशा-भेद-विचित्रात्मसु वस्तुसु।
अविनाभाव नियमो न शक्यो वस्तुमाह च।

—न्याय मजरी, पृ० ११६।

[2] न प्रत्यक्षीकृता यावद् धूमाग्नि-व्यक्तयोऽखिला.।
तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्ने रिति शक्यतै ॥
ये तु प्रत्यक्षतो विश्व पश्यति हि भवादृशा ।
किं दिव्य चक्षुषा मेषामनुमान-प्रयोजनम् ॥

—वही।

[3] सामान्य द्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभाव निश्चय ।
वास्तव हि न सामान्य नाम किंचन विद्यते ॥

—वही।

[4] खण्डनखण्ड खाद्य से तुलना करो।

—पृ० ६६३।

व्याघातो यदि शकास्ति न चेच्छका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशका तर्क शकावधि कुत ॥

जा सकती और जबकि यह असम्भव है कि हम व्यतिरेक और अन्वय से व्याप्ति का विश्वास कर सकें तो व्याप्ति स्वयं निश्चित नहीं हो सकती।[1]

पुरन्दर, चार्वाक के अनुयायी (सम्भवत सातवीं शताब्दी), तो सांसारिक वस्तुओं को निश्चित करने मे अनुमान की उपयोगिता मानते हैं जहां प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है, किन्तु अनुमान परात्पर सत्ता के सिद्धान्त की सिद्धि या परलोक या कर्म के सिद्धान्त के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि ये सामान्य प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त नही है।[2] सामान्य जीवन के व्यावहारिक अनुभव मे तथा परात्पर सत्य को निश्चय करने मे अनुमान की प्रमाणता मे इस भेद को दृढता से धारण करने का मुख्य कारण यह है, कि निगमात्मक सामान्यीकरण व्यतिरेक और अन्वय के प्रसगों के भूयोदर्शन के आधार पर किया होता है और अतीत लोक के विषय मे अन्वय का उदाहरण नही मिलता है, क्योंकि यदि ऐसे लोक है भी तो उनका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार, इन्द्रियातीत तथाकथित लोक मे हेतु और साध्य की व्याप्ति का प्रसग नही पाया जाता, तो निगमनात्मक सामान्यीकरण या व्याप्ति का नियम इस लोक के लिए अनुपयुक्त होगा।[3] इसके उत्तर मे वादिदेव कहते हैं कि ऐसा अभियोग मीमासाकों के लिए ठीक होगा जो सामान्यीकरण के लिए अन्वय-व्यतिरेक विधि पर आधार रखते हैं, किन्तु यह जैन मत के लिए उपयुक्त नही है जो अन्यथानुपपत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते है (अन्यथानुपपत्तावेव तत्स्वरूपत्वेन स्वीकारात्)।

अनुमान की प्रमाणता के विरोध मे और भी निम्न आक्षेप है, (१) अनुमान द्वारा जो सस्कार होते है वे धुंधले होते है और प्रत्यक्ष जैसे जीवित नहीं होते

---

[1] नियमश्चानुमानाग गृहीत प्रतिपद्यते।
ग्रहण चास्य नान्यत्र नास्तिता-निश्चयम् विना॥
दर्शनादर्शनाभ्या हि नियमग्रहण यदि,
तदप्यसदनग्नौ हि धूमस्येऽदृष्टमदर्शनम्,
अनग्निश्च कियान्सर्व जगज्ज्वलन-वर्जितम्,
तत्र धूमस्य नास्तित्व नैव पश्यत्ययोगिन। —न्याय मजरी, पृ० १२०।

[2] इनका उल्लेख कमलशील की पंजिका, पृ० ४३१ मे है। पुरन्दरस्त्वाह लोक प्रसिद्धम् अनुमान चार्वाक रपीष्यते, एव, यत्तु कैश्चित् लौकिक मार्गमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यते। वादिदेव सूरि प्रमाणनय तत्व लोकालकार पर स्याद्वादरत्नाकर नामक अपनी टीका मे पुरन्दर के सूत्र को उद्धृत करते हैं २-१३१। प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानादर्थ-निश्चय-दुर्लभात्।

[3] अव्यवभिचारावगमो हि लौकिक हेतूनामनुमेयावगमे निमित्त स नास्ति तत्र सिद्धेषु इति न तेभ्य परोक्षार्थावगमो न्याय्योऽत इद, उक्त मनुमानादर्थ-निश्चयो दुर्लभ।

(अस्पष्टत्वात्), (२) अनुमान को अपना विषय निश्चित करने के लिए अन्य पदार्थों पर निर्भर रहना पड़ता है (स्वार्थ निश्चये परापेक्षत्वात्), (३) अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा है (प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्), (४) अनुमित ज्ञान का विषय में साक्षात् नहीं होता, (अर्थादनुपजायमानत्वात्) (५) अनुमान वस्तुगत नहीं है (अवस्तु-विषयत्वात्), (६) यह बहुधा बाधित होता है (बाध्यमानत्वात्), (७) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करता हो कि जहां हेतु है वहां साध्य है (साध्य-साधनयो प्रतिबन्ध-साधक-प्रमाणाभावाच्च)।[1]

जैन सिद्धान्त के अनुसार ये सारे कारण अनुमान को अप्रमाण मानने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि पहले आक्षेप के उत्तर में, यह बताया जा सकता है कि स्पष्टता अनुमान की परिभाषा कभी भी नहीं मानी गई है, और इसलिए इसकी अनुपस्थिति से अनुमान अप्रमाण नहीं हो सकता, द्वि चन्द्र-दर्शन रूपी भ्रम प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है किन्तु इस कारण उसे प्रमाण नहीं माना जाता। पुन. अनुमान सर्वदा प्रत्यक्ष पर आश्रित नहीं है और यदि ऐसा भी है तो वह अपने उपयोग के लिए सामग्री काम मे लाता है और इससे अधिक कुछ नहीं करता। प्रत्यक्ष भी विशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होता है, किन्तु इस कारण वह प्रमाण नहीं माना जाता। अनुमान भी अर्थ से उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष जितना ही स्पष्ट है यद्यपि वह प्रत्यक्ष की तरह सामान्य और विशेष का सन्निवेश करता है। पुन, गलत अनुमान अवश्य ही बाधित होते हैं किन्तु यह प्रमाणित अनुमान का अभियोग नहीं हो सकता। हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध तर्क द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है।[2]

इस सम्बन्ध मे जयन्त बताते हैं कि हेतु और साध्य के बीच अन्वय के सिद्धान्त को स्वीकारना पडेगा। क्योंकि अनुमान केवल प्रतिभा के कारण नहीं हो सकता। यदि नियत अनन्यथा सिद्धता का ज्ञान, अनुमान के लिए अनिवार्य नहीं माना जाता है, और यदि वह केवल प्रतिभा से ही है, तो नारिकेल द्वीप के लोग जो आग जलना नहीं जानते, वे अग्नि से धुएँ का अनुमान निकाल सकते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध मानव प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है। वे ऐसा मानते हैं कि हेतु और साध्य का सहचार तथा दूसरे के अभाव के समय पहले की अनुपस्थिति के देखने से, मन धूम और अग्नि के बीच नियत सम्बन्ध समझ लेता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे सामान्यीकरण के लिए हमे धूम और अग्नि के सहचार के सभी प्रसगो को जहां-कहीं भी रहते हो, देखना चाहिए, क्योंकि धूम और अग्नि के बीच मन जो अन्वय अनुभव करता है वह वास्तव मे धूमत्व और वह्नित्व के बीच

---

[1] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० १३१,१३२ (निर्णय सा० १९१४)।

[2] वादिदेव सूरि कृत स्याद्वादरत्नाकर।

होता है (ज्वलनत्वादि-सामान्य-पुरःसरतया व्याप्ति-ग्रहणात्)। इस मत के विरुद्ध आक्षेप यह हो सकता है कि जाति को नहीं माना जाय, जैसाकि चार्वाक, बौद्ध और अन्य करते हैं और भी पुनः जो यह कहते हैं कि जाति मान ली जाय, तो भी अग्नि के अभाव से धुएँ के अभाव के सम्बन्ध के सभी प्रसंगों का सामान्य प्रत्यय हो, यह असम्भव है और ऐसी अवस्था में, अन्वय और व्यतिरेक के सभी प्रसंग जहाँ तक ग्रहण नहीं किए जाएँ वहाँ तक सामान्यीकरण असम्भव है। वे, इसलिए, मानते हैं कि कोई योगज प्रत्यक्ष (योगि प्रत्यक्ष कल्प) जैसे ज्ञान द्वारा ही अनिवध ग्रहण होता है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि अन्वय के अनेक प्रसंग के साथ व्यतिरेक का एक भी अनुभव नहीं होना व्याप्ति का विचार उत्पन्न करता है। किन्तु न्याय, व्याप्ति के लिए अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों पर बल देता है तथा उनकी आवश्यकता को मानता है।[1] चार्वाक तो यहाँ पर कहते हैं कि हेतु और साध्य के बीच नियत और अनन्यथा सिद्ध को निश्चित करने के लिए, दृष्ट उपाधियों के अभाव को प्रत्यक्ष देखना चाहिए, किन्तु अन्वय के विस्तृत अनुभव होने पर भी, अदृष्ट उपाधियों की सत्ता की सम्भावना को निष्कासित नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार, हमेशा भय बना रहेगा कि हेतु और साध्य की व्याप्ति सोपाधिक है या नहीं, और इस प्रकार सभी अनुमान निश्चित नहीं, परन्तु सम्भावित ही हैं, और केवल प्रत्यक्ष समर्थन द्वारा ही अनुमान प्रमाणित माना जाता है।[1] न्याय का इस पर यह उत्तर है कि अनुमान अप्रमाण है यह कहना स्वयं अनुमान है जो अप्रमाण मानसिक व्यापार के साथ जुटा हुआ अनुमान जैसा व्यापार है। किन्तु इससे चार्वाक का यह मत पूर्णतया खंडित नहीं होता कि सामान्यीकरण सम्भावित ही है और इसलिए (जैसा पुरन्दर कहते हैं) वे अन्य अनुभव के समर्थन से कुछ प्रामाण्य पाते हैं, और जिस क्षेत्र में वे प्रत्यक्ष द्वारा समर्थित नहीं होते वहाँ इनका कोई बल नहीं होता।

चूंकि चार्वाक अनुमान को सम्भावना से अधिक प्रमाणता नहीं देते इसलिए, अन्य प्रकार के प्रमाण भी, जैसे कि आप्त शब्द या शास्त्र वचन, उपमान या अर्थापत्ति भी प्रमाण नहीं माने गए हैं। उदयन के कथनानुसार, चार्वाक जिन्हें हम नहीं देख सकते उनकी सत्ता का अस्वीकार करते हैं और उदयन यह बताते हैं कि यदि हम

---

[1] न्याय मंजरी, पृ० १२२।

सिद्धान्त को पूर्णतया माना जाय और लोग जिन्हें विशेष समय पर नहीं देख पाते हैं उन्हें अस्वीकार करने लगें तो हमारा व्यावहारिक जीवन स्थगित हो जायगा, छिन्नभिन्न हो जाएगा।[1] धूर्त चार्वाक न अपने मूल ग्रन्थ मे अनुमान का ही अस्वीकार नहीं करते किन्तु न्याय सूत्र १-१-१ मे दिए न्याय पदार्थ की प्रामाणिकता भी करते हैं और इस मत का प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं कि पदार्थों की इस प्रकार गणना असम्भव है।[2] यह निस्सन्देह सत्य है कि चार्वाक प्रत्यक्ष को एक प्रमाण मानते थे किन्तु प्रत्यक्ष मे भी भ्रम उत्पन्न होता है इसलिए अन्त मे सभी प्रमाणो को अनिश्चित माना है।

चार्वाकों को एक ओर उन लोगो से वाद करना पड़ता था जो नित्य आत्मा को मानते थे जैसेकि जैन, नैयायिक, सांख्य, योग और मीमांसा, और दूसरी ओर विज्ञान-वादी बौद्धो से जो चेतना की स्थायी परम्परा मे विश्वास रखते थे, क्योंकि चार्वाक मृत्यु के पश्चात् की सभी प्रकार की अवस्थाएँ अस्वीकार करते थे। इस प्रकार ये कहते है कि जबकि कोई स्थायी तत्व नही है जो मृत्यु के पश्चात् रहता है, इसलिए परलोक नही है। शरीर, बुद्धि और इन्द्रिय-व्यापार अनवरत बदलते रहते हैं इसलिए मृत्यु के बाद उसकी वैसी स्थिति हो नहीं सकती और इसलिए पृथक् आत्मा को स्वीकारा नही जा सकता। कुछ चार्वाको के अनुसार, चेतना चार तत्वों से उत्पन्न होती है (उत्पद्यते) और दूसरो के अनुसार वह सुरा या दही की तरह उनमे से प्रकट होती है (अभिव्यज्यते)। वायु अप, अग्नि और पृथ्वी के अणुओं की रचना और पुन रचना के कारण ही, चेतना या तो उत्पन्न होती है या प्रकट होती है और शरीर और इन्द्रियाँ बनती हैं या उत्पन्न होती है। अणु की रचना के अतिरिक्त और कुछ नही है और आगे और कोई पृथक् पदार्थ भी नहीं है।[3]

सुशिक्षित चार्वाक मत वाले यह मानते है कि जहाँ तक शरीर रहता है वहाँ तक एक तत्व सभी अनुभवो का भोक्ता और द्रष्टा के रूप से रहता है। किन्तु मृत्यु के बाद ऐसा कोई तत्व नही रहता। यदि कोई स्थायी आत्मा जैसी वस्तु है जो मृत्यु के बाद एक शरीर से दूसरे शरीर मे गमन करती है तो उसे पूर्व-जन्म की घटनाओ की

[1] न्याय कुसुमांजली, उदयन, ३-५-६।

[2] चार्वाक धूर्तस्तु अथातस्तत्वं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण-प्रमेय संख्या-लक्षण-नियमाशक्य-करणीयत्व मेव तत्व व्याख्यातवान् प्रमाणसंख्या नियमाशक्य करणीयत्व सिद्धये च प्रमिति-भेदान् प्रत्यक्षादि प्रमाणानुपजन्या निदर्शनानुपादर्शयत्।

—न्याय मंजरी, पृ० ६४।

[3] तत्समुदाये विषयेंद्रिय-संज्ञा। चार्वाक सूत्र, कमलशील की पंजिका मे उल्लिखित, पृ० ५२०।

स्मृति रहेगी जैसेकि एक व्यक्ति को अपने बचपन की युवावस्था मे स्मृति रहती है।[1] बौद्ध के इस मत के विरुद्ध तर्क करते हुए कि किसी भी जन्म की चेतना-परम्परा मृत्यु से पूर्व-जन्म की अन्तिम विज्ञान के कारण नही हो सकती या किसी जन्म की चेतना अवस्था, भविष्य के जन्म की चेतनावस्था का कारण नही हो सकती, चार्वाक यह कहते हैं कि भिन्न शरीर की चेतना और भिन्न परम्परा भिन्न शरीर की भिन्न चेतना परम्परा का कारण नही हो सकती। भिन्न परम्परा के ज्ञान की तरह, पूर्व शरीर की अन्तिम चेतनावस्था से कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता।[2] पुन, सत्ता की चरम चेतनावस्था, जबकि, पृथक् जन्म मे अन्य चेतनावस्था को उत्पन्न नही कर सकती तो वह विचारना गलत है कि मरते हुए पुरुष की चरम चेतनावस्था नए जन्म मे कोई नए चेतना-सन्तान को उत्पन्न कर सकेगी। इसी कारण, चार्वाक गुरु कम्बलाश्वतर कहते हैं कि चेतना शरीर से प्राण, अपान और अन्य जीव क्रिया-शक्ति के व्यापार द्वारा उत्पन्न होती है। यह भी सोचना गलत है कि गर्भावस्था की पूर्वावस्थाओ मे किसी प्रकार की अव्यक्त चेतना रहती है, क्योकि चेतना का अर्थ विषय का ज्ञान है और गर्भावस्था मे चेतना नही हो सकती जबकि इन्द्रियो का विकास नही हुआ होता है, इसी प्रकार मूर्च्छा में भी चेतना नही होती और यह सोचना गलत है कि इन स्थितियो मे भी चेतना अव्यक्त शक्ति के रूप मे रहती है, क्योकि शक्ति अपने अधिष्ठान को पूर्व कल्पित करती है, और शरीर से अतिरिक्त चेतना का कोई आधार नही है और इसलिए, जब शरीर नष्ट होता है तब उसी के साथ समस्त चेतना का भी अन्त हो जाता है। यह भी स्वीकारा नही जा सकता कि मृत्यु के समय, चेतना किसी मध्यस्थ शरीर मे स्थानान्तरित होती है, क्योकि ऐसी कोई देह देखी नही जाती और इसलिए इसको स्वीकार नही किया जा सकता। दो भिन्न शरीर मे एक ही चेतना-सन्तान नही रह सकता, इस प्रकार हाथी की चेतना अवस्था अश्व के शरीर की नहीं हो सकती।

चार्वाको के इस आक्षेप का बौद्ध यों उत्तर देते हैं। यदि चार्वाक जन्मान्तर अवस्था को त्याग कर, जन्म और पुनर्जन्म करने वाले स्थायी तत्व की सत्ता का खडन करना चाहते हैं तो बौद्धो को इस पर कोई आक्षेप नही है, क्योकि वे भी ऐसे नित्य स्थायी आत्मा को नहीं मानते। बौद्ध मत यह है कि विज्ञान-परम्परा अनादि और अनन्त है जो ७०,८० या सौ की अवधि को लेकर वर्तमान, भूत और भविष्य जीवन कहलाता है। चार्वाकों का इस परम्परा को अनादि और अनन्त न मानना गलत है,

[1] न्याय मञ्जरी, पृ० ४६७।

[2] यदि ज्ञानं न तद् [illegible] [illegible] ज्ञान-[illegible], [illegible] [illegible] [illegible]- [illegible] [illegible]।

क्योकि यदि ऐसा स्वीकारा जाता है तो जन्म के समय की अवस्था को प्रथम मानना पडता है और इससे यह अर्थ होगा कि वह अकारण है और इससे नित्य हो जायगी, क्योकि वह बिना कारण है तो फिर उसका अन्त भी क्यो हो। वह किसी नित्य चेतना या ईश्वर द्वारा भी उत्पन्न नही की गई होगी, क्योकि हम ऐसे नित्य तत्व को नही मानते उसे स्वत ही नित्य नही माना जा सकता, वह पृथ्वी, जल इत्यादि के नित्य अणु द्वारा भी उत्पन्न हुई नही हो सकती, क्योकि यह बताया जा सकता है कि कोई भी नित्य तत्व किसी को उत्पन्न नही कर सकता। इस प्रकार, अन्तिम विकल्प यह है कि वह चेतना की पूर्व स्थिति से उत्पन्न हुई होगी। यदि अणु को क्षणिक भी माना जाय, तो भी यह सिद्ध करना कठिन होगा कि चेतना उनसे उत्पन्न हुई है। जो नियम कारणत्व को निश्चित करता है वह, प्रथमत, यह है कि कारण वह है जो वर्तमान मे रहता हुआ, देखने योग्य था, किन्तु दीखने के पहले नही देखा गया था।[1] दूसरा, जब दो घटनाएँ ऐसी है कि यद्यपि सभी अन्य परिस्थितिया उनमे वैसी ही बनी रहती है, तो भी एक नए तत्व के आने से एक मे तो नई घटना उत्पन्न हो जाती है जो दूसरे मे उत्पन्न नही होती तब वह तत्व ही उस घटना का कारण है।[2] दो उदाहरण, जो इसी बात मे भिन्न हो कि एक मे कार्य हो और दूसरे मे न हो, यदि वे एक दूसरे से, अन्य सभी बातो मे मिलते है सिवाय इसके कि जिसमे कार्य है उनमे एक नवीन घटना उपस्थित हो गयी है जो दूसरे मे विद्यमान नही है तो केवल ऐसे ही उदाहरण मे, वही तत्व उस कार्य का कारण माना जा सकता है। नही तो, यदि कारण वह है जिसके अभाव मे कार्य का भी अभाव रहता है, तो यहाँ एक विकल्प की सम्भावना रहती है जिसमे किसी अन्य तत्व की उपस्थिति जो अनुपस्थित भी था यह सम्भावना रहती है, और ऐसा भी हो सकता है कि इस तत्व की अनुपस्थिति के कारण ही कार्य भी अनुपस्थित था। इस प्रकार, दो उदाहरण, जिनमे कार्य रहता है और जिनमे वह नही रहता, वे ऐसे होने चाहिएँ कि, वे सभी प्रकार के समान हो, सिवाय इसके कि जहाँ कार्य रहता है वहाँ एक तत्व उपस्थित है और दूसरे मे उसका अभाव है। देह और मनस् मे इस प्रकार की कारणता का सम्बन्ध, अन्वय-व्यतिरेक-विधि की कठोरता से नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मन और शरीर के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के लिए अन्वय-विधि का प्रयोग करना अशक्य है क्योकि शरीर का उसकी पूर्व गर्भावस्था मे मन की उत्पत्ति के पहले निरीक्षण करना असम्भव है, क्योकि

[1] ये ये षामुपलम्भे सति उपलब्धि-लक्षण प्राप्त पूर्व मनुपलब्ध सदुपलभ्यते इत्येवभाश्रयणीयम्। —कमलशील पजिका, पृ० ५२५।

[2] सत्सु तदन्येपु समर्थेपु तद् हेतुपु यस्यैकस्याभावे न भवति इत्येवभाश्रयणीय मन्यथा हि केवल तदभावे न भवतित्युपदर्शने सदिग्धमत्र तस्य सामर्थ्यं स्यादन्यस्यापि तत्समर्थस्याभावान्। —कमलशील पजिका, पृ० ५२६।

विना मन के निरीक्षण हो नही सकता। दूसरो के शरीर में भी मन का प्रत्यक्ष निरीक्षण नही किया जा सकता इसलिए यह कहना अशक्य है कि शरीर मन से पहले है। व्यतिरेक-विधि का भी उपयोग नही किया जा सकता, क्योकि कोई भी वह निरीक्षण नही कर सकता कि देह के अन्त होने पर मन का भी अन्त होता है या नही, और जबकि दूसरो के मनो को प्रत्यक्ष देखा नही जा सकता इसलिए ऐसा निषेधात्मक निरीक्षण दूसरो के बारे मे नही किया जा सकता और इसलिए यह कहना भी अशक्य है कि दूसरो के शरीर के अन्त के साथ उनके मन का भी अन्त होता है या नही। मृत्यु के समय शरीर की अचलता (अक्रियाशीलता) से यह अनुमान निकाला नही जा सकता कि मन के अन्त से ऐसा हुआ है, क्योकि वह रह भी सकता है और शरीर मे व्यापार न करता रहे। इसके अतिरिक्त, एक विशिष्ट शरीर उससे चालित नही होता इसका कारण यह है कि उस शरीर से सम्बन्धित इच्छाएँ तथा मिथ्या विचार जो पहले व्यापार करते थे, अब अनुपस्थित है।

पुन॰, और भी कारण है जिनसे शरीर मन का कारण नही है यह माना जा सकता है, क्योकि यदि सम्पूर्ण शरीर ही मन का कारण होता तो शरीर के थोडे से भी दोषो (विकृति) ने मन के गुणो को परिवर्तित किया होता, या हाथी जैसे बडे शरीर से सम्बन्धित मन आदमी के मनो से बडे होते। यदि एक के बदलने पर दूसरे मे परिवर्तन न हो, तो वे दोनो कार्य-कारण से सम्बन्धित नही हो सकते। ऐसा भी नही कहा जा सकता कि शरीर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियो सहित मन का कारण है, क्योकि इस प्रसग मे एक भी इन्द्रिय की क्षति से मनस् का धर्म और स्वरूप भी बदल जायगा। किन्तु हम जानते है कि ऐसा नही होता, और जब अर्धांग वायु से सभी कर्मेन्द्रियाँ व्यापार हीन हो जाती हैं, मन, बिना शक्ति के ह्रास के उसी प्रकार कार्य करता रह सकता है।[1] पुन यद्यपि शरीर वैसा ही रहे, तो भी प्रकृति व स्वभाव और स्वर पर्याप्त रूप मे बदल सकते है, या आकस्मिक सवेग मन को सहज ही आन्दोलित कर दें, यद्यपि शरीर वैसा ही बना रहे। ऐसे उदाहरण भी यदि मिल जाँय जिससे यह सिद्ध हो जाय कि शरीर की स्थिति मन की स्थिति को प्रभावित करती है तो भी कोई भी कारण नही दिया जा सकता कि मन या आत्मा का नाश शरीर के नाश से क्यो हो। यदि शरीर और मन की सह-स्थिति के नियम से वे एक दूसरे से कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित है ऐसा कहा जाय, तो जबकि मन शरीर के साथ उतना ही सह-स्थिति मे है जैसा शरीर मन से है, तो मन भी शरीर का कारण हो सकता है। सह स्थिति

[1] प्रसुप्तिकादि-रोगादिना कार्येद्रियादीनामुपघातेऽपि मनोधिर-विकृतैका विकला स्वसत्तामनुभवति।

—कमलशील पजिका, पृ० ५२७।

कारणता को सिद्ध नही करती, क्योंकि सह-स्थिति किसी एक तीसरे कारणवशात् भी हो सकती है। गरम किया तांबा गल जाता है, इसी प्रकार, गर्मी मे, एक ओर गर्मी के तत्व शरीर को उत्पन्न कर सकते हैं और दूसरी ओर मन या चेतना को। इसलिए, मन और शरीर की सह स्थिति आवश्यक रूप से यह अर्थ नही रखती कि पहला दूसरे का उपादान कारण है।

ऐसा कहा है कि उत्तर काल की मानसिक स्थिति पूर्वकाल की मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती है, तो भी चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति का आरम्भ है और वह शरीर से उत्पन्न होती है और इस प्रकार बौद्ध मत कि विज्ञान-परम्परा अनादि है यह मिथ्या है। किन्तु यदि मानसिक स्थिति प्रथमत शरीर द्वारा उत्पन्न होती है तो वे उत्तर काल के प्रसगो मे किसी प्रकार चक्षु या अन्य इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती। यदि यह आग्रह किया जाता है कि शरीर ही ज्ञान के प्रथम उदय का कारण है, किन्तु उत्तरावस्था का नही है, तो उत्तरकाल की मानसिक स्थितियाँ शरीर पर आधार रखे बिना अपने को उत्पन्न करने मे समर्थ होनी चाहिए। यदि ऐसा माना जाता है कि एक मानसिक स्थिति दूसरी मानसिक स्थिति की परम्परा को, शरीर की सहायता मे ही उत्पन्न कर सकती है, तो प्रत्येक ऐसी असख्य परम्परा को उत्पन्न करेगी, किन्तु ऐसी असख्य परम्पराएँ कभी भी अनुभव नही की गई है। यह भी नही कहा जा सकता कि शरीर चेतना को अपनी पहली अवस्था पर ही जन्म देता है और अन्य स्तर पर शरीर सहायक कारण ही रहता है, क्योंकि जो पहले उत्पत्ति कारण रहता है वह फिर सहायक कारण नही हो सकता। इस प्रकार, भौतिक तत्वो को भी अस्थायी माना जाय, तो वे भी कारण नही माने जा सकते। यदि मानसिक अवस्थाओ का आरम्भ माना जाता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्था का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान से है या विचार-प्रत्ययो से है। यह इन्द्रिय-ज्ञान नही हो सकता, क्योंकि निद्रा, मूर्च्छा और अध्यान की स्थिति मे, इन्द्रिय-ज्ञान नही होता, यद्यपि इन्द्रियाँ रहती है, इसलिए यह मानना पडता है कि ज्ञान की पूर्व स्थिति के रूप मे ध्यान का होना आवश्यक है, और इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय-व्यापार को ज्ञान का पूर्ण कारण नही माना जा सकता। मन को भी पूर्ण कारण नही माना जा सकता, क्योंकि जहाँ तक इन्द्रिय गम्य तत्व या इन्द्रिय-विषय इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही होते वहाँ तक, मन उन पर कार्य नही कर सकता। यदि मन अपने द्वारा ही विषय जान सकता है जो फिर कोई अधा या बहरा न होता। तर्क करने के लिए यह मान लिया जाय कि मन ज्ञान उत्पन्न करता है, तो यह पूछा जा सकता है यह ज्ञान सविकल्प है या निर्विकल्प, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान नाम और विषय (सकेत) के सहचार बिना अशक्य है। यह निर्विकल्प भी नही हो सकता, क्योंकि निर्विकल्प वस्तु या विषय को स्वलक्षण रूप से प्रकट करता है जो केवल मन द्वारा, इन्द्रियो की सहायता के बिना ग्रहण नही हो सकता। यदि यह माना जाता है कि इन्द्रिय-तत्व भी मन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं,

है, और जबकि वह शरीर और इन्द्रियों के होते हुए भी न रहे (जैसेकि मृत शरीर में), तो चेतना शरीर पर आधारित है ऐसा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आत्मा शरीर में स्वसंवेदना द्वारा, साक्षात् भिन्न प्रतीत होता है। विद्यानंदी के अन्य तर्क विज्ञानवादी बौद्धों की ओर किए गए हैं जो नित्य आत्मा में नहीं मानते किन्तु चेतना की अनादि सन्तान को मानते हैं, इस विवाद का यहाँ पर ही अन्त करना योग्य होगा।[1]

न्याय मंजरी में जयन्त यह तर्क करते हैं कि शरीर, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक में निरन्तर बदलता रहता है और इसलिए एक शरीर का अनुभव नवीन शरीर को नहीं हो सकता जो वृद्धि या ह्रास से बना है, और इसलिए अहं की एकता और प्रत्यभिज्ञा जो ज्ञान के आवश्यक अंग हैं, शरीर के धर्म नहीं हो सकते।[2] यह निस्संदेह ही सत्य है कि अच्छा भोजन और औषध जो शरीर के लिए सहायक हैं, वे बुद्धि को सुचारु रूप से कार्य करने में भी सहायक हैं। यह भी सत्य है कि दही, पौधे और भीगा हुआ स्थान तुरन्त ही कीट को जन्म देने लगते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक पदार्थ चेतना को जन्म देता है। आत्मा सर्वव्यापी है और जब भौतिक तत्वों का योग्य परिणाम होता है तब वे उनके द्वारा अपने कर्मानुसार प्रकट होते हैं। पुन, चेतना इन्द्रियों का धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि भिन्न इन्द्रिय-ज्ञान को छोड़कर, अहं वेदना भी है जो भिन्न इन्द्रियों के ज्ञान का सन्निधान कराती है। इस प्रकार, मुझे अनुभव होता है कि जो कुछ भी मैं आँखों से देखता हूँ, उसे हाथ से स्पर्श करता हूँ, जो स्पष्ट बताता है कि इन्द्रिय ज्ञान को छोड़कर, एक व्यक्तिगत अनुभविता है या अहं है जो इन संवेदनाओं का सन्निधान करता है और ऐसे तत्व के बिना भिन्न संवेदनाओं की एकता लाई नहीं जा सकती। सुशिक्षित चार्वाक, तो अवश्य ही, यह मानते हैं कि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक एक प्रमातृ-तत्व रहता है, किन्तु यह प्रमातृ-तत्व पुनर्जन्म नहीं करता, किन्तु शरीर के विनाश के साथ वह भी नष्ट हो जाता है, आत्मा इस प्रकार अमर नहीं है, और शरीर के नाश के पश्चात् परलोक नहीं है।[3] इसका जयन्त यह उत्तर देते हैं कि आत्मा की स्थिति को इस शरीर की जीवितावस्था तक स्वीकारा जाता है, तो जबकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है और जबकि वह अवयव और स्वरूप में अभौतिक है, तो उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। जिस प्रकार शरीर जलता या पशु या पक्षियों द्वारा टुकड़े-टुकड़े किया जाता देखा है ऐसा आत्मा का होता हुआ कभी किसी ने नहीं देखा है। इस प्रकार, जब इसे नष्ट होता हुआ नहीं देखा गया है, और जबकि इसे नष्ट करने वाले कारण का

---

[1] तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृ० २६-५२।

[2] न्याय मंजरी, पृ० ४३९-४४१।

[3] न्याय मंजरी, पृ० ४६७-४६८।

व्यक्तिगत चेतनाएँ क्षणक्षण नष्ट होती हैं, तो भी भूत, भविष्य और वर्तमान काल के *जीवन मे, सन्तान निरन्तरता से बनी रहती है। जब सन्तान भिन्न हैं जैसेकि गाय* और घोडे मे, या दो भिन्न व्यक्तियो मे एक सन्तान की अवस्था दूसरे की अवस्था को प्रभावित नही कर सकती। सन्तान मे, एक-एक चेतना स्थिति दूसरी को निश्चित करती स्वीकारी गई है, और वह दूसरी को, और इस प्रकार आगे। इस प्रकार यह मानना पडता है कि चेतना, अचेतनवस्था मे भी है, क्योकि यदि ऐसा न होता तो, उस समय चेतना का स्खलन होता और इसका अर्थ यह होता कि सन्तान-क्रम टूट गया है। चेतना की अवस्थाएँ इन्द्रियो से तथा इन्द्रिय के विषयो से स्वतन्त्र है, क्योकि वे पूर्वावस्था से निरूपित होती हैं, स्वप्न मे, जब इन्द्रिय-व्यापार नही होता और जब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नही होता, तब भी चेतना अवस्था उत्पन्न होती रहती है, और भूत या भविष्य के ज्ञान के प्रसग मे या शश-विपाण जैसे तुच्छ वस्तु के ज्ञान मे चेतनावस्था की स्वतत्रता स्पष्ट सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चेतना न तो शरीर-जनित है न वह किसी भी प्रकार उससे निरूपित या मर्यादित है और वह केवल भूतकाल की अवस्थाओ से निरूपित होती है और वे स्वय भविष्य की अवस्थाओ को निश्चित करती है। इस प्रकार भूत और भविष्य जीवन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

चार्वाको के विरुद्ध जैन और नैयायिको के तर्क, विज्ञानवादी बौद्धो के तर्क से कुछ भिन्न प्रकार के हैं, जिन्हे हम अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, क्योकि पहले स्थायी आत्मा को मानते है और दूसरे नही मानते। इस प्रकार विद्यानन्दी, अपने 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्त्तिक' मे कहते हैं कि आत्मा भौतिक तत्वो का कार्य क्यो नही माना जा सकता इसका मुख्य कारण यह है कि चेतना सर्वव्यापी है, निरन्तर है, निर्विवाद सत्य है जो देश काल से अमर्यादित है। 'यह नीला है' या 'मैं गोरा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य पदार्थ या इन्द्रियो पर आधारित हैं इसलिए इन्हे स्ववेदना के विशिष्ट उदाहरण नही माना जा सकता। किन्तु 'मै सुखी हूँ' ऐसे अनुभव जो साक्षात् अह के स्वानुभव को लक्ष्य करते है, इद्रियादि बाह्य साधनो के व्यापार पर निर्भर नही हैं। यदि यह स्ववेदना स्वत सिद्ध न होती, तो कोई भी सिद्धान्त,—चार्वाक मत भी नही, जो सभी प्रमाणित मान्यताओ का खण्डन करना चाहता है—प्रतिपादन नही किया जा सकता, क्योकि सभी प्रतिपादन इस स्ववेदना के कारण ही होते हैं। यदि किसी चेतना को प्रमाणित होने के लिए दूसरी चेतना की आवश्यकता रहती है, तो वह अनवस्था स्थिति उत्पन्न करेगी और पहली चेतना को अचेतन मानना पडेगा। इस प्रकार, जबकि आत्मा स्वसवेदन मे प्रकट होता है और जबकि शरीर, अन्य भौतिक पदार्थों की तरह, इद्रिय-व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष होता है, तो पहला दूसरे से सर्वथा भिन्न है और पिछला उत्पन्न नही किया जा सकता, और क्योकि वह नित्य है इसलिए पिछले को प्रकट भी नही किया जा सकता। पुन जबकि चेतना इद्रियों के बिना भी रहती

है, और जबकि यह शरीर और इद्रियो के होते हुए भी न रहे (जैसेकि मृत शरीर मे), तो चेतना शरीर पर आधारित है ऐसा नही माना जा सकता। इस प्रकार आत्मा शरीर मे स्वसवेदना द्वारा, साक्षात् भिन्न प्रतीत होता है। विद्यानदी के अन्य तर्क विज्ञानवादी बौद्धो की ओर किए गए हैं जो नित्य आत्मा मे नही मानते किन्तु चेतना की अनादि सन्तान को मानते हैं, इस विवाद का यहाँ पर ही अन्त करना योग्य होगा।[1]

न्याय मजरी मे जयन्त यह तर्क करते है कि शरीर, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक मे निरन्तर बदलता रहता है और इसलिए एक शरीर का अनुभव नवीन शरीर को नही हो सकता जो वृद्धि या ह्रास से बना है, और इसलिए अह की एकता और प्रत्यभिज्ञा जो ज्ञान के आवश्यक अग हैं, शरीर के धर्म नही हो सकते।[2] यह निस्सदेह ही सत्य है कि अच्छा भोजन और औषध जो शरीर के लिए सहायक हैं, वे बुद्धि को सुचारु रूप से कार्य करने मे भी सहायक हैं। यह भी सत्य है कि दही, पौधे और भीगा हुआ स्थान तुरन्त ही कीट को जन्म देने लगते है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि भौतिक पदार्थ चेतना को जन्म देता है। आत्मा सर्वव्यापी है और जब भौतिक तत्वो का योग्य परिणाम होता है तब वे उनके द्वारा अपने कर्मानुसार प्रकट होते हैं। पुन, चेतना इन्द्रियो का धर्म नही माना जा सकता, क्योकि भिन्न इद्रिय-ज्ञान को छोडकर, अह वेदना भी है जो भिन्न इद्रियो के ज्ञान का सन्निधान कराती है। इस प्रकार, मुझे अनुभव होता है कि जो कुछ भी मैं आँखो से देखता हूँ, उसे हाथ से स्पर्श करता हूँ, जो स्पष्ट बताता है कि इद्रिय ज्ञान को छोडकर, एक व्यक्तिगत अनुभविता है या अह है जो इन सवेदनाओ का सन्निधान करता है और ऐसे तत्व के बिना भिन्न सवेदनाओ की एकता लाई नही जा सकती। सुशिक्षित चार्वाक, तो अवश्य ही, यह मानते हैं कि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक एक प्रमातृ-तत्व रहता है, किन्तु यह प्रमातृ-तत्व पुनर्जन्म नही करता, किन्तु शरीर के विनाश के साथ वह भी नष्ट हो जाता है, आत्मा इस प्रकार अमर नही है, और शरीर के नाश के पश्चात् परलोक नही है।[3] इसका जयन्त यह उत्तर देते है कि आत्मा की स्थिति को इस शरीर की जीवितावस्था तक स्वीकारा जाता है, तो जबकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है और जबकि वह अखड और स्वरूप से अभौतिक है, तो उसे कोई भी नष्ट नही कर सकता। जिस प्रकार शरीर जलता या पशु या पक्षियो द्वारा टुकडे-टुकडे किया जाता देखा है ऐसा आत्मा का होता हुआ कभी किसी ने नही देखा है। इस प्रकार, जब इसे नष्ट होता हुआ नही देखा गया है, और जबकि इसे नष्ट करने वाले कारण का

---

[1] तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृ० २६-५२।

[2] न्याय मजरी, पृ० ४३९-४४१।

[3] न्याय मजरी, पृ० ४६७-४६८।

वताता है कि शरीर उसका साधन है, किन्तु यह सिद्ध नही करता कि वह शरीर का कार्य है, जैसाकि चार्वाक कहते हैं, चार्वाको ने रूढिग्रस्त हिन्दुओ की समस्त, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मान्यताओ की आलोचना की। इस प्रकार, श्री हर्ष, 'नैपध चरित्त' मे उनके मत का प्रतिनिधित्व करते ऐसा कहते हैं, 'शास्त्र का यह मत कि यज्ञ करने से अनोखे फल प्राप्त हो सकते हैं, अनुभव द्वारा साक्षात् वाधित होता है, और वे पत्थर तैरते हैं ऐसी पुराण गाथा जैसे ही असत्य है। जो वुद्धिहीन हैं और कार्य शक्तिहीन हैं, वे ही वैदिक यज्ञ द्वारा अपना निर्वाह करते हैं या त्रिदण्ड धारण करते हैं या कपाल पर राख मलते हैं। वर्णों की पवित्रता का कोई नैश्चित्य नही है, क्योकि पुरुप और स्त्रियो की अनियन्त्रित काम-वासना को देखते यह कहना असम्भ है कि कोई भी गोत्र किसी भी कुल मे इतिहास मे शुद्ध रखा गया है, चाहे फिर मातृपक्ष या पितृ-पक्ष हो। मनुष्य अपने को पवित्र और शुद्ध रखने मे विशेषतया तत्पर नही है और स्त्रियो को हरम मे रखने का ईर्ष्या के सिवाय और कोई कारण नही है, यह सोचना अन्यायपूर्ण है कि अनियन्त्रित स्त्री-भोग से पाप होता है, या पाप से दु ख होता है और पुण्य से परलोक मे सुख मिलता है, क्योकि जव हम वहुधा देखते है कि पापी लोग उन्नति करते हैं और पुण्यशाली पीडा पाते हैं तो परलोक मे न जाने क्या होगा?' वेद और स्मृति निरन्तर एक दूसरे के विरोध मे आते हैं और टीकाकारो की चालाकी से ही उनमे सगति की जाती है, यदि ऐसा ही है, तो फिर कोई ऐने मत मे क्यो न आस्था रखे जिसमे स्वेच्छाचार मान्य हो? ऐसा माना है कि अह शरीर से सम्वन्धित है, किन्तु जव यह देह जल जाता है तो पाप-पुण्य का क्या वाकी वचता है और अन्य अह-अन्य शरीर द्वारा अनुभव करने के लिए कुछ वाकी भी वचा है, वचता भी है तो वह मुझे पीडा नही कर सकता। यह मानना हस्यास्पद है कि कोई मृत्यु के वाद कुछ भी स्मरण रखे या यह कि मृत्यु के वाद कर्म-फल मिलेंगे, या यह कि ब्राह्मणो को मृत्यु के वाद भोजन कराने से तथा कथित मृतात्मा को किसी प्रकार का सतोप होगा। फूलो से प्रतिमा-पूजा या पत्थर की पूजा या धार्मिक रीति के तौर पर गगा-स्नान नितान्त हास्यास्पद है। मृतात्मा के लिए श्राद्ध करना निरुपयोगी है, क्योकि यदि भोजन की भेंट मृतात्मा को सतुष्ट कर सकती है तो यात्रियो की भूख भी, उनके घर वालो द्वारा घर मे ही भोजन की भेंट देने से, सतुष्ट हो सकती है। वास्तव मे, शरीर की मृत्यु और नाश के साथ सभी कुछ अन्त हो जाता है, क्योकि शरीर के राख हो जाने पर कुछ भी वाकी नही वचता। जवकि आत्मा नही है, पुनर्जन्म नही है, ईश्वर और परलोक नही है, और जवकि शास्त्र, लोगो को धोखा देने मे रत पुरोहितो के उपदेश मात्र हैं, और पुराण केवल मिथ्या कपोल-कल्पित वर्णन और कल्पित वार्ताएँ हैं, तो हमारे जीवन का एक आदर्श आचरण केवल विषय-सुख-भोग ही है। पाप और पुण्य का कोई अर्थ नहीं है, वे केवल शब्द ही शब्द है जिसमे डरकर लोग पुरोहितो या स्वार्थ साधने वाले आचरण करने पर वाध्य होते हैं। दर्शन के क्षेत्र मे चार्वाक

भौतिकवादी हैं और पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के द्रव्य अणु और उनके संयोग से परे और किसी को नहीं मानते, तर्क शास्त्र के क्षेत्र मे, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नहीं मानते, वे कर्म, कर्मफल पुनर्जन्म और आत्मा का निषेध करते हैं। एक ही वस्तु जिसमे वे रुचि रखते हैं वह क्षणिक इन्द्रिय-सुख है, इन्द्रिय-सुखों का अबाध भोग है। वे वर्तमान सुख को भविष्य के सुख के लिए त्यागने मे विश्वास नहीं करते थे, वे सर्वांगीण सुख की वृद्धि और सम्पूर्ण जीवन के स्वास्थ्य का उद्देश्य नहीं रखते थे, जैसाकि हम चरक की प्रणाली मे पाते हैं, उनके लिए आज का कपोत कल के मयूर से अधिक मूल्यवान् है, आज पास मे तांबे का सिक्का होना भविष्य के अनिश्चित मोहर से अधिक अच्छा है।[1] इस प्रकार इसी क्षण के इन्द्रिय सुख को ही वे चाहते थे, और वर्तमान सुख का त्याग करने वालो की दूरदर्शिता, संयम या अन्य सावधानी के व्यवहार को अबुद्धिमानी और मूर्खता कहते थे। ऐसा नहीं लगता कि उनके सिद्धान्त मे निराशावाद था। उनकी नैतिकता, उनके दार्शनिक और तर्क-सिद्धान्त से अनुमित होती थी कि इन्द्रिय के विषय और इन्द्रिय-सुख ही केवल हैं और अतीन्द्रिय या परात्पर जैसी कोई सत्ता नहीं है, और इस प्रकार सुखो में किसी प्रकार गुण-दृष्टि से स्तर-भेद नही है और कोई कारण नहीं है कि हम क्यो अपनी इन्द्रिय-सुख की सामान्य प्रवृत्ति पर किसी प्रकार का निरोध रखे।

---

[1] वरमद्य कपोत श्वो मयूरात्
वरम् सशयिकात् निष्कादसशयिक
कार्षापण इति लोकायतिका। —काम सूत्र, १ २. २९,३०।